१३०—

॥ श्रीहरिः ॥

महर्षि-कृष्णद्वैपायन-वेदव्यास-रचित

महाभारत

शान्तिपर्व-उत्तरार्ध

मोक्षधर्मपर्व-द्वितीयखण्ड

मुरादाबादनिवासि-सनातनधर्मपताका-सम्पादक

ऋ० कु० प० रामचन्द्रशर्मा-कृत

हिन्दी-भाषानुवाद-सहित

—:*:—

THE MAHABHARAT

SHANTI PARV

Part III

of the

Moxdharm Parv

WITH HINDI TRANSLATION

by

Rishikumar

Ramchandr Sharma

॥ श्रीः ॥

शान्तिपर्व मोक्षधर्मपर्व द्वितीयखण्डकी

विषयसूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	पराशरगीता	
२९०	जीवितके धर्म	७९७
२९१	जीवितके धर्म	८०१
२९२	आत्माका कल्याण किसप्रकार होसकता है	८०६
२९३	चारों वर्णोंके धर्म	८१०
२९४	मनुष्यकी स्थिति	८१३
२९५	तपकी विधि	८१९
२९६	वर्णभेदका कारण	८२५
२९७	कैसा मरण श्रेष्ठ है	८३२
२९८	श्रेयो-निरूपण	८४०
	हंसगीता	
२९९	सत्य आदिके लक्षण	८४९
३००	योगविधि	८५८
३०१	सांख्यनिरूपण	८७२
	वसिष्ठ जनक—सम्वाद	
३०२	क्षर और अक्षरका स्वरूप	८९३

३०३ कर्म और प्रकृतिका बल ६०१
३०४ जीवकी सोलह कला ६११
३०५ पुरुष और प्रकृति ६१३
३०६ क्षर और अक्षरका स्वरूप ६३१
३०७ विद्या और अविद्या ६३३
३०८ बुद्ध और अबुद्धका निर्णय ६४४
३०९ वसुमान् और ऋषिका-संवाद कामनात्याग ६५३

याज्ञवल्क्य-गीता

३१० कूटस्थ परमात्माका स्वरूप ६५७
३११ ब्रह्माण्ड आदिकी उत्पत्ति ६६१
३१२ प्रलयनिरूपण ६६५
३१३ अध्यात्म आदिका निरूपण ६६७
३१४ सत्त्व आदि गुणोंके लक्षण ६७१
३१५ अव्यक्त और पुरुषमें विशेषता ६७५
३१६ सांख्य और योगकी एकता ६८०
३१७ मुमूर्षुके लक्षण ६८६
३१८ परमपुरुषनिरूपण ६९३
३१९ मृत्यु और जराको तैरनेका मार्ग १०१४
३२० जनक और सुलभा—विदेहमुक्त कौन ? १०१७

शुकचरित्र

३२१ मृत्युका भय १०५३
३२२ याग, तप और सेवाका फल १०७०
३२३ पुत्रोत्पत्तिके लिये व्यासजीका उग्रतप १०७३
३२४ शुककी उत्पत्ति १०७७
३२५ शुककी परीक्षा १०८१
३२६ ज्ञानीके लिये आश्रमकी आवश्यकता १०८८

३२७ वेद-स्वाध्याय-विधि १०६६
३२८ वेदाध्ययन-माहात्म्य और समवायुवर्णन ११०४
३२६ अनासक्तिद्वारा मोक्षप्राप्ति १११३
३३० मुक्तिमार्गदर्शन ११२३
३३१ सूर्यमार्ग-और चन्द्रमार्ग ११२८
३३२ छायाशुकका अन्तरिक्षमें उड़ना ११३६
३३३ छायाशुककी वरप्राप्ति ११४३

नारायणीय-आख्यान

३३४ नर, नारायण, स्वयम्भू और कृष्णकी उत्पत्ति ११४६
३३५ श्वेतद्वीपका वर्णन ११५७
३३६ अश्वमेध-यज्ञ, परमात्माके दर्शन ११६६
३३७ भक्तवत्सल भगवान् ११७५
३३८ नारायणकी स्तुति ११८२
३३६ नारायणका स्वरूप ११८६
३४० देवता यज्ञका भाग किसको देते हैं १२०६
३४१ व्यास-स्तुति १२२७
३४२ अग्नि और सोमकी उत्पत्ति १२३६
३४३ नारदजीका नारायणके दर्शन करना १२३६
३४४ परमात्मामेंसे विश्वोत्पत्ति १२७६
३४५ वराहावतार-पितृपिण्ड १२८०
३४६ विष्णुद्वेषीके पितर नरकमें पड़ते हैं १२८४
३४७ मधु और कैटभकी उत्पत्ति १२८६
३४८ भक्तकी श्रेष्ठता १३०२
३४६ सृष्टिका क्रम १३१५
३५० पुरुष एक है अथवा अनेक हैं १३२७
३५१ परमात्माका स्वरूप १३३१

उञ्छवृत्तिका आख्यान

३५२ इन्द्र-नारद-संवाद, कौनसा आश्रम श्रेष्ठ है १३३५

३५३ ब्राह्मणकी परलोकचिन्ता १३३७

३५४ स्वर्गमें जानेके मार्ग १३३९

३५५ पद्मनाभ सर्पके पास जानेका उपदेश १३४१

३५६ ब्राह्मणका प्रस्थान १३४३

३५७ ब्राह्मण और नागपत्नीका संवाद १३४५

३५८ नागराजके सम्बन्धियोंकी प्रार्थना १३४७

३५९ नागराज और नागपत्नीका संवाद १३४९

३६० नागराजका कुपित होना १३५१

३६१ नागराजका ब्राह्मणके पास जाना १३५५

३६२ यह दूसरा सूर्य कौन है ? १३५७

३६३ यह उञ्छव्रतका पालन करने वाला था १३६०

३६४ ब्राह्मणका जाना और नागका रोकना १३६१

३६५ ब्राह्मणका उञ्छव्रतकी दीक्षा लेना १३६२

शान्तिपर्वकी विषयसूची समाप्त.

पुस्तक मिलनेका पता—

सनातनधर्म प्रेस,

मुरादाबाद.

युधिष्ठिर उवाच । अतः परं महाबाहो यच्छ्रेयस्तद्ब्रवीहि मे । न तृप्याम्यमृतस्येव वचसस्ते पितामह ॥१॥ किं कर्म पुरुषः कृत्वा शुभं पुरुषसत्तम । श्रेयः परमवाप्नोति प्रेत्य चेह च तद्वद ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः । पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः ॥३॥ किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिँल्लोके परत्र च । यद्भवेत्प्रतिपत्तव्यं तद्भवान्प्रब्रवीतु मे ॥ ४ ॥ ततः स तपसा युक्तः सर्वधर्मविधानवित् । नृपायानुग्रहमना मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥ पराशर उवाच । धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च । तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ६ प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते । धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे महाभुज पितामह ! आपके अमृतकी समान वचनोंको सुनकर मैं अघाता नहीं हूँ, अतः मुझे सुननेकी इच्छा अधिकाधिक बढ़ती जाती है, इस लिये जो धर्म कल्याणकारी हो, वह मुझसे कहिये ॥ १ ॥ हे महापुरुष ! मनुष्य कौन सा शुभ कर्म करके इस लोकमें तथा परलोकमें कल्याण पाता है, यह आप मुझसे कहिये ॥ २ ॥ भीष्मजीने कहा, कि–पहिले महायशस्वी राजा जनकने पराशरसे जो प्रश्न बूझा था, उस प्रश्नको मैं तुझसे कहता हूँ सुन ॥ ३ ॥ इस लोकमें तथा परलोकमें सब प्राणियोंका कल्याण करने वाला कौनसा कर्म है, तथा सब प्राणियोंको क्या जानना चाहिये, यह आप मुझसे कहिये" ॥ ४ ॥ राजा जनकके ऐसे प्रश्नको सुनकर सब धर्मोंकी विधिको और आश्रमोंको जानने वाले तपस्वी पराशरने राजाके ऊपर अनुग्रह करनेके विचारसे कहा ॥ ५ ॥ पराशरने कहा, कि–धर्माचरण करनेसे इस लोकमें तथा परलोकमें परमकल्याण होता है, प्राचीन ऋषि कहते हैं, कि–धर्मसे कोई भी कर्म उत्तम नहीं है ॥ ६ ॥ हे नृपसत्तम ! मनुष्य धर्माचरण

नृपसत्तम ॥ ७ ॥ तस्मिन्नाश्रमिणः संतः स्वकर्माणीह कुर्वते ॥८
चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् यात्रा तात विधीयते। मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते
सा च कामात् प्रवर्तते ॥ ९ ॥ शुकृतासुकृतं कर्म निषेव्य विविधैः
क्रमैः। दशार्धप्रविभक्तानां भूतानां बहुधा गतिः ॥१०॥ सौवर्णं
राजतं चापि यथा भांडं निषिच्यते। तथा निषिच्यते जंतुः पूर्व-
कर्मवशानुगः ॥११॥ नाबीजाज्जायते किंचिन्नाकृत्वा सुखमेधते।
सुकृतैर्विंदते सौख्यं प्राप्य देहक्षयं नरः ॥ १२ ॥ दैवं तात न

करके स्वर्गलोकमें पूजा जाता है, देहधारी प्राणियोंका धर्म कर्म-विधि (यज्ञादि क्रिया) में स्थित है ॥ ७ ॥ सब आश्रमोंमें रहने वाले सत्पुरुष भी सद्धर्ममें श्रद्धावान् रह कर अपने २ कर्म करते हैं ॥८॥ हे तात ! इस जगत्में जीवनयात्रा के निर्वाहके शास्त्रमें चार उपाय कहे हैं (ब्राह्मणके लिये प्रति-ग्रह, क्षत्रियके लिये प्रजासे कर लेना, वैश्यके लिये खेती, व्यापार और शूद्रके लिये सेवा कहे हैं) मनुष्य जिस जातिमें उत्पन्न होता है, उस जातिके अनुसार उसको दैवेच्छासे आजीविका भी मिल जाती है ॥ ९ ॥ (अपना जीवनव्यवहार चलानेके लिये) प्राणी पुण्यकर्म अथवा पापकर्मका सेवन करके पञ्चत्वको पाने पर उनके फलरूपसे उन २ जातियोंमें उत्पन्न होता है १० जैसे ताम्बेके पत्र पर सोने अथवा चाँदीका पानी चढ़ाने पर वह सोने अथवा चाँदीका होजाता है, तैसे ही प्राणी भी पूर्वजन्मके कर्मानुसार जन्म ग्रहण करता है ॥११॥ बीजके बिना कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती है, पूर्वजन्ममें किसी भी प्रकारका पुण्य न किया होता है तो जीवको दूसरे जन्ममें सुख नहीं मिलता, यदि पुण्यकर्म किया होता है तो मरण पानेके पीछे जीव दूसरे जन्ममें सुख पाता है ॥१२॥ हे तात ! कर्मके सम्बन्धमें नास्तिक कहते हैं, कि-पूर्वजन्मके पुण्य पापरूपी कर्म सुख दुःखके कारण

पश्यामि नास्ति दैवस्य साधनम् । स्वभावतो हि संसिद्धा देवगंधर्वदानवाः ॥ १३ ॥ प्रेत्य यांत्यकृतं कर्म न स्मरंति सदा जनाः । ते वैतस्य फलप्राप्तौ कर्म चापि चतुर्विधम् ॥ १४ ॥ लोकयात्राश्रयश्चैव शब्दो वेदाश्रयः कृतः । शान्त्यर्थं मनसस्तात नैतद्वृद्धानुशासनम् ॥१५॥ चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् । कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥ निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव । कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते ॥ १७ ॥ कदाचित्सुकृतं तात कूटस्थमिव तिष्ठति । मज्ज-

हैं यह मैं नहीं मानता तथा अनुमानसे भी कर्म अथवा प्रारब्ध सिद्ध नहीं होता, देवता, दानव और गन्धर्व कोई (पूर्वजन्ममें किये हुए पुण्यमय) कर्मोंसे उत्पन्न नहीं हुए हैं, परन्तु वे स्वभावसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ १३ ॥ मनुष्य मृत्युके पीछे अगले जन्ममें पूर्वजन्ममें जो कर्म नहीं किया होता है, उसके फलको नहीं पाता है, मनुष्य सदा यह कहते हैं कर्मफलकी प्राप्ति कराने वाले पूर्वजन्मके चार प्रकारके नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा निषिद्ध कर्म होते हैं ॥१४॥ पुरुषोंके आचरणको नियमानुसार करनेके लिये तथा मनको शान्त करनेके लिये वेदवचनको प्रमाणरूप माना गया है,परन्तु (नास्तिक कहते हैं, कि—) इन वेदवचनोंको वृद्ध (लौकायतिक मत वाले बृहस्पति आदि) प्रमाण नहीं मानते हैं ॥१५॥ पराशरने कहा, कि—मनसे, वाणीसे तथा हाथ आदिसे, इसप्रकार चार प्रकारसे कर्म किया जाता है अतः वह चार प्रकारका कहाता है, इनमेंसे मनुष्य जैसे कर्मको करता है, तैसे फलको पाता है ॥ १६ ॥ हे राजन् ! मनुष्य अपने कर्मके फलानुसार कभी सुख पाता है, कभी दुःख पाता है और किसी समय सुख और दुःखको मिले हुए भोगता है, पुण्यकर्म किये हों अथवा पापकर्म किये हों, परन्तु उन कर्मोंका फल भोगे बिना

मानस्य संसारे यावद् दुःखाद्विमुच्यते ॥ १८ ॥ ततो दुःखक्षयं कृत्वा सुकृतं कर्म सेवते । सुकृतक्षयाच्च दुष्कृतं तद्विद्धि मनुजाधिप १९ दमः क्षमा धृतिस्तेजः संतोषः सत्यवादिता । ह्रीरहिंसाऽव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥ २० ॥ दुष्कृते सुकृते चापि न जंतुर्नियतो भवेत् । नित्यं मनः समाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥ २१ ॥ नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते । करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ २२ ॥ सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति ।

नाश नहीं होता है ॥ १७ ॥ हे तात ! मनुष्यके पुण्यकर्म उसके पापकर्मोंका नाश नहीं करते हैं, परन्तु पापके कारण संसार-सागरमें डूबता हुआ पुरुष जब तक (पापकर्मके फलरूप दुःख को भोगकर) दुःखमेंसे मुक्त नहीं होता है, तब तक उसके पुण्य-कर्म कूटस्थकी समान मौन बैठे रहते हैं ॥ १८ ॥ और दुःखका नाश होने पर मनुष्य पुण्यकर्मके फलको भोगता है तैसे ही पुण्य-कर्मका क्षय होने पर हे राजन् ! पापकर्मके फलको भोगता है, यह आप निश्चित समझिये ॥ १९ ॥ परन्तु दम, क्षमा, धैर्य, तेज, पराक्रम, संतोष,सत्यवादीपन,लज्जा, अहिंसा, अव्यसनीपन और चतुरता ये सब पुण्य और पाप इन दोनोंका नाश करके सुख देते हैं॥२०॥कोई भी मनुष्य मरण पर्यंत सुख अथवा दुःख भोगनेके लिये नहीं रचा गया है, ज्ञानी (इन दोनों सुख और दुःखको उत्पन्न और विनाशी समझ कर परब्रह्मका दर्शन करनेके लिये) मनको योगके द्वारा स्थिर करनेका प्रयत्न करे २१ इसी प्रकार मनुष्य दूसरेके किये हुए पुण्य अथवा पापके फलको नहीं भोगता है, परन्तु जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, वह मनुष्य तैसे ही फलको स्वयं ही भोगता है ॥२२॥ जो मनुष्य सुखवत्श दुःखके कारणरूप पुण्य और पापको तत्त्वज्ञानके द्वारा आत्मा में लय करके ज्ञानमार्गसे विचरता है, वह मनुष्य अपनी इच्छित

अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः ॥ २३ ॥ परेषां यदसूयेत न तत्कुर्यात्स्वयं नरः । यो ह्यसूयुस्तथा युक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥ २४ ॥ भीरु राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च । विद्वांश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः सत्याद्भ्रष्टो ब्राह्मणः स्त्री च दुष्टा ॥२५॥रागी युक्तः पचमानोऽभहेतोर्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम् । एते सर्वे शोच्यतां यांति राजन् यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥ २६ ॥ * ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

पराशर उवाच । मनोरथरथं प्राप्य इंद्रियार्थहयं नरः । रश्मि-

वस्तुको प्राप्त करता है, और जो पुरुष मृत्युलोकमें रह कर स्त्री, पुत्र, पशु, घर, धन और बाग बगीचे आदिका सेवन करता है, वह दूसरे ही मार्गमें विहार करता है ऐसा मनुष्य न स्वर्ग पा सकता है न मोक्ष पासकता है ॥ २३ ॥ मनुष्य दूसरे मनुष्यके जिस कर्मको देखकर उसकी निन्दा करता है, उस कर्मको मनुष्य को स्वयं कभी न करना चाहिये, क्योंकि—जो दूसरोंके दोषको देखकर तैसे कर्म स्वयं करता है उस पुरुषकी जगत्में हँसी होती है ॥ २४ ॥ हे राजन् ! डरपोक क्षत्रिय सर्वभक्षी ब्राह्मण, व्यापार न करने वाले वैश्य, आलसी शूद्र, सद्वर्ताव न करने वाला पण्डित, दुराचरण करने वाला कुलीन, असत्यवक्ता ब्राह्मण, दुराचारिणी स्त्री, विषयी योगी, अपने लिये अन्न बनाने वाला, मूर्ख होने पर वाद विवाद करनेवाला, राजारहित देश मनको नियममें न रखने वाला और प्रजा पर प्रीति न करने वाला राजा ये सब शोक करनेके योग्य हैं ॥२५–२६॥ दो सौ नव्वैवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९० ॥

पराशरने कहा, कि हे राजा जनक ! जो पुरुष इस शरीरको

विज्ञानसंभूतैर्या गच्छति स बुद्धिमान ॥ १ ॥ सेवाश्रितेन मनसा वृत्तिहीनस्य शस्यते । द्विजातिहस्तान्निर्वृत्ता न तु तुल्यात्परस्परात् ॥ २ ॥ आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद्विशांपते । उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥ ३ ॥ वर्णेभ्यो हि परिभ्रष्टो न वै संमानमर्हति । न तु यः सत्क्रियां प्राप्य राजसं कर्म सेवते ॥४॥ वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा । दुर्लभं तमलब्ध्वा हि

रथरूप समझता है,इन्द्रियें तथा उनके शब्द आदि विषयोंको अश्व-रूप समझता है और ज्ञानसे उत्पन्न हुई रश्मिसे अर्थात् चैतन्तरूप ज्ञानकी वृत्तिसे देहरथको चलाता है, उस पुरुषको बुद्धिमान् समझना चाहिये ॥ १ ॥ हे क्षत्रियके संस्कारसे अलंकृत राजन् ! जिस पुरुषका मन किसी पदार्थका अवलंम्बन न लेकर वृत्ति-रहित रहता है,उस कर्मरहित पुरुषका निर्विकल्प समाधिसे ईश्वर का चिंतवन करना ही श्रेष्ठ है, कर्मरहित हुआ ब्रह्मवेत्ता पुरुष गुरुकी कृपासे जिस प्रकार योग-सम्पादन कर सुखी होता है, तिस प्रकार अपने समान गुण वाले पुरुषसे वाद विवाद करके योग सम्पादन नहीं कर सकता ॥ २ ॥ हे राजन् ! दुर्लभ सारी आयुको विषयोंमें ही व्यर्थ नहीं विताना चाहिये परन्तु पुण्यकर्म करके उसके द्वारा उत्तरोत्तर उत्तम लोकोंको पानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३ ॥ (सत्त्व, रज तथा तमके क्षय अथवा वृद्धिसे उत्पन्न हुए कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हरित तथा शुक्ल ये छः) वर्ण जिस मनुष्यको प्राप्त होते हैं, उनमेंसे उच्चवर्णमेंसे जो नीच वर्णको प्राप्त होता है, वह मानपात्र नहीं है जिसको शुभकर्मका फल प्राप्त हुआ है वह इस प्रकार वर्ताव करे, जिससे रजोगुणसे दूषित कर्मका त्याग होसके ॥४॥ पुण्यकर्म करनेसे मनुष्य उत्तम वर्णको पाता है, दुर्लभ उत्तम वर्ण प्राप्त करनेमें अशक्य होनेसे पापी (जीव) पापकर्म करके अपना नाश कर लेता है अर्थात् नरक

हन्यात्पापेन कर्मणा ॥ ५ ॥ अज्ञानाद्धि कृतं पापं तपसैवाभिनिर्णुदेत् । पापं हि कर्म फलति पापमेव स्वयं कृतम् । तस्मात्पापं न सेवेत कर्म दुःखफलोदयम् ॥६॥ पापानुबन्धं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् । तन्न सेवेत मेधावी शुचिः कुशलिनं यथा ॥ ७ ॥ किं कष्टमनुपश्यामि फलं पापस्य कर्मणः । प्रत्यापन्नस्य हि ततो नात्मा तावद्विरोचते ॥ ८ ॥ प्रत्यापत्तिश्च यस्येह बालिशस्य न जायते । तस्यापि सुमहांस्तापः प्रस्थितस्योपजायते ॥ ९ ॥ विरक्तं शोध्यते वस्त्रं न तु कृष्णोपसंहितम् । प्रयत्नेन मनुष्येन्द्र पापमेवं निबोध मे ॥ १० ॥ स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।

में डूब जाता है तथा अधम वर्णको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ मनुष्य से अनजानमें जो पाप बन जाता है, वह तप करनेसे नष्ट होजाता है, परन्तु जान कर किया हुआ पापकर्म महादुःख देता है अतः मनुष्यको दुःख देने वाले पापकर्मको कभी न करना चाहिये ६ पवित्र मनुष्य जैसे चाण्डालका स्पर्श नहीं करता है, ऐसे ही विद्वान् पुरुषको महाफल देनेवाले भी पापसे सम्बन्ध रखने वाले कर्मको न करना चाहिये ॥ ७ ॥ पापकर्मका फल महादुःखदायी है यह मैंने देखा है, पाप-कर्म करनेसे विपरीत दृष्टि होजाती है और जीव अपने देह तथा अवयवोंमें आत्मदृष्टि करने लगता है ।८। जिस मूढ मनुष्यके अन्तःकरणमें वैराग्यका उदय नहीं होता है, वह मूढ पुरुष मरणके अनन्तर नरकमें पड़ता है, तब वह बड़ा दुःखी होता है ॥९॥ जो वस्त्र शुद्ध-मल-रहित होता है वह लाल आदि चाहे जिस रंगसे रँगा हो धोने पर शुद्ध होजाता है, परन्तु काले रंगसे रँगाहुआ वस्त्र प्रयत्नपूर्वक धोनेसे भी शुद्ध(श्वेत)नहीं होता है, ऐसे हीं अनजानमें किया हुआ साधारण पाप तप आदि के द्वारा दूर किया जासकता है, परन्तु जानकर किया हुआ (थोड़ा या) बहुत पाप तपसे भी दूर नहीं होसकता यह तुझे समझना

प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥११॥ अज्ञानात्तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति । ब्राह्मणाः शास्त्रनिर्देशादित्याहुर्ब्रह्म- वादिनः ॥१२॥ तथा कामकृतं नास्य विहिंसैवानुकर्षति । इत्या- हुर्ब्रह्मशास्त्रज्ञा ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥ १३ ॥ अहं तु तावत् पश्यामि कर्म यद्वर्तते कृतम् । गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहि- तम् ॥१४॥ यथा सूक्ष्माणि कर्माणि फलन्तीह यथातथम् । बुद्धि- युक्तानि तानीह कृतानि मनसा सह ॥ १५ ॥ भवत्यल्पफलं कर्म सेवितं नित्यमुल्बणम् । अबुद्धिपूर्वं धर्मज्ञ कृतमुग्रेण कर्मणा १६

चाहिये ॥ १० ॥ जो मनुष्य जान बूझ कर पापकर्म करता है और फिर उसके लिये प्रायश्चित्त करता है, तब भी उसको पापकर्मका और प्रायश्चित्तरूप शुभ कर्मका-इसप्रकार दोनोंका फल भिन्न २ मिलता है और जान कर किया हुआ पाप कभी भी नष्ट नहीं होता ॥ ११ ॥ अनजानमें जो पापकर्म किया होता है, वह यज्ञ याग आदि करनेसे नष्ट होजाता है, यह वेदवेत्ता ब्राह्मण धर्म- शास्त्रानुसार कहते है ॥ १२ ॥ परन्तु जो पाप इच्छापूर्वक किया जाता है,वह पाप प्रायश्चित्त करने पर भी दूर नहीं होता,इसप्रकार वेदज्ञ तथा शास्त्रज्ञ विद्वान् कहते हैं ॥ १३ ॥ मेरा मन्तव्य यह है, कि-कोई भी कर्म वह पुण्यमय हो अथवा पापमय हो, जानकर किया हो अथवा अनजानमें किया हो, परन्तु उनसे छुटकारा तो उनका फल भोगने पर ही होता है ॥ १४ ॥ स्थूल अथवा सूक्ष्म कर्म मनसे अथवा बुद्धिपूर्वक विचार करके किये जाते हैं तब वे अपने स्थूल तथा सूक्ष्मस्वरूपके अनुसार फल देते हैं ॥ १५ ॥ हे धर्मको जानने वाले राजन् ! अनजानमें भी भयंकर कर्म बन जाने पर वह कर्म फल तो देता ही है और समय आने पर नरक में घसीट कर लेजाता है, भेद इतना ही है, कि-अनजानमें किया हुआ पापकर्म कभी २ बहुत दुःख नहीं देता है (अर्थात् अज्ञान

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा । नाचरेत्तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत् ॥१७॥ संचिन्त्य मनसा राजन्विदित्वा शक्यमात्मनः । करोति यः शुभं कर्म स वै भद्राणि पश्यति १८ नवे कपाले सलिलं संन्यस्तं हीयते यथा । नवेतरे तथाभावं प्राप्नोति सुखभावितम् ॥ १९ ॥ सतोयेऽन्यत्तु यत्तोयं तस्मिन्नेव प्रसिच्यते । वृद्धे वृद्धिमवाप्नोति सलिले सलिलं यथा ॥ २० ॥ एवं कर्माणि यानीह बुद्धियुक्तानि पार्थिव । समानि चैव यानीह तानि पुण्यतमान्यपि ॥ २१ ॥ राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च

से किये पाप पुण्यकाफल सूक्ष्म और जानकर कियेहुएका स्थूल होता है ॥१६॥देवताओंने तथा मुनियोंने जो २ कर्म किये हैं,तिस कर्मके अनुसार धर्मात्मा पुरुष आचरण न करे, तथा उनके कर्म सुनकर उनकी निंदा भी न करे (किंतु उनके उपदेशके अनुसार कार्य करे)॥१७॥हे राजन् ! जो मनुष्य अमुक कर्म मुझसे होसकेगा (अथवा नहीं) यह समझ कर कर्म करता है उसको शुभफल ही प्राप्त होता है।१८॥कच्चे घड़ेमें यदि पानी भर दिया जाय तो उसमेंसे जल निकल जाता है और अन्तमें उसमें कुछ भी जल नहीं रहता है, परन्तु यदि पक्के घड़ेमें जल भरा जाता है, तो वह वैसा ही भरा रहता है ॥१९॥ इस ही प्रकार किसी प्रकारका सारासार विचारे विना केवल बुद्धिसे प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है, वह शुभ फल नहीं देता है और जो कर्म पूर्णविचार करके कियाजाता है उसको उत्तम कर्म कहते हैं और वह सुखदायक होता है।२०।जिसमें जल होता है उस घड़ेमें और जल भरनेसे उसके जलमें जैसे वृद्धि होजाती है, ऐसे ही जो कर्म पूर्णरीतिसे विचार कर किया जाता है तो वह कर्म दूसरों को उचित प्रतीत हो अथवा अनुचित, तो भी वह करने वालेके पुण्यको बढ़ाता है ॥ २१ ॥ राजा अपनेसे अधिक शत्रुओंको

सम्यक्कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम् । अग्निश्चेयो बहुभिश्चापि यज्ञैरन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम् ॥ २२ ॥ दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् । गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥ २३ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

पराशर उवाच । कः कस्य चोपकुरुते कश्च कस्मै प्रयच्छति । प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना ॥ १ ॥ गौरवेण परित्यक्तं निःस्नेहं परिवर्जयेत् । सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथक् जनम् ॥ २ ॥ विशिष्टस्य विशिष्टाच्च तुल्यौ दानप्रतिग्रहौ । तयोः

जीते, प्रजाका धर्मसे पालन करे, बहुतसे यज्ञ करके अग्निको तृप्त करे और विराग उत्पन्न होजाय तो मध्यम अवस्थामें नहीं तो अन्त्यावस्थामें वनमें जाकर वानप्रस्थ आश्रमको धारण करे ॥ २२ ॥ हे राजन् ! इन्द्रियोंको नियममें रखकर तथा धर्म शील होकर पुरुष सब प्राणियोंको आत्मवत् समझे और अपनेसे (विद्या,तप और अवस्थामें बड़े हों उनका) यथाशक्ति पूजन करे, हे राजन् ! सत्यका पालन करनेसे और अच्छा व्यवहार करनेसे मनुष्य अवश्य ही सुखी होता है ॥ २३ ॥ दो सौ इक्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९१ ॥

पराशरने कहा,कि—कोई किसीका उपकार नहीं करता है तथा कोई किसीको कुछ नहीं देता है, प्राणी जो कुछ करता है, वह सब अपने लिये ही करता है ॥ १ ॥ अपने माता पिताको, तथा अपने सहोदर भाईको भी यदि वे अपने बड़प्पन और स्नेहको छोड़ देते हैं तो मनुष्य उनको त्याग देता है फिर औरोंकी तो बात ही क्या ? ॥ २ ॥ ब्राह्मणका दिया हुआ दान और ब्राह्मणको दियाहुआ दान ये दोनों समान पुण्यफल देनेवाले हैं,

पुण्यतरं दानं यद्द्विजस्य प्रयच्छतः ॥ ३ ॥ न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम् । संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः ४ न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमार्जयेत् । शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत् ॥५॥ अपो हि प्रयतः शीतास्तापिता ज्वलनेन वा । शक्तितोऽतिथये दत्वा क्षुधार्तायाश्नुते फलम् ॥ ६ ॥ रंतिदेवेन लोकेष्टा सिद्धिः प्राप्ता महात्मना । फलपत्रैरथो मूलैर्मुनीनर्चितवांश्च सः ॥७॥ तैरेव फलपत्रैश्च स माठरमतोपयत् । तस्माल्लेभे परं स्थानं शैव्योपि पृथिवीपतिः ॥८॥ देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा । ऋणवाञ्जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ९

दान तथा प्रतिग्रह इन दोनों कर्मोंमेंसे दानका प्रतिग्रह करनेसे दानका देना श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥ जो धन न्यायसे मिला हो और जो धन न्यायसे बढ़ा हुआ हो उस धनको धर्म करनेके लिये प्रयत्न से रक्खे, ऐसा धर्मशास्त्रका निश्चय है ॥ ४ ॥ धर्माचरण करने वाले पुरुषको धर्म करनेके लिये क्रूर कर्म करके धन संग्रह न करना चाहिए, परन्तु अपनी शक्तिके अनुसार सब कर्म करने चाहियें और अधर्मसे संपत्ति पानेकी इच्छा न करनी चाहिये ५ पुरुष पूर्णश्रद्धासे शीतल अथवा अग्नि पर गरम किये हुए जल को तृषातुर अतिथिको देता है तो उसको क्षुधातुर को भोजन देनेकी समान फल मिलता है ॥ ६ ॥ महात्मा रन्तिदेवने फलोंसे पत्तोंसे और कन्दोंसे मुनियोंकी पूजा करके जगत्की इष्ट गति पाई थी ॥७। राजा शिविके पुत्र शैव्य ने भी फल तथा पत्तोंसे अपने परिचारकों सहित सूर्यनारायण को सन्तुष्ट कर परमपद पाया था ॥ ८ ॥ सब मनुष्य जबसे जन्मते हैं तबसे ही देवता अतिथि सेवक आदि पोष्यवर्गके तथा अपने माता पिता तथा आत्माके ऋणी होकर उत्पन्न होते हैं, अतः उनके ऋणसे छूटनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये९

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा। पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥१०॥ वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च। यथावद्भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत्कर्म आदितः ॥ ११ ॥ प्रयत्नेन च संसिद्धा धनैरपि विवर्जिताः। सम्यग्घुत्वा हुतवहं मुनयः सिद्धिमागताः ॥१२॥ विश्वामित्रस्य पुत्रत्वमृचीकतनयोऽगमत्। ऋग्भिः स्तुत्वा महाबाहो देवान् वै यज्ञभागिनः ॥ १३ ॥ गतः शुक्रत्वमुशना देवदेवप्रसादनात्। देवीं स्तुत्वा तु गगने मोदते यशसा वृतः ॥ १४ ॥ असितो देवलश्चैव तथा नारदपर्वतौ। कक्षीवान् जामदग्न्यश्च रामस्तांड्यस्तथात्मवान् ॥१५॥ वसिष्ठो जमदग्निश्च

वेदाध्ययन करके महर्षियोंके ऋणसे छूट जाता है, यज्ञ करके पितरोंके ऋणसे छूटता है और अतिथियोंका सत्कार करके मनुष्य ऋणसे छूटजाता है ॥१०॥ और वेदशास्त्रके श्रवणसे, मननसे, पञ्चमहायज्ञ करने पर शेष रहेहुए अन्नके भक्षण करनेसे तथा अपने शरीरकी रक्षा करनेसे मनुष्य ऋणसे छूट जाता है, अपने पुत्रादि पोष्यवर्गका जन्मसे आरम्भ कर जातकर्म संस्कार आदि और परिपालन आदिसे पोषण करके (पोष्यवर्गके) ऋणसे छूटना चाहिये ॥ ११॥ मुनि (धन रहित थे परन्तु वे) प्रयत्न (ध्यान धारणा) से सिद्ध हुए थे, ऐसे ही उन्होंने (ध्यान धारणारूपी) हव्यसे मनका आत्मारूपी यज्ञमें होम करके परमसिद्धि पाई थी ॥ १२ ॥ हे महाभुज राजन्! ऋचीकके पुत्र यज्ञ में भाग लेनेवाले देवताओंकी ऋचाओंसे स्तुति करके (दूसरे जन्ममें) विश्वामित्रके पुत्र हुए थे ॥१३॥ श्रीमहादेवजीकी कृपासे उशना शुक्रत्वको प्राप्त हुए थे और उमादेवीकी स्तुति करके वह आकाशमें प्रकाशित होरहे हैं ॥ १४ ॥ असित, देवल, नारद और पर्वत, कक्षीवान्, जमदग्निके पुत्र परशुराम, आत्मज्ञानी ताण्ड्य ॥ १५ ॥ वसिष्ठ, जमदग्नि ऋषि, विश्वामित्र और अत्रि

विश्वामित्रोऽत्रिरेव च। भरद्वाजो हरिश्मश्रुः कुण्डधारः श्रुतश्रवाः१६ एते महर्षयः स्तुत्वा विष्णुमृग्भिः समाहिताः। लेभिरे तपसा सिद्धिं प्रसादाचस्य धीमतः ॥ १७ ॥ अनर्हाश्चार्हतां प्राप्ताः संतः स्तुत्वा तमेव ह । न तु वृद्धिमिहान्विच्छेत् कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्॥१८॥ येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्। धर्म वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकांक्षया ॥ १९ ॥ आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तमः। वेदा हि सर्वे राजेन्द्र स्थितास्त्रिष्वग्निषु प्रभो२० स चाप्यग्न्याहितो विप्रः क्रिया यस्य न हीयते। श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम् ॥ २१ ॥ अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा। गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम् २२

ऋषि, भरद्वाज, हरिश्मश्रु, कुण्डधार और श्रुतश्रवा ॥ १६ ॥ ये महर्षि समाहित चित्तसे विष्णुकी ऋचाओंसे स्तुति करके विष्णु के प्रसादसे सिद्धिको प्राप्त हुये थे ॥ १७ ॥ अपवित्र पुरुष भी भगवान् विष्णुकी भक्ति करके विष्णुको ही प्राप्त होगये हैं,किसी मनुष्यको भी पापकर्म करके इस लोकमें सुख पानेका भरोसा न करना चाहिये ॥१८॥ धर्माचरण करनेसे जो धन मिलता है,वह सत्यधन मानाजाता है,उस धनको धिक्कार है जो कि अधर्माचरण करनेसे मिलता है,धर्म सनातन है, जगत्में धनके लोभसे उसको न त्यागना चाहिये ॥१९॥ हे राजेन्द्र ! सब वेद तीन (दक्षिण गार्हपत्य और आहवनीय) अग्नियोंमें निवास करते हैं अतः अग्निहोत्रीको धर्मात्मा और उत्तम कर्म करनेवाला समझना चाहिये ॥ २० ॥ जिसकी क्रियायें कभी नष्ट नहीं होती हैं वह अग्निहोत्री कहलाता है, अग्निहोत्री बनकर धर्मक्रियायें न करने से अग्निहोत्र न करना ही अच्छा है ॥ २१ ॥ हे नरशार्दूल ! अग्निहोत्रके अग्निकी, माताकी, उत्पन्न करनेवाले पिताकी तथा आचार्यकी नम्रतासे सेवा करनी चाहिये ॥ २२ ॥ जो पुरुष

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी विद्वान्क्लीवः पश्यति प्रीतियोगात् । दाक्ष्येण हीनां धर्मयुक्तो न दांतो लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः ॥ २३ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९२ ॥

पराशर उवाच ! वृत्तिः सकाशाद्वर्णेभ्यस्त्रिभ्यो हीनस्य शोभना । प्रीत्योपनीता निर्दिष्टा धर्मिष्ठान् कुरुते सदा ॥ १ ॥ वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा । न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत् ॥ २ ॥ सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः । नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः ॥ ३ ॥ यथोदयगिरौ द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते । तथा सत्सन्निकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ४

अभिमानको त्याग कर वृद्धोंकी सेवा करता है, विद्वान् होने पर कामनारहित हो सब प्राणियोंकी ओर प्रीतिपूर्वक देखता है, व्यर्थ परिश्रमको त्याग देता है, इन्द्रियोंको नियममें रखता है और हिंसारहित होता है, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषकी जगत्में सत्पुरुष पूजा करते हैं ॥ २३ ॥ दो सौ बानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९२ ॥

पराशरने कहा, कि-हे राजन् ! तीनों वर्णोंकी अन्तिम हीनवर्ण शूद्रको यथारीति सेवा करके अपनी आजीविका चलानी चाहिये, प्रेम और श्रद्धापूर्वक कीहुई सेवा शूद्रको धर्मनिष्ठ बनाती है ॥ १ ॥ शूद्रोंकी पितृपैतामही कोई आजीविका निश्चित नहीं होती है, उसको सेवाके अतिरिक्त और कोई धर्म धारण नहीं करना चाहिये शूद्रको सेवाधर्मका ही पालन करना चाहिये ।२। मेरा मत है, कि-शूद्रोंको धर्मनिष्ठ सत्पुरुषोंके साथ सब अवस्थोंमें संसर्ग करना अच्छा है परन्तु असत्पुरुषोंका संसर्ग करना अच्छा नहीं है ॥ ३ ॥ उदयाचल पर स्थित जवाहिरात और धातु सूर्यकी समीपतासे प्रकाशित होती हैं, ऐसे ही

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम् । तादृशं कुरुते रूपमेत- देवमवेहि मे ॥ ५ ॥ तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कदाचन । अनित्यमिह मर्त्यानां जीवितं हि चलाचलम् ॥६॥ सुखे वा यदि वा दुःखे वर्तमानो विचक्षणः । यश्चिनोति शुभान्येव स तन्त्राणीह पश्यति ॥७॥ धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् । न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥ ८ ॥ यो हृत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता । स शब्दमात्रफलभाक् राजा भवति तस्करः ९ स्वयंभूरसृजच्चाग्रे धातारं लोकसत्कृतम्। धातासृजत्पुत्रमेकं लोकानां धारणे रतम् ॥ १० ॥ तमर्चयित्वा वैश्यस्तु कुर्यादत्यर्थमृद्धिमत् ।

सत्पुरुषोंके संगसे नीच वर्णका पुरुष प्रकाशित होने लगता है ॥ ४ ॥ श्वेत वस्त्र पर जैसा रङ्ग चढाया जाता है, तैसा काम शूद्रोंके सम्बन्धमें है ॥ ५ ॥ मनुष्यको सदा सद्गुणों पर प्रेम रखना चाहिये, दोषोंकी ओर कभी दृष्टि न डालनी चाहिये क्योंकि-जगत्में मनुष्योंका जीवन अनित्य और चञ्चल है॥६॥ जो विचक्षण पुरुष सुखमें भी और दुःखमें भी शुभकर्म किये ही जाता है, वही शास्त्रके तत्त्वको जानता है ॥ ७ ॥ धर्मरहित कर्म करनेसे कभी बडा भारी फल मिलता है तब भी चतुर पुरुष उस कार्यको नहीं करता है, क्योंकि-इस लोकमें धर्मरहित कर्म हितकारक नहीं समझा जाता ॥ ८ ॥ जो लुटेरा राजा दूसरे न्यायवान् राजाकी सहस्रों गौओंको हर लाकर उनका (अयोग्य पुरुषोंको) दान देता है, वह राजा प्रजाकी रक्षा करने वाला नहीं माना जाता वह तो नाममात्रका ही दानी माना जाता है, वास्तवमें तो वह तस्कर ही है ॥ ९ ॥ भगवान् स्वयंभूने सृष्टिके आरम्भमें लोकोंसे सत्कृत धाताका निर्माण किया था, उस धाताने लोकोंकी रक्षा करनेके लिये पर्जन्य देवता नामवाले एक पुत्रको उत्पन्न किया था ॥ १० ॥ वैश्य उनकी पूजा करके

रक्षितव्यं तु राजन्यैरुपयोज्यं द्विजातिभिः॥११॥अजिह्मैरशठक्रोधै-र्हव्यकव्यप्रयोक्तृभिः। शूद्रैर्निर्माजनं कार्यमेवं धर्मो न नश्यति १२ अप्रनष्टे ततो धर्मे भवन्ति सुखिताः प्रजाः। सुखेन तासां राजेन्द्र मोदन्ते दिवि देवताः॥ १३॥ तस्माद्यो रक्षति नृपः स धर्मेणेह पूज्यते। अधीते चापि यो विप्रो वैश्यो यश्चार्जने रतः ॥ १४॥ यश्च शुश्रूषते शूद्रः सततं नियतेंद्रियः। अतोऽन्यथा मनुष्येंद्र स्व-धर्मात्परिहीयते॥ १५॥ प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महा-फलाः। न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः॥ १६॥ सत्कृत्य हि द्विजातिभ्यो यो ददाति नराधिपः। यादृशं तादृशं

खेती वाडी और पशुओंकी वृद्धि करें, राजा प्रजाका पालन करे और ब्राह्मणको केवल उपभोग ही करना चाहिये॥ ११॥ शूद्र दम्भरहित होकर तथा शठता और क्रोधरहित होकर यज्ञके पात्रोंको इकठा करे, वेदी तथा जहाँ यज्ञ होता हो उस स्थलको झाड बुहार कर साफ करे, इसप्रकार वर्णाश्रमका अनुसरण किया हुआ कर्म कभी भी धर्मरहित नहीं माना जायगा॥१२॥ धर्मका नाश न होने पर प्रजा सुखी होती है, और प्रजा सुखी रहनेसे हे राजन्! वह देवताओंको हव्यसे तृप्त करती है, इससे वह भी स्वर्गमें सुख भोगती है॥ १३॥ जो राजा प्रजाकी धर्म-पूर्वक रक्षा करता है वह जगत्में पूजा जाता है, जो वैश्य धन सम्पादन करनेमें लगा रहता है वह पूजा जाता है॥ १४॥ और जो शूद्र नित्य इन्द्रियोंको वशमें रखकर तीनों वर्णोंकी सेवा करता है वह पूजा जाता है, परन्तु ब्राह्मण आदि यदि अपने धर्मसे विपरीत आचरण करते हैं तब वे अपने धर्मसे भ्रष्ट होजाते हैं १५. (अन्यायसे पाई हुई) सहस्रों कौड़ियोंके दानकी अपेक्षा (अपने) प्राणोंको कष्ट देकर न्यायसे पाई हुई वीस कौड़ियोंका दान भी महाफल देता है॥१६॥ जो राजा ब्राह्मणोंका सत्कार करके उनको

नित्यमश्नाति फलमूर्जितम् ॥१७॥ अभिगम्य च यत्तुष्ट्या दत्तमाहुरभिष्टुतम् । याचितेन तु यद्दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः ॥ १८ ॥ अवज्ञया दीयते यत्तथैवाश्रद्धयापि या । तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥१९॥ अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा । तथा प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संश्रयात् ॥ २० ॥ दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु । धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये युधि निर्जिताः । वैश्ये न्यायार्जिता-

---

श्रद्धासे जितना दान देता है वह उतना ही उत्तम फल पाता है १७ दानपात्र पुरुषके पास जाकर उसको सन्तुष्ट करनेके लिये जो दान दिया जाता है, वह दान सब दानोंसे श्रेष्ठ माना जाता है और याचना करने पर दिया हुआ दान मध्यम दान कहाता है ॥ १८ ॥ परन्तु जो दान याचकका अपमान करके दिया जाता है और जो दान अश्रद्धासे दिया जाता है उस दानको सत्य कहने वाले मुनि अधम दान बताते हैं ॥ १९ ॥ संसारसागरमें उतरते हुए मनुष्यको अनेक प्रकारके उपायोंसे उस समुद्रमेंसे तरनेका उद्योग करना चाहिये तथा गृहरूपी पाशमेंसे जिस प्रकार मुक्ति मिले, उस प्रकारका यत्न करना चाहिये ॥ २० ॥ ब्राह्मण इन्द्रियोंके निग्रहसे शोभा पाता है, क्षत्रिय विजयसे शोभा पाता है, वैश्य धनसे शोभा पाता है और शूद्र नित्य सेवाका उत्साह रखनेसे शोभा पाता है ॥२१॥ दो सौ तिरानवेवाँ अध्याय समाप्त २९३

पराशरने कहा, कि-हे राजन् ! ब्राह्मणोंको प्रतिग्रहसे, क्षत्रियों विजय करनेसे वैश्यको अपने धर्मानुसार (खेती आदिसे) और शूद्रको तीनों वर्णोंकी सेवासे मिला हुआ ॥ १ ॥ थोड़ा धन भी

श्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः ॥१॥ स्वल्पोप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः। नित्यं त्रयाणां वर्णानां शुश्रूषुः शूद्र उच्यते ॥ २ ॥ क्षत्रधर्मा वैश्यधर्माऽनावृत्तिः पतते द्विजः। शूद्रधर्मा यदा तु स्या-त्तदा पतति वै द्विजः ॥३॥ वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पो-पजीवनम्। शूद्रस्यापि विधीयंते यदा वृत्तिर्न जायते ॥४॥ रंगा-वतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम्। मद्यमांसोपजीव्यं च विक्रयं लोह-चर्मणोः ॥५॥ अपूर्विणा न कर्तव्यं कर्म लोके विगर्हितम्। कृत-पूर्वं तु त्यजतो महान्धर्म इति श्रुतिः ॥६॥ संसिद्धः पुरुषो लोके

अच्छा माना जाता है, उससे जो धर्म किया जाता है वह महा-फल देता है, शूद्रजातिको तीनों वर्णोंकी सेवा करनेका अधिकार सदासे है ॥ २ ॥ ब्राह्मण आजीविका न मिलने पर क्षत्रिय अथवा वैश्यके कर्मसे आजीविका करनेसे पतित नहीं होता है, परन्तु ब्राह्मण शूद्रके धर्मसे आजीविका करने पर पतित होजाता है ॥ ३ ॥ शूद्र सेवा आदिसे अपनी आजीविका न चला सकता हो तो उसको व्यापार, पशुपालन, चित्रलेखन, शिल्पकला आदि से आजीविका करने पर दोष नहीं लगता है, क्योंकि-ये सब काम सेवा ही माने जाते हैं ॥ ४ ॥ जिसने पहिले स्त्रीका वेश धारण करके नाटककी रंगभूमिमें उतरनेका, सूक्ष्म वस्त्र पहर चमड़ेकी आकृतियों द्वारा राजा और मन्त्रियोंकी नकलका, मद्य तथा मांस वेचकर आजीविका करनेका, लोहे तथा चमड़ेके व्यापार तथा जगत्में निन्दनीय और भी जो कर्म हैं उनका काम न किया हो तो उसको अपनी आजीविका करनेके लिये ऐसे काम न करने चाहियें, हमने सुना है, कि-इन कामोंको करता हुआ पुरुष यदि इनको त्याग देता है तो उसको इससे महापुण्य होता है ॥ ५-६ ॥ धन पानेसे मनमें अहंकार आजाने पर यदि कोई पुरुष पापाचरण करे तो उसके पापाचरणका दूसरे मनुष्यों

यदा चरति पापकम् । मदेनाभिप्लुतमनास्तच्च न ग्राह्यमुच्यते॥७॥ श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः । दांता धर्मप्रधानाश्च न्यायधर्मानुवृत्तिकाः ॥ ८ ॥ धर्म एव सदा नृणामिह राजन्प्रशस्यते । धर्मवृद्धा गुणानेव सेवंते हि नरा भुवि ॥९॥ तं धर्ममसुरास्तात नामृष्यन्त जनाधिप । विवर्धमानाः क्रमशस्तत्र तेऽन्वाविशन् प्रजाः ॥ १० ॥ तासां दर्पः समभवत् प्रजानां धर्मनाशनः । दर्पात्मनां ततः पश्चात् क्रोधस्तासामजायत ॥ ११ ॥ ततः क्रोधाभिभूतानां वृत्तं लज्जासमन्वितम् । ह्रीश्चैवाप्यनशद्राजंस्ततो मोहो व्यजायत ॥ १२ ॥ ततो मोहपरीतास्ता न पश्यन्त यथा पुरा । परस्परावमर्देन वर्धयन्त्यो यथासुखम् ॥ १३ ॥ ताः प्राप्य तु स

को अनुकरण न करना चाहिये ॥ ७ ॥ पुराणोंमें सुना जाता है, कि–पहिले कोई २ मनुष्य ही पाप करता था अधिकतर प्रजा इन्द्रियोंका निग्रह करने वाली, धर्मका सत्कार करने वाली और नीतिके अनुसार चलने वाली थी, यदि प्रजा अधर्माचरण करती थी तो उसको "धिक्कार है" यही दण्ड दिया जाता था ॥ ८ ॥ जिस समयकी यह बात है, उस समय इस जगत्में मनुष्य धर्मको ही प्रशंसनीय समझते थे, प्रत्येक काम धर्मानुकूल करते थे और सद्‌–गुणोंका ही सेवन करते थे ॥ ९ ॥ हे वत्स ! उस धर्मको असुर सह न सके और उन्होंने क्रमशः (काम क्रोध आदिरूपसे बढ़ कर) प्रजाके शरीरमें प्रवेश करना आरंभ कर दिया ॥१०॥ तब धर्मको नष्ट करनेवाला अहंकार प्रजामें बढ़ गया, प्रजाके अहंकारी होने पर उनमें क्रोधने प्रवेश किया ॥ ११ ॥ तब क्रोध से भरी हुई प्रजाका आचरण हे राजन् ! विनय और लज्जारहित होगया, लज्जाके नष्ट होने पर उनको मोह उत्पन्न हुआ ॥१२॥ जब सब प्रजा मोहमें पड़ गई तब उनको पहिलेकी समान ज्ञान नहीं रहा, उसके परिणामसे वे सब अपने आप ही सुख पानेके

धिग्दण्डो न कारणमतो भवेत् । ततोऽभ्यगच्छन्देवांश्च ब्राह्मणां-श्चावमन्य ह ॥ १४ ॥ एतस्मिन्नेव काले तु देवा देववरं शिवम् । अगच्छन्शरणं धीरं बहुरूपं गुणाधिकम् ॥ १५ ॥ तेन स्म ते गगं-नगाः सपुराः पातिताः क्षितौ । त्रिधाप्येकेन बाणेन देवाप्यायित-तेजसा ॥१६॥ तेषामधिपतिस्त्वासीद्भीमो भीमपराक्रमः । देवतानां भयकरः स हतः शूलपाणिना ॥ १७ ॥ तस्मिन्हतेऽथ स्वं भावं प्रत्यपद्यंत मानवाः । प्रापद्यंत च वेदान् वै शास्त्राणि च यथा

लिये एक दूसरेको उत्पीड़ित करने लगे ॥ १३ ॥ इस प्रकार जब प्रजा उद्धत होगई तब "धिक्" नामक दण्ड असफल होने लगा, और प्रजा देवता और ब्राह्मणोंका अपमान कर (देवस्वरूप शम दम आदि पर ध्यान न देकर) विषयोंका सेवन करने लगी १४ तब देवता देवताओंमें श्रेष्ठ धीर, बहुरूपधारी और गुणोंमें बढ़े हुए शिवजीकी शरणमें गए (आध्यात्मिक अर्थ-शम दम आदि देवता ईश्वरसे भी श्रेष्ठ कल्याण करनेवाले, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के अभिमानी विश्व तैजस प्राज्ञ-विराट और सूत्रान्तर्यामीसे पर चौथे ब्रह्म (शिव) जो कि-मायासे बहुतसे रूपोंको धारण कर लेता है तथा जो नित्य ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणोंसे अधिक है उसकी शरणमें गए ॥ १५ ॥ (देवताओंके विनय करने पर) शिवजीने देवताओंसे तेजस्वी हुए एक बाणको मार कर आकाश नगरमें घूमनेवाले काम, क्रोध और लोभ नाम वाले तीनों असुरों को उनके (स्थूल सूक्ष्म और कारणशरीरों) पुरों सहित पृथ्वी पर (शुद्धचिन्मात्रमें) गिरा (लय कर) दिया ॥१६॥ इन असुरों का स्वामी भयंकर और महापराक्रमी (महामोह) था, वह देवताओं को भय देता था उसको भी शूलपाणि शिवने मार डाला १७ शिवने (महामोह नामक) असुरके अधिपतिको (प्रणवरूपी धनुष पर आत्मारूपी बाण चढ़ाकर) मार डाला तब मनुष्य अपने

पुरा ॥ १८ ॥ ततोऽभिषिच्य राज्येन देवानां दिवि वासवम् । सप्तर्षयश्चान्वयुंजन्नराणां दण्डधारणे ॥ १९ ॥ सप्तर्षीणामथोर्ध्वं च विपृथुर्नाम पार्थिवः । राजानः क्षत्रियाश्चैव मण्डलेषु पृथक् पृथक् ॥ २० ॥ महाकुलेषु ये जाता वृद्धाः पूर्वतराश्च ये । तेषामप्यासुरो भावो हृदयान्नापसर्पति ॥२१॥ तस्मात्तेनैव भावेन सानुषंगेन पार्थिवाः । आसुराण्येव कर्माणि न्यसेवन् भीमविक्रमाः २२ अत्यतिष्ठंश्च तेष्वेव तान्येव स्थापयन्त्यपि । भजन्ते तानि चाद्यापि ये बालिशतरा नराः ॥२३॥ तस्मादहं ब्रवीमि त्वां राजन्संचिन्त्य शास्त्रतः । संसिद्धाधिगमं कुर्यात्कर्म हिंसात्मकं त्यजेत् ॥ २४ ॥ न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद्विचक्षणः । धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न

स्वरूप (ब्रह्मभाव)को प्राप्त होगए तथा उनको पहिलेकी समान वेदोंका तथा शास्त्रोंका ज्ञान होगया ॥ १८ ॥ फिर पुरातन (वशिष्ठ आदि) सप्तर्षियोंने स्वर्गमें इन्द्रका देवराजपद पर अभिषेक किया और वे लोकशिक्षाके काममें लग गए ॥ १९ ॥ सप्तर्षियोंके अनन्तर विपृथु नामक राजा राज्य करने लगा और दूसरे राजे भी भिन्न २ देशोंमें माण्डलिक राजाओंकी समान राज्य करने लगे ॥ २० ॥ (महादेवजीने जब प्राणियोंके मनमेंसे दुष्ट संपत्तियोंको नष्ट कर डाला तव भी) प्राचीन कालके बहुतसे वृद्धोंके हृदयोंमेंसे आसुरभाव दूर नहीं हुआ ॥ २१ ॥ इस प्रकार आसुरी भावके परम्परासंबन्धसे भयंकर पराक्रमी राजे भी आसुरी कर्म करने लगे ॥ २२ ॥ जो मनुष्य महामूर्ख हैं वे अब तक आसुरी कर्म ही करते चले जाते हैं, काम, क्रोध आदि आसुरी कर्मोंकी स्थापना करते हैं और सदा ही आसुरी कर्म किये जाते हैं ॥ २३ ॥ अतः हे राजन् ! मैं तुमसे शास्त्रानुसार विचार करके कहता हूँ, कि हिंसात्मक मिथ्या कर्मका त्याग करदेना चाहिये और आसुरी भावको दूर कर आत्मज्ञान सम्पादन करना चाहिये ॥ २४ ॥

तत्कल्याणमुच्यते ॥ २५ ॥ स त्वमेवविधो दान्तः क्षत्रियः प्रिय-बान्धवः । प्रजा भृत्यांश्च पुत्रांश्च स्वधर्मेणानुपालय ॥ २६ ॥ इष्टानिष्टसमायोगे वैरं सौहार्दमेव च । अथ जातिसहस्राणि बहूनि परिवर्तते ॥ २७ ॥ तस्माद्गुणेषु रज्यथा मा दोषेषु कथञ्चन । निर्गुणोऽपि हि दुर्बुद्धिरात्मनः सोऽतिरज्यते ॥२८। मानवेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः । न तथान्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह॥२९॥ धर्मशीलो नरो विद्वानीहकोऽनीहकोऽपि वा । आत्मभूतः सदा लोके चरेद्भूतान्यहिंसया ॥३०॥ यदा व्यपेतहृल्लेखं मनो भवति

विचक्षण पुरुष अधर्ममार्गसे धन इकट्ठा न करे, तैसे ही धर्म करने के लिये न्यायमार्गको त्याग कर धनका संग्रह न करे, क्योंकि ऐसा धन कल्याणकारी नहीं माना जाता ॥ २५ ॥ हे राजन् ! तू इस प्रकार क्षत्रिय बन ! अपनी इन्द्रियोंका दमन कर, बान्धवों से प्रीति कर और अपनी प्रजा, सेवक, और पुत्रोंका धर्मानुसार पालन कर ॥ २६ ॥ जीवको सहस्रों जन्म धारण करने पड़ते हैं और प्रत्येक जन्ममें सुखमें स्नेहियोंसे और दुःखमें शत्रुओंसे समागम होता है तब वैर और स्नेह होजाता है ॥ २७ ॥ अतः तुझे गुणोंसे प्रेम करना चाहिये और दोषोंसे नहीं, दुष्ट मनुष्य गुणरहित होता है, परन्तु अपने गुणोंको सुन कर वह प्रसन्न होता है, गुणका ऐसा ही महात्म्य है ॥ २८ ॥ हे महाराज ! मनुष्योंमें जैसे धर्म तथा अधर्म आदि सद्गुण और दुर्गुण रहते हैं, ऐसे वे अन्यप्राणियों (पशु आदि) में नहीं रहते हैं ॥ २९ ॥ मनुष्यको अन्न आदिकी आवश्यकता हो अथवा न हो तब भी उसको धर्मपरायण रहना चाहिये, जगत्में सबको अपने समान समझना चाहिये, किसी भी प्राणीकी हिंसा न कर जगत्में अपनी आजीविका करनी चाहिये ॥ ३० ॥ मनुष्यका मन जब वासना और अहंकारसे रहित होजाता है तब उसका कल्याण होता है

तस्य वै । नानृतं चैव भवति तदा कल्याणमृच्छति ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां चतुर्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

पराशर उवाच । एष धर्मविधिस्तात गृहस्थस्य प्रकीर्तितः । तपोविधिं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥ प्रायेण च गृहस्थस्य ममत्वं नाम जायते । संगागतं नरश्रेष्ठ भावै राजसतामसैः ॥२॥ गृहाण्याश्रित्य गावश्च क्षेत्राणि च धनानि च । दाराः पुत्राश्च भृत्याश्च भवन्तीह नरस्य वै ॥ ३ ॥ एवं तस्य प्रवृत्तस्य नित्यमेवानुपश्यतः । रागद्वेषौ विवर्धेते ह्यनित्यत्वमपश्यतः ॥ ४ ॥ रागद्वेषाभिभूतं च नरं द्रव्यवशानुगम् । मोहजाता रतिर्नाम समुपैति नराधिप ॥५॥ कृतार्थं भोगिनं मत्वा सर्वो रतिपरायणः ।

अर्थात् वह मोक्षको पाता है ॥ ३१ ॥ दोसौ चौरानवेंवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६४ ॥ छ ॥ छ ॥

पराशरने कहा, कि–हे तात ! इस प्रकार गृहस्थके धर्मकी विधि मैंने तुमसे कही अब तुमसे गृहस्थके धर्म तथा तपकी विधि कहता हूँ, उसको तू सुन ॥ १ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! सामान्यतः देखा जाता है कि–गृहस्थ पुरुषको रजोगुण और तमोगुणके संगसे प्रायः नाशवान् पदार्थों पर ममता होजाती है ॥ २ ॥ मनुष्यको गृहस्थाश्रममें आने पर क्षेत्र, धन, स्त्री, पुत्र तथा सेवकोंसे संबन्ध होजाता है ॥३॥ गृहस्थाश्रममें आने पर उस पुरुषकी दृष्टि उनमें ही लगी रहती है, उसको ये सब पदार्थ अनित्य प्रतीत नहीं होते परन्तु वह इनको नित्य समझने लगता है और आत्मोन्नतिके स्थानमें उसको रागद्वेष होने लगते हैं ॥ ४ ॥ हे राजन् ! जब मनुष्य राग और द्वेषसे पराजित होजाता है और जब धनके वशमें हो उसको पानेके लिये रात दिन परिश्रम किया करता है तब मोहजन्य रति उसको घेर लेती है ॥ ५ ॥ सब रतिपरायण

लाभं ग्राम्यसुखादन्यं रतितो-नानुपश्यति ॥ ६ ॥ ततो लोभाभि-भूतात्मा संगाद्वर्धयते जनम् । पुष्ट्यर्थं चैव तस्येह जनस्यार्थं चिकी-र्षति ॥ ७ ॥ स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः । बालस्नेह-परीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते ॥ ८ ॥ ततो मानेन सम्पन्नो रक्ष-न्नात्मपराजयम् । करोति येन भोगी स्यामिति तस्माद्विनश्यति ६ तथा हि बुद्धियुक्तानां शाश्वतं ब्रह्मवादिनाम् । अन्विच्छतां शुभं कर्म नराणां त्यजतां सुखम् ॥१०॥ स्नेहायतननाशाच्च धननाशाच्च पार्थिव । आधिव्याधिप्रतापाच्च निर्वेदमुपगच्छति ॥११॥ निर्वेदा-दात्मसम्बोधः संबोधाच्छास्त्रदर्शनम् । शास्त्रार्थदर्शनाद्राजंस्तप

मनुष्य अपने आत्माको भोगी और कृतार्थ मानते हैं और विषय-सुखके लाभसे किसी लाभको अधिक नहीं मानते ॥ ६ ॥ मनुष्य रतिजन्य सुख मिलने पर अपने सुखके लिये दास दासी आदि कुटुंबकी वृद्धि करता है और उनका पोषण करनेके लिये व्यापार आदिसे धनको बढ़ाता है ॥ ७ ॥ मनुष्य पापकृत्यको समझता हुआ भी अपने बालबच्चोंके स्नेहके कारण धन पानेके लिये पापकर्म करता है और जब वह धन नष्ट होजाता है, तब शोक करता है ॥ ८ ॥ वह सन्मान न पाकर अपनी हेठी न होने देनेके लिये यत्न करता है तथा नानाप्रकारके भोग भोगनेका मन में विचार करके वैभवोंका संग्रह करता है, परन्तु उनमें पराजित होकर अन्तमें विनष्ट होजाता है ॥ ९ ॥ जो कर्मफलसे संबन्ध नहीं रखते हैं, जो ब्रह्मवादी है तथा निषिद्ध काम्यकर्मका त्याग कर परोपकारी धर्मकी वृद्धि करनेवाले कर्म करते हैं उनको सना-तन सुख मिलता है ॥ १० ॥ परन्तु हे राजन् ! संसारी जीवको जो धनका नाश होनेसे, स्नेहके सम्बन्धसे तथा आधि व्याधिके संतापसे खेद ही होता है ॥११॥ (धन धान्यके नाशसे अथवा पुत्र कलत्र आदिके नाशसे जो उदासीनता आती है) उस खेद

एवानुपश्यति ॥१२॥ दुर्लभो हि मनुष्येंद्र नरः प्रत्यवमर्शवान् । यो वै प्रियसुखे क्षीणस्तपः कर्तुं व्यवस्यति ॥१३॥ तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते । जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् १४ प्रजापतिः प्रजाः पूर्वमसृजत्तपसा विभुः । क्वचित्क्वचिद्ब्रह्मपरो व्रतान्यास्थाय पार्थिव ॥ १५ ॥ आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः । विश्वेदेवास्तथा साध्याः पितरोऽथ मरुद्गणाः ॥१६॥ यक्षराक्षसगन्धर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः । संसिद्धास्तपसा तात ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥ १७ ॥ ये चाग्रौ ब्राह्मणाः सृष्टां ब्रह्मणा तपसा पुरा । ते भावयन्तः पृथिवीं विचरन्ति दिवं तथा १८

से वह आत्माका स्वरूप जाननेकी चेष्टा करता है, इस चेष्टासे वह शास्त्रोंका तत्त्व जानना चाहता है, और शास्त्रोंका तत्त्व जानने पर उसकी समझमें आता है, कि-तप कल्याणकारी है ॥१२॥ हे राजेन्द्र ! इस प्रकार सारासारका वस्तुका विचार करनेवाले पुरुष जगत्में कठिनसे मिलते हैं, जब स्त्री पुत्र आदि प्रियसम्बन्धी मरजाते हैं और दुःख उत्पन्न होता है, तब ही पुरुष तपस्या करनेका प्रयत्न करता है ॥ १३ ॥ हे तात ! तप सबके लिये है इस साधारण धर्मको तो शूद्र भी कर सकता है, तपसे जितेन्द्रिय पुरुष अपनी इन्द्रियोंको जीत सकता है, यह तप स्वर्गका मार्ग दिखानेवाला है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! पहिले व्यापक प्रजापतिने भी परब्रह्मपरायण होकर समय २ पर अनेक व्रत और तप करके प्रजाको उत्पन्न किया था ॥ १५ ॥ और हे तात ! आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, विश्वेदेवता, साध्य, पितर, पवन, ॥ १६ ॥ यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध तथा स्वर्गवासियोंने अपनी तपस्यासे सिद्धि पाई है ॥ १७ ॥ पहिले ब्रह्माजीने सृष्टिके आरंभमें तप करके ही ब्राह्मणोंको रचा था, वे ब्राह्मण भी अपने कर्ममें परायण रहने

मर्त्यलोके च राजानो ये चान्ये गृहमेधिनः । महाकुलेषु दृश्यन्ते तत्सर्वं तपसः फलम् ॥ १६ ॥ कौशिकानीह वस्त्राणि शुभान्याभरणानि च । वाहनासनयानानि तत्सर्वं तपसः फलम् ॥ २० ॥ मनोनुकूलाः प्रमदा रूपवत्यः सहस्रशः । वासः प्रासादपृष्ठे च तत्सर्वं तपसः फलम् ॥ २१ ॥ शयनानि च मुख्यानि भोज्यानि विविधानि च । अभिमेतानि सर्वाणि भवन्ति शुभकर्मिणाम् २२ नाप्राप्यं तपसः किंचित् त्रैलोक्येऽपि परन्तप । उपभोगपरित्यागः फलान्यकृतकर्मणाम् ॥२३॥ सुखितो दुःखितो वापि नरो लोभं परित्यजेत् । अवेक्ष्य मनसा शास्त्रं बुद्ध्या च नृपसत्तम२४ असन्तोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः । ततोऽस्य नश्यति

से इस पृथ्वी पर ही नहीं किन्तु स्वर्गमें भी अपनी इच्छानुसार विहार करते थे उन्होंने भी अपने तपसे ही सिद्धि पाई थी १८ और मृत्युलोकमें जो राजे और गृहस्थाश्रमी बड़े कुलोंमें जन्म लेते हैं वह सब (उनके पूर्वजन्मके) तपका फल है ॥१६॥ रेशमी वस्त्र, सुन्दर आभूषण, और वाहन आसन, आदि वैभव ये सब (पूर्वजन्मके) तपका फल है ॥ २० ॥ मनोनुकूल रूपवती सहस्रों स्त्रियें मिलना और उत्तम भवनमें निवास ये सब पूर्वजन्मके तपके फलसे ही मिलते हैं ॥ २१ ॥ वढ़िया पलंग भाँति भाँति २ के भोजन तथा सकल मनोवाञ्छित पदार्थ तप करने वालोंको मिलते हैं ॥ २२ ॥ हे शत्रुतापन राजन् ! तीनों लोक में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो तपसे न मिल सकती हो, जिनको ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है उनको वैराग्य-ज्ञान भी तप से ही मिल सकता है ॥ २३ ॥ मनुष्य सुखमें अथवा दुःखमें हो परन्तु लोभको त्याग कर बुद्धिपूर्वक शास्त्रविचार करे ॥ २४ ॥ असन्तोषसे दुःख होता है और लोभसे इन्द्रियसंभ्रम होता है और संभ्रम होनेसे अभ्यास न करनेसे जैसे विद्या विस्मृत

प्रज्ञा पिधेवाभ्यासवर्जिता ॥ २५ ॥ नष्टप्रज्ञो यदा तु स्यात्तदा न्यायं न पश्यति । तस्मात्सुखक्षये प्राप्ते पुमानुग्रं तपश्चरेत् २६ यदिष्टं तत्सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते । कृताकृतस्य तपसः फलं पश्यस्व यादृशम् ॥ २७ ॥ नित्यं भद्राणि पश्यन्ति विषयांश्चोपभुञ्जते । प्राकाश्यं चैव गच्छन्ति कृत्वा निष्कल्मषं तपः ॥ २८ ॥ अप्रियाण्यवमानांश्च दुःखं बहुविधात्मकम् । फलार्थी तत्फलं त्यक्त्वा प्राप्नोति विषयात्मकम् ॥ २९ ॥ धर्मे तपसि दाने च विधित्सा चास्य जायते । स कृत्वा पापकान्येव निरयं प्रतिपद्यते ३० सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम । सुवृत्ताद्यो न चलते शास्त्रचक्षुः स मानवः ॥ ३१ ॥ इषुप्रपातमात्रं हि स्पर्शयोगे रतिः

होजाती है, ऐसे ही लोभीकी प्रज्ञा नष्ट होजाती है ॥ २५ ॥ जब मनुष्यकी प्रज्ञाका नाश होजाता है,तब उसमें सदसद्-विवेक बुद्धि नहीं रहती अतः पुरुषको सुखके नष्ट होने पर उग्र तपस्या करनी चाहिये ॥ २६ ॥ इस जगत्में जो अपनेको प्रिय लगता है-उसको सुख कहते हैं और जिससे द्वेष होता है वह दुःख कहाता है, तप करनेसे सुख होता है और तप न करनेसे दुःख होता है इस प्रकार तू समझ ॥ २७ ॥ जो पुरुष पापरहित निष्काम तप करता है वह पुरुष सदा कल्याण पाता है, विषयों का उपभोग करता है तथा कीर्ति पाता है ॥ २८ ॥ परन्तु जो पुरुष फलकी इच्छासे तप करता है, वह पुरुष अप्रिय पदार्थ अपमान और अनेक प्रकारके दुःख पाता है और तपके (उत्तम) फलको त्याग कर विषयोंके फल (दुःख)को पाता है और जिस पुरुषको धर्म, तप और दान करनेकी इच्छा नहीं होती है तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्म करने की ही इच्छा होती है, वह पुरुष पापकर्म करके नरकमें ही पड़ता है ॥ ३० ॥ परन्तु हे नरोत्तम ! जो पुरुष सुख, दुःख इन दोनों अवस्थाओंमें अपने सदाचारसे भ्रष्ट

स्मृता । रसने दर्शने घ्राणे श्रवणे च विशाम्पते ॥३२॥ ततोऽस्य जायते तीव्रा वेदना तत्क्षयात्पुनः । अबुधा न प्रशंसन्ति मोक्षं सुखमनुत्तमम् ॥ ३३ ॥ ततः फलार्थं सर्वस्य भवन्ति ज्यायसे गुणाः । धर्मवृत्त्या च सततं कामार्थाभ्यां न हीयते ॥३४॥ अप्रयत्नागताः सेव्या गृहस्थैर्विषयाः सदा । प्रयत्नेनोपगम्यश्च स्वधर्म इति मे मतिः ॥ ३५ ॥ मानिनां कुलजातानां नित्यं शास्त्रार्थचक्षुषाम् । क्रियाधर्मविमुक्तानामशक्त्या संवृतात्मनाम् ॥ ३६ ॥ क्रियमाणं यदा कर्म नाशं गच्छति मानुषम् । तेषां नान्यदृते लोके तपसः कर्म विद्यते ॥ ३७ ॥ सर्वात्मना तु कुर्वीत गृहस्थः कर्म-

नहीं होता है, उसको शास्त्रवेत्ता समझना चाहिये ॥ ३१ ॥ जितना समय बाणको धनुषसे छूट कर पृथ्वीमें गिरनेमें लगता है, इतना ही समय जिह्वा, नेत्र, नासिका, कान और त्वचा इन्द्रिय का सुख भोगनेमें लगता है ॥ ३२ ॥ परन्तु उस क्षणभंगुर सुख के नष्ट होने पर मनुष्यको तीव्र वेदना होती है अज्ञानी पुरुष विषयोंके सुखमें लिप्त होनेके कारण सर्वोत्तम मोक्षसुखकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ३३ ॥ परन्तु विषयकी तृप्तिसे तीव्र वेदना उत्पन्न होती है, इस लिये सब विवेकी पुरुष मोक्षफलके लिये शम दम आदि गुणोंका सेवन करते हैं, धर्माचरण करने वाले धीर पुरुष को अर्थ और काम कभी भी पीड़ा नहीं देसकते ॥ ३४ ॥ प्रयत्न किये विना जो विषय अपने पास आजाय तो गृहस्थ उसका सदा सेवन करे, परन्तु अपने धर्मको सदा प्रयत्नपूर्वक करता रहे, यह मेरा मत है ॥ ३५ ॥ उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए और शास्त्र के अर्थको जानने वाले मानी पुरुष जिस प्रकार धर्मका आचरण करते हैं उस प्रकार धर्माचरण रहित मूर्ख पुरुष नहीं कर सकते ३६ इस जगत्में जो मनुष्य यज्ञ याग आदिको दंभसे करता है, वह सब नाशवान् है, चतुर और धार्मिक पुरुषके लिये तो एक तपस्या

निश्चयम् । दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मं विचरन्नृप ॥ ३८ ॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् । एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां पंचनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

जनक उवाच । वर्णो विशेषवर्णानां महर्षे केन जायते । एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तद्ब्रूहि वदताम्वर ॥ १ ॥ यदेतज्जायतेऽपत्यं स एवायमिति श्रुतिः । कथं ब्राह्मणतो जातो विशेषग्रहणं गतः ॥ २ ॥ पराशर उवाच । एवमेतन्महाराज येन जातः

ही अविनाशी कर्म है ॥ ३७ ॥ यदि गृहस्थको काम आदिमें श्रद्धा हो तब वह उसको श्रद्धापूर्वक करे, उसको अपने आश्रमानुसार बर्ताव कर हे राजन् ! यज्ञ, याग तथा दूसरे धार्मिक कर्म कुशलता से करने चाहियें और फलकी इच्छा न रख सब कर्म ईश्वरार्पण करने चाहियें ॥ ३८ ॥ जैसे बड़े २ नद और नदियें समुद्रमें जाकर विश्राम करते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी आदि सब आश्रमी भी गृहस्थके आधारसे अपनी आजीविका चलाते हैं अतः गृहस्थाश्रम दूसरे आश्रमोंसे श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ३९ ॥ दो सौ पिचानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९५ ॥

राजा जनकने बूझा, कि-हे महर्षि पराशर ! आप वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं, अतः मैं आपसे बूझता हूँ कि-भिन्न २ जातियोंका भेद कैसे हुआ ? यह मैं जानना चाहता हूँ आप कहिये ॥ १ ॥ श्रुतिमें कहा है, कि-पिता स्वयं ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, आरम्भमें ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण,इस पृथ्वी पर बसनेवाले सब मनुष्य ब्राह्मण ही होने चाहियें फिर उनका नाम क्षत्रिय आदि क्यों पड़ा ॥ २ ॥ पराशरने कहा, कि तेरा कहना सत्य है, उत्पन्न होने वाला पुत्र कर्त्तासे भिन्न नहीं होता है, परन्तु

स एव सः । तपसस्त्वपकर्षेण जातिग्रहणतां गतः॥ ३ ॥
सुक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति सम्भवः । अतोन्यतरतो हीनादवरो नाम जायते ॥ ४ ॥ वक्त्राद्भुजाभ्यामूरुभ्यां पद्भ्यां चैवाथ जज्ञिरे । सृजतः प्रजापतेर्लोकानिति धर्मविदो विदुः ॥५॥
मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः । ऊरुजा धनिनो राजन्पादजाः परिचारकाः ॥ ६ ॥ चतुर्णामेव वर्णानामागमः पुरुषर्षभ । अतोऽन्ये त्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः ॥७॥
क्षत्रियातिरथाम्बष्ठा उग्रा वैदेहकास्तथा । श्वपाकाः पुल्कसाः स्तेना निषादाः सूतमागधाः ॥ ८ ॥ अयोगाः करणा व्रात्याश्चाण्डालाश्च नराधिप । एते चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो जायन्ते वै परस्परात् ॥ ९ ॥

तपकी कमीसे वह उतरती हुई जातिको ग्रहण करता है, इससे ही जातिभेद हुआ है ॥ ३ ॥ क्षेत्र और बीज -दोनों उत्तम हों तो उनमेंसे प्रजा भी उत्तम होती है, परन्तु क्षेत्र या बीज दोनों मेंसे एक भी हारता हुआ होता है तो उनकी प्रजा भी नीचे वर्णकी होती है ॥ ४ ॥ धर्मज्ञ पुरुष कहते हैं, कि-प्रजाकी रचना करते समय बहुतसे प्रजापतिके मुखसे,बहुतसे उनकी भुजाओंसे बहुतसे उनकी जंघाओंमेंसे और बहुतसे उनके चरणोंमेंसे उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥ हे तात ! ब्राह्मण प्रजापतिके मुखसे उत्पन्न हुए हैं, क्षत्रिय भुजाओंसे उत्पन्न हुए हैं,वैश्य जंघाओंसे उत्पन्न हुए हैं और शूद्र चरणोंसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥ हे महापुरुष ! इस प्रकार चार वर्णोंकी उत्पत्तिका निर्णय है, इनके अतिरिक्त दूसरी जातियें वर्णसंकर कहलाती हैं ॥ ७ ॥ क्षत्रियोंसे अतिरथ, अम्बष्ठ, उग्र वैदेहक,श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मागध, अयोग, करण, व्रात्य चाण्डाल आदि संकर जातियें चारों वर्णोंके स्त्रीपुरुषोंके संकर विवाहसे उत्पन्न होती हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥ यह सब सृष्टि एक ब्रह्मसे उत्पन्न हुई है,

जनक उवाच । ब्रह्मणैकेन जातानां नानात्वं गोत्रतः कथम् । बहूनीह हि लोके वै गोत्राणि मुनिसत्तम ॥ १० ॥ यत्र तत्र कथं जाताः स्वयोनिं मुनयो गताः । शुद्रयोनौ समुत्पन्ना वियोनौ च तथापरे ॥ ११ ॥ पराशर उवाच । राजन्नैतद्भवेद्ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना । महात्मनां समुत्पत्तिस्तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥ उत्पाद्य पुत्रान्मुनयो नृपते यत्र तत्र ह । स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः ॥ १३ ॥ पितामहश्च मे पूर्वमृष्यशृङ्गश्च काश्यपः । वेदस्तांडयः कृपश्चैव कात्तीवत्कमठादयः ॥ १४ ॥ यवक्रीतश्च नृपते द्रोणश्च वदताम्वरः । आयुर्मतङ्गो दत्तश्च द्रुमदो मात्स्य एव च ॥ १५ ॥ एते स्वां प्रकृतिं प्राप्ता वैदेह तपसोऽऽश्रयात् । प्रतिष्ठिता वेदविदो दमेन तपसैव हि ॥ १६ ॥ मूलगोत्राणि चत्वारि

फिर इनमें बहुतसे गोत्र कैसे होगए, हे श्रेष्ठ मुने ! इस लोकमें बहुतसे गोत्र प्रसिद्ध हैं ॥ १० ॥ और हे ऋषिराज ! मुनियोंने अपनी जातिमें तथा विजाति (पशु पक्षीमें और कक्षीवान्ने शूद्रामें) जो पुत्र उत्पन्न किये थे इनमें वर्णसंकर अपने जाति को फिर कैसे प्राप्त होगए, इसका आप उत्तर दीजिये ॥ ११ ॥ पराशरने कहा कि हे राजन् ! तपसे अपनी आत्माको पवित्र करनेवाले महात्माओंका जन्म अधम योनिमें होने पर भी वे अधम नहीं मानेजाते ॥१२॥ हे राजन् ! तपस्वी ऋषि यत्र तत्र सन्तान उत्पन्न करके फिर अपने तपसे उनको फिर ऋषि बना देते थे॥ १३॥ हे राजन् ! मेरे पितामह वशिष्ठ, ऋष्यशृङ्ग, काश्यप वेद, तांण्डय कृप, कात्तीवान्, कमठ यवक्रीत, वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोण, आयु, मतङ्ग, दत्त द्रुमद और मात्स्य ॥१४-१५॥ ये सब तपसे अपनी प्रकृतिको प्राप्त होगए थे, और दम, तप तथा वेदों का अनुष्ठान करके इन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी ॥१६॥ हे राजन्! सृष्टिके आरम्भमें चार गोत्र थे, उनके नाम इसप्रकार हैं, अङ्गिरा,

समुत्पन्नानि पार्थिव । अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च१७ कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव । नामधेयानि तपसा तानि च ग्रहणं सताम्॥१८॥ जनक उवाच । विशेषधर्मान्वर्णानां प्रब्रूहि भगवन्मम । ततः सामान्यधर्मांश्च सर्वत्र कुशलो ह्यसि।१९। पराशर उवाच । प्रतिग्रहो याजनं च तथैवाध्यापनं नृप । विशेष-धर्मो विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना ॥ २० ॥ कृषिश्च पाशुपाल्यं च वाणिज्यं च विशामपि । द्विजानां परिचर्या च शूद्रकर्म नरा-धिप ॥ २१ ॥ विशेषधर्मा नृपते वर्णानां परिकीर्तिताः । धर्मान् साधारणांस्तात विस्तरेण शृणुष्व मे ॥ २२ ॥ आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता । श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव

काश्यप, वशिष्ठ और भृगु ॥ १६ ॥ इन चार गोत्रोंके अनन्तर और भी अनेक गोत्र उत्पन्न हुए हैं ये सब कर्मसे उत्पन्न हुए हैं, महात्मा ऋषियोंने तप करके इन गोत्रोंको उत्पन्न किया था, कर्मा-नुसार इन गोत्रोंके नाम पड़े हैं और धर्मनिष्ठ सत्पुरुष इन गोत्रों का अनुसरण कर अपनी विवाह आदि क्रिया करते हैं ॥ १८ ॥ जनकने कहा, कि-हे भगवन् ! आप सब जातियोंके धर्म जाननेमें कुशल हैं,अतः आप मुझसे वर्णोंके विशेष और सामान्यधर्म कहिये पराशरने कहा, कि-हे राजन् ! दान लेना, यज्ञ कराना तथा पढ़ाना ये ब्राह्मणके विशेष (मुख्य) धर्म हैं, दूसरेकी रक्षा करना क्षत्रियोंका विशेष धर्म है।१९-२०॥कृषि करना, पशुओंका पालन करना तथा व्यापार करना ये वैश्यके विशेष धर्म हैं और तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका विशेष धर्म है ॥ २१ ॥ हे राजन् ! मैंने तुमसे चारों वर्णोंके विशेष धर्म कहे अब मैं तुमसे सामान्य धर्मों विस्तारसे कहता हूँ, सुन ॥ २२ ॥ हे राजन् ! दया, अहिंसा-किसीकी हानि वा अनिष्ट न करना, सावधानी, संवि-भाग (दूसरेको उसका भाग देकर भोजन करना) मरे हुए

च ॥ २३ ॥ स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानसूयता । आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ॥२४॥ ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः । अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर ॥ २५ ॥ विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ते नृपते त्रयः । उन्नमंति यथा संतमाश्रित्येह स्वकर्मसु ॥ २६ ॥ न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा । श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम् ॥ २७ ॥ वैदेहकं शूद्रमुदाहरंति द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः । अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं

पूर्वजोंका श्राद्ध अतिथिसत्कार, सत्य बोलना, क्रोधका त्याग २३ विवाहित स्त्रीमें सन्तुष्ट रहना, (भीतरी बाहिरी) पवित्रता, ईर्षारहित रहना, आत्मज्ञान और तितिक्षा, इन तेरहको सब वर्णोंके साधारण धर्म समझना चाहिये ॥ २४ ॥ हे राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीनों वर्ण द्विजाति कहाते हैं उनको इन विशेष और सामान्य धर्मोंका अधिकार है ॥ २५ ॥ हे राजन् ! ये तीनों वर्ण यदि शास्त्रमें निषिद्ध कर्मोंको करते हैं, तो पतित हो जाते है और सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर अपने २ वर्णके कर्मोंको करते हैं तो उत्तरोत्तर उन्नत होने चले जाते हैं (अर्थात् उत्तरोत्तर उन्नत जातिमें जन्मते हैं) ॥ २६ ॥ परन्तु हे राजन् ! शूद्रजातिके लिये किसी संस्कारका विधान नहीं है; तथा उसको किसी निषिद्ध कर्मके करनेसे पातक नहीं लगता है, वेदोक्त धर्म शूद्रके लिये नहीं हैं परंतु उनको पूर्वोक्त साधारण धर्मोंको करनेका निषेध भी नहीं किया है ॥ २७ ॥ हे विदेह जनक ! वेदज्ञ ब्राह्मण (धार्मिक) शूद्रको ब्रह्मकी समान मानते हैं, परन्तु मैं तो शूद्रको सब जगत्के प्रधानरूप और सर्वव्यापक विष्णुरूप समझता हूँ ("ब्रह्मविष्णू हि ब्राह्मणक्षत्रियौ" इस श्रुतिमें ब्रह्मको ब्राह्मण और विष्णुको क्षत्रिय कहा है, सदाचरणी शूद्र वैश्य और क्षत्रिय

विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम् ॥ २८ ॥ सतां वृत्तमधिष्ठाय नि-
हीना उद्दिधीर्षवः। मंत्रवर्जं न दुष्यंति कुर्वाणाः पौष्टिकीः क्रियाः २६
यथा यथा हि सद्वृत्तमालम्बन्तीतरे जनाः । तथा तथा सुखं प्राप्य
प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ३० ॥ जनक उवाच । किं कर्म दूषयत्येनं-
मथो जातिर्महामुने । संदेहो मे समुत्पन्नस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ३१
पराशर उवाच । असंशयं महाराज उभयं दोषकारकम् । कर्म चैव
हि जातिश्च विशेषं तु निशामय ॥ ३२ ॥ जात्या च कर्मणा चैव
दुष्टं कर्म न सेवते । जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति स पूरुषः ३३

की-जातिमें जन्म लेकर चारों वर्णोंके सामान्य धर्मोंको पालकर
अंतमें ब्राह्मणजातिमें जन्म लेता है और मोक्ष पाता है यह वैदिक
सिद्धान्त है और पराशरका मत है, कि-सदाचारी शूद्र क्षत्रियत्व
को पाता है और क्षत्रिय जन्म पानेके अनन्तर ब्राह्मण जातिमें
अवतार लेकर मोक्ष पाता है) ॥ २८ ॥ शूद्र जातिका पुरुष अपना
उद्धार करना चाहे तो वह शम, दम आदि सत् पुरुषोंके आच-
रणका पालन करके और वेदमन्त्रोंका उच्चारण किये विना
आत्माको उन्नत करने वाली सब क्रियायोंको करे ॥ २६ ॥
साधारण जातिका पुरुष भी जैसे २ सदाचारका पालन करता
है, तैसे २ सुख पाता है और इस लोकमें तथा मरणके पीछे पर-
लोकमें आनन्द पाता है ॥ ३० ॥ जनकने बूझा, कि-हे महर्षे !
मनुष्य अपने कर्मोंसे दोषभागी होता है अथवा अपनी जातिसे
दोषभागी होता है इस बातका मुझे सन्देह होता है अतः आप
मेरे सन्देहको दूर करिये ॥३१॥ पराशरने कहा, कि-हे राजन् !
कर्म और जाति (जन्म) यह दोनों दोष देने वाले हैं, परन्तु इसके
विशेष विवरणको तू मुझसे सुन ॥ ३२ ॥ जन्मके दोष वाला
(चांडाल आदि) यदि पापकर्म (अर्थात् अपनी जातिका अधर्मकर्म)
नहीं करता है, तो उसको जन्मका तथा कर्मका कोई भी दोष नहीं

जात्या प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम् । कर्म तद्द दूषयत्येनं तस्मात्कर्म न शोभनम् ॥ ३४ ॥ जनक उवाच । कानि कर्माणि धर्म्याणि लोकेऽस्मिन्द्विजसत्तम । न हिंसंतीह भूतानि क्रियमाणानि सर्वदा ॥ ३५ ॥ पराशर उवाच । शृणु मेऽत्र महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि । यानि कर्माण्यहिंस्राणि नरं त्रायंति सर्वदा ॥ ३६ ॥ संन्यस्याग्नीनुदासीनाः पश्यन्ति विगतज्वराः । नैःश्रेयसं कर्मपथं समारुह्य यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥ प्रश्रिता विनयोपेता दमनित्याः सुसंशिताः । प्रयान्ति स्थानमजरं सर्वकर्मविवर्जिताः ॥ ३८ ॥ सर्वे वर्णा धर्मकार्याणि सम्यक्कृत्वा राजन्सत्यवाक्यानि चोक्त्वा ।

लगता ॥ ३३ ॥ परन्तु उत्तम वर्णमें उत्पन्न हुआ पुरुष यदि धिक्कारके योग्य पापकर्म करता है तो उस कर्मसे उसको दोष लगता है, पापकर्म अधमजातिसे भी अधम है ॥ ३४ ॥ जनकने बूझा, कि हे उत्तम ब्राह्मण ! इस जगत्में कौनसे कर्म धर्ममय माने जाते हैं और ऐसे कौनसे कर्म हैं जिनका सदा पालन करते रहने पर प्राणियोंकी हिंसा न हो, यह आप मुझे कृपाकर बताइये ॥ ३५ ॥ पराशरने कहा, कि—हे महाराज ! तूने मुझसे जो प्रश्न किया उसके उत्तरको सुन, जो अहिंसक कर्म मनुष्यकी सदा रक्षा करते हैं अर्थात् मृत्युसे रक्षा कर मोक्ष देते हैं, उन कर्मोंको मैं तुझसे कहता हूँ ॥ ३६ ॥ जो अग्निहोत्रको त्याग संन्यास धारण कर जगत्से उदासीन होजाते हैं, वे संसारके सकल संतापरूपी ज्वरसे रहित होकर क्रमशः (वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता नामकी) योगभूमिको प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥ और योगमार्गका सेवन करनेसे श्रद्धावान् हुए, विनयवान्, नित्य इन्द्रिय आदिका दमन करने वाले, सूक्ष्म बुद्धिवाले पुरुष सब कर्मोंको त्यागकर अविनाशी स्थानमें जाते हैं ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! सब वर्णोंमें उत्पन्न हुए पुरुष यदि भली प्रकार धार्मिक कृत्य करते

त्यक्त्वा धर्मं दारुणं जीवलोके यांति स्वर्गं नात्र कार्यो विचारः ३९

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

पराशर उवाच। पिता सखायो गुरवः स्त्रियश्च न निर्गुणानां प्रभवंति लोके। अनन्यभक्ताः प्रियवादिनश्च हिताश्च वश्याश्च तथैव राजन् ॥१॥ पिता परं दैवतं मानवानां मातुर्विशिष्टं पितरं वदंति। ज्ञानस्य लाभं परमं वदन्ति जितेन्द्रियार्थाः परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥ रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते। प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम् ॥३॥ श्रांतं भीतं भ्रष्टशस्त्रं रुदन्तं पराङ्मुखं पारिवर्हैश्च हीनम्। अनु-

हैं तथा इस मृत्युलोकमें दारुण कर्म नही करते हैं, तो वे स्वर्गमें जाते हैं, इसमें विचार न करना चाहिये ॥३९॥ दोसौ छियानवेंवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९६ ॥

पराशरने कहा, हे राजा जनक ! पिता मित्र गुरु और गुरु-स्त्री भक्ति तथा प्रीतिगुणसे रहित पुरुषको उसकी सेवाका फल नहीं देते हैं, परन्तु जो अनन्य भक्त हैं, प्रियवादी है, गुरुपत्नीके हितमें तत्पर रहते है तथा जो वशमें रहते हैं, वे पिता आदिसे अपनी भक्तिका फल पाते हैं ॥ १ ॥ पिता मनुष्यों (पुत्रों) का परमदेवता माना जाता है, इतना ही नहीं किन्तु पिताको मातासे भी उत्तम कहा है सब लाभोंमें ज्ञानका लाभ उत्तम माना जाता है, जिन्होंने इन्द्रियोंके विषयोंको जीता है वे परब्रह्मको पाते हैं २ यदि क्षत्रियपुत्र रणाङ्गणमें घायल हो वाणमय चिता पर भस्म होजाता है-वह क्षत्रियपुत्र देवताओंको भी दुर्लभ लोकोंमें जाता है और अतिहर्षसे स्वर्गमें रहता हुआ सुख भोगता है ॥ ३ ॥ हे राजन् ! थके हुए, भयभीत हुए, शस्त्रहीन हुए, रणसे मुख फेर कर भागते हुए, रथ, घोड़े और कवचशून्य हुए, आयुधोंको

यंतं रोगिणं याचमानं न वै हिंस्याद्बालवृद्धौ च राजन् ॥ ४ ॥ पारिबर्हैः सुसंयुक्तमुद्यतं तुल्यतां गतम् । अतिक्रमेच्च नृपतिः संग्रामे क्षत्रियात्मजम् ॥५॥ तुल्यादिह वधः श्रेयान्विशिष्टाच्चेति निश्चयः । निहीनात्कातराच्चैव कृपणाद्द्द गर्हितो वधः ॥६॥ पापात्पापसमाचारान्निहीनाच्च नराधिप । पाप एष वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः ॥ ७ ॥ न कश्चित् त्राति वै राजन्दिष्टांतवशमागतम् । सावशेषायुषं चापि कश्चिन्नैवापकर्षति ॥ ८ ॥ स्निग्धैश्च क्रियमाणानि कर्माणीह निवर्तयेत् । हिंसात्मकानि सर्वाणि नायुरिच्छेत्परायुषा ॥९॥ गृहस्थानां तु सर्वेषां विनाशमभिकांक्षताम् ।

न चलाते हुए, रुग्ण 'मुझे मारो मत' ऐसी याचना करते हुए, बालक और वृद्धको न मारे ॥ ४ ॥ परन्तु जिस योधाके रथ, घोड़े, कवच, पैदल, सेना, आदि युद्धकी सामग्री हों और जो युद्ध करनेको तयार हो, अपनी समान हो, ऐसे क्षत्रियपुत्रके साथ लड़ना चाहिये और उसका संग्राममें पराजय करना चाहिये ॥५॥ अपनी समान अथवा अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषसे मरण पाना उत्तम माना जाता है, परन्तु अपनेसे ओछे कातर और नराधम पुरुषके हाथसे वध होना निन्दनीय है, यह बात सुप्रसिद्ध है ॥६॥ हे राजन्! पाप करने वाले पापीके हाथसे अथवा अधमजातिके पुरुषके हाथसे जो मरण होता है, वह पापी मरण कहलाता है और उससे नरक मिलता है यह शास्त्रका निश्चय है ॥ ७ ॥ हे राजन्! मृत्युके मुखमें पड़े हुए प्राणीकी रक्षा कोई भी नहीं कर सकता और जिसकी अवस्था बाकी होती है उसको कोई नहीं मार सकता ८ पुरुष अपने प्रिय गुरुजनोंको सामान्य मनुष्यकी समान (अपने तेल मलने आदिके) काम करते देखकर तथा वे दूसरेका अहित करते हों तो उनको रोके और दूसरोंके प्राणोंका नाश कर अपने प्राणोंकी रक्षा करनेकी इच्छा न करे ॥ ९ ॥ हे तात! परमात्म-

निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम् ॥ १० ॥ आयुषि क्षयमापन्ने पञ्चत्वमुपगच्छति । तथा ह्यकारणाद्भवति कारणैरुपपादितम् ॥ ११ ॥ तथा शरीरं भवति देहाद्येनोपपादितम् । अध्वानं गतकश्चायं प्राप्तश्चायं गृहाद्‌गृहम् ॥ १२ ॥ द्वितीयं कारणं तत्र नान्यत्किंचन विद्यते । तद्देहदेहिनां युक्तं मोक्षभूतेषु वर्तते ॥ १३ ॥

भावसे परमानन्दको पाना चाहने वाले गृहस्थोंका पवित्र नदियों पर बैठ तीर्थवासके योग्य योग आदि क्रिया करके मरण पाना श्रेष्ठ है ॥१०॥ आयु पूर्ण होने पर पञ्चमहाभूतोंमेंसे उत्पन्न हुआ यह देह अपने २ तत्त्वोंमें मिल जाता है, मरण दैवेच्छासे होता है अथवा (हठयोग आदि) किसी कारण होता है ॥ ११ ॥ बहुतसे मनुष्य तीर्थ आदि पवित्र स्थानोंमें हठयोगसे अपने शरीरको त्याग देते हैं, परन्तु फिर भी उनको वैसे ही दूसरे शरीरोंको धारण करना पड़ता है, मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होने पर भी वह (हठयोगसे देह छोड़नेके कारण) पथिकरूप (आधे मार्गमें भटकने वाला) ही बना रहता है और जैसे एक पुरुष एक घरमें से निकल कर दूसरे घरमें जाता है, ऐसे ही वह देहत्यागी दूसरे (यातना) शरीरको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ (तो क्या हठयोगसे शरीर त्यगने वालेकी मोक्ष नहीं होती, ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि-) यातनादेहकी प्राप्ति होनेमें हठयोगसे मरजाना ही कारण है और (यातनाशरीरके बाद दूसरे शरीर मिलनेमें) कोई कारण नहीं है, अतएव जो शरीरी हठयोगसे अपने शरीरको छोड़ते हैं वे मोक्षके योग्य, पिशाच वा रुद्रोंके (यातना) शरीरोंको पाते हैं, यातनादेह भोगदेह होता है कर्मदेह नहीं होता अतः वह देहान्तरको उत्पन्न नहीं कर सकता और यातनादेह तो उनको आत्महत्याका पाप दूर करनेके लिये दिया जाता है ॥ १३ ॥ अध्यात्मज्ञानके विचारने वाले कहते हैं, कि-ये (यातना) देह

शिरास्नाय्वस्थिसंघातं बीभत्सामेध्यासंकुलम् । भूतानामिंद्रियाणां च गुणानां च समागमम् ॥ १४ ॥ त्वगंतं देहमित्यहुर्विद्वांसोऽध्यात्मचिंतकाः । गुणैरपि परिक्षीणं शरीरं मर्त्यतां गतम् १५ शरीरिणा परित्यक्तं निश्चेष्टं गतचेतनम् । भूतैः प्रकृतिमापन्नैस्ततो भूमौ निमज्जति ॥ १६ ॥ भावितं कर्मयोगेन जायते तत्र तत्र ह । इदं शरीरं वैदेह म्रियते यत्र यत्र ह । तत्स्वभावो परो दृष्टो विसर्गः

नाडियें, स्नायु और अस्थियोंसे भरा होता है तथा बीभत्स और अपवित्र पदार्थोंसे भरा होता है, इस देहमें भी पञ्चमहाभूत इन्द्रिये और वासनासे भरे हुए विषय भी होते हैं, इस शरीरमें चमड़ा और हड्डियें होती हैं (मेद, मांस आदि नहीं होता है) यह शरीर सौन्दर्य आदिसे रहित होता है और पूर्वजन्मकी वासनाओंके कारण वासनीय होने पर मनुष्यकी समान होता है ॥१४-१५ देहधारी शरीर त्यागते समय अचेत होजाता है और उसकी क्रियाएँ भी बन्द होजाती हैं और उसके शरीरके पञ्चभूत भी अलग २ होकर अपने २ स्वरूपमें लीन होजाते हैं और यह शरीर भी पृथ्वीमें मिल जाता है ॥१६॥ (पद्मपुराणान्तर्गत माघमाहात्म्यमें बनारसमें मरे हुए ब्राह्मणके दश जन्मोंका वर्णन है, फिर यह कहना कैसे ठीक होसकता है यातनाशरीरके अनन्तर दूसरे शरीर मिलनेका और कोई कारण नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—) आत्महत्याकी समान ब्रह्महत्या आदि अनेक जन्म प्राप्त कराने वाले अनेक कर्मोंके (काशीमें) करनेसे उन कर्मोंकी वासनाके अनुसार यातनाशरीर मिलता है (फिर पुण्यस्थलमें मरण पाना और साधारण स्थलोंमें मरण पाना एकसा होजायगा ऐसी शंका उठने पर कहते है, कि—) यातनाशरीरके योग्य वासनाओंसे भिन्न और जिस २ विषयकी भावनासे भावित होकर मरता है उस २ स्वभावका दूसरे कर्मका

कर्मणस्तथा ॥ १७ ॥ न जायते तु नृपते कश्चित्कालमयं पुनः । परिभ्रमति भूतात्मा द्यामिवांबुधरो महान् ॥ १८ ॥ स पुनर्जायते राजन्प्राप्येहायतनं नृप । मनसः परमो ह्यात्मा इन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥ १९ ॥ विविधानां च भूतानां जंगमाः परमा नृप । जङ्गमानामपि तथा द्विपदाः परमा मताः । द्विपदानामपि तथा द्विजा वै परमाः स्मृताः ॥ २० ॥ द्विजानामपि राजेन्द्र प्रज्ञावन्तः परा मताः । प्रज्ञानामात्मसंबुद्धाः संबुद्धानाममानिनः ॥ २१ ॥ जातमन्वेति मरणं नृणामिति विनिश्चयः । अन्तवन्ति हि कर्माणि सेवन्ते गुणतः प्रजाः ॥ २२ ॥ आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत् । नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् स पुण्यकृत् २३

फलस्वरुप जन्म मिलता है, यातनाशरीरके अनन्तर फिर वैसा यातनाशरीर नहीं मिलता है ॥१७॥ हे राजन् ! जब तक जीव के पापका क्षय नहीं होता है, तब तक वह अपने पूर्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकता और पाप भोगनेके लिये ही उस जीवको महामेघकी समान आकाशमें घूमना पड़ता है ॥१८॥ और हे राजन् ! जब उसके पापका क्षय होजाता है, तब वह अधिष्ठान (इन्द्रिय और मन) से स्थिर होकर कर्मजन्य देहको प्राप्त करता है, मन से आत्मा श्रेष्ठ है, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है ॥ १९ ॥ हे राजन् ! इस जगत्के सब जीवोंमें जङ्गम जीव श्रेष्ठ हैं, जंगम जीवोंमें दो पैर वाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं, दो पैर वालोंमें द्विज श्रेष्ठ हैं ॥ २० ॥ द्विजोंमें बुद्धिमान् श्रेष्ठ हैं, बुद्धिमानोंमें आत्मयोगी श्रेष्ठ हैं, योगियोंमें योगके ऐश्वर्यके गर्वरहित मनुष्य श्रेष्ठ हैं ॥ २१ ॥ मनुष्यके उत्पन्न होते ही मृत्यु उसके पीछे २ फिरती रहती है, यह निश्चय है, सत्त्व, रज तथा तमोगुणके कारण प्राणी नाशवान् (जन्ममरणरूपी) कर्मोंका सेवन करते रहते हैं ॥ २२ ॥ हे राजन् ! पुण्यात्मा पुरुषोंका मरण उत्तरायण सूर्यमें पवित्र नक्षत्र अथवा

अयोजयित्वा क्लेशेन जनं साम्य च दुष्कृतम् । मृत्युनात्मकृतेनेह कर्म कृत्वात्मशक्तिभिः ॥२४॥ विषमुद्बंधनं दाहो दस्युहस्तात्तथा वधः । दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो वध उच्यते ॥ २५ ॥ न चैभिः पुण्यकर्माणो युज्यन्ते चाभिसंज्ञिजैः । एवंविधैश्च बहुभिरपरैः प्राकृतैरपि ॥ २६ ॥ ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणाः पुण्यवतां नृप । मध्यतो मध्यपुण्यानामधो दुष्कृतकर्मणाम् ॥ २७ ॥ एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुरज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् । येनावृतः कुरुते संप्रयुक्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥२८॥ पूर्वापवित्र मुहूर्त्तमें होता है ॥२३॥ ऐसा धर्मिष्ठ पुरुष किसी भी प्राणी को दुःख न देकर अपने पापका नाशकर अपनी शक्तिके अनुसार कर्म करके, कालसे प्रेरित मृत्युको पाकर इस लोकको त्याग देता है (ऐसा मरण धर्ममय माना जाता है) ॥ २४ ॥ परन्तु विषपान करनेवाले अथवा विष पीने वालेका और गला घोटकर अग्निमें पड़कर, चोरके हाथसे अथवा दाढ़वाले पशुओंसे जो मरण होता है वह प्राकृत (अधम) कहाता है ॥ २५ ॥ पुण्यकर्म करनेवाले पुरुष आधि व्याधियोंसे दुःखित होने पर भी पूर्वोक्त अधम उपायोंसे तथा दूसरे भी अधम उपायोंसे आत्महत्या नहीं करते हैं २६ हे नृप ! पुण्य कर्म करनेवाले तपस्वी तथा योगियोंके प्राण ब्रह्मरन्ध्रको भेद सूर्यमण्डलको भेदकर उससे ऊपरके लोकोंमे जाते हैं, मध्यम प्रकारके मनुष्य अर्थात् पाप और पुण्य इन दोनों कर्मों को करनेवाले पुरुष मध्यम भागसे अर्थात् नेत्र, मुख और नासिकाके द्वारा निकल कर मध्यम लोकमें जाते हैं और अधम कर्म करनेवालोंके प्राण अधोमार्ग-गुदा, शिश्नसे निकल कर अधम लोकोंमें जाते हैं ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इस जगत्में पुरुषका एक ही शत्रु है उसकी समान कोई शत्रु नहीं है, वह शत्रु अज्ञानता है, मनुष्य इस अज्ञानसे घिरकर दारुण कर्म करने लगता है ॥२८॥

धनार्थं श्रुतिधर्मयुक्तं वृद्धानुपास्य प्रभवेत यस्य । प्रयत्नसाध्यो हि स राजपुत्र प्रज्ञाशरेणोन्मथितः परैति ॥२९॥ अधीत्य वेदं तपसा ब्रह्मचारी यज्ञान्शक्त्या सन्निगृह्य पञ्च । वनं गच्छेत्पुरुषो धर्मः कामः श्रेयः स्थित्वा स्थापयित्वा स्ववंशम् ॥ ३० ॥ उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः । चण्डालत्वेपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम् ॥ ३१ ॥ इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते । आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभ लक्षणैः ॥ ३२ ॥ कथं न विप्रणश्येम योनितोऽस्या इति प्रभो । कुर्वंति धर्मं मनुजाः श्रुति-

हे राजपुत्र ! इस अज्ञानरूपी शत्रुका पराभव करनेके लिये श्रुति स्मृतिमें कहेहुए धर्मानुसार वृद्धोंकी सेवा करके जो पुरुष ज्ञान पाता है, वह उसका पराभव कर सकता है, अज्ञानका प्रयत्नसे नाश किया जासकता है और यदि बुद्धिरूपी बाण मारा जाता है तो वह जड़से उखड़ जाता है ॥ २९ ॥ जिस पुरुषको परम-धर्म-पुण्यप्राप्तिकी इच्छा हो उसको तप करके वेदाध्ययन कर ब्रह्मचारी रहना चाहिये, फिर गृहस्थाश्रममें आना चाहिये और उसको शक्तिके अनुसार पञ्चमहायज्ञ करने चाहियें, तदनन्तर अपने वंशको स्थापित कर पुत्रों पर घरका सब भार छोड़ मोक्ष की इच्छासे तथा आत्माका कल्याण करनेकी इच्छासे वानप्रस्थ धारण कर इन्द्रियोंका दमन करना चाहिये ॥ ३० ॥ हे तात ! देह उपभोगरहित होजाय तब भी आत्माको दुःखी न करे, चाण्डालजातिमें जन्मने पर भी मनुष्यदेह उत्तम ही कहाता है ३१ हे राजन् ! मनुष्यजातिमें उत्पन्न होना श्रेष्ठ कहाता है, क्योंकि-मनुष्यजन्म मिलने पर ही उत्तम कर्म करके आत्माका उद्धार किया जासकता है ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! मैं इस मनुष्ययोनिसे किस प्रकार भ्रष्ट न होसकूँ, यह विचार कर मनुष्योंको श्रुतिमें लिखे अनुसार धर्माचरण करना चाहिये ॥ ३३ ॥ जो मनुष्य

प्रामाण्यदर्शनात् ॥३३॥ यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः । धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वंच्यते ॥ ३४ ॥ यस्तु प्रीति-पुराणेन चक्षुषा तात पश्यति । दीपोपमानानि भूतानि यावदर्थान्न पश्यति ॥ ३५ ॥ सांत्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत । सम-दुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते ॥ ३६॥ दानं त्यागः शोभना मूर्तिरद्भ्यो भूय स्नाव्यं तपसा वै शरीरम् । सरस्वतीनैमिषपुष्करेषु ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम् ॥३७॥ गृहेषु येषामसवः पतंति तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम् । यानेन वै प्रापणं च श्मशाने शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः ॥ ३८॥ इष्टिः पुष्टिर्यजनं याजनं च दानं

अतिदुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर द्वेष करता है, धर्मको नहीं मानता है तथा कामके अधीन होजाता है, वह वास्तवमें काम-नाओंसे ठगा जाता है ॥ ३४ ॥ जैसे दीपक स्नेहसे वृद्धि पाता है, तैसे ही जो मनुष्य स्नेहसे भरी हुई दृष्टिसे (सबको) देखता है और विषयोंको नहीं देखता है ॥ ३५ ॥ जो सब प्राणियोंके दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी रहता है तथा सब प्राणियोंको धीरज देकर अन्न देकर तथा मधुरवाणी बोल कर उनका सत्कार करता है, वह पुरुष स्वर्गमें पूजा जाता है ॥३६॥ जो पुरुष सर-स्वती, नैमिषारण्य, पुष्कर तीर्थ तथा पृथ्वी परके दूसरे पवित्र तीर्थोंमें जाकर दान देता है, विषयोंका त्याग करता है, मनको शान्त रखता है जपसे तथा तपसे शरीरको शुद्ध रखता है, वह स्वर्गमें जाता है ॥ ३७ ॥ जो घरमें मरजाते हैं उनका अग्नि-संस्कार करना चाहिये, उनके शवको टिकटिकी पर उठाकर श्मशानमें लेजाय तथा उनको स्नान करा शुद्ध कर शास्त्रविधि से दाह करदे, यह उत्तम है ॥ ३८ ॥ मनुष्य जो शक्तिके अनु-सार शास्त्रके कहे यज्ञ करता है, शान्तिकर्म और पुष्टिकर्म करता है, पुण्यदायक कर्म करता है और पूर्वजोंके निमित्त श्राद्धकर्म

पुण्यानां कर्मणां च प्रयोगः । शक्त्या पित्र्यं यच्च किंचित्प्रशस्तं सर्वाण्यात्मार्थे मानवोऽयं करोति ॥ ३९ ॥ धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडंगानि नराधिप । श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मणः ४० भीष्म उवाच । एतद्वै सर्वमाख्यातं मुनिना सुमहात्मना । विदेहराजाय पुरा श्रेयसोऽर्थे नराधिप ॥ ४१ ॥ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९७ ॥

भीष्म उवाच । पुनरेव तु पप्रच्छ जनको मिथिलाधिपः । पराशरं महात्मानं धर्मे परमनिश्चयम् ॥१॥ जनक उवाच । किं श्रेयः का गतिर्ब्रह्मन् किं कृतं न विनश्यति । क्व गतो न निवर्तेत तन्मे ब्रूहि महामते ॥ २ ॥ पराशर उवाच । असंगः श्रेयसो मूलं ज्ञानं

करता है, वह सब अपनी आत्माके कल्याणके लिये ही करता है ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! धर्मशास्त्र वेद, (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष) ये वेदके छः अंग पुण्यकर्म करने वाले पुरुषके कल्याणके लिये ही धर्मका उपदेश देते हैं ४० भीष्मने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! पहिले राजा विदेहको उसके कल्याणके लिये महात्मा पराशर मुनिने यह सब उपदेश दिया था ॥ ४१ ॥ दो सौ सत्तानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९७ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! मिथिला नगरीके स्वामी राजा जनकने परमधर्मका निश्चय करने वाले महात्मा पराशर मुनिसे फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥ जनकने बूझा, कि-हे महाबुद्धिमान् मुनि पराशर ! श्रेय क्या वस्तु है, उत्तमगति कौनसी है कौन सा किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता है, कहाँ गया हुआ पुरुष नहीं लौटता है, हे महाबुद्धिमान् ! यह सब आप मुझसे कहिये २ पराशरने कहा, कि-किसीका संग न करना कल्याणका मूल माना जाता है, ज्ञान उत्तम गति मानी जाती है, किया हुआ तप

ज्ञानगतिः परा:। चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति ।३। छित्वाऽधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते। दत्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते ॥ ४ ॥ यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च। अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते ॥ ५ ॥ वसन्विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्। संवसत्येव दुर्बुद्धिरसत्सु विषयेष्वपि ॥६॥ नाधर्मः श्लिष्यते प्राज्ञं पयः पुष्करपर्णवत्। अप्राज्ञमधिकं पापं श्लिष्यते जतुकाष्ठवत् ॥ ७ ॥ नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति। कर्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते ॥ ८ ॥ न भिद्यंते कृतात्मान आत्मप्रत्ययदर्शिनः। बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां हि प्रमत्तो

कभी भी नष्ट नहीं होता है और सुपात्रको दिया हुआ दान नष्ट नहीं जाता है अर्थात् उसका फल अवश्य मिलता है॥३॥जो मनुष्य अधर्म रूपी पाशको काट कर धार्मिक कार्योंमें प्रीति करता है, तथा सब प्राणियोंको सर्वोत्तम अभयदान देता है (संन्यास धारण करता है) वह मनुष्य सिद्धि पाता है ॥ ४ ॥ जो मनुष्य सहस्रों गौएँ और सैंकडों घोड़ोंका (सत्पात्रको) दान देता है और जो पुरुष अभयदान देता है,इन दोनोंको ही अभय मिलता है ॥ ५ ॥ बुद्धिमान् (आसंगरहित) पुरुष विषयोंमें रहने पर भी विषयोंमें लिप्त नहीं होता है, और दुर्बुद्धि (मनसे विषयों का संग करनेवाला) पुरुष असत् विषयोंमें फँसा ही रहता है६ जल जैसे कमलके पत्तेको नहीं चिपटता है. ऐसे ही पाप धर्मबुद्धि पुरुषको नहीं छूता है; परन्तु लाख जैसे काष्ठमें चिपट जाता है, ऐसे ही पाप भी अज्ञानी पुरुषोंको चिपटा ही रहता है ॥७॥ और पाप करने वालेको उसका फल दिये विना उसका त्याग नहीं करता है,परन्तु समय आने पर पापीको पापका फल भोगना ही पड़ता है ॥ ८ ॥ आत्माके स्वरूपको जाननेवाले तत्त्ववेत्ता पुण्यात्मा पुरुष कर्मके फलोंसे दुःखित नहीं होते,परन्तु जो पुरुष

यो न बुद्ध्यते । शुभाशुभे प्रसक्तात्मा प्राप्नोति सुमहद्भयम् ॥९॥ वीतरागो जितक्रोधः सम्यग्भवति यः सदा । विषये वर्तमानोऽपि न स पापेन युज्यते ॥१०॥ मर्यादायां धर्मसेतुर्निबद्धो नैव सीदति । पुण्यस्रोत इवासक्तः स्फीतो भवति संचयः ॥ ११ ॥ यथा भानुगतं तेजो मणिः शुद्धः समाधिना । आदत्ते राजशार्दूल तथा योगः प्रवर्तते ॥ १२ ॥ यथा तिलानामिह पुष्पसंश्रयात् पृथक्पृथग्याति गुणोऽतिसौम्यताम् । तथा नराणां तु विभावितात्मनां यथाश्रयं सत्वगुणः प्रवर्तते ॥ १३ ॥ जहाति दारांश्च जहाति सम्पदः पदं च यानं विविधाश्च सत्क्रियाः । त्रिविष्टपे जातमतिर्यदा नरस्तदा-

---

ज्ञानेन्द्रियोंके तथा कर्मेन्द्रियोंके विषयोंसे मदमत्त होकर अपने किये हुए पापोंका विचार नहीं करता है और शुभ तथा अशुभ कर्मोंमें रातदिन आसक्त रहता है, वह पुरुष महाभयको पाता है और और जो पुरुष वीतराग होकर क्रोधको जीतलेता है तथा आत्माके स्वरूपको भली प्रकार जानता है, वह पुरुष विषयोंको भोगने पर भी पापभागी नहीं होता है ॥ ९ ॥ १० ॥ जैसे जलाशयका मजबूत बाँध बाँधने पर उसमें जल बढ़ता ही रहता है, ऐसे ही जो पुरुष शास्त्रमें वर्णित मर्यादामें चलकर सब आसक्तियोंसे दूर रहकर धर्मरूपी बाँधको बाँधता है, वह किसी दिन भी दुःखी नहीं होता है और उसके तप और पुण्यकी वृद्धि ही होती है ११ हे राजसिंह ! जैसे शुद्ध सूर्यकान्तमणि सूर्यमेंसे तेजको ग्रहण करलेता है, तैसे ही जीव भी समाधिसे ब्रह्मके स्वरूपको ग्रहण करता है ॥ १२ ॥ जैसे जगत्में तिल भिन्न २ प्रकारके पुष्पोंके संगसे अतिरमणीय सुगन्धको प्राप्त करता है ऐसे ही सत्वगुण भी जितना साधुपुरुषोंका संग होता है, उतना ही आता है और बढ़ता है ॥ १३ ॥ पुरुषको जब स्वर्गमें बसनेकी इच्छा होती है, तब वह पुत्र, पत्नी, सम्पत्ति, श्रेष्ठ पदवियें, वाहन और नाना

स्य बुद्धिर्विषयेषु भिद्यते ॥ १४ ॥ प्रसक्तबुद्धिर्विषयेषु यो नरो न बुद्ध्यते ह्यात्महितं कथंचन । स सर्वभावानुगतेन चेतसा नृपामिषेणेव झषो विकृष्यते ॥१५॥ संघातवन्मर्त्यलोकः परस्परमुपाश्रितः । कदलीगर्भनिःसारो नौरिवाप्सु निमज्जति ॥ १६ ॥ न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते । सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥ १७ ॥ यथांधः स्वगृहे युक्तो ह्यभ्यासादेव गच्छति । तथा युक्तेन मनसा प्राज्ञो गच्छति तां गतिम् ॥ १८ ॥ मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै

प्रकारकी श्रेष्ठ क्रियाओंको त्यागदेता है और उसकी बुद्धि भी शब्द आदि विषयोंसे निवृत्त होजाती है ॥ १४ ॥ परन्तु जिस मनुष्यकी बुद्धि विषयोंमें लिप्त होजाती है,वह अपने कल्याणको कभी नहीं जान सकता और हे राजन् ! मछली जैसे मांससे लिहसे हुए काँटेको निगलकर नष्ट होजाती है तैसे ही वह संसारकी सब प्रकारकी वासनाओंसे भरेहुए चित्तके अधीन होकर दुःखी होता है ॥ १५ ॥ देह और इन्द्रिय आदिके समुदायकी समान मनुष्यसमूह भी स्त्री, पुत्र, पशु आदिके समुदायसे घिरा रहता है और वे परस्परका कल्याण करते हैं, परन्तु वे केलेके सारकी समान निःसार होते हैं और (भारी) काठकी नौका जैसे समुद्रमें डूब जाती है, तैसे ही वह भी संसारसमुद्रमें डूब जाता है॥१६॥पुरुषको कब धर्माचरण करना चाहिये, इसके लिये कोई समय निश्चित नहीं किया गया है,और मृत्यु भी (इसने धर्माचरण नहीं किया है, इसकी) बाट नहीं देखता है, मनुष्य सदा ही मृत्युके मुखकी ओर दौड़ा जा रहा है अतः सदा धर्म कर्म करते रहना ही उत्तम है॥१७॥जैसे अन्धा मनुष्य अभ्यास वश अपने घरमें बिना किसी दिक्कतके आता जाता है, ऐसे ही बुद्धिमान् पुरुष भी गुरुके दिखाये हुए योगाभ्याससे योगयुक्त

मरणाश्रितम् । अविद्वान्मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत् ॥ १९ ॥ बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च । विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः । परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः २० यथा मृणालानुगतमाशु मुञ्चति कर्दमम् । तथात्मा पुरुषस्येह मनसा परिमुच्यते ॥ २१ ॥ मनः प्रणयतेऽत्मानं स एनमभियुंजति । युक्तो यदा स भवति तदा तं पश्यते परम् ॥ २२ ॥ परार्थे वर्तमानस्तु स्वं कार्यं योभिमन्यते । इन्द्रियार्थेषु संयुक्तः स्वकार्यात्

मनके द्वारा (ज्ञान) मार्गसे परमगतिको पाता है ॥१८॥ जन्म के पीछे मृत्यु अवश्य होती है, जन्म मरणके अधीन है, अविवेकी मनुष्य मोक्षधर्मको नहीं जानता है अतः मनुष्य संसारबंधन में बँधकर जन्म मरणके चक्रमें पड़ा रहता है ॥१९॥ जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक ज्ञानमार्गमें चलता है उस मनुष्यको इस लोकमें तथा परलोकमें सुख मिलता है, अग्निहोत्र आदि विस्तारसे वर्णित कर्म दुःखदायक हैं,और त्याग आदि संक्षेपसे वर्णित कर्म सुखदायक हैं, अग्निहोत्र आदि कर्मोंका फल नाशवान् है और आत्माका हित करनेवाला नहीं है और त्याग वैराग्य आदि कर्मोंका फल अविनाशी और आत्माका हित करनेवाला है, यह विद्वान् जानते हैं ॥ २० ॥ कमल जैसे अपनेमें लगी हुई कीच को त्याग देता है, तैसे ही पुरुषका आत्मा भी अपना ज्ञान होने पर आत्माके उपाधिरूप मनको त्याग देता है ॥ २१ ॥ मन आत्माको योगक्रियाकी ओर प्रेरित करता है और आत्मा योग से युक्त होकर मनका परमपदमें लय करता है, आत्मा जब योग से सिद्ध होजाता है तब सब उपाधियोंसे शून्य अपना दर्शन करनेको समर्थ होता है ॥ २२ ॥ जो मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें लिप्त होनेको ही अपना धर्म मानता है, वह मनुष्य विषयोंमें प्रीति रखनेके कारण अपने सत्यधर्मसे पतित होजाता है ॥ २३ ॥ विवेक-

परिमुच्यते ॥ २३ ॥ अधस्तिर्यग्गतिं चैव स्वर्गे चैव परां गतिम् । प्राप्नोति सुकृतैरात्मा प्राज्ञस्येहेतरस्य च ॥ २४ ॥ मृन्मये भाजने पक्वे यथा वै नश्यति द्रवः । तथा शरीरं तपसा तप्तं विषयमश्नुते २५ विषयानश्नुते यस्तु न स मोक्ष्यत्यसंशयम् । यस्तु भोगांस्त्यजेदात्मा स वै मोक्तुं व्यवस्यति ॥२६॥ नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः । जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुध्यते ॥२७॥ वणिग्यथा समुद्राद्वै यथार्थं लभते धनम् । तथा मर्त्यार्णवे जन्तोः कर्मविज्ञानतो गतिः ॥२८॥ अहोरात्रमये लोके जरारूपेण संसरन् । मृत्युर्ग्रसति भूतानि पवनं पन्नगो यथा ॥२९॥ स्वयं कृतानि

भ्रष्ट पुरुष नीचेके लोकोंमें तिर्यक् योनियोंमें उत्पन्न होता है परन्तु विवेकी पुरुष पुण्यकर्म करके स्वर्गलोकमें जाता है ॥२४॥ जैसे अग्निमें पकाये हुए मट्टीके वर्तनमें भरा हुआ जल रिसता नहीं है ऐसे ही तप करके जिसने अपने शरीरको पका लिया है वह ब्रह्मलोक तकको भोगता है और उसमेंसे ये रिसते नहीं हैं ॥ २५ ॥ परन्तु जो मनुष्य विषयोंके भोगका उपभोग करता है वह मोक्षका भागी नहीं होता है, परन्तु जो मनुष्य भोगोंको त्याग देता है, वही मोक्षसुखका उपभोग करता है ॥ २६ ॥ जो पुरुष जन्मसे अंधा होता है, वह मार्गको नहीं देख सकता, ऐसे ही जिसकी बुद्धि मायासे (अंधी) घिरी हुई है तथा जो शिश्न और उदरके पोषणमें परायण रहता है, ऐसा अज्ञानी पुरुष आत्माके मोक्षमार्गको नहीं जानता है ॥ २७ ॥ वैश्य जैसे समुद्रमार्गसे व्यापार करनेको जाकर अपने मूलधनके अनुसार धन कमा कर ले आता है तैसे ही यह जीव भी संसारसागरमें व्यापार करनेके लिये आकर अपने कर्म और विज्ञानके अनुसार उत्तम (अथवा अधम) गतिको पाता है ॥ २८ ॥ सर्प जैसे पवनका भक्षण करता है, ऐसे ही मृत्यु रात दिन तथा जराके आकारमें

कर्माणि जातो जंतुः प्रपद्यते। नाकृत्वा लभते कश्चित्किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥ ३० ॥ शयानं यान्तमासीनं प्रवृत्तं विषयेषु च। शुभाशुभानि कर्माणि प्रपद्यंते नरं सदा ॥ ३१ ॥ न ह्यन्यत्तीरमासाद्य पुनस्तर्तुं व्यवस्यति। दुर्लभो दृश्यते ह्यस्य विनिपातो महार्णवे ३२ यथाभारावसन्ना हि नौर्महाम्भसि तंतुना। तथा मनोभियोगाद्वै शरीरं प्रचिकीर्षति ॥ ३३ ॥ यथा समुद्रमभितः संश्रिताः सरितोपराः। तथाद्या प्रकृतेर्योगादभिसंश्रियते सदा ॥३४॥ स्नेहपाशैर्बहुविधैरासक्तमनसो नराः। प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकत-

घूमा करती है और सब प्राणियोंका भक्षण करती है॥२९॥प्राणी जगत्में उत्पन्न होते ही अपने साथ अपने पूर्वजन्मके कर्मोंको लेता आता है, कोई भी प्राणी इस जगत्में किसी प्रकारके पूर्व जन्मके कर्मोंके विना शुभ अथवा अशुभ फलको नहीं पाता है ॥३०॥ प्राणी सो रहा हो, बैठा हो, चलता हो, अथवा विषयोंमें प्रवृत्त होरहा हो, तब भी पूर्वजन्मके शुभ अथवा अशुभ कर्म उसके साथ २ लगे रहते हैं ॥ ३१ ॥ महासागरके परले पार पहुँचा हुआ मनुष्य फिर पैर कर उरले पार आना नहीं चाहता है, (ऐसे ही संसारसागरके पार हुआ मनुष्य फिर जन्म नहीं लेता है) ॥ ३२ ॥ जैसे लंगर डाल कर समुद्र नदी अथवा सरोवरके गहरे जलमें रोकी हुई नावको मल्लाह इच्छा होने पर लंगर उठाकर चला देते हैं, ऐसे ही मन जब शक्तिमान् होता है तब योगका आश्रय करके शरीरमें स्थित आत्माका उद्धार करता है ॥ ३३ ॥ जैसे समुद्रकी ओर जाने वाली सब नदियें समुद्रमें लीन हो जाती हैं, तैसे ही मन भी नित्य योगका आश्रय करके मूल प्रकृति (सत्त्व, रज और तम इन तीनोंकी साम्यावस्था) में लीन होजाता है ॥ ३४ ॥ जिस मनुष्यका मन अनेक प्रकारके स्नेहपाशमें बँध जाता है, इसप्रकार अज्ञानके वशमें हुआ पुरुष,

वेश्मवत् ॥ ३५ ॥ शरीरगृहसंज्ञस्य शौचतीर्थस्य देहिनः । बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥३६॥ विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः । परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥३७॥ संकल्पजो मित्रवर्गो ज्ञातयः कारणात्मकाः। भार्या पुत्रश्च दासश्च स्वमर्थमुपभुञ्जते ॥३८॥ न माता न पिता किञ्चित् कस्यचित् प्रतिपद्यते । दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ३९ माता पुत्रः पिता भ्राता भार्या मित्रजनस्तथा । अष्टापदपदस्थाने दक्ष मुद्रेव लक्ष्यते ॥४०॥ सर्वाणि कर्माणि पुराकृतानि शुभाशुभान्यात्मनो यान्ति जन्तोः । उपस्थितं कर्मफलं विदित्वा बुद्धिं

जलमें बनाये हुए रेतेके मकानकी समान विनष्ट होजाते (दुःख पाते) हैं ॥ ३५ ॥ जो देहाभिमानी पुरुष इस देहको एक घरकी समान समझता है और भीतरी बाहिरी शौचको पवित्र जल समझता है और ज्ञानमार्गसे चलता है, उसको इस लोकमें तथा परलोकमें सुख मिलता है ॥ ३६ ॥ अग्निहोत्र आदि विस्तार वाले कर्म दुःखद हैं और (वैराग्य आदि) संक्षिप्त कर्म सुखद हैं, (अग्निहोत्र आदि) विस्तारवाले कर्मोंका फल जड होता है और (वैराग्य आदि) संक्षिप्त कर्मोंका फल मोक्ष दिलाता है ३७ मित्रवर्ग संकल्पसे उत्पन्न होते हैं, सगे संबन्धी अपने स्वार्थवश मिलते हैं और भार्या पुत्र तथा सेवक आदि ये सब पैसा लेनेके लिये होते हैं माता पिता अथवा और कोई परलोकमें किसीकी सहायता नहीं करसकते, जीवका स्वर्गमें एक दान ही हित कर सकता है,प्राणीको अपने किये हुए कर्मोंका फल अवश्य भोगना पडता है॥३९॥हे दक्ष ! माता, पिता,पुत्र,भ्राता, भार्या और मित्र सुवर्णके सिक्केकी मूर्त्तिकी समान हैं,वे तो जीवकी एक दशाको ही दिखाते हैं, इससे अधिक वे उसका हित नहीं कर सकते ४० प्राणीने पहिले जन्ममें जो शुभ अशुभ कर्म किये होते हैं उसके

तथा चोदयतेंऽतरात्मा ॥ ४१ ॥ व्यवसायं समाश्रित्य सहायान् योऽधिगच्छति । न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ॥४२॥ अद्वैधमनसंयुक्तं शूरं धीरं विपश्चितम् । न श्रीः संत्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः ॥ ४३ ॥ आस्तिक्यव्यवसायाभ्यामुपायाद्विस्मयाद्धि या । समारभेदनिंद्यात्मा न सोऽर्थः परिषीदति ॥४४॥ सर्वैः स्वानिशुभाशुभानि नियतं कर्माणि जन्तुः स्वयं गर्भात्संप्रतिपद्यते तदुभयं यत्तेन पूर्वं कृतम् ॥ मृत्युश्चापरिहारवान् सममतिः कालेन विच्छेदिना दारोश्चूर्णमिवाश्मसारविहितं कर्मान्तिकं प्रापयेत् ४५ स्वरूपतामात्मकृतं च विस्तरं कुलान्वयं द्रव्यसमृद्धिसंचयम् । नरो हि सर्वो लभते यथा कृतं शुभाशुभेनात्मकृतेन कर्मणा॥४६॥भीष्म

वे शुभाशुभ उसको नये जन्ममें फल देरहे हैं, यह समझ कर पुरुष बुद्धिपूर्वक शुभ कर्म करे ॥ ४१ ॥ जो पुरुष शुभ कर्मोंका उद्योग करता है, उसको सहायक भी मिल जाते हैं और ऐसे पुरुषका कोई भी काम कभी भी नष्ट नहीं होता है ॥ ४२ ॥ जिस पुरुषका मन एकाग्र होता है, जो योगयुक्त होता है तथा जो शूर, धीर और बुद्धिमान् होता है उसको किरणें जैसे सूर्य का त्याग नहीं करती हैं, तैसे लक्ष्मी कभी नहीं त्यागती है ४३ जो पापरहित पुरुष आस्तिकभावसे, उद्योगसे, गर्वशून्यशान्तिसे तथा बुद्धिसे कार्य करता है उस पुरुषका कार्य सफल होता है ४४ जीव पूर्वजन्ममें प्रयत्नपूर्वक जो शुभ वा अशुभ कर्म करता है, वे शुभ और अशुभ कर्म माताके उदरमें प्रवेश करते हैं, तबसे ही भोगनेमें आते हैं और कामसे प्रेरित हुआ जैसे वायु लोहेसे तोड़े हुए लकड़ियोंके चूरेको उड़ादेता है,ऐसे ही किसीसे भी न हटाया जा सकने वाला मृत्यु कालक्रमसे सबको उड़ादेता है ॥ ४५ ॥ पूर्वजन्ममें किये हुए शुभ और अशुभकर्मके अनुसार सब धन, पशु तथा स्त्रीको पाते हैं पुत्र पौत्र आदिको प्राप्त करतेहैं, उत्तम

उवाच । इत्युक्तो जनको राजन् याथातथ्यं मनीषिणा । श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदमुवाच ह ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

युधिष्ठिर उवाच । सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसंति पितामह । विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् । साध्यानामिह सम्वादं हंसस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥ हंसो भूत्वाथ सौपर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः । स वै पर्येति लोकांस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ॥ ३ ॥ साध्या ऊचुः । शकुने वयं स्म देवा वै साध्यास्त्वामनुयुंक्ष्महे । पृच्छामस्त्वां मोक्षधर्मं भवांश्च किल मोक्षवित् ॥ ४ ॥ श्रुतोऽसि

कुलमें जन्म पाते हैं, धन धान्य आदि संपत्तिको पाते हैं ॥४६॥ भीष्मजीने कहा, कि–हे राजन् ! इस प्रकार ज्ञानी पराशर ऋषि ने धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ राजा जनकसे श्रेयका यथार्थस्वरूप कहा, यह सुनकर राजा जनक परम आनन्दित हुए ॥ ४७ ॥ दो सौ अट्ठानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६८ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे भीष्मपितामह ! जगत्में विद्वान् पुरुष सत्य, दम, क्षमा और प्रज्ञाकी प्रशंसा करते हैं, इस विषय में आपका क्या मत है ? वह आप मुझे बताइये ॥ १ ॥ भीष्म जीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! प्राचीन समयमें हंस और साध्य-देवताओंमें जो संवाद हुआ था, उसका इतिहास मैं तुमसे कहता हूँ, सुन ॥२॥ एक समय जन्मरहित, सनातन, प्रजापति सुवर्ण के हंसका स्वरूप धारण कर तीनों लोकोंमें घूमते २ साध्यदेवता-ओंके पास आपहुँचे ॥३॥ साध्यदेवताओंने कहा कि–हे पक्षियों में श्रेष्ठ हंस ! हम साध्य नामक देवता हैं, हम आपसे प्रश्न बूझना चाहते हैं हम आपसे मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न करेंगे, क्योंकि–इस

नः पण्डितो धीरवादी साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन् । किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन् ॥ ५ ॥ तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि यत्कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम् । यत् कृत्वा वै पुरुषः सर्ववन्धैर्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम् ॥६॥ हंस उवाच । इदं कार्यममृताशाः शृणोमि तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः । ग्रंथीन्विमुच्य हृदयस्य सर्वान्प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत ॥ ७ ॥ नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत । ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वेददुषतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥ वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति राज्यहानि । परस्य

विषयको आप भली भाँति जानते हैं ॥४॥ हे महात्मा पक्षिन् ! हमने सुना है, कि-आप उत्तम वक्ता, पण्डित, शास्त्रार्थ करने वाले हैं आपकी उत्तम कीर्ति संसारमें फैली हुई है अतः हम बूझते हैं, कि-हे महात्मन् ! आप किसको उत्तम मानते हैं और आपका मन किसमें रमण कर रहा है ॥५॥ हे उत्तम पक्षिन् ! तुम जिस कार्यको उत्तम मानते हो, उस कार्यका मुझे उपदेश दो, हे पक्षिराज ! पुरुष जिस कर्मको करके तुरत ही बन्धनसे छूटजाता है, उस कर्मको मुझसे कहिये ॥ ६ ॥ हंसने कहा, कि-मैंने सुना है, कि-जो अमृतका भोजन करनेवाले हैं, वे तपको दमको सत्यभाषणको तथा आत्मगुप्तिको आपके प्रश्नके अनुसार उत्तम कर्म कहते हैं, हृदयकी राग आदि सकल ग्रन्थियों को तोड़ डालना चाहिये और हर्ष तथा विषाद आदिको वशमें कर लेना चाहिये ॥७॥ किसीसे मर्मान्तक बातें न कहनी चाहियें क्रूर भाषण न करना चाहिये, नीचके पाससे शास्त्रका रहस्य न जानना चाहिये तथा जिस बातके कहनेसे दूसरेको उद्वेग हो ऐसी अकल्याणमयी और नरकलोकको देनें वाली वाणी न बोलनी चाहिये ॥ ८ ॥ मुखमेंसे वाणीरूप वाण बाहर निकलते

नाममर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजत्परेषु ॥ ९ ॥ परश्चेदेनमतिवादबाणैर्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः । संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः स आदत्ते सुकृतं वै परस्य ॥१०॥ क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकं निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम् । अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम्॥११॥ आक्रुश्यमानो न वदामि किञ्चित्क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम् । श्रेष्ठं ह्येतत्क्षममाहुरार्याः सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम् ॥ १२ ॥ वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः । दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्१३ वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् । एता-

हैं और उनके प्रहारसे मनुष्य रातदिन शोक किया करता है, दूसरे मनुष्यके मर्मस्थानोंको चीरने वाले वाग्बाणोंका पण्डितोंको प्रयोग न करना चाहिये ॥ ९ ॥ प्रतिपक्षी मनुष्य कुवाक्यरूपी बाण मार कर भली प्रकार बींध डाले, तब भी धीर पुरुषको शांत रहना चाहिये शत्रुके क्रोध दिलाने पर भी जो मनुष्य क्रोध न कर हर्ष ही पाता है, वह धीर पुरुष शत्रुके पुण्यको हर लेता है ॥ १० ॥ जो पुरुष जगत्में तिरस्कार कराने वाले और आवेशके कारण अप्रिय प्रतीत होते हुए प्रज्वलित क्रोधको अपने वशमें कर लेता है तथा जिसका चित्त शान्त है, जो प्रसन्न मन वाला है तथा जो ईर्षासे अलग रहता है, वह पुरुष शत्रुके पुण्य को हर लेता है ॥ ११ ॥ मैं तो कोई मेरी निन्दा करता है तब भी उसको प्रत्युत्तर नहीं देता हूं, मुझे कोई मारता है तो भी उसको क्षमा करता हूँ, आर्यपुरुष क्षमाको, सत्यको सरलताको और दयाको उत्तम कहते है ॥ १२ ॥ वेदका रहस्य सत्य है, सत्यका रहस्य दम है, दमका रहस्य मोक्ष है, यह सब शास्त्रोंका आदेश है ॥ १३ ॥ जो पुरुष वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, तृष्णाके वेगको, उदरके वेगको और उपस्थके

न्वेगान्यो विषहेदुदीर्णांस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥ १४ ॥ अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्टस्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः । अमानुषान् मानुषो वै विशिष्टस्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद्वै विशिष्टः ॥१५॥ अक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः । आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विदन्ति ॥ १६ ॥ यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात् । पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तुस्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ १७ ॥ पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च । विमानितो हतो क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥ १८ ॥ सदाहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे न मे विधित्सोत्सहते

वेगको रोकता है उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ ॥१४॥ क्रोध करने वालोंसे क्रोध न करने वाला श्रेष्ठ है, सहन न करने वालोंसे सहन करने वाला श्रेष्ठ है, दुराचरणी मनुष्योंसे सदाचारी मनुष्य श्रेष्ठ माना जाता है और अज्ञानियोंसे ज्ञानी श्रेष्ठ माना जाता है ॥१५॥ किसी मनुष्यके निन्दा करने पर भी जो उसकी निन्दा नहीं करता है और उसकी निन्दाको सह लेता है, वह पुरुष निन्दा करने वाले पुरुषको भस्म कर डालता है और उसके पुण्यको अपने आप ग्रहण कर लेता है ॥ १६ ॥ जो पुरुष निन्दा होने पर भी निन्दा करने वालेसे रूखे और अप्रिय वचन नहीं कहता है और जो पुरुष प्रशंसा होने पर प्रशंसा करनेवालेसे मीठी बातें नहीं बनाता है, तैसे ही पिटने पर भी जो पीटनेवालेको नहीं पीटता है और पीटने वालेका बुरा करना भी नहीं चाहता है, उससे देवता सदा प्रीति करते हैं ॥१७॥ कोई पापी पुरुष अपना अपमान करे, अपनेको मारे अथवा अपनी निन्दा करे तब भी जो पुरुष उसको अपनेसे श्रेष्ठ समझकर उसको क्षमा करता है,वह पुरुष सिद्धि (मोक्षको) पाता है ॥ १८ ॥ मैं विद्याका अध्ययन करके सम्पूर्णरीतिसे विद्वान्

न रोषः । न चाप्यहं लिप्समानः परैमि न चैव किंचिद्विषयेण यामि ॥ १९ ॥ नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्दमं द्वार ह्यमृतस्येह वेद्मि । गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् २० निर्मुच्यमानः पापेभ्यो घनेभ्य इव चन्द्रमाः । विरजा कालमाकांक्षन्धीरो धैर्येण सिध्यति ॥ २१ ॥ यः सर्वेषां भवति ह्यर्चनीय उत्सेधनस्तंभ इवाभिजातः । यस्मै वाचं सुप्रसन्नां वदन्ति स वै देवान् गच्छति संयतात्मा॥२२॥न तथा वक्तुमिच्छन्ति कल्याणान्पुरुषे गुणान् । यथैषां वक्तुमिच्छन्ति नैर्गुण्यमनुयुञ्जकाः २३ यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक्प्रणिहिते सदा । वेदास्तपश्च त्यागश्च

होने पर भी आचार्योंकी उपासना करूँगा, मुझे विषयोंकी तृष्णा नहीं है, क्रोध नहीं है, मैं विषयोंको पानेकी इच्छासे धर्मका अतिक्रमण नहीं करूँगा तथा विषयोंकी वासनासे देवताओंसे प्रार्थना नहीं करूँगा ॥ १९ ॥ कोई मुझे गाली देगा तब भी मैं उसे गाली नहीं दूँगा, मैं दमको मोक्षका द्वार समझता हूँ, मैं तुझसे एक गुप्त सारभूत बात कहता हूँ सुन, कि मनुष्यजन्मसे अधिक और कोई जन्म श्रेष्ठ नहीं है ॥ २० ॥ जैसे समय आने पर चन्द्रमा मेघोंसे मुक्त होकर शुद्धस्वरूपमें प्रकाशित होने लगता है, तैसे ही धीर पुरुष भी धैर्यसे समय आने पर पापसे मुक्त होकर शुद्ध होजाता है और मोक्षको पाता है ॥२१॥ मनको नियममें रखने वाला जो पुरुष ब्रह्मांडमण्डल के स्तंभकी समान सबका पूजनीय होजाता है और सब मनुष्य जिसको मधुर वाणीसे बुलाते हैं, वह पुरुष देवताओंका साथी होजाता है ॥ २२ ॥ स्पर्धा करने वाला पुरुष दूसरे मनुष्यके अवगुणोंका जिस प्रकार बखान करना चाहता है, तैसे उसके अच्छे गुणोंको कहना नहीं चाहता ॥ २३ ॥ परन्तु जिस पुरुष की वाणी और मन वशमें रहते हैं और जो परमका ही चिन्तन

स इदं सर्वमाप्नुयात् ॥ २४ ॥ आक्रोशनविमानाभ्यां नाबुधान् बोधयेद्बुधः । तस्मान्न वर्धयेदन्यं न चात्मानं विहिंसयेत् २५ अमृतस्येव सन्तृप्येदवमानस्य पण्डितः । सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति ॥ २६ ॥ यत्क्रोधनो यजति यद्ददाति यद्वा तपस्तप्यति यज्जुहोति । वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं मोघः श्रमो भवति हि क्रोधनस्य ॥ २७ ॥ चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः । उपस्थमुदरं हस्तौ वाक्चतुर्थी स धर्मवित् ॥२८॥ सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः । स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन्परेषामेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् सः ॥२६ ॥ सर्वा-

वन करता है, उसको वेदाध्ययनका, तपका, और त्यागका इस प्रकार धर्म कर्मका सब फल मिलता है ॥ २४ ॥ ज्ञानी पुरुष मूर्ख मनुष्य निन्दा करे अथवा अपमान करे तो भी उस मूर्खको मूर्ख कह कर उसके अवगुण न कहे, और किसीकी प्रशंसा न करे तथा समानके साथ वादविवाद करके अपने (आत्मा) की निर्मलताका नाश न करे ॥ २५ ॥ पण्डित पुरुष अपमानसे अमृतकी समान सन्तुष्ट रहे, क्योंकि-अपमान पानेवाला पुरुष सुखसे सोता है और अपमान करने वाला पुरुष नष्ट होजाता ॥ २६ ॥ जो पुरुष क्रोधसे यज्ञ करता है, क्रोधसे दान देता है, क्रोधसे तप करता है, क्रोधसे होम करता है उसके सब कर्मोंके फलको यमराज हर लेते हैं और क्रोधी मनुष्यके सब कर्म करने का परिश्रम व्यर्थ जाता है ॥ २७ ॥ हे उत्तम देवताओं ! धर्मवेत्ता उसको ही समझना चाहिये, जो पुरुष अपने उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और चौथी वाणी इन चारों द्वारोंकी भली प्रकार रक्षा करता है ॥ २८ ॥ वह पुरुष ही स्वर्गमें जाता है, जो सत्य, दम, सरलता, दया, धर्य और तितिक्षाका अतिसेवन करता है, नित्य स्वाध्याय करता है, आशाको जीत लेता है तथा

श्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् । न पावनतमं किंचित् सत्या-
दध्यगमं क्वचित् ॥ ३० ॥ आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रति-
संचरन् । सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३१ ॥
यादृशैः सन्निवसति यादृशांश्चोपसेवते । यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृ-
ग्भवति पूरुषः ॥ ३२ ॥ यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं तपस्विनं
यदि वा स्तेनमेव । वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति तथा स तेषां
वशमभ्युपैति ॥ ३३ ॥ सदा देवाः साधुभिः संवदन्ते न मानुषं
विषयं यान्ति द्रष्टुम् । नेन्दुः समः स्यादसमो हि वायुरुच्चावचं
विषयं यः स वेद ॥३४॥ अदुष्टं वर्तमाने तु हृदयांतरपूरुषे । तेनैव

एकान्तमें निवास करता है ॥ २६ ॥ बछड़ा जैसे गौके चारों
स्तनों परको दौड़ कर अमृत पीता है, तैसे ही सत्पुरुष (सत्य,
दम, क्षमा और प्रज्ञा इन) चारोंका अनुसरण कर अमृत पाता
है, मैं तो सत्यसे अधिक और किसीको श्रेष्ठ नहीं समझता हूँ ३०
जैसे समुद्र तरनेके लिये नौका साधन रूप है,ऐसे ही स्वर्गमें जाने
के लिये सत्य सोपानरूप है, यह बात मैं मनुष्योंमें और देवता-
ओंमें विचर कर जाननेके पीछे कहता हूँ ॥ ३१ ॥ जो जिसके
साथ रहता है, वह तैसा होजाता है, जो जिसका सत्कार करता
है, वह तैसा होजाता है और जिसकी जैसी भावना होती है,
वह भी वैसा ही होजाता है ॥ ३२ ॥ कपड़े जैसे रंगसे रंगे जाते
हैं तैसेही वर्णके होजाते हैं ऐसे ही जो पुरुष सन्त,असन्त,तपस्वी
अथवा चोरका संग करता है, तैसा ही होजाता है ॥ ३३ ॥
देवता सदा सत्पुरुषोंके साथ ही भाषण करते हैं, इसी लिये वे
मनुष्योंके भोगोंकी ओर देखते भी नहीं है, क्योंकि—वे नाश-
वान् हैं (अर्थात्—मनुष्योंके सब भोग नाशवान् हैं और जो
नाशवान् है, वह सब असत्य है उस पर सत्यका ज्ञाता कैसे प्रेम
कर सकता है ? देवता सत्यके जानकार होते हैं, इसलिये वे

देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै ॥३५॥ शिश्नोदरे ये निरताः सदैव स्तेना नरा वाक्परुषाश्च नित्यम् । अपेतदोषानपि तान् विदित्वा दूराद्देवाः सम्परिवर्जयन्ति॥३६॥न वै देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा ।-सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा धर्मे रतास्तैः सह सम्भजन्ते ॥ ३७ ॥ अव्याहृतं व्याहृता-च्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद्व्याहृतं तद् द्वितीयम् ॥ धर्मं वदेद्व्याहृतं

असत्य जगत्में फँसे हुए मनुष्योंके भोगोंको देखना भी नहीं चाहते) जो पुरुष सब विषयोंको वृद्धि तथा क्षय वाले जानता है, उस ज्ञानी पुरुषको चन्द्रमा और वायुसे भी श्रेष्ठ समझना चाहिये (भावार्थ-चन्द्रमा अमृतमय है, सत्पुरुष ज्ञानी भी ऐसा ही है, परन्तु चन्द्रमा किसी दिन भी-समभावसे नहीं रहता, वह क्षय और वृद्धिके स्वभाव वाला है अतः ज्ञानी पुरुषको उसकी उपमा नहीं दी जासकती, ऐसे ही वायु धूल आदिको उड़ाने पर भी उससे लिप्त नहीं होता है, तो भी ज्ञानी पुरुषकी समान वह नहीं होसकता, क्योंकि-वह समभावमें नहीं रहता है कभी मन्द, कभी तीव्र और कभी मध्यम वेग वाला प्रतीत होता है अतः सुख दुःखमय सारी स्थितियोंमें समान रहनेवाले ज्ञानी पुरुषकी वे समता नहीं कर सकते ॥३४॥ जो पुरुष राग और द्वेषरहित होकर अन्तर्यामी पुरुषरूपसे रहता है उस सत्पुरुषके साथ देवता भी प्रीतिका व्यवहार करते हैं ॥ ३५ ॥ और जो पुरुष सदा ही शिश्न तथा उदरका पोषण करनेमें लगे रहते हैं, जो चोर होते हैं और जो कठोर वाणी बोलते हैं, वे पुरुष प्रायश्चित्त करके दोषरहित होजाते हैं, तब भी देवता उनको पहिचान कर उनसे दूर ही रहते हैं ॥ ३६ ॥ नीचबुद्धि, सर्वभक्षी और पाप कर्म करने वालोंके ऊपर देवता प्रसन्न नहीं होते हैं परन्तु जो पुरुष सत्यव्रतधारी,कृतज्ञ और धर्मपरायण रहते हैं उन पुरुषोंके साथ

तत्तृतीयं प्रियं वदेद्धर्माहृतं तच्चतुर्थम् ॥ ३८ ॥ साध्या ऊचुः । केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते । केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ३९ ॥ हंस उवाच । अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते । लोभात्त्यजति मित्राणि सङ्गात्स्वर्गं न गच्छति ॥ ४० ॥ साध्या ऊचुः । कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते । कः स्विदेको बलवान्दुर्बलोऽपि कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति ॥ ४१ ॥ हंस उवाच । प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते । प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ॥ ४२ ॥ साध्या ऊचुः ।

देवता सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ३७ ॥ धर्मवेत्ता कहते हैं, कि-बोलने से न बोलना उत्तम है और न बोलनेसे सत्य बोलना अच्छा है और धर्ममय प्रियभाषण किया जाय तो यह सर्वोत्तम है ३८ साध्योंने बूझा कि-हे हंस! इस लोकको किसने घेर लिया है? और यह किस लिये प्रकाशित नहीं होता है? मनुष्य किसलिये मित्रोंको त्याग देता है और किस कारणसे स्वर्गमें नहीं जा सकता? ॥ ३९ ॥ हंसने कहा, कि-जगत् अज्ञानसे घिरा हुआ है और मत्सरतासे मनुष्यको अपने स्वरूपका भान नहीं होता मनुष्य लोभसे मित्रका त्याग करते हैं और विषयोंका संग करने से मनुष्य स्वर्गमें नहीं जाते हैं ॥ ४० ॥ साध्योंने बूझा, कि-ब्राह्मणोंमें कौन परमसुखी है? ऐसा कौन है जो बहुतों के साथ मौन रहकर आनन्दका उपभोग करता है? ऐसा कौन है जो दुर्बल होने पर भी बलवान् है? ऐसा कौन है जो दूसरों के साथ कलह नहीं करता है? ॥ ४१ ॥ हंसने कहा, कि-ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंमें जो बुद्धिमान् है वह परमसुखी है, जो बुद्धिमान् है वही बहुतसोंके साथ रहने पर भी मौन व्रत पालन कर ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है, बुद्धिमान् मनुष्य दुर्बल होने पर भी बली

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते। असाधुत्वे च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम् ॥ ४३॥ हंस उवाच। स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते। असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते॥ ४४ ॥ भीष्म उवाच। सम्वाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः। क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते॥४५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हंसगीतासमाप्तौ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच। सांख्ये योगे च मे तात विशेषं वक्तुमर्हसि। तव धर्मज्ञ सर्वं हि विदितं कुरुसत्तम॥१॥भीष्म उवाच। सांख्याः

है, बुद्धिमान् पुरुष ही दूसरोंके साथ कलह नहीं करता है॥४२॥ साध्योंने कहा, कि-हे हंस! ब्राह्मणोंमें देवत्व क्या है? उनका साधुपन क्या है? उनमें असाधुपन क्या है और उनमें मनुष्यत्व क्या है? ॥४३॥ हंसने कहा, कि-ब्राह्मण वेद और शास्त्रों का स्वाध्याय करते हैं यह उनमें देवत्व है, व्रत करते है यह उन में साधुत्व है, दूसरेकी निन्दा करते हैं यह उनमें असाधुत्व है और वह मरण पाते हैं यह उनमें मनुष्यत्व है ॥ ४४ ॥ भीष्म जीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! साध्यों और हंसमें हुआ यह श्रेष्ठ सम्वाद मैंने तुझसे पूर्णरीतिसे कहा (स्थूल सूक्ष्म) शरीर कर्मों का आदिकारण है और सत्ता अविनाशी अथवा जीव सत्य ब्रह्मस्वरूप है ॥४५॥ दो सौ निन्यानवेंवाँ अध्याय समाप्त २९९

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे कुरुकुलश्रेष्ठ! आप सब बातें जानते है हे धर्मवेत्ता तात! सांख्य और योगमें क्या भेद है, यह मुझे बताइये (यहाँ सांख्यशब्दसे कपिल मुनिके पच्चीस तत्त्व वाला मत नहीं लिया है, क्योंकि-कपिलके सांख्यमतमे कहाहै, कि-इस सब जगत् का प्रधानमें लय होजाता है अन्तरात्मामें नहीं होता, पुरुष पृथक् रहता है, यहाँ तो कपिलके सांख्यमतसे भिन्न, श्रुतिप्रसिद्ध ऐकात्म्य-

सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः। वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै ॥ २ ॥ अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रु-

वादका प्रतिपादन करने वाले सांख्यमतको समझना चाहिये, इसमें माना है, कि-"इदं सर्वं यदयमात्मा" यह सब दृश्य आत्मा रूप है। योगमार्गमें जीव और ईश्वरमें भेद माना गया है)॥१॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! सांख्यको पालने वाले द्विज जातिके विद्वान् सांख्यकी प्रशंसा करते हैं, और योगको जानने वाले विद्वान् योगकी प्रशंसा करते हैं सांख्यको मानने वाले और योगको मानने वाले ये दोनों अपने २ पक्षको उत्तम मानते हैं और उनको सिद्ध करनेके लिये प्रमाण देते हैं ॥२॥ हे शत्रु-नाशक युधिष्ठिर! जो मनुष्य ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकृत नहीं करते हैं, वे मोक्षको नहीं पा सकते, इसको प्रमाणित करनेके लिये ही योगमार्गको मानने वाले विद्वान् उसके लिये उत्तम और योग्य प्रमाण देते हैं (सांख्यशास्त्र ही वेदान्तशास्त्र है, सांख्यमत वाले मानते हैं, कि-यह जो कुछ दृश्य अदृश्य है, सब आत्मा ही है। योगी कहते हैं, कि-जीव असंख्य हैं और जीव ईश्वरका भेद है, असमर्थ जीवको तटस्थ ईश्वरके विना मोक्ष नहीं मिल सकता इस बातको योगमार्ग वाले श्रुति, स्मृति तथा युक्तिसे सिद्ध करनेके लिये इस प्रकार प्रमाण देते हैं, कि-जीव ईश्वरके अधीन रहकर कर्म करता है, इसको सिद्ध करने वाली श्रुति इस प्रकार है, कि-"एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते ॥" परमात्मा जिसको इस लोकमेंसे ऊपरके लोकोंमें ले जाना चाहताहै, उस पुरुषसे शुभकर्म कराता है और और जिसको नरकमें डालना चाहता है, उस से अशुभ कर्म कराता है, और स्मृतिमें कहा है, कि-"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्र-

कर्षेण । वदन्ति कारणश्रैष्ठ्यं योगाः सम्यङ् मनीषिणः ॥ ३ ॥

मेव वा" अज्ञानी जीव अपना सुख दुःख संपादन करनेमें असमर्थ है वह ईश्वरकी प्रेरणासे स्वर्गमें जाता है,अथवा नरकमें जाता है,इसप्रकार श्रुति तथा स्मृतिका प्रमाण देनेके अतिरिक्त "ईश्वर स्वतन्त्र कर्ता है"इसका प्रमाण इसप्रकार देते हैं,कि-पृथ्वी,अंकुर आदि कार्य होनेसे किसी कर्ताकी अपेक्षा वाले हैं,घट कार्य होने से जैसे किसी कर्तासे उत्पन्न होता है, ऐसे ही पृथ्वी अंकुर आदि भी ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं इस प्रकार श्रुति, स्मृति तथा युक्तिसे तटस्थ ईश्वरको सिद्ध करते हैं । योगाचार्य कहते हैं कि-जीवको शुभाशुभ कर्ममें प्रवृत्त करने वाला तटस्थ ईश्वर ही है यदि ईश्वर कारण न हो 'तो स्वतन्त्र जीवकी दुःख देने वाले कार्यमें प्रवृत्ति न हो और वैसी प्रवृत्ति ही करने पर उसको प्रतीत होजाय, कि-ऐसा कार्य करनेसे बुरा ही होगा, अपना अहित करना कौन चाहेगा ? कोई कहे,कि-कर्म जीवको प्रेरणा करेगा इसमें ईश्वरकी क्या आवश्यकता है, इसके उत्तरमें योगमार्गवाले कहते हैं, कि-कर्म प्रकृतिके कार्य हैं अतः वे प्रेरणा नहीं कर सकते, पातञ्जल योगसूत्रमें भी यही लिखा है, कि-"निमित्त-मप्रयोजकं प्रकृतीनामावरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" धर्म आदि कर्म प्रकृतियोंको प्रेरित नहीं करसकते,क्योंकि-वह प्रकृतिके कार्य हैं, परन्तु क्षेत्रपाल जैसे एक क्यारीमेंसे दूसरी क्यारीमें जल लेजानेके लिये क्यारीके बाँधको तोड़कर जल जानेके लिये मार्ग बना देता है, ऐसे ही धर्मादि कर्म जलके स्वभाववाले प्रकृतिके आवरणोंको तोड़कर, उसको भिन्न जातिमें जानेके मार्ग कर देता है, ईश्वर लोहचुम्बककी समान उदासीन है,तब भी अपनी सत्ताके बलसे प्रधानतत्त्वको प्रेरित कर अपने भक्तों पर अनुग्रह करता है, अतः ईश्वर मोक्ष देनेवाला अवश्य है,ऐसा मानना ही

वदन्ति कारणं चेदं साङ्ख्याः सम्यग् द्विजातयः । विज्ञायेह गतीः सर्वा विरक्तो विषयेषु यः ॥ ४ ॥ ऊर्ध्वं स देहात्सुव्यक्तं विमु-

पड़ेगा। जीवात्माका मोक्ष कैसे होता है इसके उत्तरमें योगी यह युक्ति देते हैं, कि-यदि ईश्वर न हो तो जीव बन्धनमेंसे मुक्त कैसे होगा? मुक्त करने वाला कौन है? पाप पुण्यका फल क्या है? और उसको देने वाला कौन है? ॥३॥ सांख्यको मानने वाले द्विजाति भी साङ्ख्यके सम्बन्धमें इसप्रकार कहते हैं, सब प्रकार की गतियोंको जान कर पुरुष विषयोंसे विरक्त होजाता है और देह त्यागकर स्पष्टरीतिसे मोक्ष पाता है, इसके अतिरिक्त और किसी उपायसे मोक्ष नहीं मिलसकती, इस प्रकार साङ्ख्यशास्त्र-वेत्ता महाबुद्धिमान् पण्डित साङ्ख्यको मोक्षदर्शन कहते हैं (टिप्पणी-साङ्ख्यदर्शन वाले अर्थात् वेदान्त दर्शन वाले मानते हैं, कि-स्फटिक मणि स्वयं शुद्ध है, परन्तु लाल पुष्पके संगसे उसका वर्ण लाल रङ्गका होजाता है और पद्मरागमणिके संयोग से वह नील वर्णकी प्रतीत होने लगती है जैसे एक ही स्फटिक मणि दूसरे पदार्थोंकी उपाधिसे भिन्न २ दीखती है, ऐसे ही चिदात्मा स्वयं शुद्ध होने पर भी मायाके सम्बन्धसे ईश्वर कह-लाता है, अविद्याके सम्बन्धसे अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बुद्धिके लयसे सूत्रात्मा कहलाता है, अविद्याकी प्रबलतासे विराट कहलाता है और अविद्याकी अति-प्रबलतासे विश्वरूप कहलाता है, इस प्रकार एकही चिदात्मा उपाधिके कारण अनेक प्रकारका भासता है, जैसे घटमें रक्खे हुए दीपककी ज्योति घटमें ही प्रकाश फैलाती है, घटके मुखमेंसे कुछ २ प्रकाश बाहरको निकलता रहता है उस से घरकी कोई२वस्तु प्रकाशित होती है, परन्तु इस दीपकको घटमें से बाहर निकाल लेने पर सम्पूर्ण घरमें प्रकाश फैल जाता है इसप्रकार ही प्रत्यक् चैतन्य देहसे ढका हुआ है, तब वह केवल

च्येदिति। नान्यथा । एतदाहुर्महाप्राज्ञाः सांख्यं वै मोक्षदर्शनम् ॥५॥ स्वपक्षे कारणं ग्राह्यं समये वचनं हितम् । शिष्टानां हि मतं ग्राह्यं त्वद्विधैः शिष्टसम्मतैः ॥६॥ प्रत्यक्षहेतवो योगाः सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः । उभे चैते मते तत्त्वे मम तात युधिष्ठिर ॥ ७॥ उभे

देहमें ही प्रकाशित होता है, देहमेंसे इन्द्रियोंके द्वारा बाहर निकलने पर ब्रह्माण्डस्थित शब्द आदि विषयोंको प्रकाशित करता है और गुरुकी बताई हुई युक्तिसे देहाध्यासके सम्पूर्णरीतिसे निवृत्त हो जाने पर उस समय यह जीव 'मैं सर्वात्मा विराट हूँ' यह समझता है, तदनन्तर वह जीव अविद्याके कम होने पर अपनेको सूत्रात्मा मानता है और जब मायाके वशमें होता है, तब अपनेको ईश मानता है, परन्तु मायाका नाश होने पर शुद्ध चैतन्यात्मा रूपसे प्रकाशित होने लगता है, ऐसा अनुभवका क्रम है इसप्रकार विश्व परमात्मा अर्थात् विराट, सूत्रात्मा ईश और शुद्ध इन चार गतियोंको जो पुरुष प्रत्यक्षरीतिसे जानता है, वह पुरुष चार प्रकारका क्षय होनेके पीछे ब्रह्मके स्वरूपको जान कर मोक्ष पाता है अध्यासकी निवृत्ति होजाने पर उपाधिरहित ब्रह्मका प्रत्यक्ष होजाता है, ऐसा अनुभवके बलसे सिद्ध होता है, तब तटस्थ ईश्वरका क्या प्रयोजन है, ऐसा सांख्यवादियोंका कथन है ॥ ४-५ ॥ इस प्रकार दोनों पक्षोंकी युक्तियें समान हैं अब तू जिस पक्षको उचित समझता हो उस पक्षकी हितकारक युक्तियोंको ग्रहण कर, अपने २ मतमें जो२वचन हितकारक प्रतीत हों उन २ वचनोंको ग्रहण करना ही इष्ट माना जाता है । दोनों पक्षोंमें (ऐसे२) विद्वान् मिल जाते हैं (कि-उनकी युक्तियों खंडन करना कठिन होजाता है) परन्तु तुझ सरीखे पुरुष दोमेंसे एक मतको ग्रहण करते हैं ॥ ६ ॥ हे तात ! योगका अनुसरण करने वाले, जिसको बुद्धि स्वीकृत करती है ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणको ही

चैते मते ज्ञाते नृपते शिष्टसम्मते । अनुष्ठिते यथा शास्त्रं नयेतां परमां गतिम् ॥ ८ ॥ तुल्यं शौचं तपोयुक्तं दया भूतेषु चानघ । व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं न समं तयोः ॥९॥ युधिष्ठिर उवाच। यदि तुल्यं व्रतं शौचं दया चात्र फलं तथा । न तुल्यं दर्शनं कस्मात्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१०॥ भीष्म उवाच । रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधञ्च केवलम् । योगाच्छित्त्वा ततो दोषान् पंचैनान् प्राप्नुवन्ति तत् ॥ ११ ॥ यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्त्वा पुनर्जलम् । प्राप्नुवन्ति तथा योगास्तत्पदं वीतकल्मषाः ॥ १२ ॥

मुख्य मानते हैं और सांख्यको मानने वाले श्रुतिके प्रमाणको ही मुख्य मानते हैं, परन्तु हे तात युधिष्ठिर ! इन दोनों तत्त्वोंको मैं शास्त्रसम्मत मानता हूँ ॥ ७ ॥ मैं दोनों मतोंका मान करता हूँ, तैसे ही दूसरे बुद्धिमान् मनुष्य भी दोनोंको मान्य समझते हैं और शास्त्रसम्मत इन दोनों मतोंको यदि (उनके शुद्धस्वरूप में) जान लिया जाता है, और शास्त्रानुसार आचरण किया जाता है तो दोनों मत परमगति देते हैं ॥ ८ ॥ हे दोषरहित राजन् ! इन दोनों मतोंकी भीतरी बाहिरी तपसे युक्त पवित्रता, सब जीवों पर दया तथा सत्य आदि व्रतोंका पालन एकसे हैं, तथापि उन दोनोंके दर्शन (शास्त्र) के मार्ग भिन्न २ हैं ॥ ९ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे पितामह ! उनके व्रत, शौच,दया और उनके फल ये सब समान हैं तब भी उनके दर्शन (शास्त्र) समान नहीं हैं,इसका क्या कारण है ? ॥१०॥ भीष्मजीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! योगके बलसे मनुष्य राग, मोह, स्नेह, काम और क्रोध इन पाँच दोषोंका नाश करके मुक्ति पाता है ॥ ११ ॥ जैसे बड़े २ मत्स्य जालको काटकर फिर जल में घुस जाते हैं, ऐसे ही योगी भी योगबलसे पापरहित होकर, राग मोहके जालको काट कर परब्रह्मके पदको पाता है ॥१२॥है

तथैव वागुरां छित्वा बलवन्तो यथा मृगाः । प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः ॥ १३ ॥ लोभजानि तथा राजन् बंधनानि बलान्विताः । छित्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम् १४ अबलाश्च मृगा राजन् वागुरासु तथापरे । विनश्यन्ति न सन्देह-स्तद्वद्योगबलादृते ॥ १५ ॥ बलहीनाश्च कौन्तेय यथा जालङ्गता झषाः । वधं गच्छन्ति राजेन्द्र योगास्तद्वत् सुदुर्बलाः ॥ १६ ॥ यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिन्दम । तत्र सक्ता विपद्यंते मुच्यन्ते च बलान्विताः ॥ १७ ॥ कर्मजैर्बन्धनैर्बद्धास्तद्वद्योगाः परन्तप । अबला वै विनश्यन्ति मुच्यन्ते च बलान्विताः ॥१८ ॥ अल्पकश्च यथा राजन्वह्निः श्याम्यति दुर्बलः । आक्रांत इन्धनैः

जैसे बलवान् मृग जालको काट कर वनमें भाग जाता है, ऐसे ही योगी भी योगबलसे सब बन्धनोंको काटकर निर्मलमार्ग (ब्रह्मपद) को पाता है ॥ १३ ॥ हे राजन् ! निःशंक योगबल से सम्पन्न योगी लोभसे उत्पन्न हुए बन्धनोंको त्यागकर निर्मल शिवरूप मोक्षमार्गमें जाता है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! जैसे निर्बल, पशु पाशमें फँस कर मारे जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, ऐसे ही निर्बल योगीके विषयमें होता है अर्थात् निर्बल योगी कामादिके वशमें होजाता है ॥ १५ ॥ हे कुन्तीपुत्र राजेन्द्र ! निर्बल मत्स्य जालमें पड़ने पर जैसे मारे जाते हैं तैसे ही अतिदुर्बल योगी भी कामादिके वशमें होकर मरण पाते हैं अर्थात् संसारके बन्धनमें फँस जाते हैं ॥ १६ ॥ हे शत्रुदमन राजन् ! जैसे निर्बल पंक्षी सूक्ष्म जालमें फँसकर मारे जाते हैं और बलवान् उस जालमेंसे छूट जाते हैं ॥ १७ ॥ ऐसे ही हे परन्तप ! योगियोंके विषयमें में भी समझना चाहिये, कर्मके बन्धनमें फँसेहुए योगियोंमेंसे निर्बल नष्ट होजाते है और और बलवान् छूट जाते हैं ॥ १८ ॥ हे राजन् ! थोड़े और निर्बल अग्नि पर बड़े बड़े लक्कड़

स्थूलैस्तद्वद्योगो बलः प्रभो ।१९॥ स एव च यदा राजन्वह्निर्जातबलः पुनः । समीरणगतः क्षिप्रं दहेत् कृत्स्नां महीमपि ॥ २० ॥ तद्वज्जातबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः । अन्तकाल इवादित्यः कृत्स्नं संशोषयेज्जगत् ॥ २१ ॥ दुर्बलश्च यथा राजन्स्रोतसा ह्रियते नरः । बलहीनस्तथा योगो विषयैर्ह्रियतेऽवशः ॥ २२ ॥ तदेव च महास्रोतो विष्टंभयति वारणः । तद्वद्योगबलं लब्ध्वा व्यूहते विषयान्बहून् ॥२३॥ विशन्ति चावशाः पार्थ योगाद्योगबलान्विताः । प्रजापतीनृषीन्देवान्महाभूतानि चेश्वराः ॥ २४ ॥ न यमो नांतकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः । ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥२५॥ आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भर-

---

डालने पर जैसे वह अग्नि उनसे दब कर नष्ट होजाती है, इस प्रकार ही निर्बल योगी भी महायोगको साधनेको जाने पर (संसारसमागममें आनेसे) उससे दब कर नष्ट होजाता है॥१९॥ परन्तु यही निर्बल और सूक्ष्म अग्नि जब पवनके कारण वेगमें भर जाता है, तब सम्पूर्ण पृथ्वीको जला कर भस्म डालता है २० इस ही प्रकार योगीका योगबल जब बढ़ता है और उसका तेज फैलता है तब वह प्रलयकालमें सूर्य जैसे सम्पूर्ण जगत्को शुष्क कर देता है, ऐसे ही वह महाबली योगी भी सारे संसारका शोषण कर सकता है ॥ २१ ॥ हे राजन् ! निर्बल मनुष्य जैसे जलके प्रवाहमें बह जाता है, ऐसे ही बलरहित योगी भी विषयोंके प्रवाहमें बह कर नष्ट होजाता है ॥ २२ ॥ हाथी जैसे जलके बड़े भारी अहलेको रोक लेता है, ऐसे ही महायोगी भी योगबलसे सब विषयों(से निवृत्त रहता है)को रोक लेता है॥२३॥हे पार्थ ! स्वतन्त्र योगी योगबलकी सामर्थसे प्रजापतियोंमें, ऋषियोंमें, देवताओंमें तथा महाभूतोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २४ ॥ हे राजन् ! यम, अंतक और भयंकर पराक्रम करने वाली मृत्यु भी अपार तेजस्वी

तर्षभ । योगः कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥२६॥ प्राप्नु-याद्विषयान्कश्चित्पुनश्चोग्रं तपश्चरेत् । संक्षिपेच्च पुनस्तात सूर्यस्ते-जोगुणानिव ॥२७॥ बलस्थस्य हि योगस्य बन्धनेशस्य पार्थिव । विमोक्षे प्रभविष्णुत्वमुपपन्नमसंशयम् ॥ २८ ॥ बलानि योग-प्राप्तानि मयैतानि विशाम्पते । निदर्शनार्थं सूक्ष्माणि वक्ष्यामि च पुनस्तव ॥ २९ ॥ आत्मनश्च समाधाने धारणां प्रति वा विभो । निदर्शनानि सूक्ष्माणि शृणु मे भरतर्षभ ॥३०॥ अप्रमत्तो यथा-धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः । युक्तः सम्यक्तथा योगी मोक्षं प्राप्नो-त्यसंशयम् ॥३१॥ स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम् ।

योगी पर अपनी सत्ता नहीं चला सकती ॥ २५ ॥ हे भरतवंश के श्रेष्ठ राजन् ! योगी योगबलसे अपने शरीरके सहस्रों विभाग करके उन सब विभागोंसे सारी पृथ्वी पर प्रवास कर सकता है ॥ २६ ॥ हे तात ! उनमेंसे कितने ही (शरीरोंसे)योगी इन्द्रिय-जन्य भोगोंमें लिप्त होजाता है और फिर बहुतसे शरीरोंसे तप करता है, फिर अपने तेजको समेट कर सूर्यकी समान अपने शरीरोंको संक्षिप्त करके महातप करनेमें फिर प्रवृत्त होजाता है ॥ २७ ॥ हे राजन् ! बंधनको तोड़नेमें समर्थ योगी अपना मोक्ष अपने आप ही कर सकता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २८ ॥ हे राजन् ! मैंने तुझे योगसे प्राप्त होने वाला बल सुना दिया अब मैं तुझसे योगके सूक्ष्मतत्त्वोंको कहता हूँ॥२९॥ तथा हे राजन् ! आत्माकी समाधि और धारणाके सूक्ष्म लक्षण क्या है, यह भी मैं तुझसे कहता हूँ सुन ॥ ३० ॥ जैसे कोई धनुर्धर सावधान होकर लक्ष्यको वेध डालता है, ऐसे ही योगी भी मनको विषयोंमेंसे मुक्त कर परमात्मामें भली प्रकार लगा देता है तो अवश्य ही मोक्षको पाता है ॥ ३१ ॥ जैसे मनुष्यके तेलसे भरे हुए पात्रको शिर पर रख कर उसमें ही मनको लगा

पुरुषो युक्त आरोहेत्सोपानं युक्तमानसः ॥ ३२ ॥ युक्तस्तथायमात्मानं योगः पार्थिव निश्चलम् । करोत्यमलमात्मानं भास्करोपमदर्शनम् ॥ ३३ ॥ यथा च नावं कौन्तेय कर्णधारः समाहितः । महार्णवगतां शीघ्र नयेत् पार्थिवसत्तम ॥ ३४ ॥ तद्वदात्मसमाधानं युक्त्वा योगेन तत्त्ववित् । दुर्गमं स्थानमाप्नोति हित्वा देहमिमं नृप ॥ ३५ ॥ सारथिश्च यथा युक्त्वा सदश्वान् सुसमाहितः । देशमिष्टं नयत्याशु धन्विनं पुरुषर्षभ ॥ ३६ ॥ तथैव नृपते योगी धारणासु समाहितः । प्राप्नोत्याशु परं स्थानं लक्षं मुक्त इवाशुगः ॥ ३७ ॥ अवेक्ष्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः । पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम् ॥ ३८ ॥ नाभ्यां

कर पैरोंसे सीढ़ियों पर चढ़ने पर भी उस पात्रमेंका तेल नहीं छलकता है ॥ ३२ ॥ तैसे ही हे राजन् ! योगी भी योगयुक्त हो कर अपने मनको परमात्मामें स्थिरतासे जमाता है तब उसका आत्मा पवित्र होजाता है और वह सूर्यकी समान तेजस्वी होजाता है ॥ ३३ ॥ हे कौंतेय ! जैसे चतुर मल्लाह महासागरमें पड़ी हुई नौकाको सावधान होकर किनारे पर ले आता है, तैसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुष भी योगयुक्त होकर अपने आत्माको समाधिसे परमात्मामें संलग्न कर देता है और अपने पार्थिव शरीरको त्याग कर दुर्गम स्थानमें जाता है ॥ ३४-३५ ॥ और हे महापुरुष ! जैसे चतुर सारथी बढ़िया घोड़ोंको रथमें जोड़ कर सावधानीसे धनुर्धारीको उसके मन चाहे स्थानमें तुरत ही लेजाता है और हे राजन् ! सावधानीसे छोड़ा हुआ बाण जैसे अपने लक्ष्यको बींध देता है, तैसे ही योगी भी सावधानतासे धारणा करता है तो परमपदको पाता है ॥ ३६-३७ ॥ जो योगी जीवात्माको परमात्मामें प्रवेश करके अचलभावमें रहता है, वह योगी सब पापोंका नाश करके पवित्र पुरुषोंके अविनाशी परमपदको पाता

कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः । दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥३९॥ स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः । आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युंक्ते सम्यग्विशाम्पते ॥ ४० ॥ स शीघ्रमचलप्रख्यं कर्म दग्ध्वा शुभाशुभम् । उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते ॥ ४१ ॥ युधिष्ठिर उवाच । आहारान् कीदृशान् कृत्वा कानि जित्वा च भारत । योगी बलमवाप्नोति तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ ४२ ॥ भीष्म उवाच । कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत । स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ४३ भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिन्दम । एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४४ ॥ पक्षान् मासानृतूंश्चैनान् संवत्स-

है ॥ ३८ ॥ हे अपार पराक्रमी राजन् ! जो योगी सावधानीसे महाव्रतको धारण करके नाभि, कण्ठ, मस्तक हृदय, वक्षःस्थल, पसलिएँ, नेत्र और कान आदि सब स्थानोंमें बुद्धिके द्वारा जीवात्माका परमात्माके साथ दृढ़ संयोग करा सकता है,वह योगी महापर्वतकी समान शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका तत्क्षण ही नाश कर डालता है और उत्तम योगको धारण करके मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३९-४१ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मपितामह ! योगी कैसा आहार करनेसे तथा किन २ विषयोंको जीतनेसे महाबल पाता है, यह आप मुझसे कहिये ॥ ४२ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे भारत ! जो योगी कण बीन कर भोजन करता है, पिण्याकका आहार करता है, स्नेह (घी, तेल) को त्याग देता है, वह योगी योगबलको प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥ हे अरिमर्दन ! रूखे सत्तू अथवा जौंके आटेसे बनी हुई वस्तुको एक समय ही बहुत समय तक खाने वाला विशुद्धात्मा योगी योगबलको प्राप्त करता है ॥४४॥ जो योगी दूधमें जल मिला कर प्रथम,दिनमें एक समय पीता है, फिर महीनेमें एक दिन पीता है, फिर एक

रानहस्तथा । अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ४५ अखंडमपि वा मांसं सततं मनुजेश्वर । उपोष्य सम्यक् शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४६ ॥ कामं जित्वा तथा क्रोधं शीतोष्णे वर्षमेव च । भयं शोकं तथा श्वासं पौरुषान्विषयांस्तथा ॥४७॥ अरतिं दुर्जयां चैव घोरां तृष्णां च पार्थिव । स्पर्शं निद्रां तथा तन्द्रीं दुर्जयां नृपसत्तम ॥ ४८ ॥ दीपयन्ति महात्मानः सूक्ष्ममात्मानमात्मना । वीतरागा महाप्रज्ञा ध्यानाध्ययनसंपदा ॥ ४९ ॥ दुर्गस्त्वेष महापन्था ब्राह्मणानां विपश्चिताम् । यः कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन्क्षेमेण भरतर्षभ ॥५०॥ यथा कश्चिद्वनं घोरं बहुसर्पसरीसृपम् । श्वभ्रवत्तोयहीनं च दुर्गमं बहुकंटकम् ॥ ५१ ॥ अभक्त-

---

ऋतुमें एक वार पीता है फिर एक वर्षमें एक वार पीता है वह योगी योगबलको प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥ जो योगी मांस बिलकुल नहीं खाता है, वह योगी हे राजन् ! शुद्धात्मा होकर योगबलको प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥ काम, क्रोध, शीत, उष्ण, वृष्टि, भय शोक और निःश्वास, मनुष्योंको प्रिय लगनेवाले शब्द, किसीसे अप्रीति न करना, इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग ॥ ४७ ॥ दुर्जय अरति (स्त्रीसङ्गके अभावसे उत्पन्न हुए अस्वास्थ्य) का त्याग, भयंकर तृष्णा, स्पर्श और निद्राका सुख और दुर्जय तंद्रा को त्याग कर ॥ ४८ ॥ ध्यान तथा अध्ययनकी सम्पत्तिसे ज्ञान पाकर उस ज्ञानके द्वारा जो महात्मा बुद्धिमान् पवित्र और स्पृहारहित है, ऐसा योगी अपनी आत्माको प्रकाशित करता है॥४९॥ हे भरतवंशके श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ! विद्वान् ब्राह्मणोंको भी इस उच्च योगमार्गमें चलना अति कठिन है, इस मार्ग पर कोई भी सरलतासे नहीं चल सकता ॥ ५० ॥ बहुतसे सर्पोंसे भरे, त्रास उत्पन्न करनेवाले जन्तुओंसे भरपूर, बड़े खड्डों वाले, जलरहित, दुर्गम, बहुतसे काँटोंसे भरेहुए जङ्गलकी समान यह योगमार्ग

मटवीप्रायं दावदग्धमहीरुहम् । पन्थानं तस्कराकीर्णं क्षेमेणाभि-पतेद्युवा ॥ ५२ ॥ योगमार्गं तथासाद्य यः कश्चिद्व्रजते द्विजः । क्षेमेणोपरमेन्मार्गाद्बहुदोषो हि स स्मृतः ॥५३॥ सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते । धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥ ५४ ॥ विपन्ना धारणास्तात नयन्ति न शुभां गतिम् । नेतृहीना यथा नावः पुरुषानर्णवे नृप ॥ ५५ ॥ यस्तु तिष्ठति कौन्तेय धारणासु यथाविधि । मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति ॥ ५६ ॥ नानाशास्त्रेषु निष्पन्नं योगेष्विदमुदाहृतम् । परं योगस्य यत्कृत्यं निश्चितं तद्द्विजातिषु॥५७॥ परं हि तद्ब्रह्म

भयङ्कर है ॥ ५१ ॥ योगमार्ग एक ऐसा मार्ग है,कि–इसमें किसी प्रकारका भोजन नहीं मिलता है और यह मार्ग दावानलसे भस्म हुए वृक्षोंवाले और जिसमें चोर लुटेरे लगते हैं,ऐसे भयंकर वन की समान है, कोई तरुण पुरुष कुशलतासे उसका उल्लङ्घन कर सकता है ॥५२॥ इसी प्रकार कोई द्विजवर्णका पुरुष ही बहुतसे दुःखोंसे भरे हुए इस योगमार्गके पार कुशलतासे पहुँच सकता है परन्तु योगमार्गको एक वार ग्रहण करने पर जो मनुष्य उस को फिर छोड देता है और आगेको नही वढता है, वह मनुष्य महापापी माना जाता है ॥५३॥ हे राजन् ! पुरुष छुरेकी तीक्ष्ण धार पर सुखसे (शायद) ठहर सके, परन्तु अकृतात्मा पुरुष योगकी धारणाओंमें स्थिर नहीं रहसकते ॥ ५४ ॥ हे तात मल्लाहरहित नौकाएँ जैसे भीतर वैठे हुए मनुष्योंको समुद्र डुवा देतीं हैं,तैसे ही यदि योगधारणाओंका भली प्रकार पालन नहीं किया जाता है, तो वे पुरुषको अशुभ गति देती हैं ॥५५॥ परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! जो पुरुष विधिके अनुसार धारणाओंमें स्थिति करके रहता है, वह पुरुष मरण और जन्म तथा सुख और दुःखवर्गसे मुक्त होजाता है ॥ ५६ ॥ अनेक शास्त्रोंमें योग

मयं महात्मन् ब्रह्माणमीशं वरदं च विष्णुम् । भवं च धर्मं च षडाननं च यद्ब्रह्मपुत्रांश्च महानुभावान् ॥ ५८ ॥ तमश्च कष्टं सुमहद्रजश्च सत्त्वं विशुद्धं प्रकृतिं परां च । सिद्धिं च देवीं वरुणस्य पत्नीं तेजश्च कृत्स्नं सुमहच्च धैर्यम् ॥ ५९ ॥ ताराधिपं खे विमलं सतारं विश्वांश्च देवानुरगान्पितॄंश्च । शैलांश्च कृत्स्नानुदधींश्च घोरान्नदीश्च सर्वाः सवनान् घनांश्च ॥ ६० ॥ नागान्नगान् यक्षगणान्दिशश्च गन्धर्वसंघान्पुरुषान् स्त्रियश्च । परस्परं प्राप्य महान् महात्मा विशेत योगी न चिराद्विमुक्तः ॥ ६१ ॥ कथा च येयं नृपते प्रसक्ता देवे महावीर्यमतौ शुभेयम् । योगी स सर्वानभि-

---

सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह सब मैंने तुमसे कहा, इस योग का फल द्विजोंमें देखा जाता है ॥ ५७ ॥ हे महात्मन् ! योगका परमफल परब्रह्मके स्वरूपमें लीन होना है, महात्मा योगी योग-बलसे सब देवताओंके ईश ब्रह्मा, वरदानदाता विष्णु, शिव, धर्म, स्वामि कार्तिकेय तथा महानुभाव ब्रह्माके पुत्र, योगमें विघ्न करनेवाले तम तथा रजोगुण, आत्माके सत्त्वगुणको प्रकाशित करनेवाला सत्त्वगुण, परमप्रकृति और वरुणकी पत्नी सिद्धिदेवी; सब प्रकारके तेज और धैर्य, इन-सबमें सिद्धयोगी इच्छानुसार प्रवेश कर सकता है, तैसे ही वह उनमेंसे निकल भी सकता है, तथा नक्षत्रोंसे घिराहुआ चन्द्रमा, विश्वेदेव, सर्प, पितर, वन, पर्वत, समुद्र, नदी, मेघ, नाग, यक्ष, गन्धर्व, स्त्री, पुरुष तथा दिशा इनमेंसे जिसका स्वरूप धारण करना चाहता है, उसका स्वरूप महात्मा योगी धारण कर सकता है और थोड़े ही समयमें उनसे छूट भी सकता है ॥ ५८–६१ ॥ हे राजन् ! महापराक्रमी पर-मात्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाली यह कथा पवित्र है, योगीका आत्मा नारायणरूप है, परब्रह्म पर धारणा करनेकी शक्तिवाले

भूय मर्त्यान्नारायणात्मा कुरुते महात्मा ॥६२॥इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगविधौ त्रिशततमोऽध्यायः॥३००॥

युधिष्ठिर उवाच । सम्यक्त्वयायं नृपते वर्णितः शिष्टसंमतः । योगमार्गो यथान्यायं शिष्यायेह हितैषिणा॥१॥ सांख्ये त्विदानीं कात्स्न्र्येन विधिं प्रब्रूहि पृच्छते । त्रिषु लोकेषु यज्ज्ञानं सर्वं तद्विदितं हि ते॥२॥ भीष्म उवाच । शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम् । विहितं यतिभिः सर्वं कपिलादिभिरीश्वरैः ॥३॥ यस्मिन्नविभ्रमाः केचिद्द दृश्यंते मनुजर्षभ । गुणाश्च यस्मिन्बहवो

महात्मा योगी सब वस्तुओंका आधिपत्य पाकर, सब पदार्थोंको उत्पन्न कर सकते हैं ॥ ६२ ॥ तीनसौवाँ अध्याय समाप्त॥३००।

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे पितामह ! जैसे सद्गुरु अपने शिष्य का हित चाहने वाले होते हैं वैसे ही आपने मुझसे शिष्यको शिष्ट पुरुषोंके मान्य योगमार्गको यथार्थरीतिसे सुनाया ॥ १ ॥ अब मैं आपसे सांख्यका सिद्धान्त क्या है यह बूझता हूँ, आप मुझसे कहिये, क्योंकि-आप तीनों लोकोंके सब ज्ञानको जानने वाले हैं ॥ २ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे राजन् ! आत्माको जानने वाले (ऋषभ आदि आचार्योंने जो सूक्ष्मज्ञान दिखाया है और) कपिल आदि समर्थ यतियोंने जिसको प्रकाशित किया है, जिसमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं है, जिसमें नाना प्रकारके गुण भर रहे हैं और जिसमें सब प्रकारके दोषोंका अभाव है, जिसमें आत्मसम्बन्धी ज्ञान स्पष्ट और सन्देहरहितरीतिसे दिखाया गया है ऐसे सांख्यके तत्त्वको जानने वाले और सांख्यको मानने वाले मनुष्योंका सूक्ष्मतत्त्ववाला सांख्यशास्त्र मैं तुझसे कहता हूँ,उसको तू सुन (यह सन्देहरहित इस लिये है कि-दूसरे शास्त्रोंमें कहीं जीवको सत्य कहा है, कहीं आत्माको अनेक कहा है, कहीं आत्माको एक ही बताया है, परन्तु साङ्ख्यमें यह बात नहीं है,

दोषहानिश्च केवला ॥४॥ ज्ञानेन परिसंख्याय सदोषान्विषयान्नृप । मानुषान्दुर्जयान्कृत्स्नान्पैशाचान्विषयांस्तथा । राक्षसान्विषयान्ज्ञात्वा यक्षाणां विषयांस्तथा । विषयानौरगान्ज्ञात्वा गान्धर्वविषयांस्तथा ॥६॥ पितॄणां विषयान्ज्ञात्वा तिर्यक्षु चरतां नृप । सुपर्णविषयान्ज्ञात्वा मरुतां विषयांस्तथा ॥ ७ ॥ राजर्षिविषयान्ज्ञात्वा ब्रह्मर्षिविषयांस्तथा । आसुरान्विषयान्ज्ञात्वा वैश्वदेवांस्तथैव च ॥८॥ देवर्षिविषयान्ज्ञात्वा योगानामपि चेश्वरान् । प्रजापतीनां विषयान्ब्रह्मणो विषयांस्तथा ॥ ९ ॥ आयुषश्च परं कालं लोके विज्ञाय तत्त्वतः । सुखस्य च परं तत्त्वं विज्ञाय वदतांवर ॥ १० ॥ प्राप्ते काले च यद्दुःखं सततं विषयैषिणाम् । तिर्यक्षु पततां दुःखं पततां नरके च यत् ॥ ११ ॥ स्वर्गस्य च गुणान्कृत्स्नान्दोषान्सर्वांश्च भारत । वेदवादे येऽपि दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः ॥ १२ ॥ ज्ञानयोगे च ये दोषा

साङ्ख्यमें कर्म और ज्ञानका विरोध भी नहीं है, साङ्ख्यमें एक ही आत्मा है) ॥ ३-४ ॥ हे राजन् ! तत्त्वज्ञानसे मनुष्योंका पिशाचोंका, राक्षसोंका, यक्षोंका, सर्पोंका, गन्धर्वोंका पितरोंका पशुपक्षियोंका, गरुडोंका पवनोंका, राजर्षियोंका, ब्रह्मर्षियोंका, देवर्षियोंका, योगेश्वरोंका, असुरोंका, प्रजापतियोंका, विश्वेदेवाओंका तथा ब्रह्माका विषय(लोक) दुर्जय है तब भी नाशरूपी दोषसे दूषित है यह जान कर, परमायु तथा परमतत्त्वको भी यथार्थरीतिसे जान कर तथा सुखके परम स्वरूपको जान कर ॥ ५-१० ॥ विषयोंकी इच्छावाले पुरुषों पर समय २ पर पड़ने वाले दुःखोंको जान कर तथा आकाशमें घूमने वाले तथा नरकमें गिरने वाले प्राणियोंके दुःखको समझकर ॥ ११ ॥ स्वर्गके सब गुण तथा दोषोंको जान कर और वेदके भी गुण तथा दोषोंको समझकर ॥ १२ ॥ तैसे ही साङ्ख्यके तथा योगके

गुणा· योगे च ये नृप । साङ्ख्यज्ञाने च ये दोषास्तथैव च गुणा नृप ॥ १३ ॥ सत्वं दशगुणं ज्ञात्वा रजो नवगुणं तथा । तमश्चाष्टगुणं ज्ञात्वा बुद्धिं सप्तगुणां तथा ॥ १४ ॥ षड्गुणञ्च मनो ज्ञात्वा नभः पञ्चगुणं तथा । बुद्धिं चतुर्गुणां ज्ञात्वा तमश्च त्रिगुणं तथा ॥ १५ ॥ द्विगुणं च रजो ज्ञात्वा सत्वमेकगुणं पुनः । मार्गं विज्ञाय तत्त्वेन प्रलये प्रेक्षणे तथा ॥ १६ ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः कारणैर्भाविताः शुभाः । प्राप्नुवन्ति शुभं मोक्षं सूक्ष्मा इव नभः परम् ॥ १७ ॥ रूपेण दृष्टिं संयुक्तां घ्राणं गन्धगुणेन च । शब्दे

भी गुण तथा दोषोंको समझकर ॥ १३ ॥ तदनन्तर सत्त्वगुणके दश (आनन्द, प्रीति, उद्रेग, प्रकाशता, पुण्यशीलता, सन्तोष, श्रद्धालुपन, सरलता, त्यागशीलता और ऐश्वर्य ये दश सुख) गुण, रजोगुणके नौ (आस्तिकता, कृपणताशून्यता, दुःखको सहन करना, भिन्नता, पौरुष, काम क्रोध, मद और मात्सर्य) गुण, तमोगुणके आठ (अविद्या, मोह, महामोह, तामिस्र, निन्द्रा प्रमाद और आलस्य) गुण तथा बुद्धिके सात (महत् अहङ्कार शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गंध-तन्मात्रा) गुणोंको जान कर ॥१४॥ मनके छः (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र रसना, घ्राण इन पाँच इन्द्रियोंसहित छठा मन) गुण, आकाशके पाँच (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) और पुनः बुद्धिके चार (अन्य तत्त्व शास्त्रानुसार संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण) प्रकार, तमके तीन- (अप्रतिपत्ति, विप्रत्ति-पत्ति, विपरीतप्रतिपत्ति) प्रकार ॥ १५ ॥ रजके दो (प्रवृत्ति तथा दुःख) प्रकार और सत्त्वका एक (प्रकाश) प्रकारको जानकर तथा आत्मतत्त्वके अवलोकनमें तत्त्वसे मार्गको जान कर ॥ १६ ॥ ज्ञान तथा विज्ञानसे युक्तहुए तथा (मोक्षके उप-योगी) कारणके अनुभव वाले शुभ साङ्ख्यवादी सूर्यकी किरणों

सक्तं तथा श्रोत्रं जिह्वारसगुणेषु च ॥१८॥ तनुं स्पर्शे तथासक्तां वायुं नभसि चाश्रितम्। मोहं तमसि संयुक्तं लोभमर्थेषु संश्रितम् ॥१९॥ विष्णुं क्रान्ते बले शक्रं कोष्ठे सक्तं तथानलम्। अप्सु देवीं समासक्तामपस्तेजसि संश्रिताः ॥ २० ॥ तेजो वायौ तु संसक्तं वायुं नभसि चाश्रितम्। नभो महति संयुक्तं महद् बुद्धौ च संश्रितम् ॥ २१ ॥ बुद्धिं तमसि संसक्तां तमो रजसि संश्रितम्। रजः सत्वे तथा सक्तं सत्वं सक्तं तथात्मनि ॥ २२ ॥ सक्तमात्मानमीशे च देवे नारायणे तथा। देवं मोक्षे च संसक्तं मोक्षं सक्तन्तु न क्वचित् ॥२३॥ ज्ञात्वा सत्वगुणं देहं वृतं षोड-

का तथा वायुका जैसे आकाशमें लय होजाता है, तैसे ही मोक्षसुखको पाते हैं ॥ १७ ॥ दृष्टिमें रूपगुण रहता है, नासिकामें गन्धगुण रहता है, श्रोत्रमें शब्दगुण रहता है, जिह्वामें रसगुण रहता है ॥ १८ ॥ त्वचामें स्पर्श रहता है। वायुका आश्रयस्थान आकाश है, मोहका आश्रयस्थान तमोगुण है, लोभका आश्रयस्थान इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ १९ ॥ चरणकी गति के देवता विष्णु हैं, बलके देवता इन्द्र हैं, जठरका देवता अग्नि है, जलकी देवी पृथिवी है, तेजमें जल रहता है ॥ २० ॥ वायुके आश्रयमें तेज रहता है और वायु आकाशके आश्रयसे रहता है और आकाश महत्तत्त्वके आश्रयसे रहता और महत्तत्त्व बुद्धिके आश्रयसे रहता है ॥ २१ ॥ बुद्धि तमके आश्रयसे रहती है, तम रजोगुणके आश्रयसे रहता है और रजोगुण, सत्त्वगुणके आश्रयसे रहता है और सत्त्वगुण जीवात्माके आश्रयसे रहता है ॥ २२ ॥ जीवात्मा तेजस्वी और योगबल वाले नारायणके आश्रयसे रहता है, नारायण मोक्षके आश्रय से रहते हैं और मोक्ष किसीके आश्रयसे नहीं रहता है, वह तो अपना आश्रय करके ही रहता ॥२३॥ यह शरीर सोलह गुणों

शभिर्गुणैः । स्वभावं चेतनां चैव ज्ञात्वा देहसमाश्रितैः ॥ २४ ॥ मध्यस्थमेकमात्मानं पापं यस्मिन्न विद्यते । द्वितीयं कर्म विज्ञाय नृपते विषयैषिणाम् ॥ २५ ॥ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च सर्वानात्मनि संश्रितान् । दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् ॥ २६ ॥ प्राणापानौ समानश्च व्यानोदानौ च तत्वतः । अवश्चैवानिलं ज्ञात्वा प्रवहं चानिलं पुनः २७ सप्त वातांस्तथा ज्ञात्वा सप्तधा विहितान्पुनः । प्रजापतीनृषींश्चैव मार्गांश्चैव बहून्वरान् २८ सप्तर्षींश्च बहून्ज्ञात्वा राजर्षींश्च परन्तप । सुरर्षीन्महतश्चान्यान्ब्रह्मर्षीन्सूर्यसन्निभान् २९ ऐश्वर्याच्च्यावितान् दृष्ट्वा कालेन महता नृप । महतां भूतसंघानां

से घिरा हुआ है और वह सत्त्वगुणका परिणामी है, उसमेंसे उत्पन्न हुए दोषोंको जानकर, पूर्वजन्मके कर्मोंसे बँधेहुए लिंग-देहकी रचना कैसी है और उसके भीतर रहनेवाले चेतनका लक्षण कैसा है उसको बुद्धिवृत्तिसे ठीक समझ कर ॥ २४ ॥ एकाकी आत्मा उसमें तटस्थ है, उसमें पापका लेश भी नहीं है यह पहिचान कर और विषयवासना वाले पुरुषोंमें उनका कर्म उनमें आश्रय करके रहता है, यह विचार कर ॥ २५ ॥ इन्द्रियें, इन्द्रियोंके विषय—ये सब आत्मामें आश्रय करके रहते हैं, मोक्ष मिलना दुर्लभ है ऐसा श्रुतिसे जानकर ॥ २६ ॥ प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान और इन पाँच नैसर्गिक प्राणवायुओंको नीचे लेजाना वाला छठा अधोवायु तथा ऊपर लेजाना वाला सातवाँ प्रवाह वायु ॥२७॥ इन सात वायुओंके भी सात विभाग किये गये हैं उनको यथार्थरीतिसे जान कर, प्रजापतियोंको ऋषियोंको, उनके अनेक उत्तम धर्म मार्गोंको ॥ २८ ॥ और सप्तर्षियोंको तथा बहुतसे राजर्षियोंको और हे राजन्! बड़े२ देवर्षियोंको तथा सूर्यकी समान ब्रह्मर्षियोंको ॥२९॥ बहुत समय के पीछे ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुए देखकर तथा हे राजन ! महाभूतोंके

श्रुत्वा नाशं च पार्थिव ॥ ३० ॥ गतिं चाप्यशुभां ज्ञात्वा नृपते पापकर्मिणाम् । वैतरण्यां च यद्दुःखं पतितानां यमक्षये ।३१। योनीषु च विचित्रासु संसारानशुभांस्तथा । जठरे चाशुभे वास शोणितोदकभाजने ३२श्लेष्ममूत्रपुरीषे च तीव्रगन्धसमन्विते । शुक्र-शोणितसंघाते मज्जास्नायुपरिग्रहे ३३शिराशतसमाकीर्णे नवद्वारे पुरेऽशुचौ । विज्ञाय हितमात्मानं योगांश्च तामसानां च जन्तूनां रमणीयाहृतात्मनाम् । सात्त्विकानाञ्च जंतूनां कुत्सितं भरतर्षभ ३५ विविधान्नृप ॥ ३४ ॥ गर्हितं महतामर्थे साङ्ख्यानां विदितात्म-नाम् । उपप्लवांस्तथा घोरान् शशिनस्तेजसस्तथा ॥३६॥ ताराणां पतनं दृष्ट्वा नक्षत्राणां च पर्ययम् । द्वन्द्वानां विप्रयोगञ्च विज्ञाय

समुदायका भी नाश होगा, इसको भी ध्यानमें रखकर ॥ ३० ॥ तथा हे राजन् ! पापकर्म करनेवालोंकी अशुभगति होती है, यह समझ कर और यमलोकमें वैतरणीमें पड़नेवालोंके दुःखोंको विचारकर ॥ ३१ ॥ और भाँति २ की योनियोंमें नानाप्रकार के दुःखदायक जन्म धारण करने पड़ते हैं; इसका विस्तार करके तथा अशुभ फल देने वाले संसारका, रक्त और जलके पात्र अशुभ उदरमें निवासका विचारकर ॥ ३२ ॥ तथा कफ, मूत्र और पुरीषसे भरेहुए, तीव्र गन्धसे गन्धित शुक्र और रजसे व्याप्त, मज्जा और नसोंसे घिरेहुए, नौ द्वारवाले, अपवित्र देहरूपी नगरमें रहने वाले आत्माका हित कैसे हो, इसके लिये अनेक प्रकारके उपायोंकी योजना करके ॥ ३३-३४ ॥ जिनका मन विषयोंसे व्याप्त होरहा है, ऐसे तमोगुणी रजोगुणी और सत्त्व-गुणी प्राणियोंके पापकर्मका विचार कर ॥ ३५ ॥ आत्मतत्त्ववेत्ता साङ्ख्यशास्त्रके ज्ञाताओंके मानेहुए निन्दितकर्मोंका विचार कर, सूर्य तथा चन्द्रमाके ग्रहण ॥ ३६ ॥ ताराओंके पतन, नक्षत्रोंके उलट फेर, स्त्रीपुरुषोंके करुणाजनक वियोग, प्राणियोंके क्षुधा

कृपणं नृप ॥ ३७॥ अन्योन्यभक्षणं दृष्ट्वा भूतानामपि चाशुभम् । बाल्ये मोहञ्च विज्ञाय क्षयं देहस्य चाशुभम् ॥ ३८ ॥ रागे मोहे च सम्प्राप्ते क्वचित्सत्वं समाश्रितम् । सहस्रेषु नरः कश्चिन्मोक्षबुद्धिं समाश्रितः ॥ ३९ ॥ दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् । बहुमानमलब्धेषु लब्धे मध्यस्थतां पुनः ॥ ४० ॥ विषयाणां च दौरात्म्यं विज्ञाय नृपते पुनः । गतासूनां च कौन्तेय देहान्दृष्ट्वा तथाऽशुभान् ॥ ४१ ॥ वासं कुलेषु जन्तूनां दुःखं विज्ञाय भारत । ब्रह्मघ्नानां गतिं ज्ञात्वा पतितानां सुदारुणाम् ४२ सुरापाने च सक्तानां ब्राह्मणानां दुरात्मनाम् । गुरुदारप्रसक्तानां गतिं विज्ञाय चाशुभाम् ॥ ४३ ॥ जननीषु च वर्तन्ते ये न सम्यग्युधिष्ठिर । सदेवकेषु लोकेषु ये न वर्तन्ति मानवाः॥ ४४ ॥ तेन ज्ञानेन विज्ञाय गतिं चाशुभकर्मणाम् । तिर्यग्योनिगतानां च विज्ञाय

से एक दूसरेके भक्षण करने, बाल्यावस्थाके मोह, देहके अशुभ क्षय तैसे ही राग और मोहके अवसर आने पर कोई प्राणी ही धैर्य धारण करता है और कोई २ पुरुष ही मोक्षबुद्धिका आश्रय करके मोक्ष पानेका प्रयत्न करता है ॥ ३७–३९ ॥ श्रुतिसे मोक्षकी दुर्लभताको जानकर, न मिलेहुए पदार्थोंमें अति आसक्ति और उन पदार्थोंके मिलने पर उदासीनता तथा विषयोंकी दुष्टताका विचारकर तथा हे कौन्तेय! मरेहुए प्राणियोंके अशुभ देहोंकी ओर देखकर ॥ ४०–४१ ॥ घरमें रहने पर प्राणियों पर पड़ने वाले दुःखको तथा ब्रह्महत्यारे और पतितोंकी दारुण गतिको जानकर ॥ ४२ ॥ गुरुकी स्त्रियोंसे व्यभिचार करनेवाले और मद्यप दुष्टात्मा ब्राह्मणोंकी अशुभ गतिको जानकर ॥४३॥ जो मनुष्य अपनी मातासे सद्व्यवहार नहीं करते हैं और जो मनुष्य देवता तथा मनुष्योंसे उचित व्यवहार नहीं करते हैं ॥४४॥ इन अशुभ कर्म करनेवालोंकी गतिको ज्ञानद्वारा जानकर और पशु-

गतयः पृथक् ॥ ४५ ॥ वेदवादांस्तथा चित्रानृतूनां पर्ययांस्तथा । क्षयं सम्वत्सराणां च मासानाञ्च क्षयं तथा ॥ ४६ ॥ पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानाञ्च संक्षयम् । क्षयं वृद्धिं च चन्द्रस्य दृष्ट्वा प्रत्यक्षतस्तथा ॥ ४७ ॥ वृद्धिं दृष्ट्वा समुद्राणां क्षयन्तेषां तथा पुनः । क्षयं धनानां दृष्ट्वा च पुनर्वृद्धिं तथैव च ॥ ४८ ॥ संयोगानां क्षयं दृष्ट्वा युगानाञ्च विशेषतः । क्षयञ्च दृष्ट्वा शैलानां क्षयं च सरितान्तथा ॥ ४९ ॥ वर्णानाञ्च क्षयं दृष्ट्वा क्षयान्तञ्च पुनः पुनः । जरामृत्युस्तथा जन्म दृष्ट्वा दुःखानि चैव ह ॥ ५० ॥ देहदोषांस्तथा ज्ञात्वा तेषां दुःखं च तत्त्वतः । देहविक्लवताञ्चैव सम्यग्विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५१ ॥ आत्मदोषांश्च विज्ञाय सर्वानात्मनि संश्रितान् । स्वदेहादुत्थितान् गन्धांस्तथा विज्ञाय चाशुभान् ॥ ५२ ॥ युधिष्ठिर उवाच । कान्स्वगात्रोद्भवान्दोषान्पश्य-

---

पक्षीकी योनिमें उत्पन्न होनेवालोंकी भिन्न२गतियोंको जानकर ४५ विचित्र वेदविचार ऋतुओंके लौट फेर, सम्वत्सरोंके क्षय, मासों के क्षय, पक्षोंके क्षय तथा दिनोंके क्षयको देखकर और चंद्रमा की वृद्धि और क्षयको प्रत्यक्षरीतिसे देखकर ॥ ४७ ॥ समुद्रोंके चढ़ावको तथा फिर उतारको देखकर, धनोंके नाश तथा फिर बढ़नेको देखकर ॥ ४८ ॥ संयोगके नाश और युगोंके परिवर्तन पर्वतोंके टूटने तथा नदियोंके सूखनेको देखकर ॥४९॥ (ब्राह्मण आदि) वर्णोंके नाश और वृद्धिको बारम्बार देखकर-तथा जन्म मृत्यु बुढ़ापा और दुःखोंको देखकर ॥ ५० ॥ तथा देहके दोष, दुःख और विकलताको देखकर ॥ ५१ ॥ तथा जीवात्मामें रहने वाले सब दोषोंको तथा अपने देहके अशुभ दोषोंको समझकर यदि विचार करता है (तो वह साङ्ख्यके तत्त्वज्ञानको जाननेवाला मुक्ति पानेमें विजयी होता है) ॥ ५२ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि- हे अमितपराक्रमी राजन्! अपने देहसे उत्पन्न होनेवाले दोष कौन

स्यमितविक्रम । एतन्मे संशयं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥५३॥ भीष्म उवाच । पञ्चदोषान्प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः । मार्गज्ञाः कापिलाः साङ्ख्याः शृणु तानरिसूदन ॥ ५४ ॥ कामक्रोधौ भयं निद्रा पचमः श्वास उच्यते ॥ ५५ ॥ एते दोषाः शरीरेषु दृश्यंते सर्वदेहिनाम् । छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं संकल्पवर्जनात् ॥५६॥ सत्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद्भयं तथा । छिन्दंन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया नृप॥५७॥ गुणान्गुणशतैर्ज्ञात्वा दोषान्दोषशतैरपि । हेतून्हेतुशतैश्चित्रैश्चित्रान्विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५८ ॥ अपाम्फेनोपमं लोकं विष्णोर्मायाशतैर्वृतम् । चित्रभित्तिप्रतीकाशं नलसारमनर्थकम् ॥ ५९ ॥ तमः श्वभ्रनिभं दृष्ट्वा वर्षबुद्बुदसंनिभम् ।

से हैं, इसका आप यथार्थरीतिसे वर्णन कर मेरे संदेहको दूर करिये ॥ ५३ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे शत्रुनाशक राजन् ! साङ्ख्य अथवा कपिलमतके मार्गको जाननेवाले विद्वान् कहते हैं, कि मनुष्यके देहमें पाँच दोष हैं उनको तू सुन ॥ ५४ ॥ काम क्रोध भय निद्रा और पाँचवाँ श्वासका दोष है ॥५५॥ ये पाँच दोष सब देहधारी प्राणियोंमें हैं, परन्तु हे राजन् ! सत्पुरुष क्षमा से क्रोधका नाश करता है, संकल्पके संन्याससे कामका त्याग करता है ॥ ५६ ॥ सत्त्वगुणके सेवनसे निद्राका नाश करता है, सावधानीसे भयका नाश करता है और अल्पाहारसे पाँचवे श्वासको नष्ट करता (जीतता) है ॥५७॥ हे राजन् ! साङ्ख्यमत को जानने वाले पण्डितोंने साङ्ख्यमें माने हुए ज्ञानयोगसे सैकडों गुणोंके द्वारा सैकडों गुणोंको तथा सैकडों दोषोंके द्वारा सैकडों दोषोंको और सैकडों कारणोंको यथार्थरीतिसे जानकर ॥५८॥ निर्णय किया है, कि-विष्णुकी सहस्रों मायाओंसे घिरा हुआ यह जगत् जलके फेनकी समान, दीवार पर काढ़े हुए चित्रकी समान, नलकी समान अन्तःसारविहीन है ॥५९॥ और अँधेरी

नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमिहावशम् ॥ ६० ॥ रजस्तमसि संमग्नं पंके द्विपमिवावशम् । सांख्या राजन्महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम् ॥ ६१ ॥ ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप । राजसानशुभान् गन्धांस्तामसांश्च तथाविधान् ॥ ६२ ॥ पुण्यांश्च सात्विकान् गन्धान्स्पर्शजान्देहसंश्रितान् । छित्वाशु ज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन भारत ॥ ६३ ॥ ततो दुःखोदकं घोरं चिन्ताशोकमहाह्रदम् । व्याधिमृत्युमहाग्राहं महाभयमहोरगम् ६४ तमःकूर्मं रजोमीनं प्रज्ञया सन्तरंत्युत । स्नेहपंकज्वरादुर्गं ज्ञानदीपमरिन्दम ॥६५॥ कर्मागाधं सत्यतीरं स्थितव्रतमरिन्दम । हिंसाशीघ्रमहावेगं नानारससमाकरम् ॥ ६६ ॥ नानाप्रीतिमहारत्नं

गुफाकी समान, वर्षाकालके जलके बबूलोंकी समान क्षणमें नष्ट होनेवाला सुखरहित और परिणाममें नाशवान् तथा पराधीन है ॥ ६० ॥ और दलदलमें फँसेहुए हाथीकी समान रजोगुण तथा तमोगुणमें फँसा हुआ है,इस पर ध्यान देकर साङ्ख्यशास्त्रवेत्ता महापण्डित सन्तानसे स्नेह नहीं करते हैं ॥ ६१ ॥ और हे भरतवंशी राजन्!साङ्ख्यवेत्ता पुरुष सर्वव्यापक साङ्ख्यके विशाल ज्ञानसे अशुभ रजोगुण और तमोगुणके दोषोंको तथा पवित्र सत्त्वगुणके दोषोंको तथा स्पर्शेन्द्रियके (तथा दूसरी इन्द्रियोंके दोषोंको) ज्ञान तथा तपोरूपी शस्त्रसे शीघ्र ही काट डालते हैं६२-६३ तदनन्तर हे राजन् ! दुःखरूपी जलसे भयंकर, चिन्ता और शोकरूपी बड़े २ सरोवरोंवाले, व्याधि और मृत्युरूपी बड़े २ मगरोंसे व्याप्त, महाभयरूपी महासर्पोंसे भरे, तमोगुणी कर्मरूप कछुए वाले, रजोगुणी कर्मरूप मछलियें वाले, स्नेहरूपी कीचड़ वाले, वृद्धावस्थासे उत्पन्न होनेवाले दुःख और शोकरूपी दुर्गवाले, ज्ञानरूपी द्वीपवाले, कर्मरूपी गहराईवाले, सत्यरूपी किनारेवाले, व्रतरूपी स्थिरतावाले, हिंसारूपी बडेभारी तेज वेगवाले,

दुःखज्वरसमीरणम् । शोकतृष्णामहावर्त्तं तीक्ष्णव्याधिमहागजम् ॥६७॥ अस्थिसंघातसंघट्टं श्लेष्मफेनमरिन्दम । दानमुक्ताकरं घोरं शोणितह्रदविद्रुमम् ॥ ६८ ॥ हसितोत्कुष्टनिर्घोषं नानाज्ञानसुदुस्तरम् । रोदनाश्रुमलक्षारं सङ्गत्यागपरायणम् ॥ ६९ ॥ पुत्रदारजलौकौघं मित्रबान्धवपत्तनम् । अहिंसासत्यमर्यादं प्राणत्यागमहोर्मिणम् ॥ ७० ॥ वेदान्तगमनद्वीपं सर्वभूतदयोदधिम् । मोक्षदुर्लभविषयं वडवामुखसागरम् ॥ ७१ ॥ तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयानेन भारत । तीर्त्वातिदुस्तरं जन्म विशन्ति विमलं नभः ॥ ७२ ॥ तत्र तान्सुकृतीन्सांख्यान्सूर्यो वहति रश्मिभिः ।

नानाप्रकारके रसरूपी खानोंवाले, अनेक प्रकारकी प्रीतिरूपी महारत्नोंसे भर पूर, शोक और भयरूपी पवनसे हिलोरें लेते हुए, दुःख और तृष्णारूपी भँवरवाले, तीक्ष्ण व्याधिरूपी जलहस्तीवाले, अस्थियोंके संघातरूपी संघट्टवाले, कफरूप झागोंसे भरेहुए, दानरूपी मोतियोंकी खानवाले, रक्तके सरोवररूप मूँगेवाले, हास्यरूपी बडीभारी गर्जना करनेवाले, अनेक प्रकारके अज्ञानके कारण अतिदुस्तर, रोनेसे उत्पन्न होनेवाले आँसू तथा कीचडरूपी क्षारवाले, सङ्गत्यागरूपी अधिष्ठानवाले, पुत्र और स्त्रीरूप जौकवाले, मित्र तथा बान्धवरूपी (किनारे परके) नगरोंवाले, अहिंसा तथा सत्यरूपी तटवाले, प्राणत्यागरूपी बडी २ लहरोंवाले, वेदान्तज्ञानके द्वीप, सब प्राणियों पर दयारूप तैरनेके घटवाले, अनेक दुःखरूप वड्वानलसे भरपूर, मोक्षरूपी दुर्लभ वस्तु जिसमें प्राप्त करनी है, ऐसे इस संसारमहासागरको सिद्ध संन्यासी और यति ज्ञानरूपी नौकासे तैर जाते हैं और अतिदुस्तर (इस स्थूल) जन्मको तर (विस्मृत) कर निर्मल स्थान (हृदयाकाश) में प्रवेश करते है ॥ ६४–७२ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर–जैसे कमलकी नालसे जल खैंचने पर जैसे वह उस नाल

पद्मतन्तुवदाविश्य प्रवहन्विषयान्नृप ॥ ७३ ॥ तत्र तान्प्रवहो वायुः वायुः प्रतिगृह्णाति भारत । वीतरागान्यतीन् सिद्धान्वीर्ययुक्तांस्त-

से मुखमें प्रवेश करता है, तैसे ही सांख्य भी जब स्थूल शरीर को भूलकर हृदयरूप सूक्ष्मशरीरमें-हृदयाकाशमें-प्रवेश करते हैं तब चौदह लोकोंमें विहार करनेवाले, सूर्यनारायण पुण्यात्मा साङ्ख्योंके भीतर प्रवेश करके उनको चौदह भुवनोंके विषय प्राप्त करा देते हैं साङ्ख्यमतके अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाले एक आत्माके अतिरिक्त और किसीको सत्य नहीं मानते हैं तथा अपने स्थूल देहकी भी अपेक्षा नहीं करते हैं, वे अपने ज्ञानबल से पार्थिव तथा स्वर्गीय सब पदार्थों परसे इच्छा उठालेते हैं और अपने पुरुष (आत्मा) को सबसे भिन्न मानते हैं और संकल्प मात्रसे ही सब कुछ करनेकी शक्ति पाजाते हैं,सूर्य अपनी किरणों से चौदह लोकोंमें उसको लेजाता है और सर्व पदार्थोंको प्राप्त करादेता है इसका अर्थ यह है, कि-उसका ज्ञानबल अलौकिक होता है, यह भाग फलश्रुतिका है, सांख्ययोगी सब वस्तुओंको नाशवान् और क्षणिक जाननेके कारण ऐंद्रपद तथा हिरण्यगर्भ के पदको भी तुच्छ समझता है अर्थात् वह आत्मानन्दमें मस्त रहता है. सांख्यज्ञानमें सत्यप्रतीति दृढविश्वास और तदनुकूल आचार पालनेमें अलौकिक बल रहता है, क्योंकि-अन्य सब बलोंसे होनेवाले कार्य उसके अधीन रहते हैं) ॥ ७२ ॥ तदन-न्तर हे भरतवंशी राजन् ! रागरहित, तपोधन, सिद्ध सांख्य-योगियोंको प्रवह नामक वायु उपरिलिखित विषय देता है (प्रवह नामक वायु अतिपवित्र है, यह वायु धर्मात्माओंका ही स्पर्श करता है, पापात्माओंका नही, यह वायु ज्ञानीको आकाशमें लेजाता है अर्थात् उसको हृदयाकाशमें स्थिर करता है अत एव बाह्यवस्तुका ज्ञानीके ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, शार्दी-

पोऽश्नान ॥७४॥ सूक्ष्मः शीतः सुगन्धी च सुखस्पर्शश्च भारत । सप्तानां मरुतां श्रेष्ठो लोकान्गच्छति यः शुभान । स तान्वहति कौन्तेय नभसः परमां गतिम् ॥७५॥ नभो वहति लोकेश रजसः परमां गतिम् । रजो वहति राजेन्द्र सत्वस्य परमां गतिम् ॥७६॥ सत्वं वहति शुद्धात्मन्परं नारायणं प्रभुम् । प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना ॥ ७७ ॥ परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः । अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति वा विभो ॥७८॥ परमा सा गतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम् । सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम् ॥ ७६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । स्थानमुत्तममासाद्य

काशमें पुरुष सब इन्द्रियोंका संयम करके आत्माका ध्यान करता है) ॥ ७४ ॥ जो वायु सूक्ष्म, शीतल, सुगन्धित, सुखस्पर्श, सात पवनोंमें श्रेष्ठ तथा शुभ लोकोंमें वहन करनेवाला होता है, वह हे कोन्तेय ! साङ्ख्ययोगियोंको आकाशमें लेजाता है तहाँसे हे राजन् ! आकाश उनको रजोगुणकी परमगति (स्वर्गादि सुख) में पहुँचाता है ॥७५–७६॥ हे शुद्धात्मा राजन् ! तदनन्तर रजोगुण उसको सत्त्वगुणकी ऊँची सीमापर पहुँचाता है और सत्त्व गुण उसको परमप्रभु नारायणके पास लेजाता है ॥ ७७ ॥ हे राजन् ! अन्तमें विक्रान्त पवित्र नारायण उसको अपनेमें लीन करके उस साङ्ख्ययोगीको परमात्मामें प्रविष्ट कराते हैं, परमात्मा को प्राप्त होने पर निर्मल हुए वे योगी अमृतत्वको प्राप्त होते हैं और उस स्थानमेंसे हे राजन् ! फिर नहीं लौटना पडता. हे पृथापुत्र ! यही परमगति है, यह गति महात्माओंको, जो सत्य सरलतामें आसक्त हैं उनको तथा प्राणिमात्र पर दया करने वालोंको तथा द्वन्द्वभावसे रहित पुरुषोंको ही प्राप्त होती है७८-७९ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे निर्दोष राजन् ! षडैश्वर्य सम्पन्न परमात्माके परमधाममें पहुँचने पर सिद्धयति पराक्रमसे और महर्षे

भगवन्तं स्थिरव्रताः । आजन्ममरणं वा ते स्मरंत्युत न वानघ८० यदत्र तथ्यं तन्मे त्वं यथावद्वक्तुमर्हसि । त्वदृते पुरुषं नान्यं प्रष्टु-मर्हामि कौरव ॥ ८१ ॥ मोक्षे दोषो महानेष प्राप्य सिद्धिगता-नृषीन् । यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे ॥ ८२ ॥ प्रवृत्ति-लक्षणं धर्मं पश्यामि परमं नृप । मग्नस्य हि परं ज्ञानं किं न

से सर्वज्ञताको पाते हैं, तब उनको पहिले भोगेहुए जन्म मरण आदिका ज्ञान रहता है अथवा नहीं ? ॥८०॥हे कुरुवंशी ! इसमें जो वास्तविक बात हो, वह आप मुझसे कहिये,मैं आपके अति-रिक्त और किसीसे इस बातको बूझना नहीं चाहता ॥ ८१ ॥ मोक्षका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका विचार करने पर मोक्ष में एक प्रकारका बड़ा भारी दोष प्रतीत होता है अर्थात् मोक्षपाने पर भी यदि यतियोंको (ज्ञान) विज्ञान रहता हो तो ॥ ८२ ॥ प्रवृत्तिधर्म ही श्रेष्ठ है (बहुतसे शास्त्र और सिद्ध कहते हैं,कि-मोक्षमें ज्ञान नहीं रहता है और कितने ही कहते हैं, कि-मोक्षमें भी ज्ञान रहता है, इन दो मतोंके कारण कितने ही सिद्ध पुरुष ज्ञानमार्गको स्वीकार करते हैं और कितने ही प्रवृत्तिको उत्तेजित करनेवाले विज्ञानको आवश्यक मान कर कर्मको ही श्रेष्ठ मानते हैं और कर्म करनेको श्रेष्ठ मानकर भगवन्मूर्तिमें लीन होनेको परम मोक्ष मानते है) और हे राजन् ! यदि मोक्षावस्थामें पहिले अनुभव किया हुआ ज्ञान न रहता हो अर्थात् मोक्षावस्थावाला पुरुष सुषुप्तिमें पड़ेहुए पुरुषकी समान रहता हो तो मोक्षमें किसी प्रकारका विज्ञान नहीं रहता है ऐसा कहनेमें किसी प्रकारका दोष नहीं है (इससे अधिक दुःख क्या होगा, क्योंकि-सुषुप्तावस्थामें ऐसा होता है कि-वासनाओंका नाश नहीं होता और वे उस समय सूक्ष्मरूपसे रहती हैं, क्योंकि-सुषुप्तिसे जाग्रत् अवस्थामें आते ही वासनाएँ जाग्रत् होजाती हैं (टिप्पणी-युधिष्ठिरका बूझा

दुःखतरं भवेत् ॥ ८३ ॥ भीष्म उवाच । यथान्यायं त्वया तात प्रश्नः पृष्टः सुसंकटः । बुधानामपि सम्मोहः प्रश्नेऽस्मिन् भरतर्षभः ॥८४॥ अत्रापि तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ्मयेरितम् । बुद्धिश्च

हुआ पूश्न बड़े महत्वका है, इस विषयमें प्राचीन कालसे पंडित और तत्वज्ञोंमें वाद विवाद होता आरहा है, सबने अपने अपने सिद्धान्तके अनुसार उत्तर दिया है, और दूसरोंके बताये हुए कारणोंमें दोष दिखाये हैं तथापि कोई भी तत्वज्ञ सर्वमान्य समाधान नहीं कर सका है पूश्नका भावार्थ यह है, कि-मुक्त दशाको अर्थात् तत्पदको प्राप्त हुए मोक्षावस्थाके जीवको सब पूकारका ज्ञान रहता है क्योंकि-वह सर्वज्ञ है, परन्तु ऐसा होता क्यों है, यह पूश्न है भिन्न २ श्रुतियें इसका भिन्न २ उत्तर देती हैं, यदि यह कहा जाय कि-यह दशा विज्ञानमय है, तो फिर स्वर्ग आदि सुखकी अवगणना किस लिये की जाय और पूवृत्तिके मार्गकी किसलिये निन्दाकी जाय और संन्यासकी भी क्या आवश्यकता है और निवृत्तिधर्मका भी क्या पूयोजन है अतः मोक्षमें ज्ञान रहने का अवकाश स्वीकार करने पर पूवृत्तिधर्मको श्रेष्ठ मानना ही पड़ेगा और निवृत्तिधर्मको श्रेष्ठ मानें और उसमें ज्ञान न रहता हो तब भी दोष आवेगा, क्योंकि-ज्ञान न रहने पर ब्रह्मानन्दका भोक्ता कोन होगा ? ऐसी शंका होने लगती हैं । प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग इन दोनोंमेंसे कौन श्रेष्ठ है इसका वास्तविक उत्तर तो मूलस्थिति और मूलसिद्धान्तोंका निर्णय किये विना देना कठिन है, परन्तु सब धर्मशास्त्रोंमें तथा तत्त्वज्ञोंने निवृत्तिकी ही प्रशंसा की है) ॥ ८३ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे तात ! तूने जो प्रश्न बूझा है इसका उत्तर देना अतिकठिन है, परन्तु तेरा प्रश्न है उचित, हे भरतवंशके राजन् ! यह प्रश्न इतना विकट है, कि-इसमें विद्वान भी मोहमें पड जाते हैं ॥ ८४ ॥ इस विषय

परमा यत्र कापिलानां महात्मनाम् ॥ ८५ ॥ इन्द्रियाण्येव बुध्यंते स्वदेहे देहिनां नृप । कारणान्या मनस्तानि सूक्ष्मः पश्यति तैस्तु सः ॥ ८६ ॥ आत्मना-विप्रहीणानि काष्ठकुड्यसमानि तु । विनश्यन्ति न सन्देहः फेना इव महार्णवे ॥ ८७ ॥ इन्द्रियैः सह सुप्तस्य देहिनः शत्रुतापन । सूक्ष्मश्चरति सर्वत्र नभसीव समीरणः ॥ ८८ ॥ स पश्यति यथा न्यायं स्पर्शान्स्पृशति वा विभो । बुध्यमानो यथा पूर्वमखिलेनेह भारत ॥८९॥ इन्द्रियाणीह सर्वाणि स्वे स्वे स्थाने यथाविधि । अनीशत्वात्प्रलीयन्ते सर्पा हतविषा

में कपिल प्रणीत सांख्यका अनुसरण करनेवाले महात्मा जिस मतको परमतत्त्वरूप मानते हैं और उन्होंने इसमें अपनी बड़ी भारी बुद्धिको लगाया है, उस मतको मैं तुमसे यथार्थरीतिसे कहता हूँ, सुन ॥ ८५ ॥ हे राजन् ! देहधारियोंके देहमें स्थित इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञान होता है, यह सब ज्ञानेन्द्रियें आत्माके यन्त्ररूप हैं, क्योंकि-इनके द्वारा अतिसूक्ष्म आत्मा देखता है ८६ यह इन्द्रियें सूक्ष्म चिदात्मासे रहित होने पर काष्ठ और दीवार की समान जड होजाती हैं और जैसे समुद्रकी लहर चली जाने के बाद उसके फेन नष्ट होजाते हैं, तैसे ही नष्ट होजाती हैं ८७ हे शत्रुतापन राजन् ! जब देहधारी जीवात्मा इन्द्रियोंके साथ निद्राके अधीन होजाता है, तब वायु जैसे आकाशमें फिरता है तैसे ही सूक्ष्म चिदात्मा भी जाग्रत् दशाकी समान स्वप्नमें भी सब विषयोंमें प्रकाशित रहता है ॥ ८८ ॥ हे भरतवंशके श्रेष्ठ राजन् ! यह सूक्ष्म चिदात्मारूप जीव स्वप्नमें भी जाग्रत् अवस्थाकी समान देखने योग्य सब पदार्थोंको देखता है, स्पर्श करने योग्य सब पदार्थोंका स्पर्श करता है ॥ ८९ ॥ (इसप्रकार सब इन्द्रियों स्वप्नावस्थामें अपने २ स्थानमें लीन रहकर आत्मा की अध्यक्षतामें कार्य करती हैं) परन्तु वे सब इन्द्रियें स्वप्ना-

इव ॥६०॥ इन्द्रियाणान्तु सर्वेषां स्वस्थानेष्वेव सर्वशः। आक्रम्य गतयः सूक्ष्माश्चरत्यात्मा न संशयः ॥ ६१ ॥ सत्वस्य च गुणान् कृत्स्नान् रजसश्च गुणान्पुनः। गुणांश्च तमसः सर्वान्गुणान्बुद्धेश्च भारत ॥ ६२ ॥ गुणांश्च तमसश्चापि नभसश्च गुणांश्च सः। गुणान्वायोश्च धर्मात्मन्स्नेहजांश्च गुणान्पुनः ॥ ६३ ॥ अपां गुणांस्तथा पार्थ पार्थिवांश्च गुणानपि। सर्वाण्येव गुणैर्व्याप्य क्षेत्रज्ञेषु युधिष्ठिर ॥ ६४ ॥ आत्मा च व्याति क्षेत्रज्ञं कर्मणी च शुभाशुभे। शिष्या इव महात्मानमिन्द्रियाणि च तं प्रभो ॥६५॥ प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम्। परं नारायणात्मानं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ६६ ॥ विमुक्तः पुण्यपापेभ्यः प्रविष्टस्तम-

वस्थामें अपने प्रवृत्त करनेवाले नेता चिदात्माके विना अशक्त होती हैं अतः वह विषहीन सर्पोंकी समान अपना काम नहीं कर सकती ॥ ६० ॥ इस समय भी सब इन्द्रियें अपने२ स्थानों में स्थित होती है उनकी सब सूक्ष्मगतियें चिदात्माके प्रवेशसे चेतनवाली होकर कार्य करनेके लिये तत्पर रहती है ॥ ६१ ॥ हे भरतवंशी राजन्! आत्मा सत्त्वगुणके, रजोगुणके, तमोगुण के, बुद्धिके ॥ ६२ ॥तैसेही मनके, आकाशके, वायुके हे धर्मात्मा तेजके ॥ ६३ ॥ और जलके तैसे ही हे पार्थ! पृथ्वीमें रहनेवाले सब गुणोंको व्याप हे युधिष्ठिर! और अन्तमें क्षेत्रज्ञको अर्थात् जीवात्माको भी व्याप कर रहता है और वह जीवात्मा परमात्मा अथवा ब्रह्ममें व्याप्त होकर रहता है शुभ और अशुभ कर्म उस जीवात्माको व्याप्त कर रहते हैं और हे राजन्! शिष्य (आज्ञानुसार) जैसे महात्मा गुरुके पास उपस्थित रहते हैं, तैसे ही इस समय इन्द्रियें आत्माके पास उपस्थित रहती हैं ॥ ६४-६५ ॥ परन्तु जब जीवात्मा प्रकृतिका उल्लंघन कर जाता है तब वह निर्विकार ब्रह्मको पाता है, वह ब्रह्म अविनाशी, नारायण द्वन्द्व-

नामयम् । परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत ॥ ९७ ॥ शिष्टं तत्र मनस्तात इन्द्रियाणि च भारत । आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः सन्देशकारिणः ॥ ९८ ॥ शक्यं चाल्पेन कालेन शान्ति माप्तुं गुणार्थिना । एवमुक्तेन कौन्तेय युक्तज्ञानेन मोक्षिणा ॥ ९९ ॥ सांख्या राजन्महाप्राज्ञ गच्छन्ति परमां गतिम् । ज्ञानेनानेन कौंतेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥१००॥ अत्र ते संशयो माभूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् । अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ १०१ ॥ अनादिमध्यनिधनं निर्द्वंद्वं कर्तृशाश्वतम् । कूटस्थं चैव नित्यञ्च

रहित और प्रकृतिसे पर है ॥ ९६ ॥ तब पुण्य तथा पापरहित शुद्ध जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश करता है, वह परमात्मा सब गुणोंसे रहित, अनामय और परमकल्याणका धाम है और तहाँ जानेपर फिर जन्ममरण नहीं होता है ९७ हे भरतवंशी राजन् ! इस समय मन सहित छः इन्द्रियें ही बाकी रहती हैं और गुरुकी आज्ञा माननने वाले शिष्य जैसे गुरुके पास आते हैं, तैसे ही इन्द्रियें और मन भी आज्ञाके अनुसार (व्युत्थान दशामें) जीवन्मुक्त गुरुके पास आती हैं ॥९८॥ हे कुन्तीपुत्र ! मोक्षकी इच्छा करने वाला पुरुष इस प्रकार ज्ञान सम्पादन करता है, तो वह थोड़े ही समयमें अर्थात् देहपात होने पर शान्ति और विदेहमुक्ति को प्राप्त कर सकता है ॥ ९९ ॥ हे राजन् ! सांख्यके सिद्ध पुरुष महाबुद्धिमान् हैं, वे इस प्रकारके ज्ञानसे परमगतिको पाते हैं, इस ज्ञानकी समान कोई भी ज्ञान नहीं है ॥ १०० ॥ सांख्य का ज्ञान श्रेष्ठ ही माना जाता है, इसमें तुझे सन्देह नहीं करना चाहिये, सांख्यमें ज्ञानके सर्वोपरि स्वरूपका वर्णन किया है, विद्वान् इसको अक्षर, ध्रुव तथा सदा एकरूप कहते हैं, यह सनातन पूर्ण ब्रह्म है ॥ १०१ ॥ इसका आदि मध्य और अन्त नहीं है, यह द्वैत और द्वन्द्वसे रहित है, यह सब विश्वका कर्तारूप

यद्वदन्ति मनीषिणः ॥ १०२ ॥ यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलय-विक्रियाः । यच्च शंसंति शास्त्रेषु वदन्ति परमर्षयः ॥ १०३ ॥ सर्वे विप्राश्च देवाश्च तथा शमविदो जनाः । ब्रह्मण्यं परमं देव-मनंतं परमच्युतम् ॥ १०४ ॥ प्रार्थयंतश्च तं विप्रा वदन्ति गुण-बुद्धयः । सम्यग्युक्तास्तथा योगाः सांख्याश्चामितदर्शनाः १०५ अमूर्तेस्तस्य कौन्तेय सांख्यं मूर्तिरिति श्रुतिः । अभिज्ञानानि तस्याहुर्मतं हि भरतर्षभ ॥ १०६ ॥ द्विविधानीह भूतानि पृथिव्यां पृथिवीपते । जंगमागमसंज्ञानि जङ्गमं तु विशिष्यते ॥ १०७ ॥

सनातनमूर्ति कूटस्थ निर्विकार और नित्य है, ज्ञानी इसका गुण-गान करते हैं ॥ १०२ ॥ इसमेंसे जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलयरूप विकार उत्पन्न होते है, महर्षियोंने वेदमें इसकी ही स्तुति की है ॥ १०३ ॥ सब प्राणियोंको समान दृष्टिसे देखने वाले ब्राह्मण, देवता और सब धर्मात्मा उसको ब्राह्मणोंका परमहितकारक परमरूप देवरूप, अनन्तरूप और श्रेष्ठ अच्युतरूप मानते हैं १०४ विषयबुद्धिवाले पुरुष ब्रह्ममें मायिक गुणोंको मानकर उसकी उपासना करते हैं और अपार ज्ञानवाले योगसिद्ध योगी और सांख्यसिद्ध महात्मा पुरुष उसको जगत्का कारण मान कर उस की स्तुति करते हैं ॥ १०५ ॥ हे कौन्तेय ! श्रुतिमें प्रसिद्ध है, कि सांख्य अर्थात् अमूर्त (निराकार) शुद्ध चिदात्मा परब्रह्मका स्वरूप जानना चाहिये और (साङ्ख्यतत्त्वानुसार) घटपट आदि सब पदार्थोंका जो ज्ञान होना है वह हे भारत ! परमात्मा ब्रह्म का ही ज्ञान है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १०६ ॥ हे पृथिवीपते ! पृथिवीमें अनेक प्रकारके प्राणी उत्पन्न होते है, उनके दो भेद हैं, जङ्गम और स्थावर, इनमें जङ्गम श्रेष्ठ हैं (क्योंकि—स्थावरमें ब्रह्म केवल सत्-रूपसे भासता है जङ्गमोंमें सत् और चित्रूपसे भासता है तथा ज्ञानीमें सत् चित् और आनन्दरूपसे भासता है,

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे। यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥ १०८ ॥
यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टे। ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ॥ १०९ ॥
शमश्च दृष्टः परमं बलं च ज्ञानं च सूक्ष्मं च यथावदुक्तम्। तपांसि सूक्ष्माणि सुखानि चैव सांख्ये यथावद्विहितानि राजन् ॥ ११० ॥
विपर्यये तस्य हि पार्थ देवान् गच्छन्ति सांख्याः सततं सुखेन। तांश्चानुसंचार्य ततः कृतार्थाः पतन्ति विप्रेषु यतेषु भूयः ॥ १११ ॥
हित्वा च देहं प्रविशन्ति देव दिवौकसो द्यामिव पार्थ सांख्याः।

अतः स्थावरोंसे जंगम और जंगमोंमें ज्ञानी श्रेष्ठ है) ॥ १०७ ॥ हे महात्मा नरेन्द्र ! ब्रह्मवेत्ताओंमें जो ज्ञान है वह सांख्यका ज्ञान है और वही ज्ञान बड़े विस्तारवाले वेदोंमें, योगमें और भिन्न२ पुराणोंमें भरा हुआ है ॥ १०८ ॥ जो ज्ञान बडे २ इतिहासोंमें है और चतुर पुरुष जिसको अर्थशास्त्र बताते हैं और जगत्का जो ज्ञान है, वह सब ज्ञान सांख्यके परमज्ञानसे प्राप्त होता है १०९ हे राजन् ! शम, मानसिक, धैर्य, वेदमें वर्णित सब सूक्ष्मज्ञान, सूक्ष्मबलकी तपस्या और सूक्ष्म सुख इन सबका सांख्यशास्त्रमें यथार्थरीतिसे वर्णन किया है ॥ ११० ॥ हे पृथाके पुत्र ! सांख्यमें कहेहुए सांख्यज्ञानके सब साधन कदाचित् प्राप्त न हुए हों और सांख्यसम्बन्धी ज्ञान यथार्थरीतिसे प्राप्त न हुआ हो तब भी सांख्ययोगी देवलोक (स्वर्ग) में तो अवश्य जाते हैं और वहाँ इच्छानुसार सुखपूर्वक रहकर देवताओं पर प्रभुता कर कृतार्थ होते हैं फिर धर्मात्मा ब्राह्मणोंके अथवा यतियों के कुलमें उत्पन्न होते हैं ॥ १११ ॥ हे पृथापुत्र ! सांख्यज्ञानी पुरुष अपने शरीरको छोडने पर देवता जैसे स्वर्गमें प्रवेश करते हैं, तैसे वे भी ब्रह्मधाममें प्रवेश करते हैं, इसलिये ही हे राजन् !

अतोऽधिकं तेभिरता महार्हे सांख्ये द्विजाः पार्थिव शिष्टजुष्टे ११२
तेषां न तिर्यग्गमनं हि दृष्टं नार्वाग्गतिः पापकृताधिवासः । न
वाप्रधाना अपि ते द्विजातयो ये ज्ञानमेतन्नृपतेऽनुरक्ताः ॥११३॥
सांख्यं विशालं परमं पुराणं महार्णवं विमलमुदारकांतम् । कृत्स्नं
च साङ्ख्यं नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥ ११४ ॥
एतन्मयोक्तं नर देवतत्त्वं नारायणो विश्वमिदं पुराणम् । स सर्ग-
काले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥ ११५ ॥

सत्पुरुषोंके मान्य, महायोग्यतावाले साङ्ख्यमार्गमें शिष्ट पुरुष अतिप्रीतिसे चलते हैं ॥ ११२ ॥ हे राजन् ! साङ्ख्यमार्गमें प्रेम करनेवाले द्विज कभी भी पक्षियोनिमें उत्पन्न नहीं होते हैं, उनकी अधोगति नहीं होती और उनका पापी पुरुषोंके यहाँ जन्म नहीं होता है ॥ ११३ ॥ यह साङ्ख्यज्ञान विशाल है, अतिप्राचीन है, महासागरकी समान अगाध है, निर्मल है, उदारभावसे सबका कल्याण करनेवाला है, इस साङ्ख्यशास्त्रको पूर्णरीतिसे अप्रमेय महात्मा नारायण ही धारण करते हैं अतः इसका पूर्णज्ञानी नारायण ही होजाता है, कहा भी है, कि-"ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" ११४ हे नर ! मैंने तुझसे यह देव (आत्मा) का तत्त्व कहा, यह सब जगत् पुराणपुरुष नारायणरूप है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" वह नारायण सृष्टिके उत्पत्तिके समय सबकी रचना करते हैं और प्रलयके समय सबको अपनेमें लीन कर लेते हैं "तज्जलानिति शान्त उपासीत" इस श्रुतिको लक्ष्य कर यह कहा है। इस श्रुति का अर्थ है, कि-यह विश्व उस ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है और उसमें ही लीन होजाता है और वही इससे चेष्टा कराता है। और अन्तमें कारणस्वरूप देहमें आकाश आदि कार्योंका लय

संहृत्य सर्वं निजदेहसस्थं कृत्वाप्सु शेते जगदंतरात्मा ॥ ११६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सांख्य-
कथने एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

युधिष्ठिर उवाच। किं तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नावर्तते पुनः। किं च तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः ॥१॥ अक्षरक्षरयोर्व्यक्तिं पृच्छाम्यरिनिषूदन। उपलब्धुं महाबाहो तत्त्वेन कुरुनंदन ॥२॥ त्वं हि ज्ञाननिधिर्विप्रैरुच्यसे वेदपारगैः। ऋषिभिश्च महाभागैर्यतिभिश्च महात्मभिः ॥ ३ ॥ शेषमल्पं दिनानां ते दक्षिणायनभास्करे। आवृत्ते भगवत्यर्के गन्तासि परमां गतिम् ॥४॥ त्वयि प्रतिगते श्रेयः कुतः श्रोष्यामहे वयम्। कुरुवंशप्रदीपस्त्वं ज्ञानदीपेन दीप्यसे ॥५॥ तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुकुलोद्वह। न तृप्या-

---

करके वह जगत्का अन्तरात्मा स्वयं भी जलमें (निर्विशेष चिन्मात्रमें) लीन होजाता है ॥११५॥ तीनसौ एकवाँ अध्याय समाप्त ॥३०१॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे कुरुपुत्र! अक्षर क्या वस्तु है, कि-जिसको प्राप्त कर जीवका फिर जन्म नहीं होता है और जिसका प्राप्त होनेसे जीवको फिर जन्म लेना पड़ता है वह क्षर वस्तु क्या है॥ १ ॥ हे शत्रुविनाशन! क्षर किसको कहते हैं? अक्षर किसको कहते हैं? अक्षरका तथा क्षरका स्वरूप क्या है? इसको मैं यथार्थरीतिसे जानना चाहता हूँ, हे महाभुज! अतः आप मुझे स्पष्टरूपसे बताइये ॥ २ ॥ वेदके पारगामी ब्राह्मण, महाभाग्यवान् ऋषि और महात्मा यति आपको ज्ञाननिधि कहते हैं ॥३॥ आपके जीवनके अब थोड़े ही दिन बाकी रहे है जब भगवान् सूर्यनारायण दक्षिणायनसे उत्तरायणमें आवेंगे तब आप परमगति को प्राप्त हो जावेंगे ॥ ४ ॥ जब आप हमको छोड़ कर चले जावेंगे, तब हम कल्याणकारिणी कथाएँ किससे सुनेंगे? आप कुरुवंशमें दीपककी समान हैं और ज्ञानरूपी दीपकसे प्रकाशित

मीह राजेन्द्र भृएवन्नमृतमीदृशम् ॥ ६ ॥ भीष्म उवाच । अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहास पुरातनम् । वसिष्ठस्य च संवादं कराल-जनकस्य च ॥ ७ ॥ वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषीणां भास्करद्युतिम् । पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ॥ ८ ॥ परमध्यात्म-कुशलमध्यात्मगतिनिश्चियम् । मैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृतां-जलिः ॥ ९ ॥ स्वक्षरं प्रश्रितं वाक्यं मधुरं चाप्यनुल्वणम् । पप्र-च्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा ॥ १० ॥ भगवन् श्रोतु-मिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम् । यस्मान्नापुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः ॥ ११ ॥ यच्च तत्क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत् । यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम् ॥१२॥ वसिष्ठ उवाच।

होरहे हैं ॥ ५ ॥ हे कुरुकुलोत्पन्न राजन् ! मैं आपसे ऊपरकी वात सुनना चाहता हूँ आपसे कल्याणमयी कथा सुनते २ मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ ६ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! इस विषयमें मैं तुझे वसिष्ठ और जनकवंशके राजा करालमें जो सम्वाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासको सुनाता हूँ ॥ ७ ॥ एक समय सूर्यकी समान कान्ति वाले ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ ऋषियों की मण्डलीमें शान्तिसे बैठे थे कि-उनके पास आकर राजा जनकने परमकल्याणकारक ज्ञानके विषयमें प्रश्न किया था ।८। आत्माकी गतिका निर्णय करने वाले अध्यात्म विद्या तथा और सकल विद्याओंमें कुशल, मैत्रावरुणि वसिष्ठ ऋषि जहाँ विराज-मान थे तहाँ जाकर करालजनक राजाने दोनों हाथ जोड़ कर उनको प्रणाम किया। फिर उसने सुन्दर अक्षर वाला, विनयसे भरपूर कुतर्करहित और मधुरवचन भरा हुआ प्रश्न बूझा था ९-१० हे भगवन् ! मैं सनातन परब्रह्मके स्वरूपको सुनना चाहता हूँ, उस ब्रह्मके स्वरूपको जान कर विवेकी फिर जन्म मरणके चक्र में नहीं पडते हैं ॥ ११ ॥ जिसमें लीन होनेसे जगत् क्षर नामसे

श्रूयतां पृथिवीपाल क्षरतीदं यथा जगत् । यन्न क्षरति पूर्वेण यावत्कालं नवाप्यथ ॥ १३ ॥ युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम् । दशकल्पशतावर्त्तमहस्तद्ब्रह्ममुच्यते ॥ १४ ॥ रात्रिश्चैतावती राजन् यस्यां ते प्रतिबुध्यते । सृजत्यनंतकर्माणं महांतं भूतमग्रजम् ॥ १५ ॥ मूर्तिमन्तममूर्तात्मा विश्वं शंभुः स्वयंभुवः । अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम् ॥ १६ ॥ सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १७ ॥ हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः ।

कहा जाता है, जिसको अक्षर कहते हैं, जो अक्षर संसारसे उद्धार करनेवाला है, आनन्दस्वरूप है, सुख दुःखसे रहित है तथा जो सनातन परब्रह्म है उसके स्वरूपको मैं जानना चाहता हूँ अतः आप मुझे इस ज्ञानको विस्तारसे कहिये ॥१२॥ वशिष्ठ जीने कहा, कि-हे राजन् ! यह जगत् जिस प्रकार क्षर नामको प्राप्त (नष्ट) होता है उसके तथा जो किसी भी समय नष्ट नहीं होता उस अक्षरके सम्बन्धमें मैं तुझसे कहता हूँ, सुन ॥ १३ ॥ देवताओंके बारह सहस्र वर्षका एक युग होता है,ऐसे चार युगों को एक सहस्र गुणा करने पर (४८००० वर्षका) एक कल्प होता है, यह कल्प ब्रह्माका एक दिन कहाता है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! ब्रह्माजीकी रात्रि भी इतनी ही होती है, इन ब्रह्माका लय होने पर जिनमें स्वाभाविक रीतिसे अणिमा, लघिमा,प्राप्ति आदि सिद्धियोंका वास है वह शम्भु जाग्रत् होते हैं और मूर्तिमान्, अनन्त शक्तिवाले और असङ्ख्य कर्मोंवाले हिरण्यगर्भ को प्रथम उत्पन्न करते हैं, इन शम्भुको ईशान कहते हैं, वह पवित्र ज्योति और अविनाशी हैं ॥ १५ ॥१६॥ इस हिरण्यगर्भ के हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक, मुख, कान सब दिशाओंमें हैं और वह स्वयं भी दिशाओंमें व्याप्त हैं ॥ १७ ॥ यह भगवान्

महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यजः ॥ १८ ॥ सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः । वि चत्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः ॥१९॥ वृतं नैकात्मकं येन कृतं त्रैलोक्यमात्मना । तथैव बहुरूपत्वाद्विश्वरूप इति स्मृतः ॥ २० ॥ एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना । अहंकारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥ २१ ॥ अव्यक्ताद्व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम् । महान्तं चाप्यहंकारमविद्यासर्गमेव च ॥२२॥ अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः । विद्याविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तकैः ॥ २३ ॥ भूतसर्गमहंकारात्तृतीयं विद्धि पार्थिव । अहं

ही हिरण्यगर्भ कहलाते हैं और इनको (सांख्य) बुद्धि कहते हैं, योगमें इनको महान्, विरञ्चि तथा अज नामसे पुकारा जाता है ॥ १८ ॥ साङ्ख्यशास्त्रमें अनेक स्वरूप वाले उनके अनेक नाम हैं, उनके रूप विचित्र हैं, वह विश्वके आत्मारूप कहलाते हैं,वह एक भी हैं और अक्षरस्वरूप भी है ॥१९॥ वह परमात्मा किसी की सहायता लिये बिना इन बहुरूप तीनों लोकोंको रचते हैं तथा इनको आवृत किये रहते हैं बहुतसे रूपवाले होनेसे वह विश्वरूप कहलाते हैं ॥२०॥ यह महातेजस्वी सूत्रात्मा भगवान् विकारको पाकर स्वयं ही अपनेको रचते हैं और महाशक्तिको धारण कर पहिले महान् अहंकारको और उसके अभिमानी प्रजापति (विराट) को उत्पन्न करते हैं ॥२१॥ पण्डित अव्यक्त मेंसे उत्पन्न हुए विश्वरूपको व्यक्त अर्थात् हिरण्यगर्भ और विद्यासृष्टि कहते हैं और (हिरण्यगर्भसे रचीहुई) महत्तत्त्व (विराट) की और अहंकार की सृष्टिको अविद्यासृष्टि कहते हैं२२ विधि तथा अविधि दोनों एकमेंसे ही उत्पन्न हुई हैं श्रुति तथा शास्त्रकेअर्थको विचारनेवाले इनको विद्या और अविद्या कहते हैं२३ हे राजन् ! अहंकारमेंसे पाँच सूक्ष्मभूतोंकी उत्पत्ति होती है उसको

कारेषु सर्वेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम् ॥ २४ ॥ वायुर्ज्योतिरथाकाश-मापोऽथ पृथिवी तथा । शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥ २५ ॥ एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम् । पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ॥२६॥ श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राण-मेव च पञ्चमम् । वाक्च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च २७ बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च । संभूतानीह युगप-न्मनसा सह पार्थिव ॥ २८ ॥ एषा तत्त्वचतुर्विंशा सर्वाकृतिषु वर्तते । यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥ २९ ॥ एतद्देहं समाख्यानं त्रैलोक्ये सर्वदेहिषु । वेदितव्यं नरश्रेष्ठ सदेव-नरदानवे ॥ ३० ॥ सयक्षभूतगन्धर्वे सकिन्नरमहोरगे । स-

---

तीसरी सृष्टि समझना चाहिये । सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकारके अहंकारमेंसे जो चौथा विकार होता है उसको चौथी सृष्टि समझना चाहिये ॥ २४ ॥ उस विकारमेंसे (जन्मी हुई) चौथी सृष्टिमें वायु, तेज, आकाश, जल और पृथिवी ये पाँच महाभूत और उनके गुण तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय हुए ॥ २५ ॥ ये दश तत्त्व एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, हे राजेन्द्र ! इनको पांचवी भौतिक सृष्टि कहते हैं, यह सृष्टि अर्थवाली मानी जाती है ॥ २६ ॥ श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पांचवां नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रियें तथा वाणी दो हाथ, दो चरण, ये पाँच कर्मेन्द्रियें हैं, इस प्रकार दश इन्द्रियें हैं ॥ २७ ॥ हे राजन् ! ये पांच ज्ञानेन्द्रियें तथा पांच कर्मेन्द्रियें मनके साथ ही साथ उत्पन्न होती हैं ॥ २८ ॥ ये चौवीस तत्त्व सब देहधारियोंमें रहते हैं और तत्त्वदर्शी ब्राह्मण इनके यथार्थ-स्वरूपको जानकर शोक नहीं करते हैं ॥२९॥ हे राजन् ! तीनों लोकोंमें इन (इन्द्रियों) के समुच्चयको देह कहते हैं, यह सब देह-धारियोंमें होता है । देवता, मनुष्य, दानव ॥३०॥ यक्ष, भूत,

चारणपिशाचे वै सदेवर्षिनिशाचरे ॥ ३१ ॥ सदंशकीटमशके सपूतिकृमिमूषिके । शुनि श्वपाके चैणेये सचांडाले सपुल्कसे ३२ हस्त्यश्वखरशार्दूले सवृक्षे गवि चैव ह । यच्च मूर्तिमयं किंचित्सर्वत्रैतन्निदर्शनम् ॥ ३३ ॥ जले भुवि तथाकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः । स्थानं देहवतामासीदित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३४ ॥ कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम् । अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥३५॥ एतदक्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत् । जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्ताद्व्यक्तसंज्ञकम् ॥ ३६ ॥ महांश्चैवाग्रजो नित्यमेतत्क्षरनिदर्शनम् । कथितं ते महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३७ ॥ पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ।

गंधर्व, किन्नर, महासर्प, चारण, पिशाच, ॥ ३१ ॥ देवर्षि, निशाचर, डाँस, कीड़े, मच्छर, सपूतिकृमि, मूषिक, कुत्ते, श्वपाक, एणेय, चाण्डाल, पुल्कस ॥ ३२ ॥ और हाथी घोड़े गधे सिंह वृक्ष गौ आदि जो कुछ मूर्तिमान् पदार्थ हैं इन सबमें यह समुच्चय रहता है और ये सब उसके दृष्टान्तरूप हैं ॥ ३३ ॥ देहधारी प्राणी जलमें स्थलमें अथवा आकाशमें रहते हैं, इसके अतिरिक्त और किसी स्थानमें उनका निवास नहीं है, ऐसा हमने सुना है ॥३४॥ हे तात ! अक्षरके अतिरिक्त जो कुछ संज्ञावाला साकार पदार्थ है, वह सब पांचभौतिक है और प्रतिदिन नष्ट हुआ करता है, इससे ही उसको शास्त्रमें क्षरनामसे कहा है ३५ इस (क्षरसे जो पर है वह) अक्षर कहलाता है अव्यक्त (अक्षर) से उत्पन्न हुआ मोहस्वरूप व्यक्त (क्षर) नामक जगत् नष्ट होजाता है, इससे इस जगत्को क्षर (नाशवान्) कहा है. ३६ जो प्रथम उत्पन्न हुआ है और जिसको महत्तत्त्व कहते हैं, वह नित्य है तो भी क्षर (नाशवान्) है हे महाराज ! तुमने मुझसे जो प्रश्न बूझा था उसका मैंने तुमको उत्तर देदिया ॥ ३७ ॥

तत्त्वसंश्रयणादेतत्तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥३८॥ यन्मर्त्यमसृजद्व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति । चतुर्विंशतिमो व्यक्तो ह्यमूर्तः पंचविंशकः॥३९ स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेत्मवान् । केवलेश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥४०॥ सर्गप्रलयधर्मिण्या ससर्गप्रलयात्मकः । गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ॥ ४१ ॥ एवमेष महा-

इन चौबीस तत्त्वोंके समुदायसे पर जो है वह पच्चीसवां विष्णु है । वह इन चौबीस तत्त्वोंसे जाननेमें नहीं आसकता तब भी तत्त्वज्ञानी उसको ज्ञानका विषय समझते हैं, चौबीस तत्त्व इन विष्णुका आश्रय करते हैं अतः पण्डित इनको तत्त्व नामसे पहिचानते हैं ॥ ३८ ॥ जो क्षर अर्थात् महत्तत्त्व है वह मूर्तिमान् व्यक्तको अर्थात् कार्यरूप जगत्को उत्पन्न करता है और चौबीसवीं प्रकृति अव्यक्त (त्रिगुणात्मक साम्यावस्था) है वह (अपने विकारसे जो कुछ उत्पन्न हुआ है) उस सबकी अधिष्ठात्री है, परन्तु पच्चीसवें तत्त्व जो विष्णु हैं वह अमूर्त हैं अतः वह विश्वके अधिष्ठाता नहीं हो सकते ॥ ३९ ॥ चौबीसवाँ तत्त्व प्रकृति (चित्तके संयोगसे) सब प्राणियों के शरीरोंमें प्रवेश करके उनके हृदयमें निवास करती है और वह सबकी अधिष्ठात्री होकर रहती है,क्योंकि—उसमें चैतन्यकी छाया पड़नेसे वह चेतना वाली है और इसको मूलप्रकृति कहते हैं और पच्चीसवाँ तत्त्वरूप विष्णु चेतनरूप नित्य और अमूर्त (निराकार) है ॥ ४० ॥ जगत्की उत्पत्ति और प्रलय करने वाली प्रकृतिके सम्बन्धसे वह विष्णु सब पदार्थस्वरूपसे दीखते हैं वह गुणोंसे रहित हैं तब भी सृष्टि और प्रलय करनेवाली प्रकृतिके सहवाससे सर्ग तथा प्रलयको करनेवाले और मूर्तिमान्से दीखते हैं परन्तु स्वयं वह निराकार हैं ॥ ४१ ॥ इसप्रकार महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) प्रकृतिमान् होकर अर्थात् प्रकृति (अविद्या) से

नात्मा सर्गप्रलयकोविदः । विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥४२॥ तमः सत्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु । लीयते प्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ॥ ४३ ॥ सहवासविनाशित्वान्नान्योऽहमिति मन्यते । योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते४४ तमसा तामसान्भावान्विविधान्प्रतिपद्यते । रजसा राजसांश्चैव सात्त्विकान्सत्वसंश्रयात् ॥ ४५ ॥ शुक्ललोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु । सर्वाण्येतानि रूपाणि यानीह प्राकृतानि वै ४६ तामसा निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ । सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥ ४७ ॥ निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनि-

---

युक्त होकर और अबुद्धिमान् अर्थात् अज्ञानसे आवृत होकर विकार को धारण करता है तथा अहं अभिमान वाला होता है ॥४२॥ सत्त्व,रज,तमके गुणसे युक्त आत्मा प्रतिबुद्धित्वसे अर्थात् विस्मरणके कारण तथा अज्ञानके सेवनसे भिन्न २ योनियोंमें तादात्म्यभावको पाता है ॥ ४३ ॥ परन्तु प्रकृतिके सहवासके कारण जन्म मृत्यु होनेसे वह आत्मा अपनेको देहसंघातसे भिन्न नहीं मानता है, वह "यह मैं" अथवा "वह मैं" हूँ इसप्रकार कहकर सत्त्व रज तथा तमके गुणोंका अनुसरण करता है ॥ ४४ ॥ और तमोगुणसे क्रोध आदि तमोगुणके भावोंको रजोगुणसे प्रवृत्ति रूप राजसभावोंको और सत्त्वगुणके द्वारा प्रकाश आदि भावों को-इसप्रकार नानाप्रकारके भावोंको धारण करता है ॥ ४५ ॥ वर्ण तीन हैं, सत्त्वगुणका शुक्लवर्ण, रजोगुणका रक्तवर्ण और तमोगुणका कृष्णवर्ण है, इसप्रकार तीन गुणोंसे तीन रूप उत्पन्न होते हैं,ये सब रूप प्रकृतिके ही रूप हैं ॥ ४६ ॥ तमोगुणी जीव नरकमें पडते हैं, रजोगुणी जीव मनुष्यलोकमें उत्पन्न होते हैं और सत्त्वगुणी जीव देवलोकमें जाकर सुख भोगते हैं ॥४७॥ (जीवात्मा यदि) केवल पापकर्म करता है तो वह पक्षियोंकी

मवाप्नुयात् । पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः ॥ ४८ ॥
एवमव्यक्तविषयं क्षरमाहुर्मनीषिणः। पञ्चविंशतिमो यस्तु ज्ञाना-
देव प्रवर्तते ॥ ४९ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकराल-
जनकसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

वसिष्ठ उवाच । एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धिमनुवर्तते । देहादेहसह-
स्राणि तथा समभिपद्यते ॥१॥ तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद्देवता-
स्वपि । उपपद्यति संयोगाद् गुणैः सह गुणक्षयात् ॥२॥ मानुषत्वा-
दिवं याति दिवो मानुष्यमेव च । मानुष्यान्निरयस्थानमानन्त्यं
प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥ कोशकारो यथात्मानं कीटः समवरुंधति । सूत्र-

योनिमें उत्पन्न होता है; पुण्य और पाप मिले कर्म करता है तो
मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होता है और केवल पुण्यकर्म करनेसे देव-
योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥ इस प्रकार पच्चीसवां तत्व
जो अक्षर है, उसके सम्बन्धमें तत्ववेत्ता कहते हैं, कि- अव्यक्त
प्रकृतिके संयोगसे क्षररूप होगया है और केवल ज्ञानसे ही वह
अक्षर अपने सत्यस्वरूपमें दिखाई देता है ॥ ४९ ॥ तीनसोदोवां
अध्याय समाप्त ॥ ३०२ ॥ छ ॥ छ ॥

वसिष्ठने कहा, कि—हे राजा जनक ! इस प्रकार जीव अज्ञान-
वश अपने स्वरूपको भूल जाता है और उसके प्रभावसे एक देह
से दूसरे देहको इस प्रकार उत्तरोत्तर सहस्रों देहोंको धारण
करता है ॥ १ ॥ मायाके गुणोंके सम्बन्धसे अथवा गुणोंकी
सामर्थसे किसी समय तो सहस्रों वार तिर्यक् योनिमें उत्पन्न
होता है और किसी समय कर्मबल और ऐश्वर्यबलसे देवयोनि
में अवतार लेता है ॥ २ ॥ इस प्रकार जीव मनुष्यत्वसे
स्वर्गमें और स्वर्गसे मनुष्यत्वको पाता है तैसे ही मनुष्यत्वसे
बहुत वर्षोंके लिये नरकमें भी पड़ता है ॥ ३ ॥ (आत्मा

तन्तुगुणैर्नित्यं तथायमगुणो गुणैः ॥४॥ द्वंद्वमेति च निर्द्वंद्वस्तासु तास्विह योनिषु । शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे ॥५॥ जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विशूचके । श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥ ६ ॥ यानि चान्यानि द्वंद्वानि प्राकृतानि शरीरिषु । उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽप्यभिमन्यते ॥ ७ ॥ तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद्देवतास्वपि । अभिमन्यत्यभीमानात्तथैव सुकृतान्यपि ॥८॥ शुक्लवासाश्च दुर्वासाः शायी नित्यमधस्तथा ।

स्वयं दुःखादि रहित होने पर भी) अपने मुखमेंसे तन्तु निकाल कर रेशम बनानेवाला कीडा जैसे अपने तन्तुओंसे अपने आप ही बँधजाता है, तैसे ही गुणरहित अक्षरपुरुषमेंसे उत्पन्न हुआ शुद्धात्मा प्रकृति (माया) के सत्त्वादि गुणोंके द्वारा बँधजाता है (परन्तु वस्तुतः शुद्धात्मा तो बन्धनरहित ही है) ॥ ४ ॥ आदि-पुरुष (अथवा उसमेंसे उत्पन्न हुआ शुद्धात्मा) स्वयं सुख तथा दुःखसे रहित है तब भी पशु पक्षी आदिकी योनियोंमें उत्पन्न होता है और उन योनियोंमें मस्तकरोगसे नेत्ररोगसे दन्तशूलसे गलग्रहरोगसे जलोदरसे तृषरोगसे ज्वरसे गंडसे विसूचिकासे श्वेतकुष्टसे अग्निके दाहसे श्वाससे खाँसीसे मृगीसे तथा और भी प्रकृतिजन्य जो २ दुःख होते हैं उन सब दुःखोंसे पीडा पाता है तथा दूसरे भी विचित्र दुःख मायाके गुणोंके सम्बन्धसे पुरुष (जीवात्मा) को प्राप्त होते हैं ॥ ५—७ ॥ (यह मायाविशिष्ट जीव) कभी सहस्रों तिर्यक् योनियोंमें अवतार लेता है, किसी समय देवयोनिमें अवतार लेता है और उन २ जन्मोंमें शरीरका भ्रमसे अभिमान धारण कर उन २ शरीरोंसे किये हुए पुण्यकर्मका अनुभव भी करता है ॥ ८ ॥ अज्ञानसे आवृत होकर (मायाविशिष्ट) जीवात्मा किसी समय श्वेत वस्त्र धारण करता है, किसी समय चीथड़ोंके जोड़कर बनाये हुए

मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा ॥९॥ चीरधारणमाकाशे शयनं स्थानमेव च । इष्टकाप्रस्तरे चैव कण्टकप्रस्तरे तथा ॥१०॥ भस्मप्रस्तरशायी च भूमिशय्यातलेषु च । वीरस्थानांबुपंके च शयनं फलकेषु च ॥ ११ ॥ विविधासु च शय्यासु फलगृद्ध्यान्वितस्तथा । मुञ्जमेखलनग्नत्वं क्षौमकृष्णाजिनानि च ॥ १२ ॥ शाणीवालपरीधानो व्याघ्रचर्मपरिच्छदः । सिंहचर्मपरीधानः पट्टवासास्तथैव च ॥१३॥ फलकपरिधानश्च तथा कण्टकवस्त्रधृत् । कीटकावसनश्चैव चीरवासास्तथैव च ॥ १४ ॥ वस्त्राणि चान्यानि बहून्यभिमन्यत्यबुद्धिमान् । भोजनानि विचित्राणि रत्नानि विवि-

वस्त्र धारण करता है, किसी समय पृथ्वी पर ही शयन करता है, किसी समय मेंडककी समान हाथ पैरको सकोड़ कर शयन करता है और किसी समय वीरासनसे बैठता है ॥ ९ ॥ किसी समय चीथड़े पहिरता है, किसी समय खुले मैदानमें सोकर बिताता है, किसी समय ईंटोंके बनाये हुए घरमें, कांटों के ढेर पर, पृथिवी पर, समरमें, जल पर, गारेमें, लकडीकी शय्या (चौकी) पर इस प्रकार अनेक प्रकारकी शय्याओं पर सोता है ॥ १० ॥ ११ ॥ (यह मायाविशिष्ट जीवात्मा) किसी समय फलकी आशासे वस्त्रोंको त्याग कर मुञ्जकी कटिमेखला तथा कौपीनको धारण करता है और किसी समय अलसीकी छालके, काले मृगके चमड़ेके, सनके, भेडके बालके अथवा बाघ के चमड़ेके ही वस्त्र पहिरता है, वह किसी समय सिंहके चमड़े को पहिरता है, किसी समय श्रेष्ठ वस्त्र पहिरता है ॥१२॥१३॥ तैसे ही किसी समय भोजपत्रके ही वस्त्र पहिरता है,कभी सेंमल की रुईके और कभी रेशमी वस्त्र पहिरता है और किसी समय फटेहुए वस्त्र अथवा चीथड़े ही पहिरता है१४बुद्धिहीन देहधारी जीव इस प्रकार दूसरे भी अनेक वस्त्र पहिरता है और अपना

धानि च ॥ १५ ॥ एकरात्रांतराशित्वमेककालिकभोजनम् । चतुर्थाष्टमकालश्च पष्ठकालिक एव च ॥ १६ ॥ षड्रात्रभोजनश्चैव तथैवाष्टाहभोजनः । सप्तरात्रदशाहारो द्वादशाहिकभोजनः ॥ १७ ॥ मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च । वायुभक्षोंबुपिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥ १८ ॥ गोमूत्रभोजनश्चैव शाकपुष्पाद एव च । शैवालभोजनश्चैव तथाचामेन वर्तयन् ॥ १९ ॥ वर्तयन् शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः । विविधानि च कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकांक्षया ॥ २० ॥ चान्द्रायणानि विधिवल्लिंगानि विविधानि

उनके ऊपर अभिमान रख कर भाँति २ के भोजनोंको और रत्नोंको धारण करता है ॥ १५ ॥ किसी समय एक रात्रिके पीछे भोजन करता है; किसी समय एक ही वार भोजन करता है, किसी समय चौथे समय भोजन करता है, किसी समय आठवें समय (चौथे दिन सायंकालको) भोजन करता है, कभी छठी रात्रिको ही भोजन करता है तो किसी समय आठवें दिन भोजन करता है, किसी समय सातवीं अथवा दशवीं रात्रिको और कभी बारहवें दिन भोजन करता है ॥ १६–१७ ॥ और किसी समय एक मासका उपवास करता है, यह जीवात्मा किसी समय मूलका, किसी समय फलोंका, किसी समय वायु का, किसी समय जलका, किसी समय पिण्याकका, कभी दहीका और किसी समय मट्ठेका आहार करता है ॥ १८ ॥ तो कभी गोमूत्रका, कभी शाकका, कभी पुष्पोंका, कभी सिवार का आहार करता है और कभी आचमन करके ही जीवन धारण करता है ॥ १९ ॥ किसी समय वृक्षों परसे गिरेहुए पत्तोंका ही आहार करता है किसी समय गिरेहुए फलोंका ही आहार करता है, तैसे ही कभी सिद्धि पानेकी इच्छासे अनेक प्रकारके कृच्छ्रव्रत धारण करता है ॥ २० ॥ कभी विधिके अनु-

च । चातुराश्रम्यपन्थानमाश्रयत्यपथानपि ॥२१॥ उपाश्रमानन्यपरान्पाषण्डान्विविधानपि । विविक्ताश्च शिलाच्छायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥ २२ ॥ पुलिनानि विविक्तानि विविक्तानि वनानि च । देवस्थानानि पुण्यानि विविक्तानि सरांसि च ॥ २३ ॥ विविक्ताश्चापि शैलानां गुहागृहनिभोपमाः । विविक्तानि च जप्यानि व्रतानि विविधानि च ॥२४॥ नियमान्विविधांश्चापि विविधानि तपांसि च । यज्ञांश्च विविधाकारान्विधींश्च विविधांस्तथा ।२५। वणिक्पथं द्विजक्षत्रं वैश्यशूद्रांस्तथैव च । दानं च विविधाकारं दीनांधकृपणादिषु ॥ २६ ॥ अभिमन्यत्यसंबोधात्तथैव त्रिविधान्

सार चान्द्रायण करता है, इस प्रकार अनेक प्रकारके धर्मचिन्हों को धारण करता है कभी चार आश्रमके मार्गोंका और कभी कुमार्गका सेवन करता है ॥ २१ ॥ कभी (पाशुपत, पञ्चरात्र आदिमें कही हुई) दीक्षाओंको ग्रहण करता है और कभी नाना प्रकारके पाखण्डमय धर्मोंका सेवन करता है, कभी एकान्तमें शिलाओं पर ही विश्राम करता है और कभी झरनोंके पास जाकर पड़ रहता है२२और कभी नदीके एकान्त तट पर जाकर निवास करता है,कभी एकान्त वनोंमें जाकर बसता है तो कभी पवित्र देवमन्दिरोंमें अथवा एकान्त सरोवर पर ही बसता है॥२३॥ और किसी समय पर्वतोंकी घरकी समान एकान्त गुफाओंमें पडा रहता है, कभी अनेक प्रकारके मन्त्रोंका जप करता है, अनेक व्रतोंका सेवन करता है ॥ २४ ॥ अनेक नियमोंको पालता है, अनेक भांतिके तप करता है, अनेक यज्ञोंको करता है अनेक विधियोंको पालता है ॥ २५ ॥ और अनेक प्रकारसे व्यापार करता है, किसी समय ब्राह्मणका व्यवहार करता है, किसी समय क्षत्रियके कर्मका सेवन करता है, कभी वैश्यके और कभी शूद्रके धर्मका पालन करता है, तैसे ही कभी यह जीवात्मा दुःखी

गुणान् । सत्वं रजस्तमश्चैव धर्मार्थौ काम एव च ॥२७॥ प्रकृत्या-त्मानमेवात्मा एवं प्रविभजत्युत । स्वधाकारवषट्कारौ स्वाहाकार-नमस्क्रियाः ॥ २८ ॥ याजनाध्यापनं दानं तथैवाहुः प्रतिग्रहम् । यजनाध्ययने चैव यच्चान्यदपि किञ्चन ॥ २६ ॥ जन्ममृत्युविवादे च तथा विशसनेऽपि च । शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः क्रियापथम् ३० प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च । दिवसांते गुणानेतानभ्ये-त्येकोऽवतिष्ठते ॥ ३१ ॥ रश्मिजालमिवादित्यस्तत्तत्काले निय-च्छति । एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते ॥३२॥ आत्मरूप-

---

अन्धे और कृपण आदिको अनेक प्रकारका दान भी देता है२६यह जीवात्मा अज्ञानवश कभी सत्व, रज तथा तम गुणका कभी धर्म, अर्थ तथा कामका भी अपनेमें आरोपण करता है२७ हे राजन् ! इस प्रकार प्रकृतिसे आत्मा स्वयं विकारवान् होकर, सब द्वैतप्रपंचको धारण करता है और वह (स्वयं न होने पर भी) सबका कर्ता धर्ता अपनेको मानता है, और स्वधाकार (पितरोंका आह्वान करते समय कहा जानेवाला शब्द) स्वाहा-कार (अग्नि आदि देवताओंको आवाहन करते समय कहा जानेवाला शब्द) नमस्कार ॥ २८ ॥ याजन, अध्ययन, दान देना और लेना, यजन, अध्ययन तथा ऐसे ही दूसरे कर्मोंको भी मैं स्वयं करता हूँ, इसप्रकार (विकारी) आत्मा मानता है २६ और यह (विकारी) आत्मा समझता है, कि-जन्म, मरण, विवाद और संग्रामको मैं ही करता हूँ परन्तु विद्वान् कहते हैं, कि-यह सब शुभाशुभ कर्ममार्ग हैं ॥ ३० ॥ वास्तवमें प्रकृति ही जगत्की उत्पत्ति और प्रलय करती है, सूर्य जैसे प्रातःकाल में अपनी किरणोंको चारों ओर फैलाता है, और सायंकालको फिर उनको समेट लेता है ऐसे ही आदिपुरुष भी सृष्टिके आरंभ में सत्व आदि गुणोंका विस्तार करता है और प्रलयके समय

गुणानेतान्विविधान् हृदयप्रियान् । एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणम् ॥३३॥ क्रियां क्रियापथे रक्तस्त्रिगुणां त्रिगुणाधिपः । क्रियां क्रियामथोपेतस्तथा तदिति मन्यते॥३४॥ प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदंधीकृतं विभो । रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा ३५ एवं द्वन्द्वान्यथैतानि समावर्तन्ति नित्यशः । ममैवैतानि जायन्ते धावन्ते तानि मामिति ॥ ३६ ॥निस्ततंव्यान्यथैतानि सर्वाणीति नराधिप । मन्यतेऽयं ह्यबुद्धत्वात्तथैव सुकृतान्यपि ॥३७॥ भोक्तव्यानि मयैतानि देवलोकगतेन वै । इहैव चैनं भोदयामि शुभाशुभ-

सबको अपनेमे लीन करलेता है, परन्तु स्वयं तो एकाकी ही रहता है, जीवात्मा प्रकृतिके सहवाससे ही तीनों गुणोंसे रहित होने पर भी त्रिगुणात्मकपनेका अभिमान करता है, कर्ममार्गमें अनुराग करता है और हृदयको प्रिय लगनेवाले रूप, अवस्था तथा वर्ण आदिको और सत्व आदि गुणोंको भी अपने ही मान बैठता है और यह प्रकृति (माया) के साथ क्रीडा करनेके लिये उत्पत्ति तथा प्रलय करनेवाली प्रकृतिको भी विकृत करता है, इस कारण ही जीवात्मा कर्ममार्गमें प्रीतिकर अमुक कर्ममें अमुक गुण है और उसका अमुक फल है, यह समझ कर कर्ममें ही प्रवृत्ति किया करता है ॥ ३१-३४ ॥ हे राजन् ! वास्तवमें प्रकृतिके कारण ही यह जगत् अन्धा होरहा है, प्रकृतिके योगसे ही ये सब पदार्थ रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त होगए है ३५ प्रकृतिके सहवाससे ही पुरुषको नित्य सुख और दुःख भोगने पडते हैं; परन्तु पुरुष (जीवात्मा) अज्ञानवश यह समझता है, कि-यह दुःख मेरे ही लिये उत्पन्न हुए हैं और मेरे पीछे ही दौडा करते हैं ॥ ३६ । हे राजन् ! वह यह समझ कर विचारता है, कि-'प्रत्येक रीतिसे मैं इन सब दुःखोंके पार होजाऊँ' और अज्ञानवश वह यह भी समझता है, कि-"इन सब दुःखों

फलोदयम् ॥ ३८ ॥ सुखमेव तु कर्तव्यं सकृत्कृत्वा सुखं मम । यावदन्तं च मे सौख्यं जात्यां जात्यां भविष्यति ॥३९॥ भविष्यति च मे दुःखं कृतेनेहाप्यनंतकम् । महद् दुखं हि मानुष्यं निरये चापि मज्जनम् ॥४०॥ निरयाच्चापि मानुष्यं काले नैष्याम्यहं पुनः मनुष्यत्वाच्च देवत्वं देवत्वात्पौरुषं पुनः ॥ ४१ ॥ मनुष्यत्वाच्च निरयं पर्यायेणोपगच्छति । य एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्मात्मगुणैर्वृतः ॥ ४२ ॥ तेन देवमनुष्येषु निरये चोपपद्यते । ममत्वेनावृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते ॥ ४३ ॥ सर्गकोटि-

के पार होने पर मैं पुण्यकर्मोंको देवलोकमें जाकर भोगूंगा' कभी यह भी समझता है, कि–पुण्य और पापके शुभाशुभ फल को मैं इस लोकमें ही भोगूंगा' ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ कभी समझता है, कि–मुझे सुख पाना चाहिये, सदा सत्कृत्य करनेसे मुझे इस जीवनमें अन्ततक सुख मिलेगा, तथा अगले प्रत्येक जन्ममें भी सुख ही सुख मिलेगा ॥ ३९ ॥ परन्तु यदि इस जीवनमें मैं खोटे कर्म करूंगा तो मुझे अनन्त दुःख ही मिलेगा, क्योंकि–मनुष्यजन्म बड़े २ दुःखोंसे भरा हुआ है और मनुष्यको नरकमें पड़ना पड़ता है ॥ ४० ॥ मैं नरकमेंसे बहुत समयके पीछे मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुआ हूँ, इस मनुष्ययोनिसे देवयोनिमें, फिर देवयोनिमेंसे मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होऊँगा ॥ ४१ ॥ और मनुष्ययोनिमेंसे फिर मुझे नरकमें ही पड़ना पड़ेगा जीवात्मा स्वयं देह तथा इन्द्रियोंके संघातसे रहित है तब भी देह तथा इन्द्रियोंके धर्मोंसे आवृत होकर 'मैं चिदंशदेही हूँ और देह तथा इन्द्रियोंके धर्म उस (चिदंश) के हैं' ॥ ४२ ॥ ऐसी बुद्धिके कारण वह देवयोनि अथवा मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है और कभी नरकमें पड़ता है, ममतावश जीवात्माको इस प्रकार जन्ममरणका चक्र काटना पड़ता है ॥ ४३ ॥ इस प्रकार

सहस्राणि मरणांतासु मूर्तिषु । य एवं कुरुते कर्म शुभाशुभफला-त्मकम् ॥ ४४ ॥ स एवं फलमाप्नोति त्रिषु लोकेषु मूर्तिमान् । प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषु लोकेषु, कामगा ॥४५॥ तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च । त्रीणि स्थानानि चैतानि, जानीयात्प्राकृतानिह ॥ ४६ ॥ अलिगां प्रकृतिं त्वाहुर्लिंगैरनुमिमीमहे । तथैव पौरुषं लिंगमनुमानाद्धि मन्यते ॥ ४७॥ स लिंगांतरमासाद्य प्राकृतं लिंगमव्रणम् । व्रण-द्वाराण्यधिष्ठाय कर्मणात्मनि मन्यते॥४८॥ श्रोत्रादीनि तु सर्वाणि

मरणशील शरीरोंको धारण कर जीवात्माको लाखों शरीर धारण करने पड़ते हैं। जो शुभ और अशुभ फल देने वाले कर्म करता है ॥ ४४ ॥ उसको तीनों लोकोंमें मूर्तिमान् शरीर धारण करने पड़ते हैं, तथा फल भी भोगना पड़ता है, परन्तु इन शुभा-शुभ कर्मोंको प्रकृति ही करती है और तीनों लोकोंमें भ्रमण करने वाली प्रकृति ही उनके फलोंको भोगती है ॥ ४५ ॥ तिर्यक् गति वाले क्षुद्र प्राणियोंके मनुष्योंके और देवताओंके जो तीन स्थान हैं, वे भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ४६ ॥ इस गुणोंसे रहित प्रकृतिका अस्तित्व उसके महतत्त्व आदि कार्योंसे हम जान सकते हैं, प्रकृतिको प्रवृत्त करने वाला पुरुष (जीवात्मा) निर्गुण है, परन्तु शरीरस्थित चैतन्यसे उसके अस्तित्वका भी अनुमान होता है ॥ ४७ ॥ पुरुष कर्मरहित होने पर भी (कर्मके अभिमान-वश) आठ पुरी रूप गर्भमें प्रवेश करता है और प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणरहित लिंगशरीर (सूक्ष्मशरीर) को धारण करता है, फिर शरीरके छिद्र (इन्द्रियें) उसमें स्थिति करते हैं और कर्मद्वारा उन इन्द्रियोंको (जीवात्मा) अपनी ही मानता है ४८ श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियें तथा वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियें

पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यथ । वागादीनि प्रवर्तन्ते गुणेष्विह गुणैःसह ४६ अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानींद्रियाणि ह। निरिंद्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः । ॥५०॥ अलिंगो लिंगमात्मानमकालः कालमात्मनः । असत्वं सत्वमानमतत्त्वं तत्त्वमात्मनः ॥ ५१ ॥ अमृत्युर्मृत्युमात्मानमचरश्चरमात्मनः । अक्षेत्रः क्षेत्रमात्मानमसर्गः सर्गमात्मनः ॥५२॥ अतपास्तप आत्मानमगतिर्गतिमात्मनः । अभवो

सत्व, रज और तम इन तीन गुणोंके साथ रहकर अपने २ विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं ॥ ४६ ॥ परन्तु देहधारी आत्मा कि-जो स्वयं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरहित है, तब भी वह यह समझता है, कि-मैं सब इन्द्रियरूप हूँ और सब इन्द्रियें मुझमें ही रहती हैं ॥ ५० ॥ वह अलिंग (देहधारी न) होने पर भी अपनेको लिंगवान् (देहधारी) समझता है, सत्व आदि गुणरहित होने पर भी अपनेको सत्व आदि गुणवाला मानता है तथा कालधर्मरहित होने पर भी अपनेको कालधर्मी मानता है, और अतत्त्व (चौबीस तत्त्वोंमेंका न) होने पर भी अपनेको तत्व (२४ में का एक तत्व) मानता है ५१ वह गतिरहित (व्याप्त) है तब भी अपनेको गतिमान् मानता है, यह किसीकी मृत्यु नही है तब भी अपनेको मृत्यु (मारनेवाला) मानता है, वह क्षेत्र (देह) से भिन्न होने पर भी अपनेको क्षेत्र मानता है, वह असर्ग (उत्पत्ति–रहित) होने पर भी अपनेको उत्पत्ति वाला मानता है ॥ ५२ ॥ वह तपसे रहित होने पर भी अपनेको तपस्वी समझता है, अगति होने पर भी अपनेको गतिमान् समझता है, वह जन्मरहित होने पर भी अपनेको जन्मवाला मानता है वह निर्भय है, तब भी अपनेको सभय मानता है ॥ ५३ ॥

भवमात्मानमभयो भयमात्मनः ॥ ५३ ॥ अक्षरः क्षरमात्मात्मान-मबुद्धिस्त्वभिमन्यते ॥ ५४ ॥ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकराल-जनकसंवादे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

वसिष्ठ उवाच । एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् । सर्गकोटि-सहस्राणि पतनान्तानि गच्छति ॥ १ ॥ धाम्ना धामसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति । तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च २ चन्द्रमा इव भूतानां पुनस्तत्र सहस्रशः । लीयते प्रतिबुद्धत्वादेव-मेष ह्यबुद्धिमान् ॥३॥ कला पञ्चदशी योनिस्तद्धाम प्रतिबुध्यते । नित्यमेतद्विजानीहि सोमं वै षोडशीं कलाम् ॥४॥ कलायां जाय-

---

वह अक्षर (अविनाशी) है तब भी अपनेको क्षर (विनाशी) मानता है, निर्बुद्धि होनेसे जीवात्मा ऐसा मान बैठता है ॥५४॥ तीनसौ तीनवां अध्याय समाप्त ॥ ३०३ ॥

वसिष्ठजीने कहा, कि-हे राजन् ! इस प्रकार प्रकृतिके सम्बन्धसे हुए अज्ञानके कारण तथा अज्ञानी पुरुषोंके संगसे जीव नाश-वान् सहस्रों और करोडों शरीरोंको धारण करता है१ इसप्रकार चैतन्यकलाके साथ अज्ञानके संयुक्त होनेसे जीव देवता, मनुष्य और अंतरिक्षमें उडनेवाले जीवोंकी विनाशशील सहस्रों योनियोंमें जन्म लेता है२जैसे चन्द्रमाका सहस्रों वार क्षय और सहस्रों वार वृद्धि होती है, ऐसे ही अज्ञानी जीव भी अज्ञानवश सहस्रों वार जन्मता है और सहस्रों वार मरता है३चन्द्रमाकी सोलह कलायें हैं.सोलहवीं कला (अदृश्यरूपसे रहती है) नित्य और अविनाशी कला है, चन्द्रमाकी समान जीवकी भी सोलह कला हैं, इनमें पन्द्रह(चैतन्याभासयुक्त प्रकृति, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरणचतुष्टय) कलायें दीखती हैं और नष्ट होजाती हैं अर्थात् घटती बढती रहती हैं, परन्तु सोलहवी चिदात्मारूप

तेऽजस्रं पुनः पुनरबुद्धिमान्। धाम तस्योपयुञ्जन्ति भूय एवोपजायते ॥ ५ ॥ षोडशी तु कला सूक्ष्मा स सोम उपधार्यताम्। न तूपयुज्यते देवैर्देवानुपयुनक्ति सा ॥ ६ ॥ एतामक्षपयित्वा हि जायते नृपसत्तम। सा ह्यस्य प्रकृतिर्दृष्टा तत्क्षयान्मोक्ष उच्यते ७ तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम्। ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ॥ ८ ॥ पञ्चविंशो महानात्मा तस्यैवाप्रतिबोधनात्। विमलस्य विशुद्धस्य शुद्धाशुद्धनिषेवणात् ॥ ९ ॥ अशुद्ध एव

शुद्ध कला अतिसूक्ष्म है और अविनाशी है ॥ ४ ॥ ज्ञानी जीव उपरि-उक्त पन्द्रह कलाओंमें वारम्वार सदा जन्म धारण करता रहता है, इसका कारण यह है, कि—मूलतत्त्व सोलहवी कलाके साथ संयुक्त होरहे हैं, इसकारण ही जीवको वारम्वार जन्म धारण करना पडता है ॥ ५ ॥ यह सोलहवी कला शुद्ध चैतन्य-रूप है, यह सोमके नामसे विख्यात है, यह कला सनातन और अविनाशी है, इंद्रियें इस कलाका पालन नहीं करती हैं, परन्तु यह कला इन्द्रियोंको स्फूर्ति प्रदान कर उनकी रक्षा करती है ६ हे उत्तम राजन्! यह सोलहवीं कला प्राणियोंको जन्म देनेकी कारणरूप है,अतएव प्राणी इसकी सहायताके बिना किसी भाँति जन्म धारण नहीं कर सकते, इस सोलहवी कलाको ही प्रकृति कहते हैं,जीवके प्रकृतिसे वियुक्त होनेको विद्वान मुक्ति कहते हैं।।७।। जो पुरुष (आत्मा) इन सोलह कलाओं पर अर्थात् अव्यक्त नाम-धारी प्राकृत देह पर ममता करता है उसको विमल, विशुद्ध और चैतन्य पच्चीसवें महान् आत्माका ज्ञान नहीं होता है और इसी अज्ञानके कारण जीव देहोंमें वारम्वार जन्म धारण किया करता है परन्तु इसमेंसे छूट नहीं सकता, आत्मा तो संगरहित और शुद्ध है, यह न जाननेसे और शुद्ध तत्त्वका अशुद्ध तत्त्वके साथ संग होने और उसका आश्रय करनेसे शुद्ध जीवात्मा अशुद्ध बन

शुद्धात्मा तादृग्भवति पार्थिव । अबुद्धसेवनाच्चापि बुद्धोऽप्यबुद्धतां व्रजेत् ॥ १० ॥ तथैवाप्रतिबुद्धोपि विज्ञेयो नृपसत्तम । प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु सेवनात्त्रिगुणो भवेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वशिष्ठकरालजनकसंवादे चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

जनक उवाच । अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध इष्यते । स्त्रीपुंसोर्वापि भगवन्संबन्धस्तद्वदुच्यते ॥ १ ॥ ऋते तु पुरुषं नेह स्त्री गर्भं धारयत्युत । ऋते स्त्रियं न पुरुषो रूपं निर्वर्तयेत्तथा २ अन्योन्यस्याभिसंबन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात् । रूपं निवर्तयत्येतदेवं सर्वासु योनिषु ॥ ३ ॥ रत्यर्थमभिसंबन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात् । ऋतौ निर्वर्त्यते रूपं तद्वक्ष्यामि निदर्शनम् ॥ ४ ॥ ये गुणाः पुरु

जाता है ८–९ हे राजन् ! जीवात्मा संगरहित और शुद्धस्वरूप ही है, तब भी यह देह मेरा है, मैं देहरूप हूँ, इसप्रकार मनमें असत् आग्रह करनेसे अशुद्ध होजाता है और (मूलसे ही) ज्ञानी होने पर भी अज्ञानका सेवन करनेसे अज्ञानी होजाता है ॥ १० ॥ हे श्रेष्ठ राजन् ! जीवात्माको सब तरहके भ्रमसे रहित जानना चाहिये, वह त्रिगुणमयी प्रकृतिके सम्बन्धसे त्रिगुण होजाता है ११ तीनसौ चारवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३०४ ॥ छ ॥

जनकने कहा, कि–हे पवित्र मुनि ! स्त्री पुरुषके सम्बन्धकी समान अक्षर और क्षरका (पुरुष और प्रकृतिका) सम्बन्ध है १ जैसे स्त्री पुरुषके बिना गर्भ धारण नहीं कर सकती, ऐसे ही पुरुष भी स्त्रीके बिना रूपको उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ २ ॥ सब प्रकारकी योनियोंमें परस्पर सम्बन्ध होनेसे तथा एक दूसरेके गुणका आश्रय करनेसे ही रूप (आकार) उत्पन्न होता है ३ स्त्री और पुरुष समागम करनेकी इच्छासे सम्बन्ध करते हैं और एक दूसरेके गुणोंका आश्रय करनेसे ऋतुकालमें गर्भका रूप

पस्येह ये च मातृगुणास्तथा । अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः ॥ ५ ॥ त्वङ्मांसं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम । एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ वेदे शास्त्रे च पठ्यते ॥ ६ ॥ प्रमाणं यत्स्ववेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते । वेदशास्त्रद्वयं चैव प्रमाणं तत्सनातनम् ॥ ७ ॥ अन्योन्यगुणसंरोधादन्योन्यगुणसंश्रयात् । एवमेवाभिसंबद्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ॥८॥पश्यामि भगवंस्तस्मान्-मोक्षधर्मो न विद्यते । अथवानंतरकृतं किंचिदेव निदर्शनम् । तन्म-माचक्ष्व तत्त्वेन प्रत्यक्षो ह्यसि सर्वदा ॥ ९ ॥ मोक्षकामा वयं चापि

उत्पन्न होता है, इस विषयको मैं उदाहरण देकर कहता हूँ ॥४॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ वसिष्ठ ! माता पिता ऋतुकालमें समागम करते हैं उसका क्या फल मिलता है,इसको सुनिये,जो गर्भ होता है उस में अस्थियें, स्नायु और मज्जा ये पिताके गुण होते हैं, ऐसा हम जानते हैं ॥ ५ ॥ और त्वचा, मांस तथा रक्त ये माताकी ओर के गुण हैं, ऐसा हम सुनते हैं और इस बातका वेदशास्त्रमें प्रमाण मिलता है ॥ ६ ॥ और जो बात वेद तथा शास्त्रमें कही होती है, वह प्रमाण मानी जाती है, वेद और शास्त्र ये दोनों सना-तनकालसे प्रमाण माने जाते हैं ॥७॥ यदि पुरुष और प्रकृति नित्य एक दूसरेके गुणको रूँध कर तथा एक दूसरेका आश्रय करके परस्पर संयुक्त रहें (अर्थात् पुरुष प्रकृतिकी जड़ताका अव-रोध करे और उसके दुःखका आश्रय करे, तथा प्रकृति पुरुषके आनन्द आदि गुणोंका अवरोध करे और चैतन्य आदि गुणका आश्रय करे) ॥ ८ ॥ तो किसी प्रकार भी मोक्ष धर्म सिद्ध नहीं हो सकता, ऐसा मुझे प्रतीत होता है, अतः हे भगवन् ! मोक्ष विषयका कोई स्पष्ट दृष्टान्त, मुझे सुनाइये, क्यों कि-सब आप तत्वोंको प्रत्यक्ष देखने वाले हैं ॥ ९ ॥ और हम को मोक्ष की इच्छा है, वह मोक्ष दुःखरहित है, देहरहित है

कांक्षामो यदनामयम् । अदेहमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम् १० वसिष्ठ उवाच । यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्रनिदर्शनम् । एवमेव- यथा चैतन्निगृह्णाति तथा भवान् ॥ ११ ॥ धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः । न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथातत्त्वं नरेश्वर ॥ १२ ॥ यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः । न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥ १३ ॥ भारं स वहते तस्य

जरारहित है, इन्द्रियोंसे अगोचर है तथा ईश्वरसे भी श्रेष्ठ तत्व है, उसको पानेकी हम इच्छा करते हैं (जनकके कहनेका भाव भाव यह है, कि-पुरुष और प्रकृति एक दूसरेके गुणोंसे ऐसे गुँथे हुए हैं, कि-वे छूट नहीं सकते और स्वतन्त्र रहकर भी कुछ कार्य नहीं कर सकते, जैसे स्त्री पुरुषके विना व्यर्थ है ऐसे ही पुरुष भी स्त्रीके विना इकला कुछ फल उत्पन्न नहीं करसकता, ऐसे ही पुरुष भी प्रकृतिके साथ गुँथा हुआ है और उससे ही यह विश्व उत्पन्न होता है । पुरुषके विना प्रकृति अन्धी है और प्रकृतिके विना पुरुष लङ्गडा है । चित् और अचित्-चैतन्य और जड-पुरुष और प्रकृति एक दूसरेके साथ परस्पर ऐसे गुँथे हुए हैं, कि-वे छुडानेसे छूट नहीं सकते, अतः पुरुष प्रकृतिमेंसे कैसे छूटता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण जनक सुनना चाहते है, क्योंकि-वे मुमुक्षु हैं) ॥ १० ॥ वसिष्ठने कहा, कि-हे राजन् ! तूने वेद तथा शास्त्रके प्रमाणोंको मानकर यह बात बूझी है, क्योंकि-तू शास्त्रके प्रमाणको स्वीकार करनेवाला है और उसके अनुसार वर्त्ताव करनेवाला भी है ॥ ११ ॥ तूने वेद शास्त्रके ग्रन्थोंका अभ्यास किया है यह सत्य है, परन्तु तूने उसके मर्मको नहीं समझा है, तू केवल वेदके शब्दोंको पकड़े बैठा है ॥ १२ ॥ जो वेद और शास्त्रके ग्रन्थोंको केवल धारण करनेमें तत्पर रहता है और उन ग्रन्थोंके तत्त्वको यथार्थरीतिसे नहीं जानता है, तो उस

ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः । यस्तु ग्रन्थार्थतत्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥ १४ ॥ ग्रन्थस्यार्थस्य पृष्टः संस्तादृशो वक्तुमर्हति । यथा-तत्वाभिगमनादर्थं तस्य स विन्दति ॥ १५ ॥ न यः संसत्सु कथयेद्ग ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् । स कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥१६॥ निर्णयं चापि छिद्रात्मा न तं वक्ष्यति तत्वतः । सोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानपि ॥ १७ ॥ तस्मात्वं शृणु राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते । याथातथ्येन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥ १८ ॥ यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते । एकं

का वह परिश्रम व्यर्थ है ॥ ३ ॥-जो शास्त्र पढ़कर भी उसके मर्मको नही समझता है वह तो शास्त्रके बोझेको ही ढोता है, परन्तु जो मनुष्य शास्त्र शब्दके रहस्यको जानता है उस ही मनुष्यका शास्त्रग्रन्थका अभ्यास सफल होता है ॥१४॥ ग्रंथके तत्त्वको जाननेवाले मनुष्यसे यदि कोई तत्त्वजिज्ञासु पुरुष ग्रन्थके अर्थके सम्बन्धमें प्रश्न करे तो शास्त्रवेत्ता पुरुषको, प्रश्न करने वाला पुरुष ग्रन्थके तत्त्वको जिस प्रकार समझ सके, उस प्रकार उसको उपदेश देना चाहिये ॥१५॥ विद्वानोंकी सभामें जो ग्रंथके अर्थको नहीं समझा सकता, वह स्थूल बुद्धिवाला पुरुष मन्दबुद्धि होनेके कारण (मूर्खोंको) शास्त्रका निर्णय कैसे समझा सकेगा और स्वयं भी कैसे समझ सकेगा१६मूर्ख मनुष्य ग्रंथके सत्य रहस्य को यथार्थरीतिसे नहीं समझा सकता, क्योंकि-उसको ग्रन्थके तत्त्वका पता ही नहीं होता, ऐसा पुरुष आत्मज्ञानी होने पर भी (अभ्यास और गुरुमुखसे विना सुने यदि उपदेश देता है तो पण्डित-) मनुष्योंमें उपहासका पात्र होता है ॥१७॥ हे राजन् ! इस मोक्षके तत्त्वका सांख्य और योगके विद्वान् आत्मज्ञानी महात्मा पुरुष अपने शिष्योंको जिसप्रकार उपदेश देते हैं, उसी प्रकार मैं तुमसे यथार्थ रीतिसे कहता हूँ, तू उसको सुन१८योगी

सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥ १९ ॥ त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जा च स्नायु च । अथ चेन्द्रियकं तात तद्भवानिदमाह माम् ॥ २० ॥ द्रव्याद् द्रव्यस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियादिन्द्रियं तथा । देहाद्देहमवाप्नोति बीजाद्बीजं तथैव च ॥२१॥ निरिन्द्रियस्याबीजस्य निर्द्रव्यस्याप्यदेहिनः । कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ॥ २२ ॥ गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशंति च । एवं गुणाः प्रकृतितो जायन्ते निविशन्ति च ॥ २३ ॥ त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जास्थि स्नायु च । अष्टौ तान्यथ

(जीवात्मा और मायाके) जिस तत्त्वको देखते हैं, उसको सांख्यवेत्ता भी जानते हैं, जो मनुष्य सांख्य और योग इन दोनोंको एक समझता है उसको ही बुद्धिमान् समझना चाहिये ॥१९॥ हे तात ! (प्राणियोंके आकार उत्पन्न होनेमें) त्वचा, मांस, रुधिर, मेद, पित्त, मज्जा, स्नायु, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंका समुदाय, यह सब कि-जिनका तूने मुझसे पहिले वर्णन किया है, इन सबका अस्तित्व है॥२०॥ यह बात सुप्रसिद्ध है; कि-द्रव्यमेंसे द्रव्य, इन्द्रियमेंसे इन्द्रिय, देहमेंसे देह तैसे ही बीजमेंसे बीज उत्पन्न होता है२१ इन्द्रियरहित, बीजशक्तिरहित, द्रव्यरहित और देहरहित निर्गुण महान् आत्मामें गुण कैसे हो सकते हैं ॥२२॥ (यदि यह शंका हो, कि-फिर जगत्की उत्पत्ति कैसे होती है तो सुन) आकाश आदि सब गुण, सत्त्व आदि गुणोंमेंसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उनका लय भी सत्त्व आदि गुणोंमें ही होता है, इसप्रकार सत्त्व आदि गुण प्रकृतिमेंसे उत्पन्न होते हैं और उनका लय भी प्रकृतिमें ही होता है ॥ २३ ॥ त्वचा, मांस, रक्त मेद, पित्त, मज्जा, अस्थि और स्नायु ये आठ पदार्थ वीर्यमेंसे उत्पन्न होते हैं, इस लिये वे प्राकृतिक (प्रकृतिमेंसे उत्पन्न हुए) कहलाते हैं और हे राजन् ! किसी समय इकले पुरुषके ही वीर्यमेंसे वे उत्पन्न

शुक्रेण जानीहि प्राकृतानि वै ॥२४॥ पुमांश्चैवापुमांश्चैव त्रैलिंग्यं प्राकृतं स्मृतम् । न वा पुमान्पुमांश्चैव स लिंगीत्यभिधीयते ॥२५॥ अलिंगात्प्रकृतिर्लिंगैरुपालभ्यति सात्मजैः । यथा पुष्पफलैर्नित्यमृतवो मूर्तयस्तथा ॥ २६ ॥ एवमप्यनुमानेन ह्यलिंगमुपलभ्यते । पञ्चविंशतिमस्तात लिंगेषु नियतात्मकः ॥ २७ ॥ अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः । केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण

होजाते हैं (जैसे द्रोणके शरीरमें हुए थे) यह तू जान ॥ २४ ॥ जीवात्मा (अन्तःकरणमें पड़ता हुआ आत्माका प्रतिबिंब) तथा यह विश्व ये दोनों सत्व, रज तथा तमोयुक्त प्रकृतिमेंसे बनते हैं, परन्तु परमात्मा इन दोनोंसे भिन्न है॥२५॥ जैसे ऋतुएँ आकाररहित हैं, परन्तु पुष्प और फलोंसे वसन्त और ग्रीष्म आदि ऋतुओंके रूपका ज्ञान होता है, इसीप्रकार प्रकृति भी आकार रहित होनेपर भी पुरुषको प्राप्त होती है और उसमेंसे वह अपने सन्तानरूप महत्तत्त्व आदि कार्यों (आकारों) को उत्पन्न करती है, इससे प्रतीत होता है, कि—॥ २६ ॥ इसी भाँति देहमें रहने वाला लिंगरहित पुरुष (चिदात्मा) सत्वादि गुणोंसे रहित और निर्मल होने पर भी केवल अनुमानसे ही अनुभवमें आता है(भावार्थ जैसे दृश्य पदार्थको प्रकाशित करनेसे "दृष्टिका अधिष्ठातृ देवता सूर्य है" ऐसा अनुमान होता है, ऐसे ही जड़ पदार्थके प्रकाशित करनेवाले चिदात्माका भी अनुमान होता है . जैसे प्रत्येक दृश्य पदार्थके साथ सूर्यका सम्बन्ध है तैसे ही प्रत्येक जड पदार्थके साथ चेतनका सम्बन्ध है और ऐसे ही प्रकृतिका पुरुषके साथ सम्बन्ध है, और जैसे दृश्यपदार्थके विकारसे सूर्यमें विकार नहीं आता है, तैसे ही प्रकृति अथवा जड़ पदार्थके विकारसे पुरुष(चेतन-आत्मा) में विकार नहीं आता, प्रकृतिके हर्ष आदि विकारोंके साथ आत्मा का कोई भी संबन्ध नहीं है) ॥ २७ ॥ हे तात ! उत्पत्ति तथा

उच्यते ॥ २८ ॥ गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः । तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥ २९ ॥ यदा त्वेष गुणानेतान्प्राकृतानभिमन्यते । तदा स गुणहान्यैतं परमेवानुपश्यति ॥ ३० ॥ यत्तद्बुद्धेः परं प्राहुः सांख्ययोगाश्च सर्वशः । बुध्यमानं महाप्राज्ञमबुद्धिपरिवर्जनात् ॥ ३१ ॥ अप्रबुद्धमथाव्यक्तमगुणं प्राहुरीश्वरम् । निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ३२ प्रकृतेश्च गुणानां च पंचविंशतिकं बुधाः । सांख्ययोगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः ॥ ३३ ॥ यदा प्रबुद्धा ह्यव्यक्तमवस्था जन्म-

विनाशसे रहित, अनन्त, सर्वदर्शी और सब दोष रहित आत्मा देह आदिके सत्त्व आदि गुणोंके अभ्याससे सत्त्वादि गुणस्वरूप कहलाता है ॥ २८ ॥ सत्त्व आदि गुणोंके स्वरूपको जाननेवाले जानते हैं, कि-संयोगादि सब गुण जीवात्मामें ही रहते हैं परन्तु निर्गुण आत्मामें (सत्त्व आदि) गुण नहीं रहते२९जब जीवात्मा अपनेमें प्रमादवश आविर्भूत हुए प्रकृतिसे उत्पन्न हुए काम आदि गुणोंका पराजय करता है, तब वह देहादिके विषयमें हुए आत्मभावको त्यागकर परमपुरुषके स्वरूपको प्रत्यक्षरीतिसे देखता है ॥ ३० ॥ साङ्ख्य तथा योगको न जाननेवाले दूसरे भी सब (तांत्रिक) कहते हैं, कि-जो परमात्मा बुद्धिसे पर है जो तत्त्वज्ञाता समझा जाता है; जो प्रकृतिसे युक्त महदहंकारका त्याग करनेके पीछे महाप्राज्ञरूप (स्वप्रकाशित होनेवाला) कहलाता है ॥ ३१ जो सत्व आदि गुणोंसे भिन्नरूप वाला है, अज्ञातरूप है, अव्यक्त है, सब वस्तुओंका नियामकरूप है; सब गुणोंसे पर है, जो परम अन्तर्यामीरूप है, सब वस्तुओंका अधिष्ठातारूप है, जो अविनाशी और निर्विकारी है, जो प्रकृति और प्रकृतिमेंसे उत्पन्नहुए गुणों पर सत्ता चलाता है, वह प्रकृति और महत्तत्वकी अपेक्षा चौवीस तत्वोंसे पर पच्चीसवाँ तत्त्वरूप है ॥ ३२-३३ ॥ ज्ञानी

भीरवः। बुध्यमानं प्रबुध्यन्ति गमयन्ति समन्तदा॥ ३४॥ एतन्निदर्शनं सम्यगसम्यगुनिदर्शनम्। बुध्यमाना प्रबुद्धानां पृथक्पृथगरिन्दम॥ ३५॥ परस्परगैतदुक्तं चराचरनिदर्शनम्। एकत्वमचरं प्राहुर्नानात्वं चरमुच्यते॥ ३६॥ पंचविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक्प्रवर्तते। एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम्॥ ३७॥ तत्वनिस्तत्वयोरेतत्पृथगेव निदर्शनम्। पंचविंशतिसर्गं तु तत्वमाहुर्मनीषिणः॥ ३८॥ निस्तत्वं पंचविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम्। सर्ग-

---

आदि अवस्थाओंसे तथा जन्ममरणसे डरनेवाले ज्ञानी पुरुष, जिस समय इस प्रमातापुरुषके स्वरूपको यथार्थरीतिसे जानते हैं, उस समय ही उनको प्रमाता-ब्रह्म-के स्वरूपका ज्ञान होता है॥ ३४॥ हे शत्रुदमन राजन्! ज्ञानी पुरुष जीवात्मा और परमात्माके अभेदज्ञानको शास्त्रसंमत और सत्य मानते हैं तथा अज्ञानी पुरुष जीवात्मा और परमात्माके अभेद (अद्वैत) ज्ञानको मिथ्या मानते हैं, यही ज्ञानी और अज्ञानीकी बुद्धिमें भेद है॥ ३५॥ इसप्रकार चर तथा अचरका स्वरूप कैसा है यह तुमसे कहा, जो एक ही है वह अविनाशी और अचर कहलाता है और अनेक स्वरूप धारण करने वाला विनाशी और चर कहलाता है॥ ३६॥ जब पुरुष रज्जु और सर्पकी समान भ्रमात्मक पच्चीस तत्त्वोंका अन्वेषण आरम्भ करता है, तब उसको छब्बीसवें तत्त्वका ज्ञान होता है, आत्माके एकत्व-अभेदत्वका ज्ञान शास्त्रानुकूल है और उसके अनेकरूप होनेका ज्ञान शास्त्रविरुद्ध है॥३७॥ उत्पत्तिरहित परमपुरुषमें भिन्न २ अनेक तत्त्वोंकी सृष्टि समा रही है, ज्ञानी पुरुष इस पञ्चविंशति सर्गको तत्त्व कहते हैं॥ ३८॥ इन पच्चीस तत्त्वोंसे पर छब्बीसवें तत्त्वको निस्तत्त्व (अजन्मा) कहते हैं, ये पच्चीस तत्त्व पाँच २ की टुकड़ियोंमें बटे हुए हैं और वे सनातन तत्त्व हैं (इनका

स्य वर्गमाचारं तत्वं तत्वात्सनातनम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनक-
संवादे पंचाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०५ ॥

जनक उवाच । नानात्वैकत्वमित्युक्तं त्वयैतदृषिसत्तम । पश्याम्येतद्धि सन्दिग्धमेतयोर्वै निदर्शनम् ॥ १ ॥ तथाऽबुद्धप्रबुद्धाभ्यां बुध्यमानस्य चानघ । स्थूलबुद्ध्या न पश्यामि तत्वमेतन्न संशयः २ अक्षरक्षरयोरुक्तं त्वया यदपि कारणम् । तदप्यस्थिरबुद्धित्वात् प्रनष्टमिव मेऽनघ ॥ ३ ॥ तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि नानात्वैकत्वदर्श-

विभाग इस प्रकार है, पाँच ज्ञानेन्द्रियें, पाँच कर्मेन्द्रियें, पञ्चभूत, पाँच शब्द आदि विषय और मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और चिदाभास, इन पाँच २ वर्गोंका अभ्यास करनेसे जो ज्ञान होता है, उसका नाम तत्त्वज्ञान है और इस तत्त्वज्ञानसे जाननेमें आने वाला और उससे भी जो पर है, वह सनातनतत्त्व है अर्थात् तीनों कालमें रहने वाला परमात्मरूप तत्त्व है, यह ही ब्रह्म है, यह ही परब्रह्म है, यह ही परम पुरुषोत्तम है, यह ही अद्वितीय एक ब्रह्म है) ॥३६॥ तीनसौ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥३०५॥

जनकने कहा, कि–हे श्रेष्ठ ऋषे ! आपने मुझसे क्षरके नाना प्रकारके भेद और अक्षरके एक तत्त्वका भेद कहा, परन्तु इन दोनोंके स्वरूपके विषयमें मुझे अब भी सन्देह है, क्योंकि–क्षर तथा अक्षरके स्वरूपको मैं यथार्थरीतिसे नहीं समझा हूँ ॥ १ ॥ हे निर्दोष ऋषे ! अज्ञानी मनुष्य आत्माको अनेकरूप वाला देखते हैं और ज्ञानी पुरुष उसको एक और परमसर्वरूप देखते हैं परन्तु स्थूल बुद्धि वाला होनेसे मेरी समझमें यह तत्व नहीं आता ? ॥ २ ॥ हे निर्दोष ! तुमने मुझसे अक्षरके एकत्वका और क्षरके नानात्वका कारण कहा, परन्तु अस्थिर-बुद्धि होनेसे वह मेरी समझमें नहीं आता ॥ ३ ॥ मैं आपके

नम् । बुद्धश्चाप्रतिबुद्धं च बुध्यमानं च तत्वतः ॥ ४ ॥ विद्याविद्ये च भगवन्नक्षरं क्षरमेव च । सांख्यं योगं च कार्त्स्न्येन पृथक्चैवा-

कहनेके तत्वको समझ नहीं सका हूँ, अतः आपके पहिले कहे हुए नानात्वरूप, एकत्वरूप, बुद्धस्वरूप, अप्रतिबुद्ध प्रधानादि, बुद्ध्यमानजीवस्वरूप, ॥४॥ विद्यारूप अर्थात् ज्ञानरूप, अविद्यारूप, अक्षर-नित्यरूप, क्षर-अनित्यरूप, सांख्यस्वरूप, योगस्वरूप इनकी एकता और भिन्नतारूप कथनका क्या तात्पर्य है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ (भावार्थ-वसिष्ठजीने कहा, कि-एकत्व परम पुरुषोत्तम परमात्मा-अक्षर-का स्वरूप है और बहुरूप होना क्षरका स्वरूप है और आत्मा एक ही है । इस पर जनक ने कहा, कि-यदि आत्माको एक माना जाय तो बन्ध मोक्षकी व्यवस्था नहीं होसकेगी और आत्माको अनेक माना जाय तो आत्माके नाशका प्रसंग आवेगा । तथा छब्बीसवें परमपुरुषका चौबीस तत्ववाला पच्चीसवाँ जीव निश्चय कर सकता है, परन्तु स्थूल बुद्धि वाला जीव, जड़ और चेतनमेंसे आत्मबुद्धिके तत्वको नहीं जान सकता और सामान्य प्राणीको तो उसका अनुभव ही नहीं होता अतः इस भाँति समझाइये जिससे यह समझमें आसके। एकत्व अनेकत्वका स्वरूप अस्थिर बुद्धि पुरुषकी समझमें नहीं आसकता, क्योंकि-स्वगत स्वजातीय आदि तीनों भेदसे शून्य होने पर उसको हेतुसे सिद्ध नहीं किया जासकता, क्योंकि-उसका कोई उदाहरण नहीं है, और एक व्यक्तिको ही एकत्व कहोगे तो आकाश भी एक ही व्यक्ति है, अतः उसमें भी आत्माकासा एकत्व मानना पड़ेगा, यह सांख्यशास्त्रके प्रतिकूल है, यदि अनेक व्यक्तिके संघको एकत्व मानोगे तो यह प्रधान परिमाणु आदिमें भी है और भिन्नत्वको क्षर मानोगे तो सांख्यानुसार आत्मा भी क्षर होगा, अतः एकत्व और अने-

पृथक्च ह ॥ ५ ॥ वसिष्ठ उवाच । हन्त ते संप्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि । योगकृत्यं महाराज पृथगेव शृणुष्व मे ॥ ६ ॥ योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम् । तच्चापि द्विविधं ध्यानमाहुर्विद्याविदो जनाः ॥ ७ ॥ एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च । प्राणायामस्तु सगुणो निर्गुणो मनसस्तथा ॥ ८ ॥ मूत्रोत्सर्गपुरीषे च भोजने च नराधिप । त्रिकालं नाभियुञ्जीत शेषं युञ्जीत तत्परः ॥ ९ ॥ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा

कत्वका भेदाभेद, ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसा है तथा प्रधान आदि तथा बुद्ध्यमान जीवका यथार्थस्वरूप क्या है, यह मुझे समझाइये) ॥५॥ वसिष्ठजीने कहा, कि—हे महाराज ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किये उनका उत्तर मैं तुमको दूँगा, परन्तु इस समय तो मैं तुम्हारे प्रश्नको छोड़कर योगविधिकी बात सुनाता हूँ (उसमें ही प्रसंगानुसार इन सब प्रश्नोंका उत्तर आजायगा) सुन ॥६॥ ध्यान योगीका परम आवश्यक कर्तव्य है और ध्यान ही योगियोंका परम बल है, योगविद्या जानने वाले योगी ध्यानको (भावना और प्रणिधानके भेदसे) दो प्रकारका बताते हैं ॥७॥ (ध्यानका साधारण लक्षण) मनकी एकाग्रता तथा प्राणायाम है, प्राणायाम भी सगुण और मनकी एकाग्रतारूप निर्गुण भेदसे दो प्रकारका है (सगुण ध्यानको सगर्भ और निर्गुण ध्यानको निर्गर्भ कहते हैं, प्रणव अथवा गायत्री का जप करते हुए जो प्राणायाम किया जाता है, उसको सगर्भ कहते हैं तथा जपरहित प्राणायामको निर्गर्भ कहते हैं ॥ ८ ॥ हे हे राजन् ! मूत्रोत्सर्ग करते समय, मलत्याग करते समय और भोजन करते समय योग न करे और सब समय योग करे ॥९॥ बुद्धिमान् पुरुष मनके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंमेंसे खेंचले अर्थात्

शुचिः। दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात्परं ततः॥ १०॥ सप्रो-

प्रत्याहार (१) करे और पवित्र रहे, विद्वानोंके अजर अमर बताये हुए आत्माको चौबीस तत्त्वोंसे पर छब्बीसवें परमात्माके पास भेजनेके लिये बाईस प्रकारकी * चोदनाओंसे प्रेरित

---

(१) मुनि याज्ञवल्क्य अठारह मर्मस्थानोंमें वायुके धारण करनेको फिर उसको एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें लेजानेको प्रत्याहार कहते हैं।

*बाईस प्रकारकी चोदनाएँ इसप्रकार होती हैं, कि–(१)नासिका-पुटसे वायुको खेंच कर पैरके अँगूठेसे मस्तक तक सारे शरीरमें, घड़ेमें वायुके भरनेकी समान, वायुको भर देना रूप प्राणायाम अथवा कुम्भक करके मस्तकमें वायुको भरदेना रूप प्राणायाम (२) तदनन्तर इस वायुको ब्रह्मरन्ध्रमेंसे ललाटमें ले आना (३) ललाटमेंसे वायुको खेंचकर भ्रकुटीके बीचमें ले आना (४) भ्रकुटिमेंसे नेत्रोंमें ले आना (५) और नेत्रोंमेंसे नासिका के मूलमें लाकर रोक लेना (६) फिर नासिकाके मूलमेंसे जिह्वा के मूलमें ले आना (७) जिह्वामूलसे कण्ठकूपमें ले आना (८) कण्ठकूपसे हृदयमें ले आना (९) हृदयमेंसे नाभिके मध्यप्रदे-शमें (१०) नाभिके मध्यप्रदेशसे उपस्थमें (११) उपस्थसे जठर में (१२) जठरसे गुदामें (१३) गुदासे ऊरुमूलमें (१४)ऊरु-मूलमेंसे घुटनोंमें (१५) घुटनोंसे चिति मूलमें (१६) चितिमूलसे जघाके मध्यभागमें (१७) जंघाके मध्यभागमें वायुको लाकर उसको रोके और तहाँसे उसको गुल्फों (एड़ियोंमें) ले जावे (१८) फिर उसको एड़ियोंमेंसे पैरोंके अँगूठोंमें लेजाकर दोनों पैरोंमें वायुको रोकले इसप्रकार जो पुरुष एक स्थानसे दूसरे स्थान में वायुको खेंचकर लेजाता है और तहाँ उसको रोक सकता है, उसका आत्मा सब पापोंसे मुक्त होकर शुद्ध होजाता है और जब

दनाभिर्मतिमानात्मानं चोदयेदथ । तिष्ठंतमजरं तन्तु यत्तदुक्तं मनीषिभिः ॥११॥ तैश्चात्मा सततं ज्ञेय इत्येवमनुशुश्रुम । व्रतं ह्यहीनमनसो नान्यथेति विनिश्चयः ॥१२॥ विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः । पूर्वरात्रेऽपररात्रे धारयीत मनोत्मनि ॥ १३ ॥ स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर । मनो बुद्ध्या स्थिरं

करे ॥ १० ॥ ११ ॥ इन बाईस प्रकारकी प्रेरणाओंसे आत्माका नित्यज्ञान होता है, ऐसा हमारे सुननेमें आया है, यह निःसन्देह है, कि-जिस पुरुषका मन कामादिविषयोंसे पराभव पाया हुआ नहीं होता है, वही योगसाधना करसकता है, परन्तु जिसका मन कामादिसे पराजित हुआ होता है, वह योगको नहीं साध सकता ॥ १२ ॥ योगी सब प्रकारके सांसारिक विषयोंके संगोंका त्याग करे, लघुभोजन करे, इन्द्रियोंको वशमें रक्खे और पहिली तथा पिछली रात्रिमें आत्मामें मनको एकाग्र करे ॥१३॥ हे मिथिलाके राजा ! (-योगकी साधना करने वाला.) मनसे

तक चन्द्रमा तथा तारे रहते हैं तब तक वह पुरुष जीसकता है अर्थात् योगीका नाश विश्वके नाशके साथ सम्बन्ध रहता है (याज्ञवल्क्यने और) अगस्त्यने भी योगकी सिद्धिके विषयमें यही कहा है और सब प्रत्याहारोंमें यह प्रत्याहार श्रेष्ठ है ऐसा योगी भी कहते हैं, इन अठारह प्रत्याहारोंको चोदना, प्रेरणा अथवा योगीकी प्राण रोकनेकी क्रिया कहते हैं । तदनन्तर (१९) ध्यान (२०) धारणा और (२१) समाधि नामकी तीसरी धारणा है और (२२) बाईसवीं सत्त्वपुरुषान्यताख्याति नामकी प्रेरणा है। इन बाईस प्रेरणाओंसे प्रेरित जीव नदी-समुद्रके सम्बन्धको पाता है अर्थात् नदी जैसे समुद्रमें प्रवेश कर जाती है और एकत्व को प्राप्त होजाती है, ऐसे ही जीव चिदात्मामें प्रवेश करता है, उसको निर्विशेष चिन्मात्र कहते हैं ।

कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥ १४ ॥ स्थाणुवच्चाप्यकम्पः स्याद्गिरिवच्चापि निश्चलः । बुद्ध्या विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥ १५ ॥ न शृणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति । न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥ १६ ॥ न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यति काष्ठवत् । तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥ निर्वाते हि यथा दीप्यन्दीपस्तद्वत्प्रकाशते । निर्लिंगोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग्गतिमाप्नुयात् ॥ १८ ॥ तदा तमनुपश्येत

इन्द्रियोंके समुदायको स्थिर करनेके पीछे और बुद्धिसे मनको वशमें करनेके पीछे पाषाणकी समान स्थिर होकर रहे ॥ १४ ॥ शास्त्रके विधानको जानने वाले विद्वान् कहते हैं, कि-जो बुद्धिके द्वारा शुष्क काष्ठकी समान निष्कंप और पर्वतकी समान अचल रहता है, वह योगी है ॥ १५ ॥ जब योगी (योगसमाधिमें) कानसे सुनता नहीं है, नासिकासे सूँघता नहीं है, जीभसे रस का स्वाद नहीं लेता है, नेत्रसे देखता नहीं है, त्वचासे स्पर्श नहीं करता है, मनसे संकल्प नहीं करता है ॥ १६ ॥ किसी वस्तु पर अभिमान नहीं करता है और काष्ठकी समान किसी वस्तुको जाननेका यत्न नहीं करता है, तब ही (योगका सेवन करने वाले और जाननेवाले) विद्वान् कहते हैं, कि-यह शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुआ योगी है ॥ १७ ॥ इस समय यह योगी पवनरहित देशमें जैसे दीपक विना हिलेडुले प्रकाशित होता है, ऐसे ही योगी भी बुद्धि आदि इन्द्रियोंसे रहित होकर एकान्तमें योगसाधना करता है तो और निश्चलपनेसे प्रकाशित होता रहता है, उस समय उसके प्राणकी ऊर्ध्व अथवा तिरछी गति नहीं होती है, परन्तु ब्रह्ममें उसके प्राणका लय होजाता है ॥ १८ ॥ हे तात ! हृदयमें रहने वाले मुझ सरीखेसे जानने योग्य होने पर भी जो ज्ञानस्वरूप है ऐसा अन्तरात्मा जब "मैं ब्रह्म हूँ"

यस्मिन्दृष्टे नु कथ्यते । हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः १९
विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान् । वैद्युतोग्निरिवाकाशे दृश्यतेत्मा तथात्मनि ॥ २० ॥ ये पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः । ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥ २१ ॥ तदेवाहुरणुभ्योणु तन्महद्भ्यो महत्तरम् । तत्तत्त्वं सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥२२॥ बुद्धिद्रव्येण दृश्येत मनोदीपेन लोककृत् । महतस्तमसस्तात पारे तिष्ठन्नतामसः ॥२३॥ स तमोनुद इत्युक्तः सर्वज्ञैर्वेदपारगैः । विमलो वितमस्कश्च निर्लिङ्गोऽलिंगसञ्ज्ञितः २४

इस प्रकार कहता है तब ही उसको आत्माका दर्शन होता है १९ जिस समय योगीको योगसमाधिमें परमात्माके दर्शन होते हैं, उस समय योगीके हृदयमें धूमरहित अग्निके तेजकी समान अथवा किरण वाले सूर्यकी समान अथवा आकाशमें बिजलीकी ज्योतिकी समान आत्माका (झलझलाता हुआ) प्रकाश उदय होता है ॥ २० ॥ महात्मा, धैर्यवान्, मनीषी और वेदवेत्ता ब्राह्मण अजन्मा और अमृतरूप इस ब्रह्मका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं ॥ २१ ॥ विद्वान् योगी इस परमात्माको सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म कहते हैं, और महान्से भी महान् कहते हैं, यह परमात्मा सब जीवोंमें अवश्य रहता है तब भी उन (सामान्य जीवों) के देखनेमें नहीं आता ॥ २२ ॥ परन्तु हे तात ! बुद्धिरूपी धन वाले मनोरूप दीपकसे ही जगत्को रचनेवाला परमात्मा देखने में आता है; वह परमात्मा गाढ़ अन्धकारके परले पार रहता है अर्थात् अज्ञानरहित है और अतामस अर्थात् माया–विशिष्ट परमात्मासे भी परे है ॥ २३ ॥ वेदपारंगत सर्वज्ञ पुरुष उसको अन्धकारनाशक, निर्मल, अज्ञानरहित, सूत्रात्मासे भिन्नरूप तैसे ही वाणी और मनका अविषय होनेसे जाननेमें न आसकने वाला कहते हैं ॥ २४ ॥ सब योगोंमें इसको ही योग कहते हैं,

योग एष हि योगानां किमन्यद्योगलक्षणम् । एवं पश्यं पूपश्यंति आत्मानमजरं परम्॥२५॥योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया । सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥२६॥ अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः । तस्मान्महत्समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥ २७ ॥ अहंकारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम् । पञ्चभूतान्यहंकारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥ २८ ॥ एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश । पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ २९ ॥ एतावदेव तत्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः ।

इसके अतिरिक्त योगका और क्या लक्षण होसकता है, ऐसी योगसाधनासे जो योगी योग करते हैं, वे अजर और मायासे पर परमात्माके दर्शन करते हैं ॥ २५ ॥ इस प्रकार मैंने तुझे योगशास्त्रका रहस्य यथार्थरीतिसे कहकर सुनाया, अब मैं तुझे मोहका नाश होनेसे धीरे २ परमात्माका ज्ञान कैसे होता है, इसका जिसमें वर्णन है ऐसे सांख्यशास्त्रके ज्ञानको कहता हूँ, सुन ॥ २६ ॥ प्रकृतिको मुख्य मानने वाले सांख्यवादी अव्यक्त प्रकृतिको प्रथम तत्व कहते हैं, हे राजन् ! वे कहते हैं, कि-प्रकृति मेंसे ही दूसरा तत्व महत्तत्व उत्पन्न हुआ है ॥ २७ ॥ हमने सुना है, कि-इस महत्तत्वमेंसे ही तीसरा अहंकार नामक तत्व उत्पन्न हुआ है, आत्माका दर्शन करने वाले सांख्यमतावलम्बी कहते हैं, कि-अहंकारमेंसे पञ्चमहाभूत (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) उत्पन्न हुए हैं ॥ २८ ॥ वे कहते हैं, कि-इन आठका नाम प्रकृति है, इन आठ प्रकृतियोंके विकार पाने पर उनमेंसे सोलह तत्व बनते हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियें, पाँच कर्मेन्द्रियें, ग्यारहवाँ मन और पञ्चतन्मात्राएँ (पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश) ये सोलह विकार हैं, इनको विकृति कहते हैं, इन सोलह विकृति और आठ प्रकृतियोंके चौबीस तत्व बनते हैं २९

सांख्ये विधिविधानज्ञा नित्यं सांख्यपथे रताः ॥ ३० ॥ यस्माद्य-दभिजायेत तत्रैव प्रविलीयते । लीयन्ते प्रतिलोमानि सृज्यन्ते चान्त-रात्मना ॥३१॥ अनुलोमेन जायन्ते लीयन्ते प्रतिलोमतः । गुणा गुणेषु सततं सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३२ ॥ सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम । एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदासृजत् ।३३। एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः अधिष्ठातारमव्यक्तमस्या-प्येतन्निदर्शनम् ॥ ३४ ॥ एकत्वञ्च बहुत्वं च प्रकृतेरर्थतत्त्ववान् ।

साङ्ख्यशास्त्रवेत्ता और साङ्ख्यके मार्गसे प्रीति करनेवाले और साङ्ख्यकी विधिकी रीतिको जानने वाले विद्वान् कहते हैं, कि-साङ्ख्यके ये ही चौवीस तत्व हैं ॥ ३० ॥ जो वस्तु जिसमेंसे उत्पन्न होती है, वह उसमें ही लीन होजाती है सृष्टिके आरम्भ में परमात्मा अनुलोम रीतिसे प्रजाको रचता है और प्रतिलोम-रीतिसे लय करता है ॥ ३१ ॥ नई सृष्टिके समय, जैसे समुद्रमेंसे उठी हुई लहरें फिर समुद्रमें ही लीन होजाती हैं, तैसे ही सत्व, रज, तम (और दूसरे तत्वों) के गुण नित्य अनुलोमरीतिसे उत्पन्न होवे हैं, और प्रतिलोमरीतिसे उनका गुणोंमें ही लय होजाना है ॥ ३२ ॥ हे श्रेष्ठ राजन् ! इस प्रकार प्रकृतिमेंसे ही उत्पत्ति होती है और उसमें ही लय होता है, केवल परमात्मा ही प्रलयके समय एकरूपमें रहता है और जब नई सृष्टि रची जाती है, तब वह अनेकरूपोंमें फैल जाता है ॥३३॥ हे राजेन्द्र ! ज्ञानकुशल कहते हैं, कि-यह सत्य है, कि-प्रकृति-अव्यक्त-माया है, वह ही पुरुषको अनेक बनाती है, और एकत्वको भी प्राप्त कराती है, यह प्रकृतिका स्वभाव ही है ॥ ३४ ॥ इस विषयको समझने वाले जानते हैं कि-अव्यक्त प्रकृति स्वयं ही एकत्व और अनेकत्वका उदाहरण है, क्योंकि-जब परमात्मा सृष्टिको रचते हैं तब प्रकृति अनेकत्वको पाती है और जब प्रलय होता है तब

एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ॥३५॥ बहुधात्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम् । तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति ॥ ३६ ॥ अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः । अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम् ॥३७॥ क्षेत्रं जानाति चाव्यक्तं क्षेत्रज्ञ इति चोच्यते । अव्यक्तिके प्रविशते पुरुषश्चेति कथ्यते ॥३८॥ अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते । क्षेत्रमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञातारं पञ्चविंशकम् ॥ ३९ ॥ अन्यदेव च ज्ञानं

वह एकरूपमें रहती है ॥ ३५ ॥ हे राजेन्द्र ! चिदात्मा प्रसवधर्म वाली प्रकृतिके बहुतसे विभाग करता है, यह प्रकृति ही क्षेत्र (देहधारी) है, और चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न पच्चीसवाँ तत्त्वरूप आत्मा है, और वही महान् है, वह क्षेत्रनामधारी प्रकृतिमें अधिष्ठातारूपसे निवास करके रहता है ॥ ३६ ॥ अत एव महायति कहते हैं, कि–वह परमात्मा अधिष्ठाता है, हमारे सुननेमें आया है, कि–परमात्मा ही सब क्षेत्रोंका अधिष्ठान (आश्रय) रूप है, इसलिये ही वह अधिष्ठाता कहलाता है ॥३७॥ परमात्मा अव्यक्त क्षेत्रको जानता है, इसलिये योगी उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, वह अव्यक्त अर्थात् अविद्यासे बनेहुए क्षेत्र (देह) में प्रवेश करके रहता है, इसलिये वह पुरुष कहाता है ॥ ३८ ॥ परन्तु क्षेत्र (देह) क्षेत्रज्ञ (पुरुष) से भिन्न है, क्षेत्र अव्यक्त (प्रकृति) है और चौबीस तत्त्वोंका अतिक्रमण करने वाला जीवात्मा ज्ञाता कहलाता है (जैसे स्वरूपसत्तासे सूर्य तृणको प्रकाशित करता है, अत एव सूर्य स्वरूपतः तृणका प्रकाशक कहलाता है, जैसे सूर्य सूर्यकान्त मणिके द्वारा तृणको भस्म कर देता है और उसके द्वारा ही तृणमें प्रवेश करता है, तैसे ही आत्मा भी अव्यक्तके द्वारा सब कार्योंमें प्रवेश करता है और उनको प्रकाशित भी करता है, परन्तु वह घटके अधिष्ठाता कुम्भकारकी समान अधि-

स्यादन्यज्ज्ञेयं तदुच्यते। ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः॥४०॥ अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्वं तथेश्वरः। अनीश्वरमतत्वं च तत्वं तत्पञ्चविंशकम् ॥ ४१ ॥ सांख्यदर्शनमेतावत्परिसङ्ख्यानुदर्शनम्। साङ्ख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते॥ ४२ ॥ तत्वानि च चतुर्विंशत्परिसङ्ख्याय तत्वतः। साङ्ख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्वः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥ पञ्चविंशो प्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः। यदा तु बुध्यतेत्मानं तदा भवति केवलः॥४४

ज्ञाता नहीं है और जैसे बुद्धिका प्रकाशकत्व इन्द्रियोंके अधीन है, तैसे आत्माका प्रकाशकत्व किसीके अधीन नहीं है, यह कुँडीमें घेरके पड़नेकी समान चौबीस तत्त्वोंसे बने शरीरमें प्रवेश नहीं करता है; किन्तु वह दो काष्ठोंको रगड़ने पर प्रकट होने वाले अग्निकी समान, चित्त आदिके संयोगसे, अभिव्यक्त होता है) ॥३९॥ अत एव ज्ञान और ज्ञेय भिन्न २ कहलाते हैं, ज्ञान (नेत्र श्रवणादिसे होने वाला ज्ञान) अव्यक्त है और चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न पच्चीसवाँ पुरुष (जीवात्मा) है ॥४०॥ अव्यक्त को क्षेत्र, सत्त्व, अर्थात् बुद्धि और ईश्वर कहा है, पच्चीसवें तत्त्वरूप जीवात्मासे कोई अधिक, नित्य, अपरोक्ष और तत्वरूप अर्थात् अनारोपित शुद्धस्वरूप नहीं है ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार साङ्ख्यमतावलम्बी तत्त्वोंकी सङ्ख्या बतलाते हैं, साङ्ख्यवाले प्रकृतिको ही जगत्का कारण कहते हैं और कहते हैं, कि-स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वोंका एक दूसरेमें लय करनेसे अर्थात् स्थूल तत्व का सूक्ष्ममें लय करनेसे और सूक्ष्मका चिदात्मामें लय करनेसे परमात्माका साक्षात्कार होता है ॥ ४२ ॥ प्रकृतियुक्त चौबीस तत्वोंका ज्ञान होने पर तथा सत्यस्वरूपका ज्ञान होने पर, साङ्ख्य ज्ञानी चौबीस तत्वोंसे पर पच्चीसवें तत्वका साक्षात्कार करनेके योग्य होजाते हैं ॥ ४३ ॥ पुरुष चौबीस तत्वोंसे-भिन्न और

सम्यग्दर्शनमेतावज्ज्ञापितं तव तत्वतः । एवमेतद्विजानन्तः साम्यतां प्रतियान्त्युत ॥ ४५ ॥ सम्यग्विदर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा । गुणतत्त्वान्यथैतानि निर्गुणेभ्यस्तथा भवेत् ॥ ४६ ॥ न त्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्विद्यते पुनः । विद्यते क्षरभावत्वादपरं परमव्ययम् ॥ ४७ ॥ पश्येरन्नैकमतयो न सम्यक्तेषु दर्शनम् । ते व्यक्तं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिंदम ॥ ४८ ॥ सर्वमेतद्विजानन्तो

पच्चीसवाँ है, वही जीवात्मारूप है, यह जीवात्मा जब प्रकृति अर्थात् मायासे मुक्त होजाता है और जब उसको परमात्माका ज्ञान होजाता है, तब वह केवल ब्रह्मरूप होजाता है ॥ ४४ ॥ मैंने तुझे साङ्ख्यदर्शन यथार्थरीतिसे कह कर सुनाया जो इस साङ्ख्यदर्शनको जानते हैं, वे शान्ति अर्थात् ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं ॥ ४५ ॥ जिस मनुष्यकी बुद्धि प्रमाद वाली है ऐसे मनुष्यको इन्द्रियोंके विषयोंका यथार्थज्ञान होता है, यह ठीक है, परन्तु जो प्रमादरहित हैं उनको परमात्मा-ब्रह्म-के स्वरूपका प्रत्यक्ष होता है-(भावार्थ-ब्रह्ममें ब्रह्मका दर्शन होना; यह यथार्थ (सत्य) दर्शन है; परन्तु ब्रह्ममें अहंकार आदिको देखना यथार्थदर्शन नहीं है, जैसे रज्जुमें रज्जुका ज्ञान होना यथार्थ दर्शन है, परन्तु रज्जुमें सर्पज्ञान होना यथार्थदर्शन नहीं है) ॥ ४६ ॥ जिनको ब्रह्मज्ञान होजाता है उनका (मरण होने पर) जन्ममरण नहीं होता है और जो जीवन्मुक्त होते हैं उनको अक्षरस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे तप, समाधिजन्य अनिर्वचनीय सुख तथा अविकारीपन प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ परन्तु हे शत्रुदमन राजन् ! जो पुरुष इस जगत्को अनेकरूप वाला देखते हैं उनको यथार्थज्ञान नहीं हुआ है, वे अज्ञानी ही हैं और ब्रह्मको जाननेमें अन्ध हैं, और ऐसे मनुष्योंको वारम्बार देह धारण करना पड़ता है ॥ ४८ ॥ परन्तु जो जीव पूर्वकथित रीतिके अनुसार इस सर्व (जगत्के

न सर्वस्य प्रबोधनात् । व्यक्तीभूता भविष्यन्ति व्यक्तस्य वशवर्तिनः ॥ ४९ ॥ सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः । य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

वसिष्ठ उवाच । सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम । विद्याविद्ये त्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥१॥ अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै । सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पञ्चविंशकः ॥२॥ परस्परस्य विद्यां वै त्वं निबोधानुपूर्वशः । यथोक्तमृषिभिस्तात सांख्यस्यातिनिदर्शनः ॥३॥ कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्या बुद्धी-

---

स्वरूप) को जानते हैं, वे सर्वज्ञ कहलाते हैं, और वे जगत्को त्यागते हैं, तब वे किसी प्रकारके देहको धारण नहीं करते हैं ४९ हे राजन् ! सर्व अर्थात् सम्पूर्ण संसारको अव्यक्त कहते हैं, तथा पच्चीसवाँ जीवात्मा सर्व (जगत्) से भिन्न है और जो इस पच्चीसवें जीवात्मा (असर्व) को जानते हैं, उनको इस जगत् में जन्ममरणका भय नहीं रहता है ॥ ५० ॥ तीनसौ छः वाँ अध्याय समाप्त ॥ ३०६ ॥

वसिष्ठने कहा, कि–हे राजश्रेष्ठ ! मैंने तुमसे साङ्ख्यशास्त्रकी सब कथा कही, अब मैं तुमसे क्रमशः विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) के स्वरूपको कहता हूँ, उसको तू सुन ॥१॥ विद्वान् कहते हैं, कि–जगत्की उत्पत्ति तथा प्रलयके धर्म वाले अव्यक्त (प्रकृति) को अविद्या कहते हैं और जो पुरुष उत्पत्ति तथा लयसे रहित है तथा जो चौवीस तत्त्वोंसे रहित पच्चीसवाँ तत्त्व है उसको विद्या कहते हैं ॥२॥ हे तात ! ऋषियोंने साङ्ख्यमतानुसार तत्त्वोंके विषयमें परस्परकी जो विद्या कही है उस विद्याको तू अनुक्रमसे सुन ॥ ३ ॥ हमने सुना है, कि–सब

द्रियं स्मृतम् । बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम् ४
विशेषाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः । मनसः पञ्च भूतानि
विद्या इत्यभिचक्षते ॥ ५ ॥ अहंकारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र
संशयः । अहंकारस्य च तथा बुद्धिर्विद्या नरेश्वर ॥ ६ ॥ विद्या-
प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरी । विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च
परमः स्मृतः ॥७॥ अव्यक्तस्य परं प्राहुर्विद्यां वै पञ्चविंशकम् ।
सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयं ज्ञानस्य पार्थिव ॥ ८ ॥ ज्ञानमव्यक्त-

कर्मेन्द्रियें, और सब ज्ञानेन्द्रियें विद्या हैं, ज्ञानेन्द्रियें और उनके विषयोंको विशेषविद्या कहते हैं (देहका आरम्भ करने वाले स्थूलभूतोंको विशेष कहते हैं । इनमें चरणोंसे जांघु तक पृथ्वीका स्थान है, जानुसे गुदा तक जलका स्थान है, गुदासे हृदयकमल तक वायुका स्थान है हृदयकमलसे मुख तक तेजका स्थान है और मुखसे मस्तक तक आकाशतेजका स्थान है,पहिले अध्यायके वर्णनके अनुसार क्रमसे २ भूतोंका लय करे और उस २ भूतरूप स्थितिमें रहनेसे पञ्चभूतविद्या पृथक् २ फल देती है, इसका ही नाम विशेषविद्या है) ॥ ४ ॥ विद्वान् कहते हैं, कि विशेषोंकी विद्या मन है, इन मन और पञ्च सूक्ष्मभूतोंमें पञ्चसूक्ष्मभूत विद्या हैं ॥५॥ पञ्च सूक्ष्म भूत और अहंकारमें अहंकार विद्या है और हे राजन् ! अहंकार और बुद्धिमें बुद्धिविद्या अर्थात् महत्तत्त्व विद्या है ॥ ६ ॥ महत् आदि सब तत्त्वोंकी विद्या अव्यक्त नामवाली पारमेश्वरी प्रकृति विद्या है, हे राजन् ! यह प्रकृति विद्या सबको जाननी चाहिये, इसलिये यह "परमाविधि" कहलाती है ॥ ७ ॥ इस अव्यक्त (प्रकृति) का पच्चीसवें पुरुषमें लय करना "परम-विद्या" कहलाता है, हे राजन् ! इस अव्यक्त (प्रकृति) को सर्वज्ञानको जाननेयोग्य सर्वस्वरूपा कहते हैं (क्योंकि-प्रकृतिके स्वरूपका यथार्थज्ञान होनेसे जीव सर्वज्ञ होजाता है ॥ ८ ॥ और

मित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः। तथैव ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः ॥ ९ ॥ विद्या विद्यार्थतत्त्वेन मयोक्ता ते विशेषतः। अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे ॥ १० ॥ उभावेवक्षरावुक्तावुभावेतावनक्षरौ। कारणं तु प्रवक्ष्यामि यथातथ्यं तु ज्ञानतः ॥ ११ ॥ अनादिनिधनावेतावुभावेवेश्वरौ मतौ। तत्त्वसंज्ञावुभावेतौ प्रोच्येते ज्ञानचिन्तकैः ॥ १२ ॥ सर्गप्रलयधर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम्। तदेतद् गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः १३ गुणानां महदादीनामुत्पत्तिश्च परस्परम्। अधिष्ठानात्क्षेत्रमाहुरेत-

अव्यक्त(प्रकृतिको सांख्यशास्त्रमें ज्ञान कहा है और पच्चीसवें जीवात्माको ज्ञेय कहा है, तैसे ही ज्ञानको अव्यक्त भी कहा है और उसको जाननेवालेको भी चौबीससे पर कहा है ॥ ९ ॥ हे राजन् मैंने तुझसे विद्या तथा अविद्याका रूप विस्तारसे कहा अब प्रथम कहेहुए अक्षर तथा क्षरके स्वरूपको सुन ॥ १० ॥ (अक्षर तथा क्षरका स्वरूप पहिले कहदिया था, अब मैं, फिर कहता हूँ) जीवात्मा और प्रकृति ये दोनों अक्षर हैं और क्षर भी हैं, ये दोनों अक्षर तथा क्षर कैसे हैं, इसका कारण मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थरीतिसे कहता हूँ सुन ॥ ११ ॥ प्रकृति और पुरुष ये दोनों आदि और अन्त अर्थात् जन्म-मरण रहित हैं, सृष्टिकी रचना करनेके कारण वे दोनों परमेश्वर माने गए हैं और ज्ञानी पुरुष उन दोनोंको तत्त्व नामसे पहिचानते हैं १२ अव्यक्त (प्रकृति) में जगत्की उत्पत्ति तथा प्रलय करनेका (स्वाभाविक) धर्म है, इससे अव्यक्त (प्रकृति) को ज्ञानी अक्षर कहते हैं (अर्थात् उसके प्रवाहरूपसे नष्ट होजाने पर जगत्का ही नाश होजायगा इससे वह अक्षर है और परिणामी होनेसे वह क्षर है) वह प्रकृति महत्तत्त्व आदि गुणोंको उत्पन्न करनेके कारण विकारको पाया करती है ॥ १३ ॥ और महदादि गुणोंको

त्तत्पंचविंशकम् ॥१४॥ यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत् । तदा सह गुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते ॥ १५ ॥ गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत् । क्षेत्रज्ञापि यदा तात तत्क्षेत्रे संप्रलीयते ॥१६॥ तदा क्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंश्रिता । निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात् ॥ १७ ॥ एवमेव च क्षेत्रज्ञः

उत्पत्तिरूप पुरुष जीवात्मा भी है, तैसे ही पुरुष और प्रकृति एक दूसरेके आश्रय आश्रयी भी हैं,इसकारण पचीसवें पुरुषको क्षेत्र अर्थात् गुणोंकी उत्पत्तिका स्थानरूप कहते हैं (अत एव वह अक्षर अर्थात् नाशरहित है तात्पर्य यह है, कि-अव्यक्त प्रकृतिका रूप परिवर्ति होता रहता है तब उसमेंसे महत् तथा दूसरे तत्त्व उत्पन्न होते हैं,परन्तु इस उत्पत्तिमें पुरुषकी सहायता की आवश्यकता है, क्योंकि-प्रकृतिपुरुषकी सहायताके विना कुछ नहीं करसकती और पुरुष भी प्रकृतिकी सहायताके विना कुछ नहीं करसकता, जैसे पुरुषकी सहायताके विना स्त्री कुछ नहीं करसकती ऐसे ही पुरुष भी स्त्री के विना कुछ नहीं कर सकता इसलिये ही इस श्लोकमें पुरुषको भी क्षेत्ररूप कहा है)१४ हे तात!जब योगी अव्यक्त आत्माके विषैं(अर्थात् शुद्ध चैतन्यरूप परब्रह्मके विषैं) अपने सब गुणोंका लय करता है, तब पचीसवाँ (पुरुष अथवा जीवात्मा) सब गुणों सहित लीन होजाता है तब अकेली प्रकृति ही बाकी रह जाती है,और इस प्रकार जब पच्चीसवाँ क्षेत्रज्ञ अपने उत्पत्तिस्थानरूप परब्रह्ममें लीन होजाता है, तब परब्रह्म ही विद्यमान रहता है ॥ १५ ॥ और हे राजा जनक ! जब पचीसवाँ क्षेत्रज्ञ पुरुष निर्गुण ब्रह्ममें लीन होजाता है, तब महत्तत्व आदि गुणसहित अव्यक्त प्रकृति भी देहस्थ श्रोत्र आदि गुणसमूहोंके अभावसे क्षरत्वको पाती है अर्थात् नष्ट होजाती है ॥१७॥ इस प्रकार जब क्षेत्रज्ञका क्षेत्रत्व नष्ट होजाता

क्षेत्रज्ञानपरिक्षये । प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम ॥१८॥ क्षरो भवत्येष यदा तदा गुणवतीमथ । प्रकृतिं त्वभिजानाति निर्गुणत्वं तथात्मनः ॥ १९ ॥ तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात् । अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान् ॥ २० ॥ तदैष तत्त्वतामेति न चापि मिश्रतां व्रजेत् । प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो ह्यन्यश्च दृश्यते ॥ २१ ॥ यदा तु गुणजालं तत्प्राकृतं वै जुगुप्सते । पश्यते च परं पश्यं तदा पश्यन्न संत्यजेत् ॥२२॥ किं मया कृतमेतावद्योऽहं कालमिमं जनम् । मत्स्यो जालं ह्यविज्ञाना-

है, तब वह स्वभावतः छब्बीसवें तत्व परमात्मामें लीन होजाता है, इससे ही वह क्षर कहलाता है, ऐसा हमनें सुना है ॥ १८ ॥ जब यह क्षेत्रज्ञ क्षर होता है, तब वह (सत्व आदि) गुणोंको धारण करता है, परन्तु जब वह अपने मूलस्वरूप (अक्षरत्व) को पाता है, तब उसको भान होता है, कि-मैं तो निर्गुणस्वरूप हूँ ॥ १९ ॥ और जब (जीवात्मा) प्रकृतिका त्याग करनेसे (विशुद्ध) ब्रह्मरूप होजाता है और बुद्धिमान् क्षेत्रज्ञ जब जानता है, कि-मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ और प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब वह स्वरूपको पाता है, परन्तु प्रकृतिके साथ मिश्रभावको नहीं पाता है ॥ २० ॥ परन्तु हे राजेन्द्र ! जब तक पुरुष (जीवात्मा) और प्रकृतिमें एकता रहती है तब तक तो वह मिश्र ही दिखाई देता है और शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न ही दीखता है ॥ २१ ॥ जब जीवात्मा प्रकृतिके गुणोंके समुदाय पर प्रीति नहीं रखता है, तब वह सर्वद्रष्टा ब्रह्मके स्वरूपको देखता है, इस ब्रह्मका एक वार भी दर्शन होने पर वह उसको नहीं त्यागता है ॥ २२ ॥ जब जीवात्मामें स्वस्वरूपके ज्ञानका उदय होता है, तब वह मनमें पश्चात्ताप करने लगता है, कि-अरे ! मैंने यह कैसी मूर्खता की मछली अज्ञानवश जैसे जालकी ओर दौड़ कर (उसमें फँस

दनुवर्तितवानिह ॥ २३ ॥ अहमेव हि संमोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् । मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानहम् ॥ २४ ॥ मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नोभिमन्यते । आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं चैव वेद्म्यहम् ॥२५॥ ममास्तु धिगबुद्धस्य योऽहं मग्नमिमं पुनः । अनुवर्तितवान्मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ॥ २६ ॥ अयमत्र भवेद्बन्धुरनेन सह मे क्षमम् । साम्यमेकत्वमायातो यादृशस्तादृशस्त्वहम् ॥ २७ ॥ तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै । अयं

जाती है) तैसे ही मैं भी इस जगत्में प्रकृति (माया) के जाल में फँस कर (बँध गया हूँ) और कोलरूपी प्राकृत शरीरका अनुसरण कर रहा हूँ ॥ २३ ॥ अरे मछली जैसे जलको अपने जीवनका तत्व मानकर एक सरोवरमेंसे दूसरे सरोवरमेंको ढूंढा करती है तैसे ही मैं भी अज्ञानवश एक देहको त्याग कर दूसरे देहको धारण किया करता हूँ ॥ २४ ॥ वास्तवमें, मछली जैसे अज्ञानवश जलको आत्मारूप मानती है, अतएव उसका ही अनुसरण किया करती है, तैसे ही मैं भी अज्ञानवश अपनी आत्माको पुत्र पौत्र आदिसे भिन्न नहीं मानता हूँ और पुत्र पौत्रादिरूप मानकर उनमें ही भटकता फिरता हूँ ॥ २५ ॥ मुझे धिक्कार है, कि-मैं अज्ञानतासे मोहवश विपत्तिमें फँसे हुए इस शरीरसे परमात्माको भूल गया और एक देहमेंसे दूसरे देहमें और दूसरे देहमेंसे तीसरे देहमें भटकता रहा ॥ २६ ॥ (सत्य तो यह है, कि-) इस संसारमें परमात्मा ही मेरा बन्धु है, इसके साथ ही मेरी मित्रता है, मैं कैसा ही होऊँ और मेरी वृत्ति चाहें कैसी हो तब भी इसके साथ मेरी समानता है और इसके साथ ही मुझे एकता सम्पादन करनी है, जैसा वह है, वैसा ही मैं भी हूँ ॥ २७ ॥ मै उसको अपनी समान देखता हूँ, अरे ! मैं तो उसकी समान ही हूँ, वास्तवमें वह निर्मल है और मैं भी

हि, विमलोऽयक्तमहमीदृशकस्तथा ॥ २८ ॥ योऽहमज्ञानसंमोहादज्ञया सम्प्रवृत्तवान् । संसर्गयाहं निःसंगः स्थितः कालमिमं त्वहम् २९ अनयाहं वशीभूतः कालमेनं न बुद्धवान् । उच्चमध्यमनीचानां तामहं कथमावसे ॥३०॥ समानयानया चेह सहवासमहं कथम् । गच्छाम्यबुद्धभावत्वादेपेदानीं स्थिरो भवे ॥ ३१ ॥ सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वंचनात् । वंचितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥ ३२ ॥ न चायमपराधोऽस्या अपराधो ह्ययं मम । योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥३३॥ ततोस्मि

वैसा ही हूँ ॥ २८ ॥ रे ! (पहिले) तो मैं संगरहित था तो भी सांसारिक विषयोंमें अज्ञानतासे मोहनिद्रावश जकड़ गया और संगस्वरूपा जड़ प्रकृतिके साथ मेरा सहवास हुआ, इसी कारण इस शरीरमें वास करके मैं इस जगत्का संगी हुआ ॥ २९ ॥ हाय ! इस प्रकृतिके स्वभावस्वरूपको जाने बिना मैं इसके इतने वशमें होगया कि मैं परम परमात्माको तो जान ही नहीं सका, यह प्रकृतिदेवी उत्तम, मध्यम और अधम इसप्रकार सब स्वरूपों को धारण करने वाली महामायाहै, उसमें मैं वास क्यों करूँ ३० मैंने अज्ञानतासे प्रकृतिके साथ सहवास किया था, परन्तु अब मैं उसके साथ सहवास क्यों रक्खूँ, अपने अज्ञानसे ही मैंने उसके साथ सहवास किया था, परन्तु अब मैं (सांख्य अथवा योगमें) स्थिरता करूँगा ॥ ३१ ॥ अब मैं इस प्रकृतिका सहवास नहीं करूँगा, मैं तो विकारोंसे रहित हूँ, तब भी विकारोंसे भरी हुई इस प्रकृतिने मुझको ठग लिया, वारम्वार रङ्ग बदलने वाली प्रकृतिका मैं संग क्यों रक्खूँ ॥ ३२ ॥ परन्तु इसमें प्रकृतिका अपराध नहीं है, मेरा ही अपराध है, क्योंकि-जबसे मैं परमात्मा से अलग हुआ तबसे ही मैं उसको भूल गया और विषयोंका उपभोग करनेके लिये प्रकृतिमें आसक्ति रखने लगा ॥ ३३ ॥

बहुरूपासु स्थितो मूर्तिष्वमूर्तिमान् । अमूर्तश्चापि मूर्तात्मा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥ ३४ ॥ प्राकृतेन ममत्वेन तासु तास्विह योनिषु । निर्ममस्य ममत्वेन किं कृतं तासु तासु च ॥ ३५ ॥ योनीषु वर्तमानेन नष्टसंज्ञेन चेतसा । न ममात्रानया कार्यमहंकारकृतात्मया ॥ ३६ ॥ आत्मानं बहुधा कृत्वा येयं भूयो युनक्ति माम् । इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्ममो निरहंकृतः ॥ ३७ ॥ ममत्वमनया नित्यमहंकारकृतात्मकम् । अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥ ३८ ॥ अनेन साम्यं यास्यामि नानयाहमचेतया । क्षेमं

मैं मूर्ति (देह) रहित था, तब भी अनेक मूर्तियों वाली और अनेक रूप वाली प्रकृतिमें आसक्ति करके उसमें मैंने वास किया और मैं मूर्तिमान् हुआ मैं देहसे रहित था, तब भी देहधारी होगया, तब ममताने मेरा पराभव किया अर्थात् मुझे अनेक योनियोंमें मूर्तिमान् होकर अवतार लेना पड़ा ॥ ३४ ॥ अनेक प्रकारकी योनियों (देहों) में मैं ममतारहित होने पर भी प्रकृति की परिणामरूप ममताके कारण उन शरीरोंमें ममता बाँध बैठा ! हाय ! हाय !! यह मैंने क्या किया ॥३५॥ मैं अनेक प्रकारकी योनियोंमें उत्पन्न हुआ, इससे मेरे चित्तकी संज्ञाका भी नाश होगया, मुझे अब प्रकृतिसे कुछ भी काम नहीं है, इस प्रकृतिका स्वरूप अहंकारमेंसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ३६ ॥ यह प्रकृति अर्थात् माया ही अपने अनेकरूप करके मुझको वारम्वार संसार में डाल देती है, परन्तु अब मुझे ज्ञान हुआ है, मेरी अहंता और ममता दूर होगई है ॥३७॥ अब तो केवल प्रकृतिसे होने वाली अहंतासे मुझे ममता बाँध रही है, परन्तु अब मैं इस प्रकृतिका त्याग कर सुखदुःखरहित पवित्र परमात्माकी शरणमें जाऊँगा ३८ और मैं उसके साथ समभावको पाऊँगा, जड़ प्रकृतिके साथ समानभावकी अब मुझे इच्छा नहीं है, मेरा कल्याण तो निरामय

मम सहानेन नैकत्वमनया सह ३९ ॥ एवं परमसंबोधात्पञ्च-विंशोऽनुबुद्धवान् । अक्षरत्वं नियच्छेत त्यक्त्वाक्षरमनामयम् ४० अव्यक्तं व्यक्तधर्माणं सगुणं निर्गुणं तथा । निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग्भवति मैथिल ॥४१॥ अक्षरक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम् । मयेह ज्ञानसंपन्नं यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥ निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विबुद्धं विमलं यथा । प्रवक्ष्यामि तु ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ४३ ॥ सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् । यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥ ४४ ॥ प्रबोधनकरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते । विस्पष्टं प्रोच्यते तत्र शिष्याणां

परमात्माके साथ एकत्वका आश्रय करनेसे ही होगा, परन्तु जड़ प्रकृतिके साथ एकत्व करनेसे मेरा कल्याण नहीं होगा ॥ ३९ ॥ इसप्रकार छब्बीसवें परमपुरुषका ज्ञान होनेसे पच्चीसवाँ जीवात्मा ज्ञानी होजाता है; फिर वह क्षरत्वको त्याग कर सब प्रकारके विकारोंसे रहित परमपवित्र अक्षरत्वको प्राप्त करता है ॥ ४० ॥ इस प्रकार जब जीवात्मा सत्त्वादि गुणोंसे रहित और प्रकृतिके संगसे रहित होता है, तब वह व्यक्त, अव्यक्तधर्मा निर्गुण और निराकारको पाता है; हे मैथिल ! जब जीवात्मा अव्यक्त प्रकृति को उत्पन्न करने वाले सत्त्वादि गुणरहित परमात्माका दर्शन करता है, तब वह निराकार और निर्गुण बनता है ॥ ४१ ॥ इसप्रकार क्षर तथा अक्षरका वेदमें वर्णन है और जो मेरे अनुभव में आया है, वह ज्ञान मैंने तुमसे कहा ॥ ४२ ॥ अब सूक्ष्म, सन्देहरहित और निर्दोष ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, यह मैं तुमसे शास्त्रानुसार कहता हूँ, सुन ॥ ४३ ॥ मुझे साङ्ख्य और योग इन दोनों शास्त्रोंका अनुभव है, उसीके अनुसार मैंने तुमसे साङ्ख्य तथा योगका स्वरूप कहा है, जो बात साङ्ख्यमें कही है, वही योगमें भी कही है ॥ ४४ ॥ परन्तु हे राजन् ! साङ्ख्यमें

हितकाम्यया ॥४५॥ बृहच्चैवमिदं शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः । अस्मिंश्च शास्त्रे योगानां पुनर्वेदे पुरःसरः ॥ ४६ ॥ पञ्चविंशात्परं तत्त्वं पश्यते न नराधिप । सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ॥४७॥ बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद्‌बुध्यमानं च तत्त्वतः । बुध्य-

जो ज्ञान कहा है, वह प्रत्येकको प्रबोध देने वाला है और साङ्ख्यशास्त्रमें वह शिष्योंका हित करनेकी इच्छासे अधिक स्पष्टरीतिसे वर्णित है ॥ ४५ ॥ पण्डित कहते हैं कि साङ्ख्यशास्त्र विशाल है और बुद्धिमान् शिष्योंको तत्काल ही सिद्धि देने वाला है, योगी भी वेद और साङ्ख्यको परमोत्तम समझते हैं ॥ ४६ ॥ परन्तु हे नराधिप ! योगी पच्चीस तत्त्वोंसे पर और किसी तत्त्वका नहीं बताते हैं, परन्तु साङ्ख्योंका (पच्चीस तत्त्वोंके अतिरिक्त छब्बीसवाँ) पर तत्त्व तुझे यथार्थरीतिसे वर्णन कर बताया (नीलकण्ठने इस श्लोक पर टीका करते हुए लिखा है, कि-महाभारतमें कहे हुए योगके अनुसार पच्चीस तत्त्व हैं, इनमें जो पच्चीसवाँ तत्त्व है, वह पुरुषरूप सर्वसंगरहित तथा अकर्तारूप है, प्रकृतिके जड़ होनेसे उसमें कर्तृत्व होना सम्भव नहीं है, तैसे ही महाभारतके योगमें चैतन्य तथा प्रकृतिकी ग्रन्थिरूप जीवात्माको नहीं माना है, तब तो इस योगशास्त्रानुसार विधिनिषेधरूप वाक्य और मोक्षशास्त्र व्यर्थ होजावेगा, परन्तु सांख्यशास्त्रानुसार यह बात नहीं होसकती, क्योंकि-उसमें छब्बीसवें तत्त्वको स्वीकार किया है और पच्चीसवें तत्त्वको कर्ता माना है, अत एव "तत्त्वमसि" आदि जीव ब्रह्मके अभेदप्रतिपादक वाक्य घट सकते हैं) ॥४७॥ योगदर्शनमें कहा है, कि ब्रह्म जो ज्ञानस्वरूप तथा द्वैतभावसे रहित है, वह अज्ञानके कारण बुध्यमान् (जीव) स्वरूप होजाता है, इसप्रकार योगदर्शन बुद्ध (ब्रह्म) तथा बुध्यमान (जीव) दो पदार्थोंको मानता है (सैंतालीसवें श्लोकके वर्णनके अनुसार

मानं च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥ ४८ ॥ इतिश्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे सप्ताधिक-त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

योगमें ईश्वरको पृथक् नहीं माना है; परन्तु जीवके साथ उसकी एकत्र गणना की है अतः निरीश्वरवादकी शंका न हो, इसलिये अड़तालीसवें श्लोकमें योगशास्त्रानुसार ईश्वरके स्वरूपका वर्णन किया है, चिदात्माका स्वरूप नित्य प्रबुद्ध (ज्ञानस्वरूप) है, परन्तु वह अन्तःकरणकी वृत्तिरूप होजाता है, तब वह अपने केवल स्वरूपको नहीं जानता है, उस समय वह बुध्यमान (जीव) होजाता है। एक नट स्त्रीका वेश धारण करके देखने और जानने योग्य होजाता है, परन्तु इसप्रकार स्त्रीका वेष धारण करनेसे नटके दो रूप नहीं होते, उसका वास्तविकरूप तो एक ही रहता है, उसके कृत्रिमरूपको दूर करनेके लिये तथा वास्तविक-स्वरूपको जाननेके लिये "तत्त्वमसि" आदि अभेदज्ञानकी आवश्यकता रहती है) * ॥४८॥ तीनसौ सातवाँ अध्याय समाप्त

* यहाँ पर जो योग और साङ्ख्यके तत्त्वोंकी सङ्ख्या लिखी है, वह वर्तमान योगशास्त्र और साङ्ख्यशास्त्रकी प्रक्रियासे भिन्न प्रतीत होती है, क्योंकि–वर्तमान योगशास्त्रमें छब्बीस तत्त्व कहे हैं, उनमें जीवात्मा पच्चीसवाँ और छब्बीसवाँ रागादिरहित परमात्मा है, उसकी उपासना करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, वर्तमान साङ्ख्यशास्त्र ईश्वरको नहीं मानता है, वह तो केवल पुरुष और प्रकृतिको मानता है; वह पुरुष अनन्त है, कर्ता नहीं है, परन्तु भोक्ता है और प्रकृति ही सब जगत्की कर्त्री है, यहाँके साङ्ख्यमतको गीताका साङ्ख्यमत समझना चाहिये।

वसिष्ठ उवाच। अथ बुद्धमथाबुद्धमिमं गुणविधिं शृणु। आत्मानं बहुधा कृत्वा तान्येव प्रविचक्षते ॥ १ ॥ एतदेवं विकुर्वाणो बुध्यमानो न बुध्यते। गुणान् धारयते ह्येष सृजत्याक्षिपते तदा ॥२॥ अजस्रं त्विह क्रीडार्थं विकरोति जनाधिप। अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदंत्यपि ॥ ३ ॥ न त्वेव बुध्यते व्यक्तं सगुणं तात निर्गुणम्। कदाचित्त्वेव खल्वेतदाहुरप्रतिबुद्धकम् ४ बुध्यते यदि चाव्यक्तमेतद्वै पञ्चविंशकम्। बुध्यमानो भवत्येव

वसिष्ठजीने कहा, कि–हे राजन्! अब मैं बुद्ध (परमात्मा) तथा अबुद्ध (जीव) जो सत्व, रज और तमका प्रेरक है उसके विषयमें कहता हूँ, सुन, परमात्मा गुण (माया) के प्रभावसे अपने अनेक स्वरूप धारण करके जीवात्मारूप हो जाता है तथा उन (धारण किये हुए) स्वरूपोंको सत्य मानता है ॥१॥ गुण (माया) के कारण विकार पानेसे (और उसको ही सत्यस्वरूप और नित्यस्वरूप माननेसे) जीव परब्रह्मके स्वरूपको जाननेमें सफल नहीं होता, जीवात्मा सत्त्वादिक गुणोंको धारण करनेसे उत्पत्ति तथा प्रलयका कर्त्ता भी होता है ॥ २ ॥ हे राजन्! यह जीवात्मा क्रीड़ा करनेके लिये नित्य अनेक रूपोंको धारण करता है और (घटादि) अव्यक्त (सकार्य अज्ञान) के स्वरूपको जानता है, इससे ही उसको विवेकी पुरुष बुध्यमान कहते हैं ॥ ३ ॥ अव्यक्त अथवा प्रकृति जहाँ तक किसी भी गुणके साथ रहती हैं तहाँ तक प्रधान अर्थात् निर्गुण ब्रह्मको नहीं जानती है, इससे उसको विवेकी पुरुष अप्रतिबुद्ध कहते हैं ॥४॥ श्रुतिमें कहा है, कि–यदि प्रकृति-पच्चीसवें तत्त्व (जीव) को कभी जान जाती है तब भी वह (जीवसे भिन्न होनेके स्थानमें) मायाविशिष्ट जीवके साथ एक होकर रहती है (ऐसा होने पर भी छब्बीसवाँ तत्त्व परमात्मा जो असंग तथा अविकारी है तथा जो पच्चीसवें तत्त्वसे उत्कृष्ट है

संगात्मक इति श्रुतिः । अनेनाप्रतिवुद्धेति वदंत्यव्यक्तमच्युतम् ५ अव्यक्तवोधनाच्चापि बुध्यमानं वदंत्युत । पञ्चविंशं महात्मानं न चासावपि बुध्यते ॥ ६ ॥ षड्विंशं विमलं वुद्धमप्रमेयं सनातनम् । सततं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च बुध्यते ॥ ७ ॥ दृश्यादृश्ये ह्यनुगतं स्वभावेन महाद्युते । अव्यक्तमत्र तद्ब्रह्म बुध्यते तात केवलम् ॥ ८ ॥ केवलं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं न पश्यति । बुध्यमानो यदात्मानमन्योऽहमिति मन्यते ॥ ९ ॥ तदा प्रकृतिमानेष भवत्यव्यक्तलोचनः बुध्यते च परां बुद्धिं विमलाममलां यदा ॥ १० ॥

उसको प्रकृति नहीं जान सकती) इस कारण अर्थात् प्रकृतिके साथके आसंगके कारण जीव अर्थात् पुरुष जो अवव्यक्त है तथा मूलस्वरूपसे सब प्रकारके विकारोंसे रहित है, वह अप्रतिवुद्ध अर्थात् मूढ़ कहलाता है ॥ ५ ॥ पच्चीसवाँ चिदाभासरूप महात्मा जीव अवर्यक्तको जानता है, इससे विवेकी उसको बुध्यमान कहते हैं, परन्तु यह जीव छब्बीसवें तत्त्वरूप, निर्मल, अभेदज्ञान-स्वरूप, अप्रमाण, सनातन ब्रह्मस्वरूपको नहीं जान सकता, परन्तु छब्बीसवाँ तत्त्वरूप ब्रह्म सदा पच्चीसवें जीवको और चौबीसवी प्रकृतिको जानता है ॥ ६—७ ॥ हे महाकान्तिमान् तात ! यह छब्बीसवाँ तत्त्व अवयक्त ब्रह्म है, यह दृश्यादृश्य सब पदार्थोंमें स्वभावतः ही व्याप्त होरहा है, उसको केवल विवेकी ही जानते हैं ॥ ८ ॥ बुध्यमान (जीव) जब मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, इस प्रकार अपनेको आत्मासे भिन्न मानता है, तब वह चौबीसवीं तत्त्वरूप प्रकृतिमें संलग्न रहता है, इस कारण वह पच्चीसवें तत्त्व-रूप पुरुष (अर्थात् जीवके स्वरूप) को नहीं देखता है ॥ ९ ॥ परन्तु जब जीव प्रकृतिके स्वरूपको जानता है, तब वह प्रकृतिका पराजय करता है, इस प्रकृतिके स्वरूपको जानने पर वह सर्वदोषरहित और निर्मल ब्रह्मविद्याके प्रभावसे परब्रह्मके

षड्विंशो राजशार्दूल तथा बुद्धत्वमाव्रजेत् । ततस्त्यजति सोऽव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ॥११॥निर्गुणः प्रकृतिं वेद गुणयुक्तामचेतनाम्। ततः केवलधर्मासौ भवत्यव्यक्तदर्शनात् ॥ १२ ॥ केवलेन समागम्य विमुक्तोत्मानमाप्नुयात् । एतत्तु तत्वमित्याहुर्निस्तत्वमजरामरम् ॥१३॥ तत्वसंश्रयणादेतत्तत्त्वमन्न च मानद । पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रवदंति मनीषिणः ॥१४॥ न चैष तत्ववांस्तात निस्तत्वस्त्वेष बुद्धिमान् । एष मुञ्चति तत्वं हि क्षिप्रं बुद्धत्वलक्षणम्१५ षड्विंशोऽहमिति प्राज्ञो गृह्यमाणोऽजरामरः । केवलेन बलेनैव

स्वरूपको पाता है ॥ १० ॥ हे नरशार्दूल ! जब जीवको ब्रह्मविद्याका ज्ञान होता है, तब उसको छब्बीसवें (भेद रहित) तत्व का ज्ञान होता है, जो परब्रह्म है, फिर वह उत्पत्ति तथा प्रलय करने वाली अव्याकृत प्रकृतिका त्याग करता है ॥ ११ ॥ जब गुणरहित पच्चीसवाँ तत्त्वरूप हुआ यह जीवात्मा (सत्त्वादि) गुणवाली तथा चेतनसे रहित अप्रतिबुद्ध प्रकृतिके रूपको जानता है, तब वह गुणरहित होजाता है और ऐसा जानने तथा होने पर वह परब्रह्मरूप होजाता है ॥ १२ ॥ विद्वान् कहते हैं, कि-जब जीव सत्वादि गुणोंसे मुक्त होजाता है तथा स्वरूपसे परमात्माको पाता है, तब वह परमात्मरूप ही होजाता है यह परमात्मा तत्व तथा निस्तत्व भी कहलाता है और वह अजर अमर भी कहलाता है१३ हे मानद राजन् ! यह जीवात्मा शरीर आदि का आश्रय तो करता है,परन्तु यह वस्तुतः शरीरादि रूप नहीं है, विवेकी पुरुष कहते है, कि-जीवात्माके साथ पच्चीस तत्व हैं १४ परन्तु हे तात ! यह निश्चय है, कि-पच्चीसवाँ पुरुष महत् तथा दूसरे तत्वोंसे रहित है, वह बुद्धियुक्त होने पर निस्तत्व अर्थात् तत्वोंसे पर होजाता है, वह बुद्धत्वके लक्षण वाले तत्वका अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूँ, ऐसी वृत्तिका भी त्याग कर देता है १५

समतां यात्यसंशयम् ॥ १६ ॥ पड्विंशेन प्रबुद्धेन बुध्यमानोऽप्य-बुद्धिमान् । एतन्नानात्वमित्युक्तं सांख्यं श्रुतिनिदर्शनात् ॥१७॥ चेतनेन समेतस्य पञ्चविंशतिकस्य ह । एकत्वं वै भवत्यस्य यदा बुद्ध्या न बुध्यते ॥१८॥ बुध्यमानो प्रबुद्धेन समतां याति मैथिल। संगधर्मा भवत्येष निःसंगात्मा नराधिप१९ निःसंगात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम्। विभुस्त्यजति चाव्यक्तं यदा त्वेतद्विबुध्यते२० चतुर्विंशमसारं च षड्विंशस्य प्रबोधनात् । एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ॥ २१ ॥ प्रोक्तो बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुतिनि-

जब जीव अपनेको जरामरणरहित छब्बीसवाँ तत्वरूप मानता है, तब वह अपने प्रबलबलसे छब्बीसवें तत्वके साथ सादृश्यभाव को ही प्राप्त होजाता है ॥ १६ ॥ छब्बीसवाँ प्रबुद्ध पच्चीसवे जीव आदि तत्वोंको जानता है, परन्तु वह (जीव) जब तक उस छब्बी-सवें) को नहीं जानता है, तब तक वह अज्ञान रहता है अर्थात् उसका अज्ञान ही नानात्वरूप श्रुति तथा सांख्यप्रसिद्ध दृष्टान्त है ॥ १७ ॥ जीव जब पच्चीसवें तत्वरूप चेतन (अबुद्धप्रकृति) के साथ एकत्वको पाता है तब उसकी अहंबुद्धि और स्वत्वका नाश होजाता है, अर्थात् गाढ सुषुप्तिकी समान उसको छब्बीसवें पुरुष का अनुभव होता है ॥१८॥ हे मिथिलाधिपते ! सुख दुःख आदि के धर्म वाला और जो अहंकारसे मुक्त नहीं है ऐसा जीव जब बुद्धिसे पर परमात्माके स्वरूपमें एकता पाने पर पुण्य पापके स्पर्शसे रहित होजाता है ॥ १९ ॥ जब पच्चीसवाँ तत्वरूप जीव सब प्रकारके कर्मसे रहित अजन्मा और व्यापक छब्बीसवें तत्व के स्वरूपको यथार्थ रीतिसे पाता है, तब वह अव्यक्त प्रकृतिका पूर्णरीतिसे त्याग कर देता है और बलवान् होता है ॥ २० ॥ परन्तु जब छब्बीसवें तत्वका ज्ञान होजाता है तब जीव चौबीस तत्वोंको निःसार समझता है, इसप्रकार मैंने तुझे शास्त्रानुसार

दर्शनात् । नानात्वैकत्वमेतावद्द्रष्टव्यं शास्त्रदर्शनात् ॥२२॥ मश-कोदुम्बरे यद्वदन्यं त्वं तद्वदेतयोः। मत्स्योदके यथा तद्वदन्यत्वमुप-लभ्यते । २३ ॥ एवमेवावगंतव्यं नानात्वैकत्वमेतयोः । एतद्धि मोक्ष इत्युक्तमव्यक्तज्ञानसंहितम्॥२४॥पंचविंशतिकस्यास्य योऽयं देहेषु वर्तते । एष मोक्षयितव्येति प्राहुरव्यक्तगोचरात् ॥ २५ ॥ सोयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः । परश्च परधर्मा च भव-त्येष समेत्य वै ॥ २६ ॥ विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धि-मान् । विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥ वियोग-

---

अबुद्ध प्रकृति, जीव और परमात्माका स्वरूप सुनाया, इसप्रकार जीव प्रकृतिका आश्रय करनेसे अनेकत्वको पाता है, ऐसा शास्त्र में कहा है ॥ २१ ॥ २२ ॥ जैसे गूलडमें रहनेवाले भुनगे और गूलड़के फलमें भिन्नता है, और जैसे जल और जलमें रहने वाली मछलीमें भिन्नता है, ऐसे ही चौवीस तत्त्व और पचीसवें तत्वरूप जीवमें भिन्नता है ॥ २३ ॥ इस भाँति चौवीस तत्वोंमें नानात्व है और पच्चीसवें तत्वमें एकत्व है, इसको मोक्ष कहते हैं अर्थात् अव्यक्तको अबुद्ध प्रकृतिके स्वरूपका ज्ञान होता है तव पच्चीसवें तत्वरूप जीवका प्रकृतिमेंसे मोक्ष होजाता है ॥ २४ ॥ प्राणिमात्रके शरीरमें व्याप्त होकर रहनेवाले पच्चीसवें तत्व जीव को परमात्माके स्वरूपका ज्ञान कराकर शरीरमेंसे मुक्त करना चाहिये, यह वात विवेकी पुरुप कहते हैं ॥ २५ ॥ अज्ञानका नाश होने पर और ज्ञानका उदय होने पर इस प्रकार जीव शरीरमेंसे मुक्त होजाता है, इसके अति-रिक्त और किसी प्रकार मुक्ति नहीं होती, जिस क्षेत्रमें रहता है उस क्षेत्रसे पूर्णरूपसे भिन्न होने पर भी चिदात्मा क्षेत्रके साथ वहुत समय तक रहनेके कारण क्षेत्रके धर्मको धारण करता है ॥ २६ ॥ परन्तु वह जव शुद्धके साथ एकता पाता है, तव वह

धर्मिणा चैव विमुक्तात्मा भवत्यथ । विमोक्षिणा विमोक्षश्च समेत्येह तथा भवेत् ॥ २८ ॥ शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान् । विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥ २९ ॥ केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै । स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ॥ ३० ॥ एतावदेतत्कथितं मया ते तथ्यं महाराज यथार्थतत्त्वम् । अमत्सरस्त्वं परिगृह्य चार्थं सनातनं ब्रह्म विशुद्धमाद्यम् ॥ ३१ ॥ नावेदनिष्ठस्य जनस्य राजन्प्रदेयमेतत्परमं त्वया भवेत् । विधित्समानाय विबोधकारणं प्रबोधहेतोः प्रणतस्य शासनम् ॥ ३२ ॥ न देयमेतच्च तथानृतात्मने शठाय क्लीबाय

शुद्ध धर्मका आचरण करता है, बुद्धके साथ एकत्रित होता है, तब वह बुद्धिके धर्मको धारण करता है और हे महापुरुष राजन्! जब वह मुक्तका संगी होता है, तब मुक्तधर्मवाला होता है २७ सब भाँतिके संगके त्यागीके साथ मिलता है, तब वह मुक्तात्मा होजाता है, और विमोक्षीका साथ करता है तो विमुक्त होजाता है ॥ २८ ॥ पवित्र कर्म करनेवालेका सङ्ग करता है तो पवित्रकर्मसे पवित्र और अपार प्रकाशवान् रूपमें रहता है, विमलात्माके साथ मिलता है तो विमलात्मा होजाता है ॥ २९ ॥ केवलके साथ मिलता है तब केवलात्मा होता है, और जब स्वतन्त्रके साथ मिलता है तब स्वतन्त्रत्वको पाता है ॥ ३० ॥ हे महाराज ! मैंने मत्सरका त्याग करके सनातन, शुद्ध और आदिपुरुष ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थज्ञान तुमसे कहा ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! नम्र और जिज्ञासु होने पर भी जो वेदको न जानता हो उसको यह ब्रह्मज्ञानका उपदेश न देना चाहिये परन्तु जो विवेकी हो और तत्ववस्तु जाननेकी इच्छासे सदा गुरुकी आज्ञामें रहता हो ऐसे पुरुषको ही इस ज्ञानका उपदेश देना चाहिये ॥ ३२ ॥ यह ज्ञान असत्य भाषण करनेवाले, शठ, मनोबलरहित, कपटबुद्धि,

न जिह्मबुद्धये । न पण्डितज्ञानपरोपतापिने देयं तु देयश्च निबोध यादृशे ॥ ३३ ॥ श्रद्धान्विताायाथ गुणान्विताय परापवादाद्विरताय नित्यम् । विशुद्धयोगाय बुधाय नित्यं क्रियावते च क्षमिणे हिताय ॥ ३४ ॥ विविक्तशीलाय विधिप्रियाय विवादहीनाय बहुश्रुताय । विजानते चैव न चाहितक्षमे दमे च सक्ताय शमे च देयम् ॥३५॥ एतैर्गुणैर्हीनतमे न देयमेतत्परं ब्रह्म विशुद्धमाहुः । न श्रेयसा योक्ष्यति तादृशे कृतं धर्मप्रवक्तारमपात्रदानात् ॥३६॥ पृथ्वीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां दद्यान्न देयं त्विदमव्रताय । जितेन्द्रियायैतदसंशयन्ते भवेत्प्रदेयं परमं नरेन्द्र ॥ ३७ ॥ कराल मा

पण्डितजनोंका ढोंग रचनेवाले और दूसरोंको दुःख देनेवालेको कभी न बताना चाहिये, कैसे पुरुषको इसका उपदेश देना चाहिये, यह सुन ॥ ३३ ॥ यह उपदेश श्रद्धालु, गुणी, किसी की निन्दा न करनेवाले, शुद्ध, योगी, ज्ञानी, सदैव वेदोक्त कर्म करनेवाले, क्षमावान्, सब प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, एकान्त स्थानमें रहनेके अभ्यास वाले, शास्त्रोक्त कर्म करनेमें प्रीति रखने वाले, विवादसे दूर रहनेवाले, पूर्णविद्यासम्पन्न, विवेकी, अहित न करनेवाले और शम-दम-सम्पन्न पुरुषको देना चाहिये ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ जिसमें ये गुण न हों उसको शुद्ध ब्रह्मका उपदेश कभी न देना चाहिये, ज्ञानी पुरुष कहते हैं, कि धर्मका उपदेश देनेवाला पुरुष यदि कुपात्रको उपदेश देता है,तो उससे उसका कुछ भी कल्याण नहीं होता है ॥ ३६ ॥ यदि रत्नोंसे भरी हुई सारी वसुधा भी कोई दे तब भी यम, नियम न पालनेवाले पुरुषको परब्रह्मका उपदेश न देना चाहिये, परन्तु हे राजेन्द्र ! जितेन्द्रिय पुरुषको परब्रह्मका उपदेश अवश्य देना चाहिये ॥ ३७ ॥ हे कराल ! तूने आज मुझसे परब्रह्मके स्वरूप का ज्ञान सुना है और मैंने तुझसे परमपवित्र, सब शोकोंको दूर

ते भयमस्तु किंचिदेतच्छ्रुतं ब्रह्म परं त्वयाद्य । यथावदुक्तं परमं पवित्रं विशोकमत्यन्तमनादिमध्यम् ॥ ३८ ॥ अगाधजन्मामरणं च राजन्निरामयं वीतभयं शिवञ्च । समीक्ष्य मोहं त्यज चाद्य सर्वज्ञानस्य तत्त्वार्थमिदं विदित्वा ॥ ३९ ॥ अवाप्तमेतद्धि मया सनातनाद्धिरण्यगर्भाद्धदतो नराधिप । प्रसाद्य यत्नेन तमुग्रचेतसं सनातनं ब्रह्म यथाद्य वै त्वया ॥ ४० ॥ पृष्टस्त्वया चास्मि यथा नरेन्द्र यथा मयेदं त्वयि चोक्तमद्य । तथावाप्तं ब्रह्मणो मे नरेन्द्र महाज्ञानं मोक्षविदां परायणम् ॥ ४१ ॥ भीष्म उवाच । एतदुक्तं परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः । पंचविंशो महाराज परमर्षिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥ पुनरावृत्तिमाप्नोति परं ज्ञानमवाप्य च । नाव-

करनेवाला, आदि, मध्य तथा अन्तरहित ब्रह्मका स्वरूप यथार्थरीतिसे कहा है इसलिये अब तुझे मृत्युका भय नहीं रहेगा ३८ हे राजन् ! जन्म मरणका नाश करनेवाले, रोग तथा भयरहित और कल्याणमूर्ति परब्रह्मका साक्षात्कार करके तथा ज्ञानके पूर्णरूपको जानकर आज ही तू शोक और मोहको त्याग दे ३९ हे राजन् ! तूने जैसे मुझको प्रसन्न करके इस समय महातेजस्वी सनातन ब्रह्मके स्वरूपको जाना है, तैसे ही मैंने भी पहिले सनातन हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीके मुखसे ब्रह्मके स्वरूपको जाना था४० हे नरेन्द्र ! तूने जैसे मुझसे प्रश्न किया था तब मैंने तुझको जिस प्रकार परब्रह्मका उपदेश दिया है, उसी प्रकार मैंने भी ब्रह्माजी से मोक्षवेत्ताओंका परम आश्रय रूप महाज्ञान सुना है ॥ ४१ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-महर्षि वसिष्ठने जनकवंशके राजा कराल जनकको जिस प्रकार ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया था, तैसे ही परब्रह्मसम्बन्धी ज्ञान मैंने तुझसे कहा है;इसको जाननेसे पच्चीसवें तत्वरूपी जीवको फिर जन्म नहीं लेना पडता ॥ ४२ ॥ जरा और मरणरहित परमात्माको यथार्थरीतिसे न जाननेके

बुध्यति तत्वेन बुध्यमानोऽजरामरम् ॥ ४३ ॥ एतन्निःश्रेयसकरं ज्ञानन्ते परमं मया। कथितं तत्वतस्तात श्रुत्वा देवर्षितो नृप ४४ हिरण्यगर्भादृषिणा वसिष्ठेन महात्मना। वसिष्ठादृषिशार्दूलान्नारदोऽवाप्तवानिदम् ॥ ४५ ॥ नारदाद्विदितं मह्यमेतद्ब्रह्म सनातनम्। मा शुचः कौरवेन्द्र त्वं श्रुत्वैतत्परमं पदम्॥४६॥ येन क्षराक्षरे वित्ते भयं तस्य न विद्यते। विद्यते तु भयं तस्य यो नैतद्वेत्ति पार्थिव ॥ ४७ ॥ अविज्ञानाच्च मूढात्मा पुनः पुनरुपाद्रवत्। प्रेत्य जातिसहस्राणि मरणांतान्युपाश्नुते ॥ ४८ ॥ देवलोकं तथा तिर्यङ्मानुष्यमपि चाश्नुते। यदि शुद्ध्यति कालेन तस्माद-

---

कारण जीवको वारम्वार आवागमन करना पड़ता है,परन्तु जीव यदि ब्रह्मके स्वरूपको जान जाता है,तो उसको आवागमन नहीं करना पड़ता है ॥ ४३ ॥ हे तात! मैंने देवर्षि (नारद) से जो ब्रह्मज्ञान सुना था,वह परमकल्याणकारक ज्ञान तुझे यथार्थरीति से कहकर सुना दिया ॥ ४४ ॥ महात्मा वसिष्ठ ऋषिने ब्रह्माजी से यह ब्रह्मज्ञान सुना था और महर्षि वसिष्ठजीसे नारदजीने सुना था ॥४५॥ और नारदजीसे मैंने इस सनातनब्रह्मका स्वरूप सुना था, हे कुरुवंशी राजन्! मुझसे इस परब्रह्मके स्वरूपको सुन कर अब तू शोकको त्याग दे ॥ ४६ ॥ हे राजन्! जो पुरुष क्षर तथा अक्षरके स्वरूपको जानता है उसको भय नहीं होता है, और जिसको क्षर तथा अक्षरके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है, उसको भय होता है ॥ ४७ ॥ परब्रह्मके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे न जाननेके कारण अज्ञानी मनुष्यों को वारम्वार इस संसारमें क्लेश भोगना पड़ता है और शरीर छूटने पर मरणशील सहस्रों जन्म लेने पड़ते है ॥ ४८ ॥ (अज्ञ मनुष्यको) देवलोकमें अथवा मनुष्य, पशु तथा पक्षीकी योनियें जन्म धारण करना पड़ता है और बहुत समय बीतने पर यदि

ज्ञानसागरात् ॥४९॥ अज्ञानसागरो घोरो ह्यव्यक्तो गाध उच्यते । अहन्यहनि मज्जंति यत्र भूतानि भारत ॥ ५० ॥ यस्मादगाधादव्यक्तादुत्तीर्णस्त्वं सनातनात् । तस्मात्त्वं विरजाश्चैव वितमस्कश्च पार्थिव ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसम्वादसमाप्तौ अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

भीष्म उवाच । मृगयां विचरन्कश्चिद्विजने जनकात्मजः । वने ददर्श विप्रेन्द्रमृषिं वंशधरं भृगोः ॥ १ ॥ उपासीनमुपासीनः प्रणम्य शिरसा मुनिम् । पश्चादनुमतस्तेन पप्रच्छ वसुमानिदम् २ भगवन्किमिदं श्रेयः प्रेत्य चापीह वा भवेत् । पुरुषस्याध्रुवे देहे कामस्य वशवर्तिनः ॥ ३ ॥ सत्कृत्य परिपृष्टः सन्सुमहात्मा महा-

शुद्ध होजाता है तो अज्ञानरूपी संसारसागरके पार होजाता है ॥४९॥ यह अज्ञानरूपी समुद्र भयंकर है, अव्यक्त और अगाध है इस अज्ञानरूपी समुद्रमें नित्यप्रति प्राणी गोते खाते रहते हैं ५० हे राजन् ! जिस (मेरे उपदेश) से तू इस अगाध और अव्यक्त (जाननेमें न आसकने वाले) सनातन समुद्रको तर गया है इस लिये तू रजोगुण और तमोगुणसे रहित शुद्ध सत्त्वगुणी होगया है ॥ ५१ ॥ तीन सौ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३०८ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-एक समय निर्जन वनमें जनकवंशी राजा वसुमान् मृगया खेल रहा था, उसने वनमें घूमते २ भृगुवंश के एक महर्षिको बैठे हुए देखा ॥ १ ॥ उन बैठे हुए ऋषिको दण्डवत् करके वसुमान् तहाँ बैठ गया और उन ऋषिकी अनुमति लेकर उनसे उसने प्रश्न किया ॥ २ ॥ कि-हे भगवन् ! इस नाशवान् शरीरमें कामाधीन होकर रहने वाले पुरुषका इस लोक में और परलोकमें कौन पदार्थ कल्याण करता है ॥ ३ ॥ मुनि का सत्कार करके प्रश्न करने पर उन महातपस्वी महात्मा ऋषि

तपाः । निजगाद ततस्तस्मै श्रेयस्करमिदं वचः ॥ ४ ॥ ऋषिरुवाच । मनसो प्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वांछसि । भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥ ५ ॥ धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम् । धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥ ६ ॥ स्वादुकामुक कामानां वैतृष्ण्यं किं न गच्छसि । मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ७ ॥ यथा ज्ञाने परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना । तथा धर्मे परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना ॥ ८ ॥ असता धर्मकामेन विशुद्धं कर्म दुष्करम् । सता तु धर्मकामेन सुकरं कर्म दुष्करम् ॥ ९ ॥ वने ग्राम्यसुखाचारो यथा

ने उसको इस प्रकार कल्याण करने वाला उत्तर दिया ॥ ४ ॥ ऋषिने कहा, कि–यदि तेरी इच्छा हो, कि–इस लोकमें तथा परलोकमें तुझे मनोनुकूल पदार्थ मिलें तो तू अपनी इन्द्रियोंको नियममें रख कर, सब प्राणियोंके अनुकूल वर्ताव कर ॥ ५ ॥ धर्म ही सत्पुरुषोंका कल्याण करने वाला है तथा धर्म ही सत्पुरुषोंका आधाररूप है और यह स्थावरजंगमात्मक तीनों लोक भी धर्मसे ही उत्पन्न हुए हैं और धर्मके आधार पर ही टिकरहे है ॥६॥ हे स्वादकी कामनावाले पुरुष ! तेरी कामनाओं की तृष्णा शान्त क्यों नहीं होती ? हे दुर्बुद्धि ! तू कामनाओंमें मधु देखता है, परन्तु उससे होसकने वाले पतनको नहीं देखता है ॥ ७ ॥ जैसे ज्ञानके फलकी इच्छा रखने वालेको ज्ञान संपादन करना चाहिये, तैसे ही धर्मफलकी इच्छा रखने वालोंको धर्म सम्पादन करना चाहिये॥८॥धर्म कर्म करनेकी इच्छा वाला पुरुष यदि दुर्जन होता है तो उसकी उत्तम और निष्कलंक कर्म करने की इच्छा पूर्ण नही होसकती,और सज्जन पुरुष धर्म कर्म करनेकी इच्छासे दुष्कर कर्मको भी सहजमें ही कर सकता है ॥९॥ कोई मनुष्य वनमें रहने पर भी नगरवासीकी समान सुख भोगता हो,

ग्राम्यस्तथैव सः । ग्रामे वनसुखाचारो यथा वनचरस्तथा ॥१०॥ मनो वाक्कायिके धर्मे कुरु श्रद्धां समाहितः । निवृत्तौ वा प्रवृत्तौ वा संप्रधार्य गुणागुणान् ॥ ११ ॥ नित्यं च बहु दातव्यं साधुभ्यश्चानसूयता । प्रार्थितं व्रतशौचाभ्यां सत्कृतं देशकालयोः १२ शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत् । क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥ १३ ॥ अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः । योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद्वेदविद् द्विजः ॥ १४ ॥ सत्कृता चैकपत्नी च जात्या योनिरिहेष्यते । ऋग्यजुःसामगो

तो उसको वनवासी न समझ कर नगरनिवासी भोगी ही समझना चाहिये, ऐसे ही यदि कोई नगरमें रह कर भी वनवासी की समान वर्ताव करता हो तो उसको नगरनिवासी न समझ कर वनवासी ही समझना चाहिये ॥ १० ॥ प्रथम निवृत्तिके गुणोंका और प्रवृत्ति अवगुणोंका निश्चय करे और फिर सावधान होकर मन, वाणी और कायाके धर्म पर श्रद्धा करे ।११। साधु पुरुषोंको प्रार्थना करने पर सत्कारपूर्वक ईर्षारहित होकर सदा दान देवे, और वह भी पवित्र (काशी आदि तीर्थ) स्थलमें और (संक्रान्ति आदि) पर्वके दिन देवे ॥ १२ ॥ धर्मसे इकट्ठा हुआ धन सुपात्रको देवे, दान देते समय क्रोध न करे और दान देनेके पीछे सन्ताप न करे और दान देकर कहे नहीं ॥ १३ ॥ दयावान् पवित्र, इन्द्रियोंका दमन करने वाला, सत्यवादी, सरल योनि तथा कर्मसे शुद्ध और वेदज्ञ ब्राह्मण (दानका) पात्र होता है ॥ १४ ॥ जो स्त्री "अनन्यपूर्वा" हो और जिसका पति भी अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करता हो तथा जो स्वजातिकी स्त्री हो, ऐसी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र शुद्धयोनि कहलाता है, ऐसे ही जो ऋक् यजु और सामको जानने वाला हो, विद्वान् हो, ब्राह्मण के षट्कर्मों (यज्ञ करना, कराना पढ़ना, पढ़ाना, दान देना लेना)

विद्वान्षट्कर्मा पात्रमुच्यते ॥ १५ ॥ स एव धर्मः सोऽधर्मस्तन्तं प्रति नरं भवेत् । पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च १६ लीलयाल्पं यथा गात्रात्प्रमृज्यात्तु रजः पुमान् । बहुयत्नेन च महत्पापनिर्हरणं तथा ॥ १७ ॥ विरिक्तस्य यथा सम्यग्घृतं भवति भेषजम् । तथा निर्हृतदोषस्य प्रेत्य धर्मः सुखावहः ॥१८॥ मानसं सर्वभूतेषु वर्तते वै शुभाशुभम् । अशुभेभ्यः समाक्षिप्य शुभेष्वेवावतारयेत् १९ सर्वं सर्वेण सर्वत्र क्रियमाणं च पूजयेत् । स्वधर्मे यत्र रागस्ते कामं धर्मे विधीयताम् ॥ २० ॥ अधृतात्मन्धृतौ तिष्ठ दुर्बुद्धे बुद्धि-

को करता हो, ऐसा ब्राह्मण पात्र कहलाता है ॥ १५ ॥ पात्र, देश (स्थान) तथा कालके योगसे किसी समय दाता पुरुषका धर्म अधर्म होजाता है ॥ १६ ॥ मनुष्यके शरीर पर थोड़ी धूल पड़ी हो तो वह सहजमें ही दूर होसकती है और विशेष धूल पड़ जाती है तो उसको दूर करनेके लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है, इस प्रकार ही यदि थोड़ा पाप होता है तो उसके लिये थोड़ा ही प्रायश्चित्त करना पड़ता है और बहुत पाप किया होता है, तो बहुत प्रायश्चित्त करना पड़ता है ॥ १७ ॥ जिस पुरुषको विरेचन कराया हो उसको घीका पान उत्तम औषधिरूप होजाता है, है, इसी प्रकार जो अपने सब दोषोंका नाश कर डालता है और धर्ममार्गसे चलता है, उस पुरुषको परलोकमें सुख मिलता है-१८ सब प्राणियोंके चित्तमें अच्छे और बुरे विचार रहते हैं, परन्तु मनको अशुभ विचारोंसे बचाना चाहिये और शुभ विचारोंमें सदा लगाना चाहिये ॥ १९ ॥ अपने वर्णका आचरण करने वाले सबका अनुमोदन करना चाहिये, तुझे अपने वर्ण धर्मके जिस आचरण पर प्रीति हो उस धर्माचरणको इच्छानुसार करना चाहिये ॥ २० ॥ हे धैर्यरहित राजन् ! तुझे धैर्य धारण करना चाहिये, हे दुर्बुद्धि राजन् ! तू सुबुद्धिमान् हो, हे शान्तिरहित

मान्भव ॥ अप्रशांतः प्रशाम्य त्वमप्राज्ञः प्राज्ञवच्चर ॥ २१ ॥ तेजसा शक्यते प्राप्तुमुपायः सह चारिणा । इह च प्रेत्य च श्रेयस्तस्य मूलं धृतिः परा ॥ २२ ॥ राजर्षिरधृतिः स्वर्गात्पतितो हि महाभिषः । ययातिः क्षीणपुण्योऽपि धृत्या लोकानवाप्तवान् २३ तपस्विनां धर्मवतां विदुषां चोपसेवनात् । प्राप्स्यसे विपुलां बुद्धिं तथा श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ २४ ॥ भीष्म उवाच । स तु स्वभावसम्पन्नस्तच्छ्रुत्वा मुनिभाषितम् । विनिवर्त्य मनः कामाद्धर्मे बुद्धिं चकार ह ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जनकानुशासने नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

युधिष्ठिर उवाच । धर्माधर्मविमुक्तं यद्विमुक्तं सर्वसंशयात् । जन्म-

---

राजन् ! तू शान्ति धारण कर, और हे बुद्धिरहित राजन् ! तुझे बुद्धिमानकी समान वर्त्ताव करना चाहिये ॥ २१ ॥ जो मनुष्य सत्पुरुषोंका संग करता है वह मनुष्य सत्पुरुषोंके प्रतापसे इस लोकमें तथा परलोकमें कल्याणप्रद उपाय पा सकता है, कल्याणप्रद उपायका मूल उत्तम धैर्य है ॥ २२ ॥ महाभिष नामक राजर्षि धैर्य धारण न करनेसे स्वर्गमेंसे भूमि पर गिर पड़ा था, राजा ययाति भी (गर्व करनेसे) पुण्यरहित होगया था (और स्वर्गसे भ्रष्ट होगया था) तब भी धैर्यसे फिर परलोकमें गया था ॥ २३ ॥ अतः तू भी तपस्वी, धर्मवेत्ता तथा विद्वानोंकी सेवा करनेसे बड़ी बुद्धि पावेगा और कल्याणको भी प्राप्त करेगा ॥ २४ ॥ भीष्मजी ने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! मुनिके ऐसे भाषणको सुन कर स्वभाव को प्राप्त हुए राजा वसुमानने काममेंसे अपने चित्तको हटा कर धर्ममें लगाया था ॥ २५ ॥ तीन सौ नौवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३०९ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे भीष्म ! धर्म तथा अधर्मसे रहित, सब संशयोंसे रहित, जन्म तथा मरणसे मुक्त, पाप और पुण्य-

मृत्युविमुक्तं च विमुक्तं पुण्यपापयोः ॥ १ ॥ यच्छिवं नित्यमभयं नित्यमक्षरमव्ययम् । शुचि नित्यमनायासं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥२॥ भीष्म उवाच । अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् । याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत ॥ ३ ॥ याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः । पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरम् ४ जनक उवाच । कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः । किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ॥ ५ ॥ प्रभवं चाप्ययं चैव कालसंख्यां तथैव च । वक्तुमर्हसि विप्रेन्द्र त्वदनुग्रहकांक्षिणः ६ अज्ञानात्परिपृच्छामि त्वं हि ज्ञानमयो निधिः । तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वमेतदसंशयम् ॥ ७ ॥ याज्ञवल्क्य उवाच । श्रूयतामव-

रहित, कल्याणमूर्ति, सर्वदा भयसे रहित, अविनाशी, विकारशून्य, पवित्र, उपाधिका सम्बन्ध होने पर भी जो अक्षर-कूटस्थ भावमें रहने वाला है अर्थात् जो सब प्रकारके प्रयासोंसे रहित है उस परमात्माका स्वरूप कैसा है, यह आप मुझसे कहिये॥१-२॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे भारत ! मैं तुमसे याज्ञवल्क्य और जनकके संवादरूप प्राचीन इतिहासको कहता हूँ, सुन ॥ ३ ॥ एक समय देवरातके पुत्र महायशस्वी जनकने प्रश्नोंके रहस्यको जानने वाले ऋषिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्यजीसे बूझा ॥ ४ ॥ जनकने प्रश्न किया, कि-हे विप्रर्षे ! इन्द्रियें कितनी हैं ? प्रकृतियें कितनी हैं ? अव्यक्त (कारणब्रह्म) कैसा है ? परब्रह्म कैसा है ? उससे भी पर (निर्गुण ब्रह्म) का स्वरूप कैसा है ? उत्पत्ति और प्रलय अर्थात् जन्म और मृत्युका स्वरूप कैसा है ? कालकी सङ्ख्या कितनी है ? यह सब बातें हे विप्रेन्द्र ! आपके कृपाभिलाषी मुझसे आपको कहनी चाहियें ॥५-६॥ मैं ज्ञानके विषयमें अज्ञान हूँ और आप ज्ञाननिधि हैं, अतः मैं आपसे बूझता हूँ और आपसे मैं सब प्रश्नोंका उत्तर सुनना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

नीपाल यदेतदनुपृच्छसि । योगानां परमं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः ॥ ८ ॥ न तवाविदितं किंचिन्मां तु जिज्ञासते भवान् । पृष्टेन चापि वक्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥ अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश । तत्र तु प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥१०॥ अव्यक्तश्च महान्तश्च तथाहंकार एव च । पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ११ ॥ एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु । श्रोत्रं त्वक्चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पंचमम् ॥ १२ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धस्तथैव च । वाक्च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च ॥१३॥ एते विशेषा राजेंद्र महाभूतेषु पंचसु । बुद्धीन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मैथिल १४

याज्ञवल्क्यने कहा, कि-तूने मुझसे जो प्रश्न किया है, उसके सम्बन्धमें मैं तुझसे योगका और साङ्ख्यका परमज्ञान कह कर, सुनाता हूँ, उसको तू सुन ॥ ८ ॥ तुझसे कोई बात छिपी नहीं है, तब भी तूने मुझसे प्रश्न किया है (अतः मैं तुझसे कहता हूँ) क्योंकि-किसीके प्रश्न करने पर उत्तर देना चाहिये, यह सनातनधर्म है ॥ ९ ॥ आठ मूलतत्त्वोंको प्रकृति कहते हैं, और विकृतियें सोलह हैं, इस प्रकार अध्यात्मज्ञानको जानने वाले आठ प्रकृतियोंको कहते हैं ॥ १० ॥ अव्यक्त, अहंकार, महत्तत्त्व पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज ये आठ प्रकृतियें हैं अब मैं विकारोंको कहता हूँ, सुन । श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियें हैं ॥११-१२॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच उनके विषय है । वाणी, दोनों हाथ, दोनों पैर, गुदा और उपस्थको पञ्चमहाभूतोंमें रहनेवाले विकृत अथवा प्रकृतिके विकार कहते हैं ॥१३॥ इनमें हे राजेन्द्र ! शब्द आदि विशेष कहलाते हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियें हे मैथिल ! सविशेष कहलाते हैं ॥१४॥ अध्यात्मशास्त्रका विचार करने वाले पण्डित

मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः । त्वञ्चैवान्ये च विद्वांसस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ॥ १५ ॥ अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव । प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः ॥ १६ ॥ महतश्चाप्यहंकार उत्पन्नो हि नराधिप । द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद्बुद्ध्यात्मकं स्मृतम् ॥ १७ ॥ अहंकाराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम् । तृतीयः सर्ग इत्येष आहंकारिक उच्यते ॥ १८ ॥ मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप । चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम् ॥ १९ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च । पंचमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः ॥ २० ॥ श्रोत्रं त्वक्चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् । सर्गन्तु षष्ठमित्याहुर्बहुचिन्तात्मकं स्मृतम् ॥ २१ ॥ अधः श्रोत्रेन्द्रियग्राम उत्पद्यति नरा-

---

मनको सोलहवाँ कहते है, तैसे ही तू और तत्त्वज्ञानको विचार करनेवाले दूसरे भी मनको सोलहवाँ कहते हैं ॥ १५ ॥ हे राजन् ! अव्यक्तमेंसे महत्तत्त्व (महान् आत्मा) उत्पन्न होता है, इसको विद्वान् प्रकृतिसम्बन्धी प्रथम (सृष्टि) कहते हैं ॥ १६ ॥ हे राजन् ! महत्तत्त्वमेंसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है यह दूसरी सृष्टि कहलाती है, विद्वान् उसको बुद्ध्यात्मक सृष्टि कहते हैं ॥ १७ ॥ अहंकारमेंसे पञ्चमहाभूतके गुणों वाला अर्थात् शब्द आदि विषयों वाला मन उत्पन्न होता है, यह तीसरी आहंकारिक सृष्टि कहलाती है ॥ १८ ॥ हे राजन् ! मनमेंसे पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, यह चौथी सृष्टि कहलाती है, और यह मानसिक सृष्टि कहलाती है ॥ १९ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच महाभूतोंमेंसे उत्पन्न होते हैं, और पञ्चमहाभूतोंका विचार करने वाले इस पञ्चमहाभूतकी सृष्टिको पाँचवी सृष्टि कहते हैं ॥ २० ॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और पाँचवीं घ्राणेन्द्रिय यह छठी सृष्टि कहलाती हैं और विद्वान् इसको अनेक चिन्तात्मक मानसी सृष्टि कहते हैं ॥ २१ ॥ श्रोत्रादि

धिप । सप्तमं सर्गमित्याहुरेतदैन्द्रियकं स्मृतम् ॥२२॥ ऊर्ध्वं स्रोतस्तथा तिर्यगुत्पद्यति नराधिप । अष्टमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं स्मृतम् ॥ २३ ॥ तिर्यक्स्रोतस्त्वधःस्रोत उत्पद्यति नराधिप । नवमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं बुधाः ॥२४॥ एतानि नव सर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप । चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुति निदर्शनात् २५ अत ऊर्ध्वं महाराज गुणस्यैतस्य तत्त्वतः । महात्मभिरनुप्रोक्तां कालसंख्यां निबोध मे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

याज्ञवल्क्य उवाच । अव्यक्तस्य नरश्रेष्ठ कालसंख्यां निबोध मे । पंचकल्पसहस्राणि द्विगुणान्यहरुच्यते ॥ १ ॥ रात्रिरेतावती

इन्द्रियोंके अनन्तर (कर्म) इन्द्रियें उत्पन्न हुई हैं, हे राजन्! उनको सातवाँ इन्द्रियसर्ग कहते हैं ॥२२॥ तदनन्तर हे नराधिप! ऊपरको बहने वाला प्राण, समान, उदान और व्यान इसप्रकार आठवें सर्ग प्राणवायुकी सृष्टि हुई है, इस सृष्टिको आर्जव कहते हैं क्योंकि—इसमें पवन सीधी रीतिसे चलती है ॥२३॥ हे राजन्! समान, व्यान, उदान तथा अपानवायुकी उत्पत्ति हुई, इस नवमं सृष्टिको विद्वान् "आर्जवक" सृष्टि कहते हैं ॥ २४ ॥ हे राजन्! इस भाँति नौप्रकारकी सृष्टि और चौबीस प्रकारके तत्त्व शास्त्रमें जिस भाँति कहे थे, तिस भाँति मैंने तुमसे कहे ॥२५॥ हे महाराज! ये गुण कितने समय तक अपनी २ सत्ता चलाते हैं, इस सम्बन्धमें महात्मा जो कुछ कह गए हैं, वही बात मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो! ॥ २६ ॥ तीनसौ दशवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१० ॥

याज्ञवल्क्यने कहा, कि—हे नरश्रेष्ठ! अब मैं अव्यक्त (प्रधान पुरुष) कितने समय तक रहता है, उसकी संख्या बताता हूँ, सुनो! हे राजन्! आदिपुरुषका एक दिन दशसहस्र कल्पका कहलाता है

चास्य प्रतिबुद्धो नराधिप । सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहि-नाम् ॥ २ ॥ ततो ब्रह्माणमसृजद्धिरण्यांडसमुद्भवम् । सा मूर्तिः सर्वभूतानामित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३ ॥ संवत्सरमुषित्वांडे निष्क्रम्य च महामुनिः । सन्दधे स महीं कृत्स्नां दिवमूर्ध्वं प्रजापतिः ॥४॥ द्यावापृथिव्योरित्येष राजन्वेदेषु पठ्यते । तयोः शकलयोर्मध्यमा-काशमकरोत्प्रभुः ॥५॥ एतस्यापि च संख्यानं वेदवेदांगपारगैः । दशकल्पसहस्राणि पादो नान्यहरुच्यते ॥ ६ ॥ रात्रिमेतावतीं चास्य प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः । सृजत्यहंकारमृषिर्भूतं दिव्यात्मकं तथा ॥ ७ ॥ चतुरश्चापरान् पुत्रान्देहात्पूर्वं महानृषिः । ते वै

है ॥ १ ॥ और रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है,जब यह रात्रि पूरी होजाती है, तब अव्यक्त जागृत होता है और हे राजन् ! सृष्टिके आरम्भमें सब देहधारियोंके जीवनरूप अन्नको उत्पन्न करता है ॥ २ ॥ फिर ब्रह्मको उत्पन्न करता है, सुवर्णके अण्डे मेंसे उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा सब प्राणियोंकी मूर्तिरूप हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ३ ॥ महामुनि ब्रह्माजी एक वर्षतक अण्डेमें रहे और वर्ष भर पूरा होने पर अण्डेमेंसे बाहर निकले और उन्होंने पृथ्वी और स्वर्गको बनाया ॥ ४ ॥ हे राजन् ! वेदमें कहा है, कि-इस भाँति प्रभु प्रजापतिने उस अण्डेके दोनों भागों (पृथ्वी और स्वर्ग)के बीचमें आकाशको रचा ॥ ५ ॥ महामुनि प्रजापतिका एक दिन साढ़े सात सहस्र कल्पका होता है ॥ ६ ॥ अध्यात्मशास्त्रका चिंतवन करनेवाले पुरुष उनकी रात्रिको भी उतनी ही बड़ी बतलाते हैं, फिर वह ऋषि (ब्रह्माजी) दिव्या-त्मक भूत अहंकारको उत्पन्नको करते हैं, वह (अहंकार) (पंच) महाभूतोंको उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥ सब प्राणियोंके रचनेसे पहिले ब्रह्माजी तपस्या करके उपादान कारणरूप चार पुत्रों(मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) को उत्पन्न करते हैं, हे महाराज !

पितॄणां पितरः श्रूयन्ते राजसत्तम ॥ ८ ॥ देवाः पितॄणां च सुता देवैर्लोकाः समावृताः । चराचरा नरश्रेष्ठ इत्येवमनुशुश्रुम ॥ ९ ॥ परमेष्ठी त्वहंकारः सृजन् भूतानि पञ्चधा । पृथिवी वायुराकाश-मापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥१०॥ एतस्यापि निशामाहुस्तृतीय-मिह कुर्वतः । पंचकल्पसहस्राणि तावदेवाहरुच्यते ॥११॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च । एते विशेषा राजेन्द्र महा-भूतेषु पंचसु ॥ १२ ॥ यैराविष्टानि भूतानि अहन्यहनि पार्थिव । अन्योन्यं स्पृहयन्त्येते अन्योन्यस्य हिते रताः ॥ १३ ॥ अन्यो-न्यमतिवर्तन्ते अन्योन्यस्पर्धिनस्तथा । ते वध्यमाना ह्यन्योन्यं गुणै-र्हारिभिरव्ययैः ॥ १४ ॥ इहैव परिवर्तन्ते तिर्यग्योनिप्रवेशिनः । त्रीणि कल्पसहस्राणि एतेषामहरुच्यते ॥ १५ ॥ रात्रिरेतावती

श्रुतियोंमें कहा है, कि–वे पितरों(महाभूतों)के भी पितर (कारण) हैं ॥ ८ ॥ और हे राजन् ! हमारे सुननेमें आया है, कि-अन्तः-करण चतुष्टयसहित ज्ञानेन्द्रियोंके देवता इन (पञ्च महाभूतोंमें) से उत्पन्न होते हैं और पंचमहाभूतोंसे स्थावर जंगमात्मक सब लोकोंको व्याप्त करते हैं ॥९॥ फिर परमस्थानमें रहनेवाला अहंकार पञ्च महाभूतोंको रचता है, ये पंचमहाभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी हैं ॥ १० ॥ अहंकारमेंसे तीसरी सृष्टि उत्पन्न होती है,उस महाशक्तिका एक दिन पाँच सहस्र कल्पका होता है और उसकी रात्रि भी इतनी ही होती है ॥ ११ ॥ हे राजेन्द्र ! शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्धोंको विशेष कहते हैं, इनका अस्तित्व पञ्चमहाभूतोंमें रहता है ॥ १२ ॥ हे पार्थिव ! इन शब्द आदि विषयोंसे व्याप्त होने पर ये भूत प्रतिदिन परस्पर मित्रता करते हैं और परस्पर हित करते हैं ॥ १३ ॥ परस्पर स्पर्धा करते हैं तथा रूप आदि मनोहर गुणोंसे परस्पर वध करते हैं ॥ १४ ॥ तथा तिर्यक् योनिमें प्रवेश करके इस लोकमें भ्रमण करते है,

चैव मनसश्च नराधिप ॥ मनश्चरति राजेन्द्र चारितं सर्वमिन्द्रियैः १६
न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवानुपश्यति । चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा ॥ १७ ॥ मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति । तथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते ॥ १८ ॥ न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति । मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत् ॥ १९ ॥ तदिन्द्रियेषूपरमो मनस्युपरमो भवेत् । एवं मनःप्रधानानि इन्द्रियाणि प्रभावयेत् ॥ २० ॥ इन्द्रियाणान्तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते । एतद्विशति भूतानि सर्वाणीह महायशाः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जनकयाज्ञवल्क्य-सम्वादे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

शास्त्रमें इसका दिन तीन सहस्र कल्पका कहा है ॥ १५ ॥ तथा मनकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी कही है, हे राजेन्द्र ! मन सब इन्द्रियोंके द्वारा प्रेरित होकर सर्वत्र घूमता है ॥१६॥ इन्द्रियें स्वयं विषयोंको ग्रहण नहीं करती है, परन्तु मन ही विषयोंको ग्रहण करता है, नेत्रेन्द्रिय मनकी सहायतासे रूपको ग्रहण करती है, परन्तु वह अपनी शक्तिसे उसको ग्रहण नहीं करसकती ॥१७॥ क्योंकि-जिस समय मन व्याकुल होता है, उस समय नेत्रेन्द्रिय देखने पर भी नहीं देख पाती, मनुष्य कहते हैं कि सब इन्द्रियें देखती हैं ॥१८॥ परन्तु इन्द्रियें नहीं देख सकतीं, मन ही देखता है, हे राजन् ! मनके शान्त होने पर इन्द्रिये भी शान्त होजाती है ॥१९॥ और इन्द्रियोंके शान्त होने पर मन भी शांत होजाता है, इसप्रकार मनको इन्द्रियोंकी सहायता करनेवाला समझना चाहिये ॥ २० ॥ हे महायशस्विन् ! मन इन्द्रियोंमें ईश्वर है और यह मन ही सब भूतोंमें प्रवेश करता है ॥२१॥ तीनसौ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३११ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच । तत्त्वानां सर्वसंख्या च कालसंख्या तथैव च । मया प्रोक्तानुपूर्व्येण संहारमपि मे शृणु ॥ १ ॥ यथा संहरते जन्तून्ससर्ज च पुनः पुनः । अनादिनिधनो ब्रह्मा नित्यश्चाक्षर एव च ॥ २ ॥ अहःक्षयमथो बुद्ध्वा निशि स्वप्नमनास्तथा । चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहंकृतं नरम् ॥ ३ ॥ ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तेनाभिचोदितः । कृत्वा द्वादशधात्मानमादित्यो ज्वलदग्निवत् ॥ ४ ॥ चतुर्विधं महीपाल निर्दहत्याशु तेजसा । जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जं च नराधिप ॥ ५ ॥ एतदुन्मेषमात्रेण विनष्टं स्थाणुजंगमम् । कूर्मपृष्ठसमा भूमिर्भवत्यथ समन्ततः ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्यने कहा, कि मैंने तुमसे क्रमशः सब तत्त्वोंकी कथा सुनाई तथा कालकी भी संख्या सुना दी, अब मैं तुमसे इन तत्त्वोंके संहारकी कथा कहता हूँ, सुन ॥ १ ॥ आदि तथा अन्तरहित, नित्य और अक्षर ब्रह्माजी किस प्रकार वारम्वार प्राणियों को रचते हैं तथा किस प्रकार वारम्वार उनका संहार करते हैं, यह सुन ॥ २ ॥ जब ब्रह्माजी समझते हैं, कि दिनका अन्त हो गया है और रात्रि आगई है तब वह शयन करनेकी इच्छा करते हैं, उस समय भगवान् अव्यक्त, अहंकारका अभिमान करने वाले महारुद्रको सृष्टिका संहार करनेके लिये प्रेरित करते हैं ।३। यह महारुद्र (प्रथम) अव्यक्तकी प्रेरणासे सैंकड़ों और सहस्रों किरण वाले सूर्य बन जाते है और अपने शरीरके वारह विभाग करते है, वे विभाग प्रज्वलित अग्निकी समान होजाते है ॥ ४ ॥ फिर हे राजन् ! वह अपने शरीरके तेजसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ऐसे चार प्रकारके जगत्को जला कर भस्म कर डालते हैं ॥५॥ निमेषमात्रमें स्थावरजंगमात्मक सारा जगत् भस्म होजाता है और पृथ्वी चारों ओरसे कछुएकी पीठकी समान सपाट होजाती है ॥ ६ ॥ अपारबली महारुद्रके इस जगत्को

जगद्दग्ध्वामितबलः केवलां जगतीं ततः । अम्भसा बलिनात्तिप्रमापूरयति सर्वशः ॥७॥ ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम् । विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र जाज्वलत्यनलो महान् ॥८॥ तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम् । ऊष्माणं सर्वभूतानां सप्तार्चिषमथाञ्जसा ॥ ९ ॥ भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मको बली । विचरन्नमितप्राणस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥ १० ॥ तमप्रतिबलं भीममाकाशं ग्रसतेऽत्मना । आकाशमप्यभिनदन्मनो ग्रसति चाधिकम् ॥११॥ मनो ग्रसति भूतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः । अहंकारो महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १२ ॥ तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः । अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १३ ॥ सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरो-

भस्म करनेके पीछे केवल पृथ्वी ही शेष रहती है, फिर उसको महारुद्र ही बड़े भारी जलके प्रहलसे चारों ओरसे डुबा देते हैं ७ हे राजेन्द्र ! फिर कालाग्नि उत्पन्न होकर उस जलको सोख लेती है, जल सूख जाने पर बड़े भारी प्रकाशको फैलाती हुई महाअग्नि प्रज्वलित होने लगती है ॥८॥ सब प्राणियोंकी जठराग्निरूप सात ज्वाला वाले इस अग्निको अप्रमेय और महाबली अष्टात्मा भगवान् वायु अपने आठ रूपोंको धारण कर भक्षण कर जाते हैं, इस समय यह वायु ऊपरको नीचेको और तिरछे होकर बड़े वेगसे चलता है ॥ ९-१० ॥ फिर इस अनुपमबली भयंकर वायुको आकाश निगल जाता है, इस आकाशको बड़ी भारी गर्जना कर मन निगल जाता है ॥ ११ ॥ फिर प्रजापति तथा प्राणिमात्रका आत्मारूप भूतात्मा अहंकार मनको निगल जाता है, फिर अनुपम आत्मा वाले विश्वरूप महान् आत्मा (महत्तत्व) को प्रजापति शम्भु निगल जाते हैं, यह शम्भु अणिमा लघिमा तथा प्राप्ति नामक योगसिद्धिके ईश्वर है, ज्योतिःस्वरूप

मुखः । सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४॥ हृदयं सर्वभूतानां पर्वणोऽङ्गुष्ठमात्रकः । अथ ग्रसत्यनंतो हि महात्मा विश्वमीश्वरः ॥ १५ ॥ ततः समभवत्सर्वमक्षयाव्ययमव्रणम् । भूतभव्यभविष्याणां स्रष्टारमनघन्तथा ।१६।। एषोऽव्ययस्ते राजेन्द्र यथावत्समुदाहृतः । अध्यात्ममधिभूतं च अधिदैवञ्च श्रूयताम् १७

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनक-
संवादे द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच । पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः । गन्तव्यमधिभूतञ्च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ १ ॥ पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथातत्त्वार्थदर्शिनः । विसर्गमधिभूतं च मित्रस्त-

---

हैं और विकाररहित हैं ॥ १२–१३ । उनके हाथ, पैर, नेत्र, शिर मुख और कान सर्वत्र व्याप्त हैं, वह सबको व्याप्त कर रहते हैं ॥१४॥ वह सब प्राणियोंके हृदयरूप हैं, उनका स्वरूप अँगूठे के पोरुएकी समान है, यह महात्मा अनन्त भगवान् रुद्र सबको अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥ १५ ॥ (उन महानात्माका भी लय होजाता है) फिर अविनाशी अक्षय ब्रह्म ही बाकी रहता है, वह ब्रह्म सब प्रकारके छिद्र और परिणामोंसे रहित है, वह भूत, भविष्य और वर्तमानको रचने वाला है और सम्पूर्ण दोषोंसे रहित है ॥ १६ ॥ हे राजेन्द्र ! यह तत्त्वोंके संहारकी कथा मैंने तुम्हें यथार्थरीतिसे कह कर सुनाई, अब मैं अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैवके विषयमें कहता हूँ, सुन ॥ १७ ॥ तीनसौ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१२ ॥ * * *

याज्ञवल्क्यने कहा, कि–हे राजा जनक ! तत्त्वज्ञ ब्राह्मण कहते हैं, कि–कि–दोनों चरण अध्यात्म हैं चरणोंसे होनेवाली गति अधिभूत है और विष्णु अधिदैवत (अधिष्ठातृदेवता) है ॥१॥ तत्त्वार्थको जाननेवाले वायुको अध्यात्म कहते हैं, मलोत्सर्गको

ऽधिदैवतम् ॥ २ ॥ उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथायोगप्रदर्शिनः ।
अधिभूतं तथानन्दो दैवतञ्च प्रजापतिः ॥ ३ ॥ हस्तावध्यात्म-
मित्याहुर्यथासंख्यानदर्शिनः । कर्तव्यमधिभूतं तु इन्द्रस्तत्राधिदैव-
तम् ॥ ४ ॥ वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथाश्रुतिनिदर्शिनः । वक्तव्य-
मधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ५ ॥ चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा-
श्रुतिनिदर्शिनः । रूपमत्राधिभूतन्तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥ ६ ॥
श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथाश्रुतिनिदर्शिनः । शब्दस्तत्राधिभूतं तु
दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥ ७ ॥ जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथाश्रुतिनिद-
र्शिनः । रस एवाधिभूतन्तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८ ॥ घ्राण-
मध्यात्ममित्याहुर्यथाश्रुतिनिदर्शिनः । गन्ध एवाधिभूतन्तु पृथिवी
चात्रदैवतम् ॥ ९ ॥ त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः । स्पर्श-

अधिभूत कहते हैं और मित्र (सूर्य) को उसका अधिदैवत कहते
हैं ॥ २ ॥ योगके स्वरूपको जाननेवाले ब्राह्मण कहते हैं, कि-
उपस्थ अध्यात्म है, आनन्द अधिभूत है और उसका अधिदैवत
प्रजापति है ॥ ३ ॥ सांख्यशास्त्रको जाननेवाले विद्वान् हाथोंको
अध्यात्म, उनके कर्तव्यको अधिभूत और उनके अधिदैवतको
इन्द्र कहते हैं ४ श्रुतिमें कहे तत्त्वको जानने वाले विद्वान् वाणीको
अध्यात्म, वक्तव्य विषयको अधिभूत और अग्निको उसका अधि-
दैवत कहते हैं ॥ ५ ॥ शास्त्रवेत्ता पुरुष चक्षुको अध्यात्म, रूपको
अधिभूत और सूर्यको उसका अधिदैवत कहते हैं ॥ ६ ॥ शास्त्र-
वेत्ता विद्वान् श्रोत्रको अध्यात्म, उसमें रहनेवाले शब्दको अधि-
भूत और दिशाओंको अधिदैवत कहते हैं ॥ ७ ॥ शास्त्रवेत्ता विद्वान्
जिह्वाको अध्यात्म, रसको अधिभूत और जलको अधिदैवत
कहते हैं ॥ ८ ॥ शास्त्रज्ञ नासिकाको अध्यात्म, गन्धको अधि-
भूत और पृथिवीको अधिदैवत कहते हैं ॥ ९ ॥ तत्त्वज्ञानविशा-
रद पुरुष त्वचाको अध्यात्म, स्पर्शको अधिभूत और पवनको

मेवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥ १० ॥ मनोऽध्यात्ममिति प्राहु-र्यथाशास्त्रविशारदाः । मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ११ आहंकारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिर्शनाः । अभिमानोऽधिभूतं तु बुद्धिश्चात्राधिदैवतम् ॥१२॥ बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदधिदर्शिनः॥ बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥ १३ ॥ एषा ते व्यक्तितो राजन् विभूतिरनुदर्शिता । आदौ मध्ये तथांते च यथातत्त्वेन तत्त्व-वित् ॥१४॥ प्रकृतिर्गुणान्विकुरुते स्वच्छंदेनात्मकाम्यया । क्रीडार्थे तु महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥ यथा दीपसहस्राणि दीपान्मर्त्याः प्रकुर्वते। प्रकृतिस्तथा विकुरुते पुरुषस्य गुणान्बहून् १६ सत्वमानंद उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च । सुखं शुद्धित्वमारोग्यं

अधिदैवत कहते हैं ॥ १० ॥ शास्त्रवेत्ता विद्वान् मनको अध्यात्म मन्तव्यको अधिभूत और चन्द्रमाको अधिदैवत कहते हैं ॥११॥ तत्त्वज्ञ कहते हैं, कि-अहंकर अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत है और बुद्धि उसकी अधिदेवता है ॥ १२ ॥ तत्त्वके स्वरूपको यथार्थरीतिसे जाननेवाले विद्वान् बुद्धिको अध्यात्म, बोद्धव्यको अधिभूत और क्षेत्रज्ञको अधिदैवत कहते हैं ॥१३॥ हे मूलतत्त्वके स्वरूपको यथार्थरीतिसे जानने वाले ! परमात्माकी जो विभूति सृष्टिके आदिकालमें, मध्यकालमें और अन्तिम समय में, पृथक् २ रूपसे कैसे व्यक्त होती है, यह, मैंने तुमसे व्यक्ति-परत्वरूपमें यथार्थरीतिसे कहकर सुना दिया ॥१४॥ हे महाराज ! प्रकृति अपनी इच्छानुसार अपने आनन्दसे स्वयं ही क्रीड़ा करनेके लिये विकारी बन कर सैंकड़ों और सहस्रों गुणोंको स्वस्वरूपमें मिला कर विकारी बना उत्पन्न करती है ॥ १५ ॥ मनुष्य जैसे एक दीपकसे सहस्रों दीपकोंको बना लेता है, तैसे प्रकृ ही प्रकृति भी पुरुष (सत्त्व, रज, तम) मेंसे बहुतसे गुणोंको उत्पन्न कर लेती है ॥ १६ ॥ सत्त्व(धैर्य), आनन्द, ऐश्वर्य, प्रीति, सत्र

संतोषः श्रद्दधानता ॥ १७ ॥ अकार्पण्यमसंरंभः क्षमा धृतिरहिंसता । समता सत्यमानृण्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १८ ॥ शौचमार्जवमाचारमलौल्यं हृद्यसंभ्रमः । इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थना ॥ १९ ॥ दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता । सर्वभूतदया चैव सत्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥ २० ॥ रजोगुणानां संघातो रूपमैश्वर्यविग्रहौ । अत्यागित्वमकारुण्यं सुखदुःखोपसेवनम् ॥ २१ ॥ परापवादेषु रतिर्विवादानां च सेवनम् । अहंकारमसत्कारश्चिंता वैरोपसेवनम् ॥ २२ ॥ परितापोऽभिहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा । भेदः परुषता चैव कामक्रोधौ मदस्तथा ॥२३॥ दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः । तामसानां तु संघातं

पदार्थोंका प्रकाशत्व, सुख, शुद्धि आरोग्य, सन्तोष, श्रद्धालुता ॥ १७ ॥ कृपणताका अभाव, असम्मोह, क्षमा, धृति, अहिंसकत्व, समता सत्य, ऋणरहितपन, मृदुता, लज्जा, चपलताशून्यता, ॥ १८ ॥ शौच, सरलता, आचार, अलोलुपता हृदयमें सम्भ्रम (घबराहट) का अभाव, प्रिय वस्तुका वियोग और अनिष्टवस्तुका संयोग होने पर भी न कहना ॥ १९ ॥ दानसे लोकोंको वशमें करना, स्पृहाको त्याग देना परोकार करना और सब प्राणियों पर दया रखना, इनको सात्त्विकगुण समझना चाहिये ॥ २० ॥ राजसमेंसे प्रकृतिके विकारसे जो उत्पन्न होता है, उसका समुदाय इसप्रकार है, स्वस्वरूपका गर्व,ऐश्वर्य, युद्ध, अत्यागित्व, दयाका अभाव, सुख भोगनेमें तत्परता, और दुःखके सहन करनेमें कायरता ॥२१॥ परनिन्दामें प्रीति,विवादों में आसक्ति, अहंकार,किसीका सत्कार न करनेकी प्रकृति, सब बातकी चिन्ता, वैरका बदला लेनेकी चिन्ता, संन्ताप करना,२२ अभिहरण (दूसरेका धन हडप जाना), निर्लज्जता, कुटिलता, भेदबुद्धि, कठोरता, काम, क्रोध, मद ॥ २३ ॥ दर्प द्वेष, अति-

प्रवक्ष्याम्युपधार्यताम् ॥ २४ ॥ मोहो प्रकाशस्तामिस्रमंधतामिस्रसंज्ञितम् । मरणं चांधतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥ २५ ॥ तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् । भोजनानामपर्याप्तिस्तथापेयेष्वतृप्तता ॥२६॥ गन्धवासोविहारेषु शयनेष्वासनेषु च । दिवा स्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः ॥२७॥ नृत्यवादित्रगीतानामज्ञानाच्छ्रद्दधानता । द्वेषो धर्मविशेषाणामेते वै तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१३॥

याज्ञवल्क्य उवाच । एते प्रधानस्य गुणास्त्रयः पुरुषसत्तम । कृत्स्नस्य चैव जगतस्तिष्ठंत्यनपगाः सदा ॥ १ ॥ अव्यक्तरूपो भगवान्शतधा च सहस्रधा । शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसह-

---

बाद ये सब राजसके गुण हैं, अब मैं तमोगुणके समुदायको तुझसे कहता हूँ, सुन ॥२४॥ मोह, अज्ञान, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र । अन्धतामिस्रको मरण और तामिस्रको क्रोध कहते हैं२५ इसके अतिरिक्त तमके लक्षण इसप्रकार हैं भोजन करने पर भी तृप्ति न होना तथा पीने योग्यको पीने पर भीतृप्त न होना २६ गन्धमें, विहारमें, शयनमें तथा आसनमें प्रीति, तैसे ही दिनमें निद्रा करनेमें, अतिविवाद करनेमें और प्रमादमें प्रीति ॥२७॥ अज्ञानवश नृत्य, गीत और गाने बजाने में आनन्द तथा धर्मके ऊपर द्वेष इन सबको तामसी गुण जानना चाहिये ॥ २८ ॥ तीनसौ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१३ ॥

याज्ञवल्क्यने कहा, कि–हे पुरुषसत्तम ! ये तीन सत्त्व, रज और तम प्रधान (प्रकृति) के गुण हैं, ये तीनों गुण सदा सम्पूर्ण जगत्के निमित्तकारणरूप हैं ॥ १ ॥ षडैश्वर्यसम्पन्न और अव्यक्तस्वरूपधारी प्रधान इन ऊपर कहे हुए तीन गुणोंसे

स्तथा ॥२॥ कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना । सात्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम् ॥३॥ तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिंतकाः । केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात् ४ पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् । द्वन्द्वमेषां त्रयाणां तु सन्निपातं च तद्वतः ॥५॥ सत्वस्य रजसश्चैव तमसश्च शृणुष्व मे । सत्वस्य तु रजो दृष्टं रजसश्च तमस्तथा ॥६॥ तमसश्च तथा सत्वं सत्वस्याव्यक्तमेव च । अव्यक्तः सत्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात्॥७॥ रजःसत्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते । रजस्तमोभ्यां

प्रत्यगात्मा (परमात्मा) के सैंकड़ों, सहस्रों, लाखो करोड़ों विभाग करसकता है ॥२॥ अध्यात्मवस्तुका चिंतवन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि–इस लोकमें सत्त्वगुणीको उत्तम, रजोगुणीको मध्यम और तमोगुणीको अधम स्थान मिलता है ॥ ३ ॥ जो केवल पुण्यकर्म करते हैं, उनको ऊर्ध्वलोक, जो पुण्य पाप मिले हुए कर्म करते हैं उनको मध्यमगतिरूप मनुष्यलोक और जो केवल अधर्मके ही काम करते हैं उनको अधम (नरक) लोक मिलता है ॥ ४ ॥ हे राजन् ! अब मैं तुझसे सत्त्व, रज और तम इन गुणोंके द्वन्द्व और सन्निपात (तीनों गुणोंके इकट्ठे होने) के विषयमें कहता हूँ, सुन ॥ ५ ॥ कितने ही समय सत्वगुण रजोगुणके साथ मिलजाता है, कितने ही समय रजोगुण तमोगुणके साथ मिल जाता है और कितने ही समय सत्वगुण के साथ मिलजाता है, तैसे ही किसी समय सत्व, रज और तमोगुणका सन्निपात भी होजाता है, तब वे अव्यक्त अथवा प्रकृतिके साथ भी देखनेमें आता है ॥ ६ ॥ अव्यक्त पुरुष केवल सत्वगुणको धारण करता है, तब देवलोकको प्राप्त होता है, रजोगुण तथा सत्वगुणसे संयुक्त होता है, तब मनुष्यलोकमें उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥ और रजोगुण तथा तमोगुणको

संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥ ८ ॥ राजसैस्तामसैः सत्वैर्युक्तो मानुषमाप्नुयात् ॥ पुण्यपापविमुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम् ।९। शाश्वतं चाव्ययं चैवमक्षयं चामृतं च तत् । ज्ञानिनां संभवं श्रेष्ठं स्थानमव्रणमच्युतम् । अतींद्रियमबीजं च जन्ममृत्युतमोनुदम् १० अव्यक्तस्थं परं यत्तत्पृष्टस्तेऽहं नराधिप । स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते ॥ ११ ॥ अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव । एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि ॥ १२ ॥ जनक उवाच । अनादिनिधनावेतावुभावेव महामते । अमूर्तिमंतावचलावप्रकंप्यगुणागुणौ ॥१३॥ अग्राह्यावृषिशार्दूल कथमेको ह्यचे-

धारण करता है तब तिर्यक्-योनिमें अवतार धारण करता है ॥ ८ ॥ जब आत्मा सत्व, रज और तमोगुण से युक्त होता है, तब वह मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होता है, परन्तु जब आत्मा पाप और पुण्यमेंसे मुक्त होजाता है, तब वह शाश्वत, अव्यय, अक्षय और अमृत परमधाममें जाता है ॥ ९ ॥ ज्ञानी पुरुषोंका उत्तम योनिमें जन्म होता है और उसको परमधाम मिलता है, यह धाम शाश्वत अव्यय, अक्षय, अच्युत, अमृतमय, श्रेष्ठ, अतीन्द्रिय, परिणामरहित पतित न होनेवाला, बीजरहित, जन्म मरण और अज्ञानसे रहित है१०हे राजन्! तूने मुझसे अव्यक्तमें रहने वाले परमपुरुषके संबन्धमें पहिले प्रश्न किया था, कि उसका धर्म क्या है? वह अब मैं तुझसे कहता हूँ, यद्यपि वह प्रकृतिमें रहता है, तब भी प्रकृतिके गुणोंसे निर्लिप्त रहता है ॥ ११ ॥ हे राजन्! प्रकृति अचेतन है, परन्तु वह प्रकृति ब्रह्मके अधिष्ठानसे अर्थात् प्रकृतिमें ब्रह्म स्थिति करता है, इसकारण जगत्को रचती है और उसका संहार भी करती है ॥१२॥ जनकने बूझा कि हे महामति! प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि और अनन्त हैं, दोनों मूर्तिरहित और अचल हैं, दोनों अपने २ स्वभावमें

तनः । चेतनावांस्तथा चैकः क्षेत्रज्ञ इति भाषितः ॥ १४ ॥ त्वं हि विप्रेन्द्र कार्त्स्न्येन मोक्षधर्ममुपाससे । साकल्यं मोक्षधर्मस्य श्रोतुमिच्छामि तत्वतः ॥१५॥ अस्तित्वं केवलत्वं च विनाभावं तथैव च । दैवतानि च मे ब्रूहि देहं यान्याश्रितानि वै ॥ १६ ॥ तथैवोत्क्रामिणः स्थानं देहिनो वै विपद्यतः । कालेन यद्धि प्राप्नोति

स्थिरतासे रहनेवाले हैं ॥१३॥ दोनों प्रत्यक्षरीतिसे जाननेमें नहीं आसकते, हे ऋषिशार्दूल ! इसप्रकार पुरुष और प्रकृति समान धर्मवाले होने पर भी प्रकृति चेतनारहित (जड़) क्यों है और पुरुष चेतन क्यों है और क्षेत्रज्ञ क्यों है ? ॥ १४ ॥ हे विप्रेन्द्र ! आपने मोक्षधर्मका भलीप्रकार सेवन किया है, इससे मैं आपसे मोक्षधर्मको यथार्थरीतिसे सुनना चाहता हूँ ॥१५॥ पुरुषके अस्तित्व, केवलत्व, प्रकृतिसे भिन्नत्वके संबन्धमें और देहका आश्रय करके रहनेवालीं इन्द्रियोंके देवताओंके संबन्धमें आप जानते हों तो मुझसे कहिये अर्थात् (पुरुष और प्रकृति अग्नि और उष्णताकी समान एक साथ रहते हैं । अग्निका नाश होनेसे जैसे उष्णता का नाश होजाता है और उष्णताका नाश होनेसे जैसे अग्निका नाश होजाता है, तैसे ही पुरुष और प्रकृतिका भी एक साथ ही नाश अवश्य होजाता है, फिर पुरुषके चेतन होने पर भी उसका अस्तित्व किसप्रकार घट सकता है और केवलत्व (प्रकृतिसे भिन्नत्व) भी कैसे घट सकता है, क्योंकि—पुरुष विभु है और प्रकृति अविनाशी है, अतः पुरुष प्रकृतिके विना अकेला रह नहीं सकता, तर्कमतानुसार जैसे आत्मा विभु है और मन अविनाशी है और उन दोनोंका जैसे नित्यसंयोग माना है, तैसे ही पुरुष और प्रकृतिका नित्यसंयोग मानना चाहिये, परन्तु उसका विलक्षणफलयुक्त पारस्परिक आत्मा और मनका जैसे संयोग मानाजाता है तैसे ही प्रकृति और पुरुषमें भी विलक्षण संयोग मानें तो

स्थानं तन्मब्रवीहि मे ॥ १७ ॥ सांख्यज्ञानं च तत्त्वेन पृथग्योगं तथैव च। अरिष्टानि च तत्त्वानि वक्तुमर्हसि सत्तम। विदितं सर्वमेतत्ते पाणावामलकं यथा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१४॥

याज्ञवल्क्य उवाच। न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकर्तुं विशांपते। गुणवांश्चाप्यगुणवान्यथातत्त्वं निबोध मे ॥ १ ॥ गुणैर्हि

निरवयव पुरुषमें अव्याप्यवृत्तिरूप संयोग कैसे घट सकता है? यदि मान भी लिया जाय तो तन्तु आदिमें जैसे प्रदेश होता है, तैसे निरवयव पुरुषमें प्रदेश आदि कुछ नहीं होते, इससे मन और आत्मामें तथा पुरुष और प्रकृतिमें जो अव्याप्यवृत्तिरूप संयोग प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, वह किसप्रकार घटसकता है? यह जनककी शंका है) १६ तैसे ही शरीरके भिन्न२भागोंसे प्राणका उत्क्रमण होने पर जो स्थान मिलते हैं उनकी भी बात मुझसे कहिये ॥ १७ ॥ सांख्य क्या है? योग क्या है? उनके ज्ञानको पृथक् २ बताइये? और हे श्रेष्ठ! अरिष्ट (मृत्यु)-सूचक चिन्ह कौन २ से हैं यह भी आप मुझसे कहिये, ये सब बातें आपको हस्तामलकवत् आती हैं ॥१८॥ तीनसौ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥३१४॥

याज्ञवल्क्यने कहा, कि–हे राजन्! गुणरहित आत्माको सगुण और सगुण प्रकृतिको निर्गुण नहीं किया जासकता इस विषयको मैं तुमसे स्पष्टरूपसे कहता हूँ, सुन (अर्थात् आत्मा सत्त्व आदि गुणोंसे रहित अर्थात् निर्गुण है और प्रकृति गुण वाली है, अतः निर्गुणको सगुण और सगुणको निर्गुण नहीं कहा जासकता। चेतन और अचेतन ये दोनों भिन्न २ हैं, अब शंका होती है, कि–आत्मा और प्रकृति चेतन हैं अथवा अचेतन हैं?

गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा । आहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ २ ॥ गुणस्वभावस्त्वव्यक्तो गुणान्नैवातिवर्तते । उपयुंक्ते च तानेव स चैवाज्ञः स्वभावतः ॥ ३ ॥ अव्यक्तस्तु न जानीते पुरुषो ज्ञः स्वभावतः । न मत्तः परमस्तीति नित्यमेवाभिमन्यते ॥ ४ ॥ अनेन कारणेनैतदव्यक्तं स्यादचेतनम् । नित्यत्वाच्चाक्षरत्वाच्च क्षरत्वान्न तदन्यथा ॥ ५ ॥ यदाऽज्ञानेन

यदि दोनों अचेतन हों तो जगत् अन्धा और जड़ होना चाहिये, और दोनों चेतन हों तो, चेतनचेतनका दृश्य और द्रष्टा नहीं होसकता, यदि यह कहो, कि-मलयागिरिमें चन्दन है और चन्दनकी लकड़ियें भी हैं, परन्तु सब चन्दन ही कहाती हैं, ऐसे ही चेतनमें जड़ और चेतन दोनोंका होना सम्भव है और वे चेतन ही माने जावेंगे, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि-चेतन और जड़ अपने स्वभावको नहीं छोड़ सकते, एक नहीं होसकते, चेतन चेतन ही रहेगा और अचेतन-जड़ जड़ ही रहेगा । आत्मा चेतन है और प्रकृति एक प्रकारसे जड़ ही है) ॥ १ ॥ सब विषयोंको यथार्थरीतिसे जानने वाले तत्त्ववेत्ता महामुनि कहते हैं, कि-जिसको गुणोंका संसर्ग है वस्तुतः वह गुणी कहलाता है और जो गुणोंके संसर्गसे रहित है, वह वस्तुतः निर्गुण कहलाता है ॥ २ ॥ अव्यक्त (प्रकृति) स्वभावसे ही गुणवान् है, प्रकृति गुणोंका उल्लंघन नहीं कर सकती, वह स्वभावतः अज्ञ होनेसे गुणोंका उपभोग करती है ॥ ३ ॥ प्रकृति कुछ नहीं जानती है वह जड़ है और पुरुष स्वभावसे ही ज्ञानी तथा द्रष्टा है "मुझसे अधिक और कोई श्रेष्ठ नहीं है" इस प्रकार पुरुष सदा समझता है ॥ ४ ॥ अतः अव्यक्त (प्रकृति) जड़ है और नित्य, क्षर प्रकृतिमें आभासरूपसे अक्षर होनेसे उसमें नित्य भोक्तापन भी रहता है और भोग्यपन भी रहता है ॥ ५ ॥ पुरुष अज्ञानवश

कुर्वीत गुणसर्गं पुनः पुनः । यदात्मानं न जानीते तदात्मापि न मुच्यते ॥६॥ कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते । कर्तृत्वाच्चापि यागानां योगधर्मा तथोच्यते ॥७॥ कर्तृत्वात्प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता ॥ ८ ॥ कर्तृत्वाच्चापि वीजानां वीजधर्मा तथोच्यते । गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात्तथैव च ॥९॥ उपेक्षत्वादनन्यत्वादभिमानाच्च केवलम् । मन्यन्ते यतयः सिद्धा अध्यात्मज्ञा गतज्वराः ॥ अनित्यं नित्यमव्यक्तं व्यक्तमेतद्धि शुश्रुम ॥१०॥ अव्यक्तैकत्वमित्याहुर्नानात्वं पुरुषस्तथा । सर्वभूतदयावन्तः केवलं

वारम्वार गुणोंका संसर्ग करनेसे नई २ सृष्टि रचता है, परन्तु वह अपनेको अपने गुणोंकी सृष्टिसे भिन्न नहीं जानता है; इससे आत्मा स्वयं भी गुणोंमें बँध जाता है और उनमेंसे छूटकर मुक्त नहीं होसकता ॥ ६ ॥ (प्राकृतिक) महत्तत्त्वके सर्ग (सृष्टि) कर्ता होने (मानने) से वह स्वयं समझता है, कि-मैं सर्गोंका कर्ता हूँ, अतः वह सर्गधर्मा कहलाता है, "मैं यम नियम आदि योगका कर्ता हूँ" ऐसे अभिमानसे वह योगधर्मा कहलाता है (इसलिये ही आत्मा उसमेंसे छूट नहीं सकता) ॥ ७ ॥ पुरुष समझता है, कि-मैं प्रकृति अर्थात् प्रजाओंका कर्ता हूँ, इससे वह प्रकृतिधर्मा कहलाता है ॥ ८ ॥ और स्थावरपदार्थोंके कर्तृत्वका अभिमान करनेसे वह वीजधर्मा कहलाता है, काम शान्ति आदि गुणोंको उत्पन्न करने वाला तथा उनका लय करने वाला होनेसे वह गुणधर्मा कहलाता है, इस प्रकार कर्तृत्वका अभिमान करने से आत्मा बंधनको पाता है ॥ ९ ॥ पुरुषकी अर्थात् आत्माकी ऐसी स्थिति है, तो भी (कुछ न कर) वह साक्षीरूपसे देखा ही करता है, उसके परिणाममें उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, परन्तु जो दुःख आदि प्रतीत होता है, वह प्रकृतिके संसर्गसे अहंकार करनेका फल है । अध्यात्मतत्त्वको जानने वाले और

ज्ञानमास्थिताः॥११॥अन्यः स पुरुषोऽव्यक्तस्त्वध्रुवो ध्रुवसंज्ञकः। यथा मुञ्ज इषीकायां तथैवैतद्धि जायते॥१२॥अन्यच्च मशकं विद्या-

दुःखरहित तथा योगको साधने वाले यति उसको "केवल" कहते है (पुरुषको केवल कहनेका कारण यह है, कि-वह साक्षीरूप होने पर भी विक्रियारहित है, अनन्य है) दुःखादिरूप सब असत् है और आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है वह केवल है। यहाँ शंका होती है, कि-दुःखका भान होना क्या वस्तु है? उत्तर-यह तो अभिमानसे ही होता है। पुत्र, स्त्री और धनको पुरुष (जीव) अपना मानता है, अत एव पुत्र अथवा स्त्रीके मरणसे अथवा धनके हरणसे उसको दुःख होता है। यदि वह उनको अपना न माने तो दुःख किसका ?, बुद्धिकी वृत्ति "मेरा मेरा" ऐसे तादात्म्यका पाती है, तब दुःख होता है, उस बुद्धि का त्याग होते ही वह केवलत्व (नित्यसिद्धत्व) को पाता है। वह 'केवल' एक ही है, निर्विकल्प (कारणरूपमें) अव्यक्त और कार्यरूपमें व्यक्त तथा स्थिर है॥ १० ॥ सब प्राणियों पर दया करने वाले और केवल ज्ञानमें स्थिति करके रहने वाले सांख्य-शास्त्रके विद्वान् अव्यक्तको एक और पुरुषको अनेक मानते हैं ॥११॥ परन्तु वास्तवमें पुरुष प्रकृतिसे भिन्न है और अव्यक्त (प्रकृति)परिणामी होनेसे अनित्य है(और उसमें चेतनका आभास है, इससे वह नित्यसी दीखती है) जैसे मूँजसे सींक भिन्न है ऐसे ही प्रकृतिसे पुरुषभिन्न है(शास्त्रमें लिखा भी है,कि-"अंगुष्ठ-मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरी-रात्प्रवृहेन्मुञ्जादिव इषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्" मनुष्योंके हृदयमें अंगुष्ठमात्र पुरुष सदा रहता है मूँजमेंसे जैसे सींकको धीरेसे खींच लिया जाता है, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष धर्यसे अपनी शरीरमेंसे आत्माको खोज ले") १२गूलड़के फलमें भुनगे रहते

दन्यच्चोदुम्बरं तथा । न चोदुम्बरसंयोगैर्मशकस्तत्र लिप्यते १३ अन्यएव तथा मत्स्यस्तदन्यदुदकं स्मृतम् । न चोदकस्य स्पर्शेन मत्स्यो लिप्यति सर्वशः॥१४॥ अन्यो ह्यग्निरुखाप्यन्या नित्यमेव मवेहि भोः । न चोपलिप्यते सोग्निरुखा संस्पर्शनेन वै ॥ १५ ॥ पुष्करं त्वन्यदेवात्र तथान्यदुदकं स्मृतम् । न चोदकस्य स्पर्शेन लिप्यते तत्र पुष्करम् ॥ १६ ॥ एतेषां सहवासं च निवासं चैव नित्यशः । याथातथ्येन पश्यन्ति न नित्यं प्राकृता जनाः ॥१७॥ ये त्वन्यथैव पश्यन्ति न सम्यक्तेषु दर्शनाम् । ते व्यक्तं निरयं घोरं प्रविशन्ति पुनः पुनः ॥१८॥ सांख्यदर्शनमेतत्ते परिसंख्यानमुत्तमम् । एवं हि परिसंख्याय साङ्ख्याः केवलतां गताः॥१९॥

हैं परन्तु गूलड़ उनसे भिन्न है ऐसे ही भुनगे भी उससे भिन्न हैं ॥ १३ ॥ जलमें मत्स्य रहते हैं, परन्तु जल और वस्तु है और मत्स्य और वस्तु है, मत्स्य जलका स्पर्श करके लिप्त नहीं होता १४ अग्नि और हण्डिया भिन्न २ वस्तु हैं, परन्तु हण्डियाका स्पर्श करनेसे अग्नि उससे लिप्त नहीं होती है ॥ १५ ॥ कमल भिन्न है, और जल भी भिन्न है, कमल जलके स्पर्शसे गीला नहीं होता है ॥ १६ ॥ सामान्य पुरुष इन पदार्थोंके नित्यके सहवास को नित्य देखते हैं, तब भी वे उनके रहनेकी स्थितिको यथार्थरूपसे नहीं जान सकते ॥ १७ ॥ जो प्रकृति और पुरुषके स्वरूप को यथार्थरीतिसे नहीं जानते हैं और उनके सम्बन्धको भिन्न प्रकारका देखते हैं, उनको यथार्थज्ञान नहीं है। प्रकृति और पुरुषके यथार्थस्वरूपको न जानने वाले पुरुष अवश्य ही वारम्वार घोर नरकमें पड़ते हैं ॥ १८ ॥ जिसमें सब पदार्थोंका ज्ञान भरा हुआ है, ऐसा साङ्ख्यशास्त्र मैंने तुमसे कहा। साङ्ख्यशास्त्रवेत्ता विद्वान् इस प्रकार साङ्ख्यशास्त्र (नित्यानित्य वस्तु) को विचार कर मुक्त होगए हैं ॥ १९ ॥ ऐसे ही दूसरे बड़े २ शास्त्रोंमें

ये त्वन्ये तत्त्वकुशलास्तेषामेतन्निदर्शनम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि योगानामनुदर्शनम् ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्य-जनकसंवादे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।३१५।

याज्ञवल्क्य उवाच । सांख्यज्ञानं मया प्रोक्तं योगज्ञानं निबोध मे । यथाश्रुतं यथादृष्टं तत्त्वेन नृपसत्तम ॥ १ ॥ नास्ति सांख्य-समं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् । तावुभावेकचर्यौ तावुभावनि-धनौ स्मृतौ ॥ २ ॥ पृथक्पृथक् प्रपश्यन्ति तेऽप्यबुद्धिरता नराः । वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ॥ ३ ॥ यदेव योगाः पश्यन्ति तत्सांख्यैरपि दृश्यते।एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥४॥ रुद्रप्रधानानपरान्विद्धि योगानरिंदम । तेनैव

कुशल पुरुषोंका मत मैंने तुझे सुना दिया, अब मैं योगशास्त्रको कहता हूँ, सुन ॥ २० ॥ तीनसौ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ३१५

याज्ञवल्क्यने कहा, कि-मैंने तुझे सांख्यशास्त्रका उपदेश दिया अब जिस प्रकार मैंने योगशास्त्र सुना है, तिस प्रकार मैं उपदेश देता हूँ, सुन ॥ १ ॥ सांख्यकी समता करने वाला एक भी ज्ञान नहीं है । योगकी समान एक भी बल नहीं है । दोनों की चर्या (शम दम आदि पालनेकी रीति) एकसी हैं, ये दोनों मृत्युका नाश करने वाले हैं अर्थात् मोक्ष देने वाले हैं ॥ २ ॥ बुद्धिहीन मनुष्य सांख्य और योगको भिन्न २ मानते हैं, परन्तु हे राजन् ! हम तो (उनका अभ्यास और अनुभव करनेके बाद) निश्चय पूर्वक उनको एक ही जानते हैं ॥ ३ ॥ जिस वस्तुको योगी देखते है, उस ही वस्तुको सांख्यशास्त्रज्ञ भी देखते हैं । जो पुरुष योगशास्त्रको और सांख्यशास्त्रको एक ही समझते हैं । उनको ही तत्ववेत्ता समझना चाहिये ॥४॥ हे शत्रुदमन ! तू यह समझ, कि-रुद्र (माया) तथा इन्द्रियें योगसाधनामें प्रधान

चाथदेहेन विचरन्ति दिशो दश ॥५॥ यावद्धि प्रलयस्तात सूक्ष्मे-णाष्टगुणेन ह । योगेन लोकान्विचरन्सुखं संन्यस्य चानघ ॥६॥ वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः । सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं

है, रुद्र और इन्द्रियोंको नियमयुक्त कर लेने पर योगी सूक्ष्म-शरीरसे दशों दिशाओंमें अपनी इच्छानुसार गमन कर सकते हैं ५ परन्तु हे निष्पाप ! जब योगीका स्थूलशरीर गिर पड़ता है, तब वह अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धिवाले सूक्ष्म-शरीरसे अनेक लोकोंमें विहार करता है और सुख भोगता है ॥ ६ ॥ हे नृपोत्तम ! विद्वान् कहते हैं, कि–वेदमें अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धिवाला सूक्ष्म अष्टांग योग कहा है और कोई योग नहीं कहा है (योगके बहुतसे भेद हैं, उनमें रुद्रप्रधानयोग प्रधान है । प्राणोत्क्रमणके समय जीवात्माको जो रुलाता है, वह रुद्र है अर्थात् देहत्यागके समय प्राण और इन्द्रियोंको रुलाने वाला योग रुद्रप्रधानयोग कहाता है । प्राणका रेचन करनेसे और धारण करनेसे मनकी प्रवृत्ति विषयोंकी ओर नहीं होती है, परंतु स्थिर रहती है । पाँच इन्द्रियोंमेंसे नासिकाके अग्रभागमें गन्धका ज्ञान है, जीभके अग्रभागमें रसका ज्ञान है, तालुमें रूपका ज्ञान है, जीभके मध्यभागमें स्पर्शका ज्ञान रहता है और जीभके मूलमें शब्दका ज्ञान है, अतः समझमें आता है, कि–प्राण और इन्द्रियें योगसाधनमें मुख्यसाधन माने जाते है । और उपरोक्त स्थानोंमें मनकी धारणा करनेसे उस २ विषयका ज्ञान होता है वायु–धारण करने से अर्थात् वायु को वशमें करने से आकाशगामीपन प्राप्त होता है । याज्ञवल्क्य कहते है, कि–पुर्यष्ट-कमय सूक्ष्म अष्टगुणसहित प्रलय जब तक न हो, तब तक योगी योगसे सर्वत्र विचरण करे और जब इच्छा हो तब शरीरको त्यागदे अर्थात् योगी मोक्ष होने तक योगमें श्रद्धा रक्खे, सार्व-

नृपसत्तम् ॥ ७ ॥ द्विगुणं योगकृत्यं तु योगानां प्राहुरुत्तमम् । सगुणं निर्गुणं चैव यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥ ८ ॥ धारणं चैव

धानीसे योग करे; क्योंकि-योग दुधारी तलवारकी समान है। योगके आठ अङ्ग शास्त्रमें इसप्रकार कहे है कि-प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क समाधि, यम तथा नियम । पहिले छ अङ्ग मैत्रायणि उपनिषद्में कहे हैं, अन्तके दो अंग दूसरी श्रुति में कहे हैं। ये सूक्ष्मयोग हैं आठ अङ्गोंमें जो तर्क नामक अङ्ग है, उसका अर्थ है, कि-अणिमा आदि योगकी सिद्धि प्राप्त होने पर उनमें दोषदृष्टि कर उनको त्यागदे, परन्तु उनके वशमें न होवे। दृश्यफलका योगीको आदर न करना चाहिये ॥ ७ ॥ शास्त्रमें योगकी दो प्रकारकी चर्याओंको उत्तम कहा है। पहिली सगुण योगचर्या और दूसरी निर्गुण योगचर्या (अथवा सबीज और निर्बीज योग) ॥ ८ ॥ हे राजन् ! प्राणोंका निग्रह कर, शास्त्र में कहे हुए पदार्थोंमें मनकी धारणा करनेको सगुण ध्यान कहते हैं और इन्द्रियोंका निग्रह करके मनको एकाग्र करनेका अर्थात् मनको ध्याता, ध्यान तथा ध्येयसे रहित कर देनेका नाम निर्गुण योग (प्राणायाम) है (शिवयोगमें चरणका अंगूठा आदि सोलह आधार कहे हैं, उनमें मनकी धारणा करना अथवा याज्ञवल्क्यकी कही हुई पञ्चभूत धारणा आदिको सगुण योगमें समझना चाहिये याज्ञवल्क्यजीने पञ्चभूतधारणाके संबन्धमें इस प्रकार कहा है, कि-'पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते। आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् । आपायोर्हृदयान्तं यद्वन्हिस्थानं तदुच्यते । हृन्मध्यात्तु भ्रुवोर्मध्ये यावद्वायुकुलं भवेत्॥ आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते । पृथिव्यां धारयेद्ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् । विष्णुमप्स्वनिले रुद्रमीश्वरं वायुमण्डले । सदाशिवं तथा व्योम्नि धारयेत्सुसमाहितः । पृथिव्यां वायुमा-

मनसः प्राणायामश्च पार्थिव । एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्त-

स्थाप्य लकारेण समन्वितम् । ध्यायंश्चतुर्मुखाकारं ब्रह्माणं सृष्टि-कारणम् । धारयेत् पञ्चघटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् । वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् । स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं शुचिस्मितम् । शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् । धारयेत् पञ्चघटिकाः सर्वरोगैः प्रमुच्यते । वन्ह्यावनिलमारोप्य रेफाक्षर-समन्वितम् । त्र्यक्षं वरप्रदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम् । भस्मोद्‌धूलितसर्वांगं सुप्रसन्नमनुस्मरन् । धारयेद् घटिकाः पञ्च वन्हि-नासौ न दह्यते । मारुतं मरुतां स्थाने वर्णदेवसमन्विते । धारयेत् पञ्चघटिका वायुवद् व्योमगो भवेत् । आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् । बिन्दुरूपं महादेवं सर्वलोकैककारणम् । चित्तेन चिन्तयेत् खस्थं मुहूर्तमपि धारयेत् । स एवं युक्त इत्युक्त-स्तांत्रिकेष्वपि शिक्षितैः । अर्थात्—चरणसे जानुतकका स्थान पृथ्वी स्थान कहलाता है, जानु से गुदातकका स्थान जल स्थान कहलाता है, गुदासे हृदय तकका स्थान अग्निस्थान कह लाता है, हृदयसे दोनों भ्रकुटियों तकका स्थान वायुस्थान कह-लाता है और भ्रकुटियोंसे मस्तक तकका स्थान आकाशस्थान कहलाता है । साधक योगी पृथ्वीमें ब्रह्माकी धारणा करे, जल में विष्णुकी धारणा करे, अग्निमें रुद्रकी धारणा करे, वायुमें ईश्वरकी धारणा करे और आकाशमें भली भाँति सावधान हो-कर सदाशिवकी धारणा (ध्यान) करे । इन सब धारणाओं को करते समय सावधान रहे । योगी प्राणको नियममें रखकर पृथ्वीमें लकार बीजसे युक्त चारमुखवाले सृष्टिके कारणभूत ब्रह्माजीका ध्यान करे, और पाँच घड़ी तक प्राणोंको रोके रहे, इसप्रकार योगसाधनेवाला पुरुष पृथ्वीका जय करता है । जलमें प्राणवायुको रोककर वंकार बीज युक्त शुद्ध स्फटिककी समान

थैव च ॥ ९ ॥ प्राणायामो हि सगुणो निर्गुणं धारयेन्मनः ।

कान्तिवाले, पीले वस्त्रवाले, पवित्र हास्यवाले चतुर्भुज नारायण की धारणा कर पाँच घडी तक ध्यान करनेवाला पुरुष सब रोगों से छूट जाता है और जलका विजय करता है। अग्निमें प्राण-वायुको रोककर रकार बीजवाले त्रिनेत्र वर देनेवाले तरुण सूर्य की समान कान्तिमान् सब अङ्गोंमें भस्म लपेटनेवाले प्रसन्नमुख रुद्रका पाँच घड़ी तक ध्यान करे, ऐसे योगीको अग्नि नहीं जला सकता। और वर्णदेवसे युक्त पवनके स्थानमें पवनदेवका प्राण-वायुको रोककर पाँच घडी तक ध्यान किया जाय तो योगी वायु की समान आकाशमें घूम सकता है। और आकाशस्थानमें प्राण-वायुको रोककर हकार बीजयुक्त विन्दुरूप तथा सब लोकोंके कारणरूप श्रीशंकरका एक मुहूर्त्त भर भी यदि योगी एकाग्र चित्तसे चिन्तवन करलेता है, तो वह योगयुक्त होजाता है। इस प्रकार तन्त्रशास्त्रकुशल विद्वान् भी कहते हैं) ॥ ९ ॥ इसप्रकार प्राणोंका निग्रह कर मनको अमुकामुक पदार्थों पर धारणा करने (लगाने)का नाम सगुण प्राणायाम है और जिसमें इन्द्रियोंका निग्रह करके अपने धर्मसे रहितहुए मनका निग्रह किया जाता है वह निर्गुण प्राणायाम है, हे उत्तम मैथिलेश ! पूरक, कुम्भक तथा रेचक इस त्रिपुटयात्मक प्राणायामको करते समय मन्त्रद्वारा देवताका चिन्तवन करे, ध्यानरहित प्राणायाम करनेसे रोग हो जाते हैं, अतः ध्यानरहित प्राणायाम न करे (पवनयोगसंग्रह नामक ग्रन्थमें कहा है कि-' प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षया भवेत् । अयुक्ताभ्यासयोगेन महारोगसमुद्भवः ॥' अर्थात् प्राणा-याम करते समय यदि देवताओंका चिन्तवन किया जाता है तो सब रोग दूर होजाते हैं और देवताओंका ध्यान न करने पर बड़े २ रोग होजाते हैं। प्राणायाम किस २ समय किस २ देवता

यद्यनुश्यति मुञ्चन्वै प्राणान्मैथिलसत्तम । वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात्तं न समाचरेत् ॥१०॥ निशायाः प्रथमे यामे चोदना द्वादश स्मृताः । मध्ये स्वप्नात्परे यामे द्वादशैव तु चोदना ॥११॥ तदेव-

का ध्यान करके करना चाहिये इसके सम्बन्धमें योगि याज्ञवल्क्यने कहा है, कि-"नीलोत्पलदलश्यामं नाभिमध्ये व्यवस्थितम् । चतुर्भुजं महात्मानं पूरकेण विचिंतयेत् । कुम्भकेन हृदि स्थानं ध्यायेत्तु कमलासनम् । ब्रह्माणं रक्तगौरांगं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥ रेचकेनेश्वरं विद्याल्ललाटस्थं महेश्वरम् । शुद्धस्फटिकसंकाशं निर्मलं पापनाशनम् ॥" अर्थात् पूरक करते समय नाभिके मध्यभागमें रहनेवाले श्यामवर्ण महात्मा चतुर्भुजका ध्यान करे, कुम्भक करते समय हृदयमें रहनेवाले ब्रह्माजीका ध्यान करे कि-ब्रह्माजी कमल पर बैठेहुए हैं, उनके शरीरका वर्ण रक्त और गौर है, वे चार मुखवाले हैं, जगत्के पितामह हैं । तथा रेचक करते समय ललाटमें रहनेवाले, पापनाशक और शुद्ध स्फटिककी समान निर्मल महेश्वरका ध्यान करे) ॥१०॥ योगीको रात्रिके पहिले यामर्में बारह प्रकारकी चोदना (प्राणायाम) करना कहा है (उस समय शरीरके भिन्न२चक्रोंमें रहनेवाले देवोंका ध्यान कर शयन करे) और सोनेके पीछे चौथे प्रहरमें उठकर फिर इन बारह चोदनाओंको करे (वे बारह चोदनाएँ इसप्रकार हैं (१) मूलाधारमें तीन आवर्त वाला चक्र है, उस को ब्रह्म चक्र कहते हैं, उसका आकार योनिकेसा है और कन्द अग्निकी समान है, उसके ऊपर अधः शक्ति विराजमान है, यह शक्ति इष्ट फलको देनेवाली है (२) दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है, उसकी आकृति चार दलवाले कमलकी समान है और उसमें उड्डीयन शिव विराजते है (३) तीसरा नाभिचक्र है पाँच आवर्त वाला है, इसका रूप मेघकी समान, प्रकाश बिजलीकी

ह्युपशान्तेन दान्तेनैकान्तशीलिना। आत्मारामेण बुद्धेन योक्तव्यो-

समान है, उसमें शुभ सिद्धिदेने वाली कुण्डलिनी नीचेको मुख करके विराजमान है (४) चौथा हृदयचक्र है उसका आकार नीचेको मुखवाले अष्टदलकमलकी समान है,इसके मध्यमें तेजोमय लिंगकी समान कर्णिका विराजमान है, यह कर्णिका मनोवाञ्छित फल देती है (५) पाँचवा कण्ठचक्र है, यह चार अंगुल का है और उसमें इडा और पिंगला नामक नाडीके मध्यमें सुषुम्ना नाड़ी है, इस नाड़ीका ध्यान करे अर्थात् इस नाडी पर ध्यान लगाकर प्राणायाम करे (६) छठा घण्टिकाचक्र है, मनुष्यके कण्ठमें जो काग है उसका नाम घण्टिका है,उसके नाशसे मनुष्य वाणीरहित होजाता है, इसमें चिन्तवन (प्राणायाम) करे,(७) सातवाँ भ्रकुटिचक्र है, इसका आकार दिव्य ज्योतिकी समान है, इसके बीचमें ज्ञानलोचन रहता है (८) आठवाँ ब्रह्मरंध्र चक्र है, इसका नाम निर्वाणचक्र भी है इसकी आकृति अतिसूक्ष्म है, इसके बीचमें मोक्षदाता देव अतिसूक्ष्म जालंधर रूपसे रहते हैं (६) नवम हकार आकाशबीजचक्र है, वह प्रशस्त है, उसमें तीन शिखर हैं और वह पूर्ण पर्वत पर विराजमान सा दीखता है, इसके शिखरके ऊपर अष्टदलकमल है, उस कमलके बीचमें शून्यरूप ऊर्ध्वशक्ति विराजमान है, यह शक्ति कल्याण करनेवाली है, ऊपरके आठ चक्रोंमें आत्माको धारण करनेके पीछे हकारका जप करता हुआ मस्तकमें स्थित आकाशमें आत्मा को स्थिर करे (११) फिर समष्टिकार्यमें आत्माको स्थिर करे (१२) निष्कल ब्रह्ममें मनको स्थिर करके जब तक इच्छा हो तब तक प्राणवायुको रोके रहे) ॥११॥ इसप्रकार प्राणवायुको धारण कर उसके द्वारा दुर्दान्त मनका निग्रह कर शान्त हुए, इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले तथा एकान्तमें रहने वाले, केवल

त्मा न संशयः ॥ १२ ॥ पञ्चानामिंद्रियाणां तु दोषानाक्षिप्य पञ्चधा । शब्दं रूपं तथा स्पर्शं रसं गन्धं तथैव च ॥ १३ ॥ प्रतिभामपवर्गं च प्रतिसंहृत्य मैथिल । इन्द्रियग्राममखिलं मनस्यभिनिवेश्य ह ॥ १४ ॥ मनस्तथैवाहंकारे प्रतिष्ठाप्य नराधिप । अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिं च प्रकृतावपि ॥ १५ ॥ एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम् । विरजस्कमलं नित्यमनंतं शुद्धमव्रणम् ॥१६॥ तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम् । शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्म चाव्ययम् ॥ १७ ॥ युक्तस्य तु महाराज लक्षणान्युपधारय । लक्षणं तु प्रसादस्य यथातृप्तः सुखं स्वपेत् ॥ १८ ॥ निर्वाते तु यथा दीपो ज्वलेत्स्नेहसमन्वितः ।

आत्मामें ही आनन्द माननेवाले और शास्त्रके तत्त्वको जानने वाले ज्ञानी पुरुषको मनको रोककर योगसाधन अवश्य करना चाहिये ॥ १२ ॥ शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ये पाँच, पाँच इन्द्रियोंके दोष हैं, क्योंकि–ये अप्राप्तवस्तुकी स्पृहा करते है,योगी चोदनाओंका सेवन कर (सबको) त्यागदे ॥ १३ ॥ हे मैथिलेश ! प्रतिभा और अपवर्ग अर्थात् लय विक्षेपको भी त्यागदे और सब इन्द्रियोंका निग्रहकर मनमें लगावे ॥ १४ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! मनको अहंकारमें स्थिर करे,अहंकारको बुद्धिमें स्थित (लीन) करे और बुद्धिको प्रकृतिमें स्थिर करे १५ इसप्रकार तत्त्वों का अगले २तत्त्वोंमें लय करनेके पीछे योगी रजोगुणरहित, मलरहित, नित्य, अनन्त,शुद्ध,दोषरहित, कूटस्थ, आकाशकी समान छिद्ररहित, जरा तथा मृत्युरहित, सनातन पुरुष, सबके ईश्वर, विकारोंसे रहित अविनाशी परब्रह्मका ध्यान करे ॥१६–१७॥ हे महाराज ! योगयुक्त (योग करनेसे सिद्ध हुए) पुरुषके क्या लक्षण हैं, सुन ! तृप्त हुआ पुरुष जैसे सुखपूर्वक सोता है, तैसे ही समाधिस्थ पुरुष भी सुखसे योगका सेवन करता है ॥१८॥

निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद्युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १९ ॥ पाषाण इव मेघोत्थैर्यथाविन्दुभिराहतः । नालं चालयितुं शक्यस्तथा युक्तस्य लक्षणम् ॥ २० ॥ शंखदुंदुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः । क्रियमाणैर्न कंपेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २१ ॥ तैलपात्रं यथा पूर्णं कराभ्यां गृह्य पूरुषः।सोपानमारुहेद्भीतस्तर्ज्यमानोऽसिपाणिभिः॥२२ संयतात्मा भयात्तेषां न पात्राद्बिंदुमुत्सृजेत् । तथैवोत्तरमागम्य एकाग्रमनसस्तथा ॥ २३ ॥ स्थिरत्वादिंद्रियाणां तु निश्चलत्वात्तथैव च । एवं युक्तस्य तु मुनेर्लक्षणान्युपलक्षयेत्॥२४॥स्वयुक्तः-पश्यते ब्रह्म यत्तत्परममव्ययम् । महतस्तमसो मध्ये स्थितं ज्वल

पवनरहित प्रदेशमें, जैसे तेलसे भरेहुए दीपककी शिखा निश्चल रहती हुई ऊपरको प्रज्वलित होती रहती है, ऐसे ही विद्वान् समाधिस्थ योगी (की दशा) को भी कहते हैं ॥१९॥ वह योगी मेघोंकी बूँदोंसे जैसे पर्वत चलायमान नहीं होता है, तैसे ही वह अनेक विक्षेपोंके होने पर भी चलायमान नहीं होता है ॥ २० ॥ उस योगीके पासमें यदि बहुतसे शङ्ख और नगाड़े बजाये जावें अथवा भाँति २ के-गीत गाए जावें और बाजे बजाये-जावें, तब भी वह भी चलायमान-नहीं होता है, समाधिस्थका यह रूप है ॥ २१ ॥ जैसे कोई, दृढ निश्चयवाला पुरुष अपने दोनों हाथोंमें तेलसे भरे हुए कटोरेको लेकर सोपान पर चढे, उस समय कोई पुरुष हाथमें तलवार लेकर उसको डरावे तब भी जो पुरुष अपने मनको वशमें रख न डरकर तेल के कटोरेमेंसे तेलकी बूँद भी न गिरनेदे ऐसे ही योगी भी उत्तम मार्गमें जानेके लिये मनको एकाग्र करता है, इन्द्रियोंको स्थिर करता है, अन्तःकरणको निश्चल करता है तब योगको साधता है। योग साधनेवाले मुनिके यह लक्षण समझने चाहियें २२-२४ जब योगी समाधिमें होता है तब उसको निर्विकार 'परब्रह्मके

नसन्निभम् ॥२५॥ एतेन केवलं याति त्यक्त्वा देहमसाक्षिकम् । कालेन महता राजन् श्रुतिरेषा सनातनी ॥ एतद्धि योगं योगानां किमन्यद्योगलक्षणम् । विज्ञाय तद्धि मन्यंते कृतकृत्या मनीषिणः २७

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१६ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच । तथैवोत्क्रममाणं तु शृणुष्वावहितो नृप । पद्भ्यामुत्क्रममाणस्य वैष्णवं स्थानमुच्यते ॥ १ ॥ जंघाभ्यां तु वसून्देवानाप्नुयादिति नः श्रुतम् । जानुभ्यां च महाभागान्साध्यान्देवानवाप्नुयात् ॥ २ ॥ पायुनोत्क्रममाणस्तु मैत्रं स्थानम-

दर्शन होते हैं, जो ब्रह्म गाढ़ अन्धकारके मध्यमें तेजस्वी अग्नि के सदृश है ॥२५॥ हे राजन् ! योगसाधन करने पर पुरुष जड़ देहको त्यागकर "केवल" कहलानेवाले प्रकृतिरहित पुरुषको बहुत समयमें प्राप्त करता है, यह सनातन श्रुति है ॥२६॥ यही योगियोंका योग है इसके अतिरिक्त योगका और लक्षण क्या होसकता है ? इस योगको जानकर विद्वान् अपने आत्माको कृतकृत्य मानता है २७ तीनसौ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ३१६

याज्ञवल्क्यने कहा, कि योगी (जिस आधारमें मरणपर्यन्त अपने मनको और प्राणोंको धारण करता है, उस आधारके द्वारा) मरणके पीछे कहाँ जाता है, इस विषयको मैं तुमसे कहता हूँ, तू सावधान होकर सुन ! योगीका जीवात्मा यदि चरणोंमेंसे निकल जाता है तो उसका आत्मा विष्णुलोकमें जाता है ॥१॥ जिसके प्राण दोनों जंघाओंके बीचमेंसे निकल जाते हैं, वह योगी आठ वसुओंके लोकमें जाता है, ऐसा हमने सुना है, जिसके प्राण दोनों जानुओंमेंसे निकलते हैं, वह साध्य देवताओंके लोकमें जाता है ॥ २ ॥ जिसके प्राण गुदाके द्वारा निकलते हैं, वह मित्र (सूर्य) के स्थानमें जाता है, जिसके प्राण जघनमेंसे जाते हैं, वह फिर

वाप्नुयात् । पृथिवी जघनेनाथ ऊरुभ्यां च प्रजापतिम् ॥ ३ ॥ पार्श्वाभ्यां मरुतो देवान्नाभ्यामिंद्रत्वमेव च ॥ ४ ॥ ग्रीवया तु मुनिश्रेष्ठं नरमाप्नोत्यनुत्तमम् । विश्वेदेवान्मुखेनाथ दिशः श्रोत्रेण चाप्नुयात् ॥५॥ घ्राणेन गन्धवहनं नेत्राभ्यामग्निमेव च । भ्रूभ्यां चैवाश्विनौ देवौ ललाटेन पितृनथ ॥६॥ ब्रह्माणमाप्नोति विभुं मूर्ध्ना देवाग्रजं तथा । एतान्युत्क्रमणस्थानान्युक्तानि मिथिलेश्वर७ अरिष्टानि प्रवक्ष्यामि विहितानि मनीषिभिः । संवत्सरवियोगस्य संभवन्ति शरीरिणः ॥ ८ ॥ योऽरुन्धतीं न पश्येत दृष्टपूर्वां कदा-

पृथ्वीलोकमें आता है और जिसके प्राण दोनों ऊरुओंमेंसे जाते हैं, वह प्रजापतिके लोकमें जाता है ॥ ३ ॥ जिसके प्राण पार्श्व भागमेंसे जाते हैं वह पुरुष मरुत-लोकमें जाता है, जिसके नाभि के द्वारा जाते हैं, वह पुरुष इन्द्रत्वको पाता है, जिसके प्राण दोनों भुजाओंसे जाते हैं, वह पुरुष इन्द्रलोकमें जाता है और जिसके प्राण उरोदेशसे निकलते हैं वह पुरुष रुद्रलोकमें जाता है ॥ ४ जिसके प्राण कण्ठमेंसे निकलते हैं वह पुरुष मुनिश्रेष्ठ नरके श्रेष्ठ लोकोंमें जाता है, जिसके प्राण मुखमेंसे निकलते हैं, वह पुरुष विश्वेदेवताओंके लोकमें जाता है और जिसके प्राण कर्णोंके द्वारा निकलते हैं, वह पुरुष दिशाओंको पाता है ॥५॥ जिस पुरुषके प्राण नासिकासे निकलते हैं, वह पुरुष गन्धवहन (वायु) के लोकमें जाता है और जिसके प्राण दोनों भ्रकुटियों के द्वारा जाते हैं, वह पुरुष अश्विनीकुमारोंके लोकमें जाता है और जिसके प्राण ललाटके द्वारा जाते हैं, वह पितृलोकमें जाता है ॥६॥ जिसके प्राण मस्तकमेंसे निकलते हैं वह पुरुष देवताओं में प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्माजीके लोकमें जाता है. हे राजन् ! इस प्रकार तुमसे उत्क्रमण स्थान कहे७अब विद्वानोंके कहे हुए अरिष्टों (मरणचिह्नों) को तुमसे कहता हूँ,यह चिह्न एक वर्षमें मरण पाने

चन । तथैव ध्रुवमित्याहुः पूर्णेन्दुं दीपमेव च ॥ ६ ॥ खंडाभासं दक्षिणतस्तेऽपि संवत्सरायुषः । परचक्षुपि चात्मानं ये न पश्यंति पार्थिव ॥१०॥ आत्मच्छायाकृतीभूतं तेऽपि संवत्सरायुषः । अतिद्युतिरतिमज्ञा अमज्ञा चाद्युतिस्तथा ॥ ११ ॥ प्रकृतेर्विक्रियापत्तिः षण्मासान्मृत्युलक्षणम् । दैवतान्यवजानाति ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ १२ ॥ कृष्णश्यावच्छविच्छायः षण्मासान्मृत्युलक्षणम् । ऊर्णनाभेर्यथा चक्रं छिद्रं सोमं प्रपश्यति १३ तथैव च सहस्रांशुं सप्तरात्रेण मृत्युभाक् शवगन्धमुपाघ्राति सुरभिं प्राप्य यो नरः १४

वाले पुरुषमें होते हैं ॥८॥ जिसने पहिले अरुन्धती और ध्रुवके तारेको देखा हो उसको जब ये तारे देखने पर भी न दीखें और जो पूर्णचन्द्रमाको देखने पर भी न देखे, चन्द्रमाको और दीपक को दाहिनी ओरसे खण्डित देखे, वह भी एक वर्ष तक जीवित रहता है ॥ ६ ॥ अर्थात् एक वर्षमें उसकी मृत्यु होजाती है और हे राजन् ! जो पुरुष अपने शरीरकी परछाहींको दूसरे मनुष्य की नेत्रोंकी पुतलियोंमें नहीं देखता है, वह भी एक वर्ष तक ही जीवित रहता है ॥ १० ॥ जो मनुष्य अतितेजस्वी पदार्थोंको निष्प्रभ देखता है और जो अति बुद्धिमान् होने पर भी बुद्धिरहित होजाता है ॥ ११ ॥ तथा जिसके स्वभावमें बड़ा भारी उलटफेर होजाता है उस मनुष्यका छः महीनेमें मरण होजाता है, तथा जो पुरुष देवताओंका तिरस्कार करता है, ब्राह्मणोंके साथ विरोध करने लगता है और जिसके शरीरकी कान्ति श्यामवर्णसे धूसरवर्णकी होजाती है, वह पुरुष छः महीनेमें मर जाता है और जो मकड़ीके जालेकी समान चन्द्रमामें छिद्र देखता है ॥१३॥ और सूर्यमें भी छिद्र देखता है; वह पुरुष सात रात्रिमें मर जाता है और जिस मनुष्यको देवमन्दिरमें बैठने पर वहाँकी गंध शवकी दुर्गन्धिसी लगती है, वह मनुष्य भी सात रात्रिमें

देवतायतनस्थस्तु सप्तरात्रेण मृत्युभाक्। कर्णनासावनमनं दंत दृष्टिविरागिता ॥ १५ ॥ संज्ञालोपो निरूष्मत्वं सद्यो मृत्युनिदर्शनम्। अकस्माच्च स्रवेद्यस्य वाममक्षि नराधिप ॥१६॥ मूर्धतश्चोत्पतेद्धूमः सद्यो मृत्युनिदर्शनम्।एतावन्ति त्वरिष्टानि विदित्वा मानवोऽत्मवान् ॥ १७ ॥ निशि चाहनि चात्मानं योजयेत् परमात्मनि । प्रतीक्षमाणस्तत्कालं यत्कालं प्रेतता भवेत् ॥ १८ ॥ अथास्य नेष्टं मरणं स्थातुमिच्छेदिमां क्रियाम् । सवगन्धान् रसांश्चैव धारयीत नराधिप ॥ १९ ॥ स सांख्यधारणं चैव विदितात्मा नरर्षभ । जयेच्च मृत्युं योगेन तत्परेणांतरात्मना ॥२०॥

मर जाता है, और जिसके नाक तथा कान टेढे पड़ जाते हैं, दाँत और नेत्र फीके होजाते हैं ॥ १४-१५ ॥ संज्ञाका नाश होजाता है, शरीरकी उष्णता कम होजाती है, वह पुरुष तत्काल मर जाता है और हे राजन् ! जिसके वामनेत्रमेंसे अकस्मात् जल बहने लगता है ॥१६॥ तथा मस्तकमेंसे धुआँसा निकलता हुआ दीखता है; वह पुरुष भी दिन (अथवा) रात्रि पूर्ण होने से पहिले ही मर जाता है । इन अरिष्टोंको जान कर आत्मज्ञानी मनुष्य दिन रात (समाधिस्थ रह कर) परमात्मामें मन लगावे और अपने मरणके समयकी वाट देखे ॥ १७-१८ ॥ मनुष्य मरना न चाहे तो सब गन्धोंको और सब रसोंको जीतकर जितेन्द्रिय बने (ऐसा करनेसे योगी मृत्युको जीत सकता है, अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे पृथिवी आदिका जय करनेसे गन्ध आदिका जय होता है और पञ्चभूतके जयसे मृत्युको जीत सकता है, श्रुति भी कहती है, कि—"पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते, पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्") ॥ १९ ॥ जिस पुरुषको आत्मज्ञान प्राप्त होजाता है, वह पुरुष सदा सांख्यका सेवन करता है तथा अपने

गच्छेत्प्राप्याक्षयं कृत्स्नमजन्म शिवमव्ययम्। शाश्वतं स्थानमचलं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१७ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच। अव्यक्तस्थं परं यत्तत्पृष्टस्तेऽहं नराधिप। परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ॥ १ ॥ यथार्षेणेह विधिना चरताऽवनतेन ह। मयादित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ।२। महता तपसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया। प्रीतेन चाहं विभुना सूर्येणोक्तस्तदाऽनघ ॥ ३ ॥ वरं वृणीष्व विप्रर्षे यदिष्टं ते सुदुर्लभम्। तत्ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥४॥ ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः। यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्र-

---

अन्तःकरणको परमात्मामें लगा कर मृत्युको जीत लेता है ।२०। और योगसेवन कर मरण होनेके पीछे अकृतात्माओंको अप्राप्य अचल जन्मरहित, कल्याणकारी, विकाररहित, सनातन, अक्षय, परिणाम न पाने वाले अर्थात् प्रकृतिसे भिन्न परमपुरुषको पाता है ॥ २१ ॥ तीनसौ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१७ ॥

याज्ञवल्क्यने कहा, कि-हे राजन्! तूने मुझसे अव्यक्तमें रहने वाले परमपुरुषके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, तेरा प्रश्न परमगुप्त है, तब भी उसका उत्तर मैं तुझको देता हूँ, उसको हे राजन्! तू सावधान होकर सुन ॥ १ ॥ हे मिथिलाधिप! मैं आर्ष प्रणालीके अनुसार नम्रभावसे वर्ताव करता था, उस समय सूर्यने मुझे यजुर्वेदके मंत्र दिये थे ॥ २ ॥ हे निष्पाप! (पहिले) मैंने महातप करके तेजस्वी सूर्यदेवकी सेवा की थी, तब व्यापक सूर्यदेवने प्रसन्न होकर मुझसे कहा; कि-॥ ३ ॥ हे विप्रर्षे! तू अतिदुर्लभ अपने इष्ट वरको मुझसे माँग ले, मैं तुझे वर दूँगा, क्योंकि-मेरा प्रसाद अतिदुर्लभ है ॥ ४ ॥ तब

मिच्छामि वेदितुम् ॥ ५ ॥ ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज । सरस्वतीह वाग्भूता शरीरं ते भवेक्ष्यति ॥ ६ ॥ ततो मामाह-भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु । विवृतं च ततो मेऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥ ७ ॥ ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ । अविज्ञानादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥ ८ ॥ ततो विदह्यमानं मामुवाच भगवान् रविः । मुहूर्त्तं सह्यतां दाहस्ततः शीतीभविष्यति ॥ ९ ॥ शीतीभूतं च मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः । प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज ॥१०॥ कृत्स्नं शत-

मैंने मस्तक नमा कर तपने वालोंमें श्रेष्ठ सूर्यसे कहा, कि-"मुझे यजुर्वेदके मंत्रोंका ज्ञान नहीं है, उनको मैं शीघ्र ही जानना चाहता हूँ" ॥ ५ ॥ इस प्रकार भगवान् सूर्यसे कहा, तब वह मुझसे बोले, कि-हे द्विज ! मैं तुझे (यजुर्वेदके मंत्र) दूँगा, सरस्वती वाणीका स्वरूप धारण कर तेरे मुखमें प्रवेश करेगी ६ फिर भगवान् सूर्यने मुझे आज्ञा दी, कि-"तू अपने मुखको फैला" मैंने उनके कथनानुसार अपने मुखको फैलाया, तब हे निष्पाप ! सरस्वतीने मेरे मुखमें प्रवेश किया ॥७॥ सरस्वती के मेरे मुखमें प्रवेश करते ही मेरे शरीरमें जलन पड़ने लगी, तब मैं जलमें घुस गया (यह सब) सूर्यने मुझ पर कृपा करनेके लिये किया है यह न समझ कर मैं उन पर कुपित हुआ ॥८॥ परन्तु मुझे इसप्रकार जलता हुआ देखकर भगवान् सूर्यदेवने मुझसे कहा, कि-"तू एक मुहूर्त तक इस दाहको सहन कर, फिर तेरे शरीरमें ठण्डक पड़ जायगी" ॥९॥ तब सूर्यके कथनानुसार थोड़े ही समयमें मेरा शरीर शीतल होगया, मुझे स्वस्थ हुआ देख कर प्रकाश फैलाने वाले सूर्यने मुझसे कहा, कि-"हे द्विज ! परशाखा और उपनिषद्सहित वेद तुझमें स्थित रहेगा ॥१०॥ तू सारे शतपथको रचेगा, फिर तुझे मोक्षकी इच्छा

पथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ । तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥११॥ प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत्सांख्ययोगेप्सितं पदम् । एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्त्तत ॥ १२ ॥ ततोऽनुव्याहृतं श्रुत्वा गते देवे विभावसौ । गृहमागत्य संहृष्टोऽचिन्तयं वै सरस्वतीम् ॥ १३ ॥ ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यंजनभूषिता । ॐकारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥ १४ ॥ ततोऽहमर्घ्यं विधिवत्सरस्वत्यै न्यवेदयम् । तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥ १५ ॥ ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम् । चक्रे स परिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥ १६ ॥ कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम् । विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ॥ १७ ॥ ततः सशिष्येण मया सूर्येणेव गभस्तिभिः । व्यस्तो यज्ञो महाराज पितुस्तव महात्मनः ॥ १८ ॥ मिषतो देव-

होगी ॥११॥ तब सांख्य और योगके ज्ञानसे सर्वोत्तम इष्टपदको तू पावेगा" यह कह कर भगवान् सूर्यदेव अस्ताचल पर चले गए १२ सूर्यके इन वचनोंको सुनकर उनके चले जाने पर मैं घर आया और बड़ी प्रसन्नतासे सरस्वतीका ध्यान करनेलगा।१३। ध्यान करते ही स्वर तथा व्यञ्जनोंसे शोभित अतिशुभा देवी सरस्वती ॐकारको आगे करके मेरे सामने प्रकट हुई ॥ १४ ॥ मैंने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार देवी सरस्वतीको और तेजस्वियों में श्रेष्ठ सूर्यको अर्घ दिया, इसके अनन्तर मैं सरस्वती और सूर्य के ध्यानमें परायण रहने लगा ॥ १५ ॥ फिर मैंने परमहर्षसे रहस्य, संग्रह तथा परिशिष्टसहित सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण रचा, तब मैं परम प्रसन्न हुआ ॥१६॥ तदनन्तर मैंने अपने सौ उत्तम शिष्योंको उसका अध्ययन कराया . यह मेरे मामा वैशम्पायनको अच्छा न लगा ॥ १७ ॥ तदनन्तर सूर्य जैसे अपनी किरणोंके साथ गमन करता है, तैसे ही मैं अपनी शिष्यमण्डलीके साथ

लस्यापि ततोर्धं कृतवानहम् । स्ववेददक्षिणायार्थे विमर्दे मातुलेन ह ॥ १९ ॥ सुमन्तुनाथ पैलेन तथा जैमिनिना च वै । पित्रा ते मुनिभिश्चैव ततोऽहमनुमानितः ॥ २० ॥ दश पञ्च च मासानि यजूंष्यर्कान्मयानघ । तथैव रोमहर्षेण पुराणमवधारितम् ॥२१॥ बीजमेतत्पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् । सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥ २२ ॥ कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वञ्च कृतं मया । यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥ २३ ॥ शिष्याणामखिलं कृत्स्नमनुज्ञातं ससंग्रहम् । सर्वे च शिष्याः शुचयो गताः परमहर्षिताः ॥ २४ ॥ शाखाः पञ्च दशेमास्तु विद्याभास्करदेशिताः । प्रतिष्ठाप्य यथाकामं वेद्यं तदनुचिंतयम् ॥ २५ ॥ किमत्र ब्रह्मण्यमृतं किं च वेद्यमनुत्तमम् । चिन्तयंस्तत्र चागत्य

महाप्रतापी तुम्हारे पिताके यज्ञमें गया और उनको यज्ञ कराया १८ उस समय देवल ऋषिके सामने यज्ञकी दक्षिणाके सम्बन्धमें मेरा अपने मामाके साथ विवाद होगया और मैंने देवलकी सम्मतिसे आधी दक्षिणा लेना स्वीकृत की ॥ १९ ॥ फिर सुमन्तु, पैल, जैमिनि, तुम्हारे पिता तथा दूसरे मुनियोंने मेरी प्रशंसा की २० मुझे सूर्यसे पचास यजुष् मिले थे, फिर मैंने लोमहर्षणसे पुराण पढ़े थे ॥२१॥ मन्त्रोंको तथा देवी सरस्वतीको आगे करके मैंने सूर्यके प्रभावसे शतपथ ब्राह्मण रचनेका काम आरम्भ किया और इस अपूर्व ग्रन्थको मैंने पूरा किया, इस कार्यको करनेके लिये मुझ से पहिले और कोई नहीं उठा था, इस प्रकार जो मार्ग मुझे प्रिय था उस मार्गका मैंने भली प्रकार सम्पादन किया ॥ २२-२३ ॥ मैंने परिशिष्ट और संग्रहसहित उस समस्त ग्रन्थको अपने शुद्ध मन वाले सब शिष्योंको पढ़ाया, तब वे परम प्रसन्न हुए ।२४। इस प्रकार सूर्यकी उपदेश दी हुई इस पचास शाखा वाली विद्या को स्थापित कर मैं वेद्य परब्रह्मका यथेच्छ चिन्तवन करता हूँ २५

गन्धर्वो मामपृच्छत ॥ २६ ॥ विश्वावसुस्ततो राजन्वेदान्तज्ञानकोविदः । चतुर्विंशांस्ततोऽपृच्छत्प्रश्नान्वेदस्य पार्थिव॥२७॥पञ्चविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं तदा । विश्वाविश्वं तथाश्वाश्वं मित्रं वरुणमेव च ॥ २८ ॥ ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञोऽज्ञः कस्तपा अतपास्तथा । सूर्यादः सूर्य इति च विद्याविद्ये तथैव च ॥ २९ ॥ वेद्यावेद्यं तथा राजन्नचलं चलमेव च । अपूर्वमक्षयं क्षय्यमेतत् प्रश्नमनुत्तमम् । अथोक्तश्च महाराज राजा गन्धर्वसत्तमः । पृष्ट-

हे राजन् ! एक समय वेदान्तज्ञानमें कुशल विश्वावसु नामक गन्धर्व इस शास्त्रमें ब्राह्मण जातिका हितकारक सत्य क्या है ? तथा इसमें जानने योग्य हितकारक वस्तु कौनसी है ? इसका विचार करता हुआ मेरे पास आया, हे राजन् ! उसने मुझसे वेद के सम्बन्धमें चौबीस प्रश्न बूझे ॥ २६–२७ ॥ और अन्तिम पच्चीसवाँ प्रश्न आन्वीक्षिकी (युक्तिपूर्वक मनन करनेकी) विद्या के सम्बन्धमें बूझा, वे प्रश्न इस प्रकार हैं (१) विश्व क्या है? (२) अविश्व क्या है ? (३) अश्व (४) अश्वा किसको कहते हैं ? (५) मित्र कौन है ? (६) वरुण कौन है ? ॥ २८ ॥ (७) ज्ञान क्या है ? (८) ज्ञेय क्या है? (९) अज्ञ कौन है ? (१०) ज्ञ कौन है ? (११) क कौन है ? (१२) तपा कौन है ? (१३) अतपा कौन है ? (१४) सूर्याद (सूर्यका भक्षण करने वाला) कौन है ? (१५) सूर्य कौन है ? (१६) विद्या (१७) और अविद्या किसको कहते हैं ? और हे राजन् ! (१८) वेद्य (जानने योग्य) क्या है ? और (१९) अवेद्य क्या है ? ॥ २९ ॥ (२०) अचल क्या है ? और (२१) चल क्या है? (२२) अपूर्व क्या है? (२३) अक्षय किसको कहते हैं ? और (२४) क्षय किसको कहते हैं ? इस प्रकार गन्धर्वने मुझ से उत्तम प्रश्न बूझे थे॥३०॥हे महाराज ! गन्धर्वोंमें उत्तम माने जाने वाले उस गन्धर्वने मुझसे इस प्रकार क्रमशः अर्थवेत्ताओंमें

वानजुपूर्वेण प्रश्नमर्थवदुत्तमम् ॥ ३१ ॥ मुहूर्तम्मृष्यतां तावद्याव-देवं विचिंतये । बाढमित्येवं कृत्वा च तूष्णीं गन्धर्व आस्थितः ३२ ततोऽनुचिंतयमहं भूयो देवीं सरस्वतीम् । मनसा, स च मे प्रश्नो दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥ ३३ ॥ तत्रोपनिषदं चैव परिशेषञ्च पार्थिव । मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ॥ ३४ ॥ चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैषा सांपरायिकी । उदीरिता मया तुभ्यं पञ्च-विंशादधिष्ठिता ॥ ३५ ॥ अथोक्तस्तु मया राजन्, राजा विश्वा-वसुस्तदा । श्रूयतां यद्भवानस्मान्प्रश्नं संपृष्टवानिह ॥ ३६ ॥ विश्वाविश्वेति यदिदं गन्धर्वेन्द्रानुपृच्छसि । विश्वाव्यक्तं परं विद्याद्भूतभव्यभयंकरम् ॥ ३७ ॥ त्रिगुणं गुणकर्तृत्वाद्विश्वान्यो

उत्तम माने जानेवाले प्रश्न बूझे यह सुनकर मैंने उससे कहा, कि ३१ मैं तेरे प्रश्नोंके उत्तरका विचार करूँ तब तक तू विश्राम कर तब बहुत अच्छा कहकर गन्धर्व मौन होकर बैठा रहा ॥ ३२ ॥ तब मैं अपने मनमें सरस्वती देवीका स्मरण करनेलगा, तब इन प्रश्नोंका उत्तर जैसे दही मथने पर मक्खन निकल आता है, ऐसे ही मेरे मनमें स्वाभाविकरीतिसे प्रकट होगया ॥ ३३ ॥ इस आन्वीक्षिकी विद्याकी महत्ताका विचार करके वेदके अन्तभाग वाले उपनिषद्रूपमेंसे दहीको मथने पर जैसे घी दीखने लगता है, ऐसे ही मैं आन्वीक्षिकी विद्याको देखने लगा ॥ ३४ ॥ यह (त्रयी, वार्ता, नीतिके अतिरिक्त) चौथी (आन्वीक्षिकी) विद्या मुक्ति देने वाली है और जो चौबीस तत्त्वोंसे पर पच्चीसवाँ अर्थात् जीवरूप है, उसके सम्बन्धमें मैंने तुझे पहिले समझा दिया है ३५ विश्वावसुको यह समझाने पर मैंने उससे कहा, कि-तूने मुझसे जो प्रश्न बूझे थे, उनके उत्तरको सुन ॥ ३६ ॥ हे गन्धर्वराज ! तूने मुझसे प्रश्न किया था, कि-विश्व क्या और अविश्व क्या है ? (सुन) विश्व अव्यक्त है तथा जन्ममरणात्मक भयको

निष्कलस्तथा । अश्वश्चाश्वा च, मिथुनमेवमेवानुदृश्यते ॥ ३८ ॥ अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम् । तथैव मित्रं पुरुषं वरुणं प्रकृतिं तथा ॥ ३९ ॥ ज्ञानं तु प्रकृतिं प्राहुर्ज्ञेयं निष्कलमेव च । अज्ञश्च ज्ञश्च पुरुषस्तस्मान्निष्कल उच्यते ॥ ४० ॥ कस्तपा अतपाः प्रोक्तः कोऽसौ पुरुष उच्यते । तपास्तु प्रकृतिं प्राहुरतपा निष्कलः स्मृतः ॥ ४१ ॥ तथैवावेद्यमव्यक्तं वेद्यः पुरुष उच्यते ।

करने वाली श्रेष्ठ प्रकृतिरूप है ॥ ३७ ॥ उसको (सत्त्व, रज तथा तम) तीन गुणोंसे युक्त कहा जाता है, क्योंकि–गुणोंवाले तत्त्वोंको वह उत्पन्न करती है । अब जो अविरव है, वह गुण-रहित पुरुषरूप है । अश्व तथा अश्वासे स्त्री पुरुषके जोड़ेको ग्रहण करना चाहिये (विद्वान् स्त्रीरूप प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं और जिसका प्रतिविम्ब पड़नेसे प्रकृति सब कार्य करती है उस निर्गुणको पुरुष कहते हैं) ॥ ३८ ॥ प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं और पुरुषको निर्गुण कहते हैं, इसी प्रकार मित्र पुरुष है तथा वरुण प्रकृतिरूप है ॥ ३९ ॥ ज्ञानको प्रकृति कहते हैं और ज्ञेयको पुरुष कहते हैं । अज्ञ और ज्ञ यह दोनों पुरुषरूप हैं (क्योंकि–ज्ञ अविद्या से आवृत होने के कारण अज्ञ अर्थात् जीव कहलाता है) अतः एव वह गुणोंसे रहित है (ज्ञ तथा अज्ञ शब्दसे ईश्वर और जीव समझने चाहिये, इनमें कार्योपाधिसे जीव कहलाता है और कारणोपाधिसे ईश्वर कहलाता है, कार्यकारण उपाधिके कारण ब्रह्मको जीव तथा ईश्वर कहा जाता है और जब वह उपाधिरहित होता है, तब वह निष्कल ब्रह्म कहलाता है) ॥ ४० ॥ तूने प्रश्न किया, कि–क क्या है ? तप क्या है ? ? तथा अतपा क्या है ? इसका उत्तर मैं तुझे देता हूँ, क (आनन्द) पुरुषरूप कहलाता है, जो विकारयुक्त अर्थात् तपोरूप है, वह प्रकृति है और जो विकारगुणरहित है अर्थात्

चलाचलमिति प्रोक्तं त्वया तदपि मे शृणु ॥४२॥ चलान्तु प्रकृतिं प्राहुः कारणं क्षयसर्गयोः । आक्षेपसर्गयोः कर्ता निश्चलः पुरुषः स्मृतः ॥ ४३ ॥ तथैव वेद्यमव्यक्तमवेद्यः पुरुषस्तथा । अज्ञावुभौ ध्रुवौ चैव अक्षयौ चाप्युभावपि ॥ ४४ ॥ अजौ नित्यावुभौ प्राहुरध्यात्मगतिनिश्चयात्॥४५॥अक्षयत्वात्प्रजनने अजमत्राहुरव्ययम् । अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ह्यस्य न विद्यते॥४६॥गुणक्षयत्वात्प्रकृतिः कर्तृत्वादक्षयं बुधाः । एषा तेऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी

अतपारूप है, वह निष्कल है ॥ ४१ ॥ इसी प्रकार अवेद्य प्रकृति कहलाती है और वेद्य पुरुषरूप है, तूने मुझसे अचल और चल के विषयमें (अर्थात् स्थावर और जंगमके विषयमें) प्रश्न किया, उसका उत्तर तू मुझसे सुन ॥ ४२ ॥ प्रकृति जगत्की उत्पत्ति तथा संहार करनेमें कारणभूत है, अतः उसको विद्वान् चल कहते हैं और पुरुष जगत्की उत्पत्ति तथा संहार करता है, परन्तु विकारको प्राप्त नहीं होता है, इससे उसको निश्चल कहते हैं॥४३॥ (और बहुतसे शास्त्रोंके मतानुसार) वेद्य प्रकृति है, तथा अवेद्य पुरुष है (दोनों प्रकृति तथा पुरुष अज्ञ, ध्रुव तथा अक्षय है प्रकृति स्वभावतः जड़ है, अतएव वह अपने स्वरूपको नहीं जान सकती इसी प्रकार निष्कल आत्मा भी वृत्तिविरोधके कारण अपने स्वरूपको नहीं जानता है, अत एव प्रकृति और पुरुष दोनों अज्ञानी हैं तथा दोनों ही अनादि और अक्षय भी हैं) ॥ ४४ ॥ अध्यात्मशास्त्रको जाननेवाले पुरुष निर्णय करके कहते हैं, कि-प्रकृति और पुरुष अजन्मा और नित्य हैं ॥ ४५ ॥ और उत्पन्न करनेमें क्षय रहित होनेसे अजरूप प्रकृतिको अव्यय कहते हैं और पुरुषको (भी) अक्षय कहते हैं, क्योंकि-उसका कभी क्षय नहीं होता है ॥ ४६ ॥ प्रकृतिके गुणोंका क्षय होजाता है, परन्तु प्रकृतिका स्वयं क्षय नहीं होता है, अत एव विद्वान् प्रकृति

सांपरायिकी४७विद्योपेतं धनं कृत्वा कर्मणा नित्यकर्मणि । एकान्तदर्शना वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः४८जायन्ते च म्रियन्ते च यस्मिन्नेते यतश्च्युताः। वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्वसत्तम४६ सांगोपांगानपि यदि यश्च वेदानधीयते । वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः ॥५०॥ यो घृतार्थी खरीक्षीरं मथेद्गंधर्वसत्तम । विष्ठां तत्रानुपश्येत न मण्डं न च वै घृतम् ॥ ५१ ॥ तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विंदति । स केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः

को अक्षय कहते हैं। प्रकृतिमें विकार होनेसे वह सृष्टिकी कर्त्रीरूप है, उत्पन्न हुए परिणामकी उत्पत्ति और लय होता है, परन्तु मूल प्रकृतिमें कुछ विकार नहीं आता है, इस कारण प्रकृतिको अक्षय कहते है, इस प्रकार मैंने तुझे चौथी आन्वीक्षिकी विद्या कह सुनाई, यह विद्या मोक्ष दिलाने वाली है ॥४७। हे विश्वावसु ! शास्त्रमें कहा है, कि—गुरुकी सेवा करके उनसे आन्वीक्षिकी विद्याके साथ ऋक्, यजु, तथा सामवेदरूप धन सम्पादन करना चाहिये, नित्य कर्म करने चाहियें तथा सब वेदोंका स्वाध्याय करना चाहिये ॥ ४८ ॥ हे गन्धर्वश्रेष्ठ ! जिस परमात्मा से सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं और जिसमें सब लीन होजाते हैं तथा जो सब मनुष्योंका पालन किया करता है, ऐसे वेदमें प्रतिपादन किये हुए और जानने योग्य ब्रह्मको जो नहीं जानते है, वे इस संसारमें जन्म और मरण ही पाते रहते हैं ॥ ४६ ॥ जो पुरुष वेदोंका और उसके अंगोंका अध्ययन तो करते हैं, परन्तु वेदमें वर्णित परब्रह्मको नहीं जानते हैं, वे तो वेदके बोझेको ढोने वाले ही हैं ॥५०॥ हे गन्धर्वश्रेष्ठ ! जो पुरुष घी पानेकी आशा से गधीके दूधको विलोता है उस पुरुषको उसमेंसे विष्ठा ही प्राप्त होता है, घी अथवा मक्खन नहीं मिलता ॥ ५१ ॥ इसी प्रकार जो वेद पढने पर भी वेद्य और अवेद्यको नहीं जानना है, वह

स्मृतः ॥५२॥ द्रष्टव्यौ नित्यमेतौ तत्परेणांतरात्मना । यथास्य जन्मनिधने न भवेतां पुनः पुनः ॥ ५३ ॥ अजस्रं जन्मनिधनं चिन्तयित्वा त्रयीमिमाम् । परित्यज्य क्षयमिह अक्षयं धर्ममास्थितः ॥ ५४ ॥ यदानुपश्यतेत्यंतमहन्यहनि काश्यप । तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥५५॥ अन्यश्च शाश्वतोऽव्यक्तस्तथान्यः पंचविंशकः । तस्य द्वावनुपश्येतां तमेकमिति साधवः ५६ तेनैतं नाभिनंदंति पञ्चविंशकमच्युतम् । जन्ममृत्युभयाद्योगाः सांख्याश्च परमैषिणः ॥५७॥ विश्वावसुरुवाच । पञ्चविंशं यदे-

तो मूर्ख है और उसको ज्ञानका भारवाही समझना चाहिये ५२ पुरुष अपने आत्माको परमात्मामें संयुक्त करे और सदा प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विचार किया करे, कि–जिससे वारंवार जन्म मरण न हो ॥ ५३ ॥ इस संसारमें जन्म मरण सदा होता रहता है, इसका विचार करके तथा वेदोक्त सव कर्मोंके नाशवान् फलोंको त्याग कर मनुष्य अविनाशी योगधर्मका सेवन करे ॥ ५४ ॥ हे कश्यपवंशोत्पन्न गन्धर्व ! जो पुरुष सदा अपने जीव और आत्माके स्वरूपका विचार किया करता है वह पुरुष परमात्मस्वरूप होजाता है और वही पुरुष छब्बीसवें पुरुषका दर्शन पाता है ॥ ५५ ॥ मूढ मनुष्य शाश्वत और अव्यक्त ब्रह्मको तथा पच्चीसवें तत्त्वरूप जीवको भिन्न देखते हैं, केवल महात्मा पुरुष ही पच्चीसवें और छब्बीसवें तत्त्वको अभिन्न देखते हैं ॥ ५६ ॥ जन्म तथा मृत्युके भयसे त्रस्त हुए तथा परमपदकी इच्छावाले योगी और सांख्यशास्त्रवेत्ता पच्चीसवेंको छब्बीसवें तत्त्वसे भिन्न नहीं मानते हैं॥५७॥विश्वावसुने बूझा, कि–हे याज्ञवल्क्य ! आपने कहा, कि–पच्चीसवाँ पुरुष जीवात्मा अच्युतरूप है, परन्तु वह ऐसा है या नहीं यह समझमें नहीं आता, अतः इस विषयको मुझे समझाइये (इस प्रश्नका भावार्थ यह है, कि-

तत्त्वे प्रोक्तं ब्राह्मणसत्तम । तथा तन्न तथा चेति तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम् । पराशरस्य विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः ॥५८॥ भृगोः पञ्चशिखस्यास्य कपिलस्य शुकस्य च । गौतमस्यार्ष्टिषेणस्य गर्गस्य च महात्मनः ६० नारदस्यासुरेश्चैव पुलस्त्यस्य च धीमतः । सनत्कुमारस्य ततः शुक्रस्य च महात्मनः ॥ ६१ ॥ कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्वमेव मया श्रुतम् । तदनन्तरं च रुद्रस्य विश्वरूपस्य धीमतः॥६२। दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च दैतेयेभ्यस्ततस्ततः । प्राप्तमेतन्मया कृत्स्नं वेद्यं नित्यं वदंत्युत ॥६३॥ तस्मात्तद्वै भवद्बुद्ध्या श्रोतुमिच्छामि ब्राह्मण । भवान्प्रबर्हः शास्त्राणां प्रगल्भश्चातिबुद्धिमान् ॥६४॥ न तवाविदितं

यदि इसी पच्चीसवें तत्त्वको जीव मानोगे तो इसको ईश्वर नहीं माना जासकेगा, क्योंकि-शास्त्र भी घटको पट और पटको घट नहीं कह सकता, तैसे ही "तत्त्वमसि" आदि अभेददर्शक वाक्य भी व्यर्थ होजावेंगे और जीव कुछ है ही नहीं यह समझा जावेगा ऐसा होने पर उपनिषद् भी अप्रमाण होजावेंगे और बन्ध मोक्ष की व्यवस्था भी नष्ट होजायगी) ॥ ५८ ॥ मैंने जैगीषव्य, असित, देवल, विप्रर्षि पराशर, बुद्धिमान् वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, बुद्धिमान-पुलस्त्य, सनत्कुमार,महात्मा शुक्र तथा अपने पिता कश्यपसेभी पहिले यह विषय सुना है, और बुद्धिमान् रुद्र, विश्वरूप, बहुतसे देवता, पितर और दैत्योंसे भी नित्य जानने योग्य परमात्मसम्बन्धी सब विषय मैंने सुना है, ये सब विद्वान् परमात्माको ही नित्य वस्तु कहते हैं ॥५६-६३॥ अतः हे द्विज ! जीव तथा परमात्माकी एकताके सम्बन्धमें आप अपनी बुद्धिसे क्या कहते हैं, यह मैं सुनना चाहता हूँ, आप महात्मा हैं, शास्त्रों के वक्ता हैं, अति बुद्धिमान् हैं ॥ ६४ ॥ आपसे कुछ भी नहीं

किंचिद्भवान् श्रुतिनिधिः स्मृतः। कथ्यते देवलोके च पितृलोके च ब्राह्मण ॥६५॥ ब्रह्मलोकगताश्चैव कथयन्ति महर्षयः।पतिश्च तपतां शश्वदादित्यस्तव भाषिता॥६६॥सांख्यज्ञानं त्वया ब्रह्मन्नवाप्तं कृत्स्नमेव च। तथैव योगशास्त्रं च याज्ञवल्क्य विशेषतः ६७ निःसंदिग्धं प्रबुद्धस्त्वं बुध्यमानश्चराचरम्। श्रोतुमिच्छामि तज्ज्ञानं घृतं मंडमयं यथा ॥ ६८ ॥ याज्ञवल्क्य उवाच। कृत्स्नं धारिणमेव त्वां मन्ये गन्धर्वसत्तम।जिज्ञाससे च मां राजंस्तन्निबोध यथा श्रुतम् ॥ ६९ ॥ अबुध्यमानां प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः। न तु बुध्यति गन्धर्व प्रकृतिः पंचविंशकम् ॥ ७० ॥ अनेन प्रतिबोधेन प्रधानं प्रवदन्ति तत्। सांख्ययोगाश्च तत्त्वज्ञा यथाश्रुतिनिदर्शनात्

छिपा है, आप शास्त्रके भण्डाररूप हैं, यह बात हे ब्राह्मण! देवलोक और पितृलोकमें प्रसिद्ध है ॥ ६५ ॥ और ब्रह्मलोकमें रहनेवाले महर्षि कहते हैं कि-तेजस्वी पदार्थोंके स्वामी सूर्यने आपको वेदका उपदेश दिया है ॥ ६६ ॥ हे याज्ञवल्क्य! आपने गुरुसे सारा सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र पढा है ॥ ६७ ॥ आप चर तथा अचरको जानकर सर्वथा समझ कर ज्ञानी होगए हैं, अतः मैं आपसे दानेदार घीकी समान स्वादिष्ट तत्त्वज्ञानको सुनना चाहता हूँ ॥६८॥ याज्ञवल्क्यने कहा, कि-हे गन्धर्वोंमें श्रेष्ठ गन्धर्व! मैं तुझे सब ज्ञानोंमें पारङ्गत समझता हूँ, तब भी तू मुझसे ज्ञान सुनना चाहता है, अतः मैंने जिस प्रकार सुना है, उसी प्रकार मैं तुझसे कहता हूँ सुन॥६९॥प्रकृति जड है, यह पच्चीसवें चेतन तत्त्व (जीव) से जाननेमें आती है, परन्तु प्रकृतिसे पचीसवें तत्त्वको नहीं जाना जासकता ॥७०॥ प्रकृतिमें चिदात्माकी छाया पडती है इस प्रकृतिको, सांख्य और योगशास्त्रको जाननेवाले विद्वान् शास्त्रानुसार प्रधान कहते हैं (पचीसवें पुरुषका प्रकृतिमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, इससे प्रकृतिको प्रधान

नात् ॥७१॥ पश्यंस्तथैव चापश्यन्पश्यत्यन्यः सदानघ । षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥ ७२ ॥ न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति । पंचविंशोऽभिमन्येत नान्योस्ति परतो मम ७३

कहते हैं: 'प्रधीयते चितिच्छाया अस्मिन्निति प्रधानम्" अर्थात् चेतनकी छाया जिसमें पडती है उसका नाम प्रधान है, इस भाँति प्रधान शब्दका अर्थ शास्त्रमें किया है) ॥ ७१ ॥ हे निर्दोष गन्धर्व ! चिदाभाससे भिन्न साक्षी पुरुष जाग्रत् अवस्थामें तथा स्वप्नावस्थामें चौवीसवें तत्त्वरूप प्रकृतिको तथा पच्चीसवें तत्त्व-रूप जीवको सदा देखता है । इस श्लोकका अर्थ नीलकण्ठने इस प्रकार किया है, कि—प्रकृति पर जो आत्माकी छाया पडती है, आत्मा उससे भिन्न है, उसका सत्यस्वरूप प्रकृतिसे स्वतन्त्र है, जब आत्मा अपने वास्तविकरूपमें प्रत्येक वस्तुके साक्षिस्व-रूपमें अपनेको देखता है (अर्थात् जब आत्मा जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों स्थितियोंका अनुभव करता होता है,तब उसको अपना (पच्चीसवेंका) और प्रकृतिका (चौवीसवेंका) भान होता है,परन्तु जब साक्षिस्वरूपसे अपनेको देखकर काम बन्द करदेता है अर्थात् जब वह सुषुप्ति अवस्थामें अथवा निर्विकल्प समाधि की अवस्थामें होता है तब वह परमात्मा अथवा छब्बीसवेंको देख सकता है सरल शब्दोंमें इसका अर्थ यह है,कि—जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओंमें आत्माको अपना और प्रकृतिका भान होता है, परमात्माको तो वह केवल समाधिमें देखसकता है) ॥ ७२ ॥ पच्चीसवाँ पुरुष अभिमान करता है, कि—मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है । इस अभिमानके कारण ही वह (छब्बीसवें को) देखने पर भी नहीं देख पाता,परन्तु छब्बीसवाँ पुरुष उस को देखता है (भावार्थ—छब्बीसवाँ परमात्मा निरन्तर पच्चीसवें जीवको देखता है, परन्तु जीवात्मा जब अहंभाव करने लगता

न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्ज्ञानदर्शिभिः मत्स्यश्चोदकमन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनात् ॥७४॥ यथैव बुध्यते मत्स्यस्तथैषोप्यनुबुध्यते । स स्नेहात्सहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः ॥ ७५ ॥

है, तब वह समझता है, कि सृष्टिमें मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है, केवल महासमाधिमें ही वह छब्बीसवें परमात्माको देख सकता है, इसप्रकार यद्यपि उसमें परमात्माको देखनेकी शक्ति है, तब भी वह साधारण रीतिसे देखने पर निष्फल रहता है । चार्वाक और सौगत मतावलम्बी चौवीसवें और पच्चीसवें तत्त्वको एक समझते हैं और छब्बीसवें तथा पच्चीसवेंका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते हैं; उनके मतका इस श्लोकमें खण्डन किया है, यह नीलकण्ठका मत है) ॥ ७३ ॥ ज्ञानी पुरुषको चौवीसवें तत्व-रूप (जड) प्रकृतिको पच्चीसवाँ पुरुषरूप नहीं समझना चाहिये, अर्थात् प्रकृतिको आत्मा नहीं मानना चाहिये, मछली जलमें रहती है, वह स्वाभाविकरूपसे जलकी ओरको जाती है ॥ ७४ ॥ परन्तु मछली जैसे जलसे भिन्न दीखती है, ऐसे ही जीवात्मा भी स्नेहसे तथा सहवाससे प्रकृतिकी ओर जाता है, परन्तु वह प्रकृतिसे भिन्न ही है, ऐसा ज्ञात होता है । प्रकृति जड है और जीवात्मा चेतन तथा सत्य है, परन्तु जीवात्मा अभिमानवश मायाके वशमें होजाता है और जब छब्बीसवेंके साथ अपने एकत्वको नहीं देखता है तब वह संसारमें मग्न हो जाता है, परन्तु जब वह अपने अभिमानको त्याग कर अपने ब्रह्मस्वरूपको पहिचानता है, तब वह उन्नत स्थितिमें आता है (मछलीका उदाहरण जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धमें इस भाँति घट सकता है, कि मछली जलमें ही रहती है जलके साथ आती है और जलके ही साथ चली जाती है परन्तु जलसे पृथक् है. ऐसे ही जीव चौवीस तत्त्वोंसे भिन्न है, परन्तु जैसे जलके

स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते । उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः ॥ ७६ ॥ यदा तु मन्यतेऽन्योहमन्य एष इति द्विजः । तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥७७॥ अन्यश्च राजन्यवरस्तथान्यः पंचविंशकः । तत्स्थानाच्चानुपश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥ ७८ ॥ तेनैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम् । जन्ममृत्युभयाद्भीता योगाः सांख्याश्च काश्यप । षड्विं-

साथ रहनेसे मछली स्नेहमें फँस जाती है और जलका अभिमान रखती है और अन्तमें उसमें ही डूब जाती है और फिर देखनेमें नहीं आती, ऐसे ही जीव भी प्रकृति (माया) के साथ गाढ़ स्नेह होजानेसे उसमें ही लिप्त रहता है, उसका ही अभिमान रखता है और उसमें ही लीन होजाता है और प्रकृतिमें जकड़ जाने पर नहीं दीखता है। परन्तु अवसर आने पर मछली जैसे जलको त्याग कर बाहर निकल आती है, ऐसे ही जीवात्मा परमात्माके साथ मेरा अभेद है, जब ऐसा जानता है तब संसार (माया) को त्यागकर बाहर निकल आता है और स्वस्वरूप मोक्षको पाता है) ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ जब जीवात्मा समझता है, कि मैं भिन्न हूँ और प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब वह छब्बीसवें पुरुषको जानकर केवल स्वरूप होजाता है ॥ ७७ ॥ हे राजन ! परमात्मा एक है पच्चीसवाँ जीव एक है, वर अर्थात् छब्बीसवेंका अवर अर्थात् पच्चीसवेंमें अन्तर्धान होनेसे विवेकी पुरुष दोनोंको एकरूप समझते हैं (यहाँ पर रज्जु और सर्पका दृष्टांत घट सकता है, अवररूप सर्पका भाव भ्रान्तिसे होता है. इस भ्रान्तिका नाश होनेसे रज्जु अर्थात् केवल वररूपसे रहती है)७८ हे कश्यपवंशोत्पन्न विश्वावसु ! अतएव मरण तथा जन्मके भय से डरेहुए योगी तथा सांख्यवेत्ता छब्बीसवें तत्वको देखते हैं (मन तथा शरीरसे) पवित्र रहते हैं तथा छब्बीसवें तत्वमें परा-

शमनुपश्यन्तः शुचयस्तत्परायणाः ७९ यदा स केवलीभूतः षड्-विंशमनुपश्यति। तदा स सर्वविद्विद्वान्न पुनर्जन्म विंदति ८० एवमप्रतिबुध्यश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ। बुद्धश्चोक्तो यथातत्त्वं मया श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ८१ ॥ पश्यापश्यं यो न पश्येत्क्षेम्यं तत्त्वं च काश्यप। केवलाकेवलं चाद्यं पंचविंशं परं च यत् ॥ ८२ ॥ विश्वावसुरुवाच। तथ्यं शुभं चैतदुक्तं त्वया विभो सम्यक् क्षेम्यं दैवताद्यं यथावत्। स्वस्त्यक्षयं भवतश्चास्तु नित्यं बुद्ध्या सदा बुद्धियुक्तं मनस्ते ॥ ८३ ॥ याज्ञवल्क्य उवाच। एवमुक्त्वा सम्प्रयातो

यण रहते हैं, इससे वे जीवात्माको अच्युत नहीं मानते हैं (अर्थात् जीवभावसे च्युत होकर ईश्वरत्वको पाता है, इससे जीवात्माको अच्युत नहीं मानते हैं) ॥ ७९ ॥ हे काश्यप ! जीवात्मा जब छब्बीसवें पुरुषका दर्शन करता है, तब वह छब्बीसवाँ केवलरूप होजाता है, उस समय वह सर्वज्ञ और विद्वान् होजाता है, उस का फिर जन्म मरण नहीं होता है ॥ ८० ॥ हे निर्दोष काश्यप! इस भाँति मैंने तुमसे अप्रतिबुद्ध्य, बुद्ध्यमान–प्रधान, जीवात्मा तथा बुद्ध परमात्माके स्वरूपके विषयमें श्रुतिके कथनानुसार कहा ॥ ८१ ॥ हे काश्यप ! जो द्रष्टा और दृश्यमें भेद नहीं देखता है, तैसे ही क्षेम्य तथा तत्वमें अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयमें विशेषता नहीं देखता है, वह केवल और अकेवल दोनों रूप है, वह संसार का आद्यरूप है, तैसे ही वह जीवात्मा और परमात्मा उभयरूप है ॥ ८२ ॥ विश्वावसुने कहा कि–हे व्यापक याज्ञवल्क्य ! आपने मुझसे जो ब्रह्मका स्वरूप कहा, वह सत्य शुभ करनेवाला है उसको आपने यथार्थरूपसे कहा है, आपका अविनाशी कल्याण हो और आपका मन सदा ज्ञानमें लीन रहे ॥ ८३ ॥ याज्ञवल्क्य ने (जनकसे) कहा, कि इस भाँति कहकर उस महात्माने मेरी प्रदक्षिणा कर मुझे अभिनन्दन दिया मैंने भी परमसन्तोषसे

क्षितौ मम कृत्वा महात्मा ॥ ८४ ॥ ब्रह्मादीनां खेचराणां क्षितौ च ये चाधस्तात्संवसंते नरेन्द्र । तत्रैव तद्दर्शनं दर्शयन्वै सम्यक् क्षेम्यं ये पथं संश्रिता वै ॥८५॥ सांख्याः सर्वे सांख्यधर्मे रताश्च तद्वद्योगा योगधर्मे रताश्च । ये चाप्यन्ये मोक्षकामा मनुष्यास्तेषामेतद्दर्शनं ज्ञानदृष्टम्॥८६॥ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र । तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः॥८७॥ प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम् ॥८८॥ सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म । तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि सर्वं

उसकी ओर देखा, तब वह सुन्दर वर्णवाले शरीरको धारण करनेवाला गन्धर्वस्वर्गमें चला गया ॥ ८४ ॥ हे राजन् ! फिर उसने ब्रह्मा आदिको आकाशचारी देवताओंको पृथ्वी पर बसने वाले जीवोंको, तथा कल्याणप्रद मोक्षका सेवन करनेवाले पुरुषोंको मेरे कहेहुए तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया ॥ ८५ ॥ जो सांख्यशास्त्रको जाननेवाले हैं, वे सांख्यशास्त्रमें परायण रहते हैं, जो योगी हैं वे योगधर्ममें परायण रहते हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त जो मुमुक्षु हैं, उन मनुष्योंको मेरा कहा हुआ तत्त्वज्ञान प्रत्यक्ष फल देनेवाला है ॥ ८६ ॥ हे राजसिंह ! हे नरेन्द्र! अज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है, परन्तु ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, अतः मनुष्य प्रयत्न करके यथार्थज्ञानको सम्पादन करे । मनुष्य अपने आत्माको ज्ञानसे ही जन्ममरणसे छुड़ा सकता है ॥८७॥ मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा नीच योनिमें उत्पन्न हुए शूद्रसे भी ज्ञान लेले और श्रद्धालु होकर उस पर श्रद्धा रक्खे, क्योंकि-श्रद्धालुमें जन्म और मृत्यु प्रवेश नहीं करते हैं ॥ ८८ ॥ सब वर्ण ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मण कहलाते हैं,

विश्वं ब्रह्म चैतत्समस्तम् ॥८९॥ ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः संप्रसूता बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः संप्रसूताः । नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः॥९०॥ अज्ञानतः कर्मयोनिं भजन्ते तां तां राजंस्ते यथा यात्यभावम् । तथा वर्णा ज्ञानहीनाः पतन्ते घोरादज्ञानात्प्राकृतं योनिजालम् ॥ ९१ ॥ तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते । तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो यस्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र ॥ ९२ ॥ यत्ते पृष्टं तन्मया चोपदिष्टं याथातथ्यं तद्विशोको भवस्व । राजन्गच्छस्वैतदर्थस्य पारं सम्यक् प्रोक्तं स्वस्ति ते त्वस्तु नित्यम् ९३

सब सदा ब्रह्मका नाम लेते हैं, मैं भी ब्रह्मबुद्धिसे ही तत्त्वशास्त्र (पुरुष और प्रकृतिके स्वरूपभेद) का तुझे उपदेश देता हूँ, यह सब विश्व ब्रह्मरूप है ॥ ८९ ॥ परब्रह्मके मुखमेंसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं, भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं, नाभिमेंसे वैश्य उत्पन्न हुए हैं,चरणोंमेंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं इसप्रकार सब वर्ण ब्रह्ममेंसे ही उत्पन्न हुए हैं अतः उनको ब्रह्मभिन्न नहीं समझना चाहिये९०हे राजन्! मनुष्य अज्ञानवश पुण्यपापरूपी कर्मसे अनेक योनियोंमें जन्म लेता है और मरण पाता है,प्रत्येक जातिके मनुष्य भयंकर अज्ञानके कारण प्रकृतिसे उत्पन्न हुई अनेक योनियोंमें उत्पन्न होते हैं९१इस लिये मनुष्य सब प्रकार प्रयत्न करके ज्ञान सम्पादन करे, मैंने तुझसे पहिले कहा ही है, कि-ज्ञान सबसे लेना चाहिये, जो ज्ञानी है वही ब्राह्मण है, दूसरे (क्षत्रिय) आदिको भी ज्ञानका अधिकार है, हे नरेन्द्र! तत्त्ववेत्ता कहते हैं, कि-ज्ञानीको नित्य मोक्ष मिलता है ॥ ९२ ॥ हे राजन्! तेरे प्रश्नका मैंने तुझे यथार्थरीतिसे उत्तर दिया है, अब तू शोकको त्यागदे, तेरा प्रश्न उत्तम था, हे राजन्! तू अपने कार्यमें सफल हो, सदा तेरा कल्याण हो ! ॥ ९३ ॥ भीष्मने कहा, कि-इस

भीष्म उवाच । स एवमनुशास्तस्तु याज्ञवल्क्येन धीमता । प्रीतिमानभवद्राजा मिथिलाधिपतिस्तदा ॥९४॥ गते मुनिवरे तस्मिन्कृते चापि प्रदक्षिणम् । दैवरातिर्नरपतिरासीनस्तत्र मोक्षवित् ॥९५॥ गोकोटिं स्पर्शयामास हिरण्यं तु तथैव च । रत्नांजलिमथैकं च ब्राह्मणेभ्यो ददौ तथा ॥ ९६ ॥ विदेहराज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै । यतिधर्ममुपसंश्राप्यवसन्मिथिलाधिपः ॥९७॥ सांख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः । धर्माधर्मं च राजेन्द्र प्राकृतं परिगर्हयन् ॥ ९८ ॥ अनन्त इति कृत्वा स नित्यं केवलमेव च । धर्माधर्मौ पुण्यपापे सत्यासत्ये तथैव च ॥९९॥ जन्ममृत्यू च राजेन्द्र प्राकृतं तदचिन्तयत् । व्यक्ताव्यक्तस्य कर्मेदमिति नित्यं नराधिप ॥ १०० ॥ पश्यन्ति योगाः सांख्याश्च स्वशास्त्रकृतल-

प्रकार बुद्धिमान् याज्ञवल्क्यने मिथिलेशको उपदेश दिया, उसको सुनकर मिथिलेश बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ९४ ॥ फिर राजाने उन की प्रदक्षिणा कर उनका सत्कार किया तब मुनिवर याज्ञवल्क्य जी तहाँसे चले गए, राजा दैवरातिने मोक्षज्ञानको पा अपने आसन पर बैठकर ॥ ९५ ॥ एक करोड़ गौओंका और सुवर्ण का दान दिया और एक एक लप्प रत्न ब्राह्मणोंको दान करके दिये ॥ ९६ ॥ तदनन्तर मिथिलाधिपति उस वृद्ध राजाने विदेह-राज्य पर अपने पुत्रका अभिषेक किया और स्वयं यतिधर्म पालने लगा ॥९७॥ हे राजेन्द्र ! उसने धर्म अधर्म और अविद्या से उत्पन्न होने वाले सांसारिक कर्मोंको त्याग दिया और संपूर्ण साङ्ख्यशास्त्र और संपूर्ण योगशास्त्रको पढकर ॥ ९८ ॥ उसने अपने मनमें निश्चय किया,—मैं तीन प्रकारके परिच्छेदोंसे रहित नित्य और केवल (प्रकृतिसे रहित शुद्ध) हूँ, इस प्रकार अपने मनमें विचार करके उसने धर्माधर्मका, सत्यासत्यका, पुण्य पाप का ॥९९॥ जन्ममरणका, प्रकृतिजन्य होनेसे मिथ्या समझ कर,

चणाः । इष्टानिष्टविमुक्तं हि तस्थौ ब्रह्म परात्परम् ॥ १०१ ॥ नित्यं तदाहुर्विद्वांसः शुचि तस्माच्छुचिर्भव । दीयते यच्च लभते दत्तं यच्चानुमन्यते॥१०२॥ ददाति च नरश्रेष्ठ प्रतिगृह्णाति यच्च ह । ददात्यव्यक्त इत्येतत्प्रतिगृह्णाति यच्च वै ॥ १०३ ॥ आत्मा ह्येवात्मनो ह्येकः कोऽन्यस्तस्मात्परो भवेत् । एवं मन्यस्व सततमन्यथा मा विचिन्तय ॥ १०४ ॥ यस्याव्यक्तं न विदितं सगुणं निर्गुणं पुनः । तेन तीर्थानि यज्ञाश्च सेवितव्या विपश्चिता १०५ न स्वाध्यायैस्तपोभिर्वा यज्ञैर्वा कुरुनन्दन । लभतेऽव्यक्तिकं स्थानं ज्ञात्वाव्यक्तं महीयते ॥ १०६ ॥ तथैव महतः स्थानमाहंकारिकमेव च । अहंकारात्परं चापि स्थानानि समवाप्नुयात् ॥ १०७ ॥ ये

त्याग कर दिया ॥ १०० ॥ हे राजन् सांख्य शास्त्रवेत्ता और योगशास्त्रज्ञ अपने२ शास्त्रोंमें लक्षणोंके अनुसार इस सब जगत् को प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जानते हैं, विद्वान् कहते हैं, कि-ब्रह्म इष्ट और अनिष्टसे रहित है, मायासे पर है, नित्य (अविनाशी) है और शुद्ध है, अतः तू पवित्र हो । दान, आदान अनुमोदन ये सब ब्रह्मस्वरूप हैं ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ हे नरश्रेष्ठ राजन् ! दान देने वाला, दान लेने वाला और दान ये सब परमात्मस्वरूप है ॥ १०३ ॥ आत्मा एक ही है,उससे पर कुछ नहीं है, यह विचार तुझे सदा रखना चाहिये, दूसरा विचार न करना चाहिये ॥ १०४ ॥ जो यह नहीं जानते हैं, कि-सगुण प्रकृति क्या है और निर्गुण परमात्मा क्या है, उन शास्त्रज्ञ पुरुषोंको तीर्थयात्रा तथा यज्ञ करना चाहिये ॥१०५॥ वेदोंका स्वाध्याय करनेसे, तप करनेसे अथवा यज्ञ करनेसे हे कुरुपुत्र ! परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है, परन्तु परमात्माके स्वरूपको जानने पर मनुष्य स्वस्वरूपको प्राप्त होकर पूजित होता है ॥ १०६ ॥ जो महत्तत्त्वकी उपासना करते हैं, वे महत्तत्त्वको प्राप्त होते हैं,

त्वव्यक्तात्परं नित्यं जानते शास्त्रतत्पराः । जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं सदसच्च यत् ॥१०८॥ एतन्मयाप्तं जनकात्पुरस्तात्तेनापि चाप्तं नृप याज्ञवल्क्यात् । ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञा ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥१०९॥ दुर्गं जन्मनिधनं चापि राजन्नभौतिकं ज्ञानविदो वदन्ति । यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्व्रतैश्च दिवं समासाद्य पतन्ति भूमौ ॥ ११० ॥ तस्मादुपासस्व परं महच्छुचि शिवं विमोक्षं विमलं पवित्रम् । क्षेत्रं ज्ञात्वा पार्थिव ज्ञानयज्ञमुपास्य वै तत्त्वमृषिर्भविष्यसि ॥१११॥ यदुपनिषदमुपाकरोत्तथासौ जनक-

---

अहंकारकी उपासना करनेवाले अहंकारको प्राप्त होते हैं और अहंकारसे परकी उपासना करनेवाले अहंकारसे परस्थानको पाते शास्त्रमें परायण रहने वाले जो पुरुष अव्यक्त (प्रकृति) से पर अविनाशी पुरुषको प्रकतिसे पर और नित्य समझते हैं. वे जन्ममरणरहित हैं,गुणरहित हैं तथा सदसत्रूप है१०८हे राजन्! मैंने यह ज्ञान राजा जनकसे पाया था उन्होंने मुनि याज्ञवल्क्यसे पाया था, यह ज्ञान उत्तम कह ता है, यज्ञ भी उसकी तुलना नहीं कर सकता है, मनुष्य ज्ञानसे दुःखसे पार होने योग्य संसारके पार होजाता है,यह-संसार आपत्ति और भयसे भरा हुआ है,यज्ञोंसे इस संसारके पार नहीं पहुँचा जा सकता ॥१०९॥ हे राजन् ! ज्ञानी पुरुष कहते हैं, कि—भौतिक कर्मोंसे होनेवाला जन्म और मरण ही संसार है, यज्ञ करनेसे, तप करनेसे, नियम पालनेमे और व्रत करनेसे मनुष्य स्वर्गमें जाता है, परन्तु पुण्य क्षीण होने पर उसको फिर भूमिमें आना पड़ता है ॥ ११० ॥ इस लिये हे राजन् ! क्षेत्रके स्वरूपको जानकर प्रकृतिसे पर, महान्, पवित्र,शिवरूप,मोक्षस्वरूप,निर्मल और पवित्र ब्रह्मकी तू उपासना कर, ज्ञानयज्ञकी उपासना करनेके अनन्तर तू ऋषि अर्थात् सब तत्त्वोंको जानने वाला ज्ञानी हो जावेगा १११ उपनिषदोंका पाठ

नृपस्य पुरा हि याज्ञवल्क्यः। यदुपगणितशाश्वताव्ययं तच्छुभममृतत्वमशोकमर्च्छति ॥ ११२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादसमाप्तौ अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१८ ॥

युधिष्ठिर उवाच। ऐश्वर्यं वा महत्प्राप्य धनं वा भरतर्षभ। दीर्घमायुरवाप्याथ कथं मृत्युमतिक्रमेत् ॥ १ ॥ तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा। रसायनप्रयोगैर्वा कैर्नाप्नोति जरान्तकौ २ भीष्म उवाच। अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। भिक्षोः पञ्चशिखस्येह संवादं जनकस्य च ॥ ३ ॥ वैदेहो जनको राजा महर्षिं वेदवित्तमम्। पर्यपृच्छत्पञ्चशिखं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥४॥

करनेसे जो उपकार होता है वह उपकार पहिले याज्ञवल्क्यने(बृहदारण्यक) उपनिषद्का उपदेश देकर राजा जनक पर किया था, राजा जनकके पुरोहित भगवान् याज्ञवल्क्यके कहे हुए उपनिषद में सनातन अविनाशी परमात्माका वर्णन किया है, याज्ञवल्क्यने जो शाश्वत, अविनाशी तत्त्व कहा है उस तत्त्वज्ञानके संपादन करनेसे मनुष्य शुभ, अमृतमय और शोकरहित परमात्माको पाता है ॥११२॥ तीनसौ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥३१८ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे भरतवंशके श्रेष्ठ राजन्! मनुष्य बड़े भारी ऐश्वर्य और धनको पाकर अथवा आयुको पाकर (भी) क्या किसी प्रकार मृत्युका उल्लंघन कर सकता है॥१॥क्या किसी महातपके करनेसे अथवा वेदोक्त कर्म करनेसे अथवा किसी रसायनके प्रयोगसे मनुष्य वृद्धावस्था और मृत्युको जीत सकता है ॥ २ ॥ भीष्मने कहा, हे युधिष्ठिर! इस विषयमें राजा जनक और पञ्चशिख भिक्षुमें पहिले सम्वाद हुआ था, उसका इतिहास इस प्रकार है ॥३॥ विदेहनगरीमें जनक नामक राजा था, उसने एक समय वेद जाननेवालोंमें श्रेष्ठ और जिनके अर्थ और धर्म

केन वृत्तेन भगवन्नतिक्रामेज्जरान्तकौ। तपसा वाथवा बुद्ध्या कर्मणा वा श्रुतेन वा ॥ ५ ॥ एवमुक्तः स वैदेहं प्रत्युवाचापरोक्षवित् । निवृत्तिर्न तयोरस्ति नानिवृत्तिः कथञ्चन ॥६॥ न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः । सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानं चिराय ध्रुवमध्रुवः ॥७॥ सर्वभूतसमुच्छेदः स्रोतसेवोह्यते सदा । उह्यमानं निमज्जन्तमप्लवे कालसागरे ॥ ८ ॥ जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदभिपद्यते । नैवास्य कश्चिद्भवति नासौ भवति कस्यचित् ॥९॥ पथि संगतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः । नायमत्यन्तसंवासो लब्ध-

सम्बन्धी सन्देह नष्ट होगये थे ऐसे महर्षि पञ्चशिख नामक आचार्यसे प्रश्न किया, कि–॥ ४ ॥ हे भगवन् ! कैसा आचरण करनेसे मनुष्य जरा और मृत्युका उल्लंघन कर सकता है, धर्म कर्म करनेसे अथवा शास्त्रके श्रवणसे क्या मनुष्य जरा और मृत्युको लाँघ सकता है ॥ ५ ॥ राजा जनकके इस प्रकार प्रश्न करने पर अपरोक्षवेत्ता विद्वान् पञ्चशिखने कहा कि–'जरा और मृत्युकी निवृत्ति नहीं होसकती और यह भी सत्य नहीं है, कि–उनको रोका ही नहीं जासकता ॥ ६ ॥ जैसे दिन, रात और महीनोंको कोई नहीं रोक सकता, परन्तु नाशवान् पुरुष यदि (सर्वकर्म संन्यासरूप) शाश्वत मार्गका अनुसरण करता है, तो वह जन्म मरणको लाँघ जाता है ॥ ७ ॥ सब प्राणी नाशवान् हैं, जलके प्रवाहमें जैसे सब प्राणी बहने लगते हैं, ऐसे ही इस कालरूपी नौकारहित महासागरमें सब प्राणी बहते रहते हैं, इस कालरूपी महासागरमें जरा और मृत्युरूपी ग्राह रहते हैं, इस नदीमें प्राणी डूब जाता है ॥ ८ ॥ परन्तु उसमेंसे कोई किसीकी रक्षा नहीं कर सकता, तहाँ पर कोई किसीका नहीं होता है ॥ ९ ॥ स्त्री, पुत्र तथा दूसरे संबन्धियोंके साथ पुरुषों का जो समागम होता है, वह मार्गमें मिलते हुए बटोहियोंकी

पूर्वो हि केनचित् ॥ १० ॥ क्षिप्यन्ते तेन तेनैव निष्टनन्तः पुनः पुनः । कालेन जाता याता हि वायुनेवाभ्रसंचयाः ॥११॥ जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव । बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १२ ॥ एवंभूतेषु भूतात्मा नित्यभूतो ध्रुवेषु च । कथं हि हृष्येज्जातेषु मृतेषु च न संज्वरेत् ॥ १३ ॥ कुतोऽहमागतः कोऽस्मि क गमिष्यामि कस्य वा । कस्मिन् स्थितः क्व भविता कस्मात्किमनुशोचसि ॥ १४ ॥ द्रष्टा स्वर्गस्य कोऽन्योस्ति

समान है, इस सहवासको पहिले किसीने बहुत समय तक नहीं भोगा है ॥ १० ॥ परन्तु वायु जैसे समयवश इकट्ठे हुए बादलों को तित्तर वित्तर करडालता है और उस समय वे बडा भारी शब्द कर जैसे अलग २ होजाते हैं, ऐसे ही कालके प्रवाहमें बह कर मिलेहुए प्राणियोंको काल तित्तर वित्तर करदेता है, तब प्राणी बारम्बार रुदन करते हैं ॥ ११ ॥ जरा और काल व्याघ्रकी समान हैं, व्याघ्र बली अथवा दुर्बल, छोटे और बडे सब प्राणियोंको खाजाता है ॥ १२ ॥ तैसे ही काल भी सबको खाजाता है सब प्राणी नाशवान् हैं, परन्तु उनमें रहनेवाला आत्मा नित्य है, अतः नाशवान् प्राणियोंको जन्मसे हर्षित नहीं होना चाहिये और मृत्युसे खिन्न न होना चाहिये ॥ १३ ॥ (परन्तु जीवको सदा विचार करना चाहिये, कि-) मैं कहाँसे आया हूँ ? कौन हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? किस के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? मैं कहाँ रहता हूँ ? आगेको मैं कहाँ जन्म लूँगा ? किस लिये जन्म लूँगा, मेरा क्या होगा ? और मैं किस लिये किसका शोक करूँ ॥ १४ ॥ तूने जो कर्म किया है, उसके फलरूप स्वर्ग अथवा नरकको तेरे सिवाय दूसरा

तथैव नरकस्य च । आगमांस्त्वनतिक्रम्य दद्याच्चैव यजेत च ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पंचशिखजनक-
संवादे एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१९ ॥

युधिष्ठिर उवाच । अपरित्यज्य गार्हस्थ्यं कुरु राजर्षिसत्तम ।
कः प्राप्तो विनयं बुद्ध्या मोक्षतत्त्वं वदस्व मे ॥ १ ॥ संन्यस्यते
यथात्मायं व्यक्तस्यात्मा यथा च यत् । परं मोक्षस्य यच्चापि
तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममि-
तिहासं पुरातनम् । जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत ॥ ३ ॥
संन्यासफलिकः कश्चिद्बभूव नृपतिः पुरा । मैथिलो जनको नाम
धर्मध्वज इति श्रुतः ॥ ४ ॥ स वेदे मोक्षशास्त्रे च स्वे च शास्त्रे
कृतश्रमः । इन्द्रियाणि समाधाय शशास वसुधामिमाम् ॥ ५ ॥

कौन भोग सकता है ? इसलिये शास्त्रके वचनोंकी उपेक्षा न
कर दान देना चाहिये और त्याग करना चाहिये ॥ १५ ॥
तीनसौ उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१९ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे कुरुराजर्षिसत्तम ! क्या कोई पुरुष
गृहस्थाश्रमको त्यागे विना ज्ञानसे मुक्त हुआ है ? बुद्धिका जिस
में लय होजाता है, ऐसे मोक्षका स्वरूप क्या है ? यह आप मुझ
से कहिये ॥ १ ॥ स्थूल तथा सूक्ष्मदेहका त्याग किस प्रकार हो
सकता है ? तैसे ही मोक्षका स्वरूप कैसा है, यह भी हे पिता-
मह ! आप मुझसे कहिये ॥ २ ॥ भीष्मजीने कहा, कि—हे भरत-
वंशी राजन् ! इस विषयका जनक और सुलभाका संवादरूप
एक पुरातनकालका इतिहास इसप्रकार है ॥ ३ ॥ पहिले मिथिला
नगरीमें सम्यग्दर्शन करनेवाला जनकवंशी धर्मध्वज नामक राजा
रहता था, वह त्यागधर्मको पालता था ॥ ४ ॥ वह वेदके कर्म-
काण्डको जानता था, मोक्ष देनेवाले ज्ञानकाण्डमें प्रवीण था,
अपने धर्मका उसने परिश्रमपूर्वक पालन किया था और वह

तस्य वेदविदः प्राज्ञाः श्रुत्वा तां साधुवृत्तताम् । लोकेषु स्पृहयन्त्यन्ये पुरुषाः पुरुषेश्वर ॥ ६ ॥ अथ धर्मयुगे तस्मिन्योगधर्ममनुष्ठिता । महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥ ७ ॥ तया जगदिदं कृत्स्नमटंत्या मिथिलेश्वरः। तत्र तत्र श्रुतो मोक्षे कथ्यमानस्त्रिदण्डिभिः ॥ ८ ॥ सातिसूक्ष्मां कथां श्रुत्वा तथ्यं नेति ससंशया । दर्शने जातसंकल्पा जनकस्य बभूव ह ॥ ९ ॥ तत्र सा विप्रहायाथ पूर्वरूपं हि योगतः । अबिभ्रदनवद्यांगी रूपमन्यदनुत्तमम् ॥ १० ॥ चक्षुर्निमेषमात्रेण लघ्वस्त्रगतिगामिनी । विदेहानां पुरीं सुभ्रूर्जगाम कमलेक्षणा ॥ ११ ॥ सा प्राप्य मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलाम् । भैक्ष्यचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरम् ॥ १२ ॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके इस पृथ्वी पर राज्य करता था ५ हे राजन्! उस वेदवेत्ता राजाका सदाचार जगत्में प्रसिद्ध होगया था, इससे विद्वान् पुरुष भी उसके आचरणका अनुकरण करना चाहते थे॥ ६ ॥ उस सत्ययुगके समयमें सुलभा नामकी एक भिक्षुकी योगधर्मका पालन कर पृथ्वी पर इकली विचरा करती थी ॥ ७ ॥ पृथ्वी पर घूमते २ उस भिक्षुकीने अनेक स्थानोंमें संन्यासियोंसे सुना, कि-मिथिलाका राजा मोक्षशास्त्रमें कुशल है ८ यह बात सुन कर उस भिक्षुकीके मनमें इस बातकी सत्यता जाननेके लिये जनकका दर्शन करनेकी इच्छा हुई ॥ ९ ॥ तब निर्दोषाङ्गी सुलभाने योगविद्याके प्रभावसे अपने पहिले रूपको त्यागदिया और दूसरा सुन्दर रूप धारण किया ॥१०॥ सुन्दर भ्रकुटि वाली तथा कमलकी समान नेत्रोंवाली सुलभा निमेषमात्र में अथवा अस्त्र फेंकनेके समयमात्रमें त्वरासे मिथिला नगरीमें पहुँच गई ॥ ११ ॥ अनेक मनुष्योंसे भरीहुई रमणीय मिथिला नगरीमें जाकर उसने भिक्षा माँगनेके निमित्तसे मिथिलाधिपति के दर्शन किये ॥ १२ ॥ उसके अतिसुकुमार शरीरको देखकर

राजा तस्याः परं दृष्ट्वा सौकुमार्यं वपुस्तदा । केयं कस्य कुतो वेति बभूवागतविस्मयः ॥१३॥ ततोऽस्याः स्वागतं कृत्वा व्यादिश्य च वरासनम् । पूजितां पादशौचेन वरान्नेनाप्यतर्पयत् ॥ १४ ॥ अथ भुक्तवती प्रीता राजानं मन्त्रिभिर्वृतम् । सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी ॥ १५ ॥ सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया । सत्वं सत्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः ॥ १६ ॥ नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन्संयम्य रश्मिभिः। सा स्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह ॥१७॥ जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन् । प्रतिजग्राह भावेन भावमस्या नृपोत्तम ॥१८॥ तदेकस्मिन्नधिष्ठाने संवादः श्रूयतामयम् । छत्रादिषु विमुक्तस्य

राजा आश्चर्यमें होगया और उसको यह जाननेकी इच्छा हुई कि-यह कौन है ? किसकी स्त्री है ? और कहाँसे आई है॥१३॥ फिर राजाने उस स्त्रीका स्वागत किया, उत्तम आसन पर बैठाला और उसके पैर धोकर उसकी पूजाकी, फिर उत्तम अन्न जिमा कर उसको तृप्त किया ॥ १४ ॥ भिक्षुकी सुलभा, भोजन करके तृप्त होने पर मन्त्रियोंसे घिरकर बैठेहुए राजासे सब भाष्यवेत्ता विद्वानोंकी सभामें प्रश्न करने लगी ॥ १५ ॥ सुलभाके मनमें सन्देह था, कि-यह राजा निवृत्तिमान् अर्थात् विषयोंका त्याग कर मुक्त हुआ है अथवा नहीं; अत एव योगके ज्ञानवाली उस भिक्षुकीने अपने बुद्धिसत्त्वसे उस राजाके बुद्धिसत्त्वमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥ अपने नेत्रोंकी किरणोंसे उस राजाके नेत्रोंकी किरणोंमें प्रवेश किया और अपने संशयका छेदन करनेके लिये योगके बन्धनोंसे राजाको बाँधलिया ॥ १७ ॥ हे श्रेष्ठ राजन् ! राजा जनकको अपने अजितपनेका विश्वास था और सुलभाका पराजय करूँगा; ऐसा अभिमान था, इससे उसने सुलभाके आशयको अपने आशयसे ग्रहण करलिया ॥ १८ ॥

मुक्तायाश्च त्रिदण्डके ॥ १६ ॥ जनक उवाच । भगवत्याः क्व

इस समय राजा सूक्ष्मस्वरूपमें था और छत्र तथा दण्ड आदिसे रहित था, सुलभा भी सूक्ष्मस्वरूपमें त्रिदण्डसे रहित थी, अत एव दोनों स्थूलदेहमें रहकर ही संवाद करनेलगे, सुलभा और जनकमें जो संवाद हुआ था, उसको तू सुन (१६ वेंसे १८ वें श्लोक तकका तात्पर्य यह है, कि-सुलभाने विचारा, कि-यदि राजा मुझसे प्रश्न नहीं करेगा तो मैं उसके स्वरूपको और वह मोक्षका ज्ञाता है या नहीं यह कैसे जान सकूँगी; यह विचार कर उसने योगबलसे उसमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न की, कि-जिससे उसको प्रश्न करनेकी इच्छा हो । इस अभिप्रायको धर्मध्वज जनक समझ गया, क्योंकि-उसके मनमें प्रश्न करनेकी इच्छा हुई, इच्छा होनी ही नहीं चाहिये थी, क्यों कि-वह मोक्षका ज्ञाता था, इच्छा होने पर जनकने विचार किया, कि-इच्छा होनेका क्या कारण है, तब उसको योगबलसे प्रतीत हुआ, कि-सुलभाने मेरे बुद्धिसत्त्वमें प्रवेश किया है, परन्तु उसको उसी समय अपने ज्ञानका अभिमान हुआ, कि-यह स्त्री मुझे बोलनेसे रोक नहीं सकेगी, यह विचार कर वह ज्ञानी होने पर भी उसके साथ विवाद करनेको तयार होगया । जनक चमर व्यञ्जन और राजदण्डरूप त्रिदण्डसे रहित था और सुलभा तीन फलके वाले त्रिदण्डसे रहित थी अर्थात् दोनों समान थे, सुलभाने बुद्धिसत्त्वमें प्रवेश किया अर्थात् दोनोंके स्थूल और सूक्ष्मशरीर एक होगए, जैसे एक घरमें दो मनुष्य रहते हैं, ऐसे ही एक सूक्ष्म अथवा स्थूलदेहमें दो जीव रह सकते हैं अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म ये दोनों जीवात्माके घर हैं परमात्माके नहीं हैं, अत एव जनकने विचारा, कि-मैं सुलभाके बुद्धिसत्त्वका अपने बुद्धिसत्त्वमें प्रवेश होने पर भी पराजित नहीं हुआ हूँ, यह

चर्येयं कृता क्व च गमिष्यसि ॥ कस्य च त्वं कुतो वेति पप्रच्छैनां महीपतिः ॥ २० ॥ श्रुते वयसि जातौ च सद्भावो नाधिगम्यते । एष्वर्थेषूत्तरं तस्मात्प्रवेद्यं मत्समागमे ॥ २१ ॥ छत्रादिषु विशेषेषु मुक्तं मां विद्धि तत्त्वतः ॥ स त्वां संमन्तुमिच्छामि मानार्हा हि मतासि मे ॥ २२ ॥ यस्माच्चैतन्मया प्राप्तं ज्ञानं वैशेषिकं पुरा । यस्य नान्यः प्रवक्तास्ति मोक्षं तमपि मे शृणु ॥ २३ ॥ पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः । भिक्षोः पंचशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः ॥ २४ ॥ सांख्यज्ञाने च योगे च महीपाल विधौ तथा । त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन्गताध्वा छिन्नसंशयः ॥ २५ ॥ स यथा-

जताने कोई त्रिमेही उसने प्रश्न किया है ॥ १९ ॥ जनकने बूझा, कि हे भगवति ! तूने इस प्रकारका वर्ताव किससे पाया है ? तू कौन है ? तू किसकी है ? तू कहाँसे आई है ? तू अपना काम पूरा कर कहाँ जाना चाहती है ? ॥ २० ॥ शास्त्रसंबन्धी, अवस्थासंबन्धी और जातिसंबन्धी प्रश्न किये बिना दूसरा मनुष्य यह नहीं समझ सकता, कि यह कौन है ? जब तेरा और मेरा समागम हुआ है, तो अब तू मुझे इन प्रश्नोंका उत्तर दे ॥ २१ ॥ मुझे तू छत्र आदि सब चिन्होंसे शून्य जान अब तू कौन है, यह मैं जानना चाहता हूँ, मैं समझता हूँ, कि तू सत्कार करने योग्य है ॥ २२ ॥ मोक्षके संबन्धमें मैं जो कुछ कहता हूँ, उसको तू सुन ! मैंने जिनसे यह वैशेषिक ज्ञान प्राप्त किया है, उनके अतिरिक्त इस विषयका वैसा वक्ता और कोई नहीं है, वह पुरुष कौन हैं, यह भी मैं तुझसे कहता हूँ; सुन ! मैं पराशर गोत्रमें उत्पन्न हुए, वयोवृद्ध, महात्मा पञ्चशिख भिक्षुका परममान्य शिष्य हूँ ॥ २४ ॥ और सांख्यशास्त्र (ज्ञानकाण्ड) में योगशास्त्र (उपासनाकाण्ड) में और विधि (कर्मकाण्ड) में इन तीन प्रकारके मोक्षधर्मका मैं पारंगत हूँ, मेरे सन्देह दूर होगए हैं २५

शास्त्रदृष्टेन मार्गेणेह परिभ्रमन्। वार्षिकांश्चतुरो मासान्पुरा मयि सुखोषितः ॥ २६ ॥ तेनाहं सांख्यमुख्येन सुदृष्टार्थेन तत्त्वतः। श्रावितस्त्रिविधं मोक्षं न च राज्याद्धि चालितः ॥ २७ ॥ सोऽहं तामखिलां वृत्तिं त्रिविधां मोक्षसंहिताम्। मुक्तरागश्चराम्येकः पदे परमके स्थितः ॥ २८ ॥ वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः। ज्ञानादेव च वैराग्यं जायते येन मुच्यते ॥ २९ ॥ ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्। महद्द्वन्द्वप्रमोक्षाय सा सिद्धिर्या वयोतिगा ॥ ३० ॥ सेयं परमिका बुद्धिः प्राप्ता निर्द्वन्द्वता मया। इहैव गतमोहेन चरता मुक्तसंगिना ॥ ३१ ॥ यथा क्षेत्रं मृदुभूत-

मेरे गुरु पञ्चशिख धर्मशास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार पृथ्वी पर विचरा करते थे, पहिले वह चातुर्मास्यमें मेरे पास सुखपूर्वक रहे थे ॥ २६ ॥ सांख्यशास्त्रको भलीप्रकार जाननेवाले और मोक्षको भी जाननेवाले पंचशिखने मुझको राज्यसे चलायमान किये विना कर्मका, उपासनाका तथा ज्ञानका उपदेश दिया है२७ उनकी उपदेश दी हुई मोक्षशास्त्रमें कही हुई तीन प्रकारकी वृत्ति-का मैं आचरण करता हूँ, मैं रागरहित होगया हूँ, परमपदमें स्थिति करके रहता हूँ और एकाकी विहार करता हूँ ॥ २८ ॥ (सब गुणोंसे मुक्त होकर) वैराग्य धारण करना मोक्ष पानेकी मुख्य विधि है,वैराग्य ज्ञानसे होता है और ज्ञानसे पुरुषकी मोक्ष होजाती है ॥ २९ ॥ ज्ञानसे मनुष्य योगाभ्यास करसकता है, योगाभ्याससे आत्मज्ञानको पासकता है और आत्मज्ञानसे सुख-दुःखरूपी द्वन्द्वधर्मका नाश होजाता है,तब मरणको जीता जास-कता है ॥ ३० ॥ मैंने उस ज्ञानकी परमसिद्धि प्राप्त की है और उसके प्रतापसे मैं निर्द्वन्द्व होगया हूँ (अतएव मुझे सुखसे हर्ष और दुःखसे कष्ट नहीं होता है)और मैंने इस लोकमें मोह तथा संगको त्यागदिया है ॥ ३१ ॥ जैसे जलसे सींचे हुए कोमल

मन्द्रिरासावितं तथा । जनयत्यङ्कुरं कर्म नृणां तद्वत्पुनर्भवम् ।३२। यथा चोत्तापितं बीजं कपाले यत्र तत्र वा । प्राप्याप्यङ्कुरहेतुत्वमबीजत्वान्न जायते॥३३॥तद्वद्भगवतानेन शिखा प्रोक्तेन भिक्षुणा। ज्ञानं कृतमबीजं मे विषयेषु न जायते ॥ ३४ ॥ नाभिरज्यति कस्मिंश्चिन्नानर्थे न परिग्रहे । नाभिरज्यति चैतेषु व्यर्थत्वाद्रागरोषयोः ॥ ३५ ॥ यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत्। सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत्समावेतावुभौ मम ॥ ३६ ॥ सुखी सोऽहमवाप्तार्थः समलोष्ठाश्मकांचनः । मुक्तसंगः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः ॥ ३७ ॥ मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवि-

(चिकनी मट्टीवाले) क्षेत्रमें बीज बोने पर उसमेंसे अंकुर निकल आते हैं, ऐसे ही मनुष्यके पूर्वजन्मके कर्म मनुष्यको पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३२ ॥ परन्तु कपालमें अथवा और कहीं पर भूना हुआ बीज अंकुरित-होनेके कारण मिलने पर भी, बीजस्वरूपमें नहीं रहता और उसमेंसे अंकुर नहीं निकलता ॥३३॥ ऐसे ही भिक्षुके आश्रमका सेवन करनेवाले भगवान् पंचशिखने मेरी बुद्धिको वासनारहित कर दिया है, इसलिये मेरा-मन विषयोंकी इच्छा ही नहीं करता है ॥३४॥राग तथा रोष ये दोनों रूपरहित (मिथ्या) हैं, अत एव शत्रुओंके वधादिमें मुझे प्रीति नहीं होती है, तैसे ही स्त्री पुत्र आदि पर भी मुझे प्रीति नहीं है ॥ ३५ ॥ मैं-बसूलेसे (अपने-) दाहिने हाथको काट डालनेवालेको और वायें हाथ को-चन्दनसे लिप्त करनेवालेको भी एकसा समझता हूँ ॥३६॥ मैंने सत्य अर्थ प्राप्त किया है, इससे मैं सुखी हूँ,मैं मट्टीके ढलेको पत्थरको और सुवर्णको एकसा समझता हूँ और सब संगोंसे मुक्त होकर इस राज्यमें रहता हूँ, तब भी (पूर्वोक्त कारणोंके कारण) दूसरे त्रिदण्डी संन्यासियोंसे श्रेष्ठ हूँ ॥ ३७ ॥ बहुतसे बड़े २ मोक्षशास्त्रवेत्ता (कर्म,उपासना और ज्ञान) तीन प्रकार

चर्यैः । ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥ ३८ ॥ ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः । कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ३९ ॥ प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम् । तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥ ४० ॥ यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे । माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुंबिभिः ॥ ४१ ॥ त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित् । छत्रादिषु कथं न स्यात्तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥ ४२ ॥ येन

के मोक्षके साधन बताते है, परन्तु इनमें लोकोत्तर अलौकिक ज्ञान मोक्षका साधन है और सर्वकर्मत्याग (निष्काम भावसे कर्म करना) भी मोक्षका साधन हैं ॥ ३८ ॥ कितने मोक्षशास्त्रमें कुशल पुरुष ज्ञाननिष्ठाकाको मोक्षका साधन मानते हैं. और बहुत से सूक्ष्मदर्शी यति कर्मनिष्ठाको मोक्षका साधन मानते हैं ॥ ३९ ॥ परन्तु महात्मा पंचशिखने तो इन (समुच्चय विकल्परूप) दोनों से अनोखी तीसरी ही निष्ठा मोक्षमें प्रधान मानी है (अर्थात् कर्मसे उपकार होने पर भी उसमें आसक्ति न रखना और कर्म का प्रयोजन न होने पर भी उसको न त्यागना) ॥ ४० ॥ जो यम नियमका पालन करता है वह गृहस्थ भी संन्यासी माना जाता है और जो संन्यासी होने पर भी काम और द्वेष, स्त्री और धन आदिका संग्रह और अभिमान तथा दंभ आदि करता है तो वह गृहस्थ ही माना जाता है ॥ ४१ ॥ संन्यासीका त्रिदण्ड आदि होनेपर भी यदि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है तो छत्र आदि धारण करने पर भी राजाको भी मोक्ष क्यों न होगा, दण्ड आदि की समान छत्र आदिसे भी ज्ञानमें किसी प्रकारकी क्षति नहीं आती है (संन्यासीका त्रिदण्ड बाह्यचिन्ह है, ज्ञानप्राप्ति होने पर तो त्रिदण्डी संन्यासी और राजदण्ड धारण करने वाला राजा ये दोनों समान हैं; दोनों आश्रम चिन्ह न होने पर भी मुक्त होजाते

येन हि यस्यार्थः कारणेनेह कर्मणि । तत्तदालम्बते सर्वं द्रव्ये स्वार्थपरिग्रहे ॥ ४३ ॥ दोषदर्शी तु गार्हस्थ्ये यो व्रजत्यःश्रमान्तरे । उत्सृजन्परिगृह्णंश्च सोऽपि संगान्न मुच्यते ॥ ४४ ॥ आधिपत्ये तथा तुल्ये निग्रहानुग्रहात्मके । राजभिर्भिक्षुकास्तुल्या मुच्यंते केन हेतुना ॥ ४५ ॥ अथ सत्याधिपत्येपि ज्ञानेनैवेह केवलम् । मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यो देहे परमके स्थिताः ॥ ४६ ॥ काषायधारणं मौंड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम् । लिंगान्युत्पथभूतानि न मोक्षा-

---

हैं, चिन्हसे पूर्णता अथवा अपूर्णता आती जाती नहीं है]४२ जिस मनुष्यका जिस २ वस्तुसे जो २ काम सिद्ध होता है,उस२ (स्त्री, धन, पशु) पदार्थका वह आश्रय लेता है अर्थात् तेरा संन्यास लेना और मेरा राजपद मोक्ष पानेमें साधक बाधक नहीं है, मोक्षकी साधक तो अनासक्ति ही है, वह हम दोनोंमें हैं, अतः हम दोनों मुक्त होजावेंगे ॥४३॥ पुरुष गृहस्थाश्रम पर दोषदृष्टि रख कर उसको त्याग दूसरे आश्रमको स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब तक वह संगसे नहीं छूटता है, तब तक यह सब करना व्यर्थ है, अर्थात् मेरे राजाके चिन्होंको त्यागनेसे और त्रिदण्डको धारण करनेसे कुछ अधिक फल नहीं है, मोक्षका साधन तो अनासक्ति है, वह मुझमें है ही ॥ ४४ ॥ सब प्रकार के आधिपत्यमें किसीको दण्ड देना पड़ता है, किसी पर अनुग्रह करना पड़ता है,इसमें राजा और संन्यासी समान हैं(क्योंकि संन्यासियोंको भी अपने शिष्योंका निग्रह और उनके ऊपर अनुग्रह भी करना पडता है, तब फिर सन्यासी किसकारणसे मुक्ति को पाता है और राजा मुक्तिको क्यों नहीं पासकता ?) ४५ परन्तु आधिपत्य पाने पर भी जो परमात्मामें स्थिति करके रहते हैं, वह केवल ज्ञानसे ही सब पापोंसे छूट जाते हैं ॥४६॥ भगवाँ वस्त्र धारण करना, मस्तक मुँड़ाना, त्रिदण्ड और कमण्डलु

येति मे मतिः ॥४७॥ यदि सत्यपि लिंगेऽस्मिन् ज्ञानमेवात्र कारणम्। निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिंगमात्रं निरर्थकम् ॥४८॥ अथवा दुःखशैथिल्यं वीक्ष्य लिंगे कृता मतिः। किं तदेवार्थसामान्यं छत्रादिषु न लक्ष्यते ॥ ४९ ॥ आकिंचन्येन मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम्। किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥ ५० ॥ तस्माद्धर्मार्थकामेषु तथा राज्यपरिग्रहे। बन्धनायतनेष्वेषु विद्ध्यबन्धे पदे स्थितम् ॥ ५१ ॥ राज्यैश्वर्यमयः पाशः स्नेहायतनबन्धनः। मोक्षाश्मनिशितेनेह छिन्नस्त्यागासिना मया ॥५२॥ सोऽहमेवं गतो मुक्तो जातास्थस्त्वयि भिक्षुकि। अयथार्थं हि ते

धारण करना, ये तो सब बाहरी चिन्ह हैं, मोक्षमें तो इनकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४७ ॥ संन्यासके इन सब चिन्होंके होने पर भी यदि मोक्षमें ज्ञान ही कारण है तो (मैं समझता हूँ कि-) दुःखका नाश करनेके लिये चिन्ह धारण करना निरर्थक ही है॥४८॥(कदाचित् तूने समझा हो,कि-दण्ड आदि) चिन्ह धारण करनेसे दुःख कम होजावेगा, तो फिर छत्र और दण्ड आदि धारण करनेसे भी वही कार्यसिद्धि क्यों न मानी जावे४९ अकिंचनपनेमें मोक्षका वास नहीं है,तैसे ही धन आदिका संग्रह करनेसे भी बन्धन नहीं होता है, मनुष्य त्यागी हो अथवा रागी हो, परन्तु ज्ञानसे ही मोक्ष होती है ॥ ५० ॥ धर्म, अर्थ और काम तथा राज्य और स्त्री ये वस्तुतसे बन्धनमें डालनेवाले सामान मेरे पास होने पर भी तू मुझे बन्धनरहित स्थानमें ही बसताहुआ समझ ॥५१॥ मैंने स्नेहके आश्रयस्थानरूपके बन्धनवाले राज्य और ऐश्वर्यरूपी जालको मोक्षरूपी पत्थर पर त्यागरूपी तलवारको घिस कर,तिससे काटडाला है ५२ हे भिक्षुकि ! अपनी इस स्थितिके कारण मैं मुक्त हूँ, मुझे तेरे ऊपर आस्था हुई है,परन्तु तेरा वेश तेरे स्वरूपके अनुकूल नहीं है, यह बात मैं बिना कहे

वर्णं वक्ष्यामि शृणु तन्मम ॥ ५३ ॥ सौकुमार्यं तथा रूपं वपुरग्र्यं तथा वयः । तवैतानि समस्तानि नियमश्चेति संशयः ॥ ५४ ॥ यच्चाप्यननुरूपं ते लिंगस्यास्य विचेष्टितम् । मुक्तोऽयं स्यान्न वेति स्याद्धर्षितो मत्परिग्रहः ॥ ५५ ॥ न च कामसमायुक्ते मुक्तेऽप्यस्ति त्रिदण्डकम्। न रक्ष्यते त्वया चेदं न मुक्तस्यास्ति गोपना ॥५६ मत्पक्षसंश्रयाच्चायं शृणु यस्ते व्यतिक्रमः । आश्रयन्त्याः स्वभावेन मम पूर्वपरिग्रहम् ॥ ५७ ॥ प्रवेशस्ते कृतः केन मम राष्ट्रे पुरेपि वा । कस्य वास्मन्निकर्षात्त्वं प्रविष्टा हृदयं मम ॥ ५८ ॥ वर्ण-

---

नहीं रह सकता ॥ ५३ ॥ तेरा रूप सुकुमार है, तेरा शरीर सुन्दर है, तेरी अवस्था तरुण है (परन्तु ये सब योगीमें न होना चाहिये यह सब तुझमें है और दूसरी ओर तुझमें (योग)नियम है (ये दोनों विरुद्ध बातें तुझमें हैं) अतः मुझे सन्देह होता है (जनकके कहनेका आशय यह है, कि–योगीका शरीर तो सूखे हुए अङ्गवाला, वृद्ध और सुन्दरतारहित होना चाहिये, मुक्तका लक्षण ऐसा न होना चाहिये जिससे दूसरा सन्देहमें पड़े,मुक्तको तो स्थितिके अनुरूप वेश रखना चाहिये) ॥ ५४ ॥ मैं मुक्त हूँ अथवा नहीं,यह जाननेके लिये तूने मेरे शरीरमें प्रवेश करके भी संन्यासाश्रमके प्रति कूल आचरण किया है ॥ ५५ ॥ तू योगिनी होने पर भी कामनाओंसे भरी हुई है, अतः तू त्रिदण्ड धारण करनेकी पात्र नहीं है और मेरे शरीरका संग करनेके कारण तू अपने आश्रमचिन्होंकी रक्षा न करसकी, आरूढ होकर पतित होने वालेकी रक्षा नहीं है (अर्थात् तूने इस समय गृहस्थ स्त्रीके रूपको धारण करलिया है अतः तू आरूढपतित होगई है)५६ तूने अपने बुद्धिसत्त्वसे मेरे शरीरमें प्रवेश कर मेरे शरीरका आश्रय करके जो पाप किया है,इस सम्बन्धमें मैं अब तुझसे कहता हूँ, सुन ५७ तूने किस कारणसे मेरे राज्यमें तथा मेरे मन्दिरमें प्रवेश

प्रवरमुख्यासि ब्राह्मणी क्षत्रियस्त्वहम् । नावयोरेकयोगोस्ति मा कृथा वर्णसंकरम् ॥ ५९ ॥ वर्तसे मोक्षधर्मेण त्वं गार्हस्थ्येऽहमाश्रये । अयं चापि सुकष्टस्ते द्वितीयोऽश्रमसंकरः ॥६०॥ सगोत्रां वाऽसगोत्रां वा न वेद त्वां न वेत्थ माम् । सगोत्रमाविशंत्यास्ते तृतीयो गोत्रसंकरः ॥ ६१ ॥ अथ जीवति ते भर्ता मोषितोऽप्यथ वा क्वचित् । अगम्या परभार्येति चतुर्थो धर्मसंकरः ॥६२॥ सा त्वमेतान्यकार्याणि कार्यापेक्षा व्यवस्यसि । अविज्ञानेन वा युक्ता मिथ्याज्ञानेन वा पुनः ॥ ६३ ॥ अथवापि स्वतन्त्रासि स्वदोषेणेह कर्हिचित् । यदि किंचिच्छ्रुतं तेऽस्ति सर्वं कृतमनर्थकम् ॥ ६४ ॥

किया ? किसके संकेतसे तूने मेरे हृदयमें प्रवेश किया है॥५८॥ तू वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणी है और मैं क्षत्रिय हूँ, हम दोनोंका एक साथ योग (सम्बन्ध) होना अनुचित है, अतः तू वर्णसङ्करता न फैला ॥५९॥ तू मोक्षधर्मको पालती है और मैं गृहस्थाश्रमके धर्मका पालन करता हूँ, अतः तूने हम दोनोंमें आश्रमसङ्कर नामक महादुःखदायक दोप फैलाया है ॥६०॥ तू मेरी सगोत्रा है अथवा असगोत्रा है यह भी मैं नहीं जानता हूँ और तू भी यह नहीं जानती, कि–मै तेरा सगोत्र हूँ या असगोत्र हूँ ? यदि तू मेरे गोत्रकी होगी तो तूने मेरे शरीमें प्रवेश करके गोत्रसङ्कर नामक तीसरा दोप किया है॥६१॥ यदि तेरा भर्ता जीवित होगा और परदेशमें दूर रहता होगा, तब भी दूसरेकी स्त्री होनेपर तू मेरे लिये अगम्य है,इससे तूने धर्मसङ्कर नामक चौथा पाप किया है ॥६२॥ तूने जो ये सब पाप किये है,ये किसी कार्यको करने के लिये किये हैं अथवा अज्ञानतासे किये है ? अथवा बुद्धिभ्रम से किये हैं ? ॥ ६३ ॥ तू (दुर्बुद्धिके कारण स्त्री होने पर भी) स्वतन्त्र होगई है, यदि तूने शास्त्र पढा होगा तब तुझे प्रतीत होगा कि–तूने जो कुछ काम किया है, वह सब अनर्थ करने

इदमन्यत्तृतीयं ते भावस्पर्शविघातकम् । दुष्टाया लक्ष्यते लिंगं विप्रुषवत्या प्रकाशितम् ॥ ६५ ॥ न मय्येवाभिसंधिस्ते जयैषिण्या जये कृतः । येयं मत्परिषत्कृत्स्ना जेतुमिच्छसि तामपि ॥ ६६ ॥ तथाह्र्तस्ततश्च त्वं दृष्टिं स्वां प्रतिमुञ्चसि । मत्पक्षप्रतिघाताय स्वपक्षोद्भावनाय च ॥६७॥ सास्त्वेनामर्षजेन त्वमृद्धिमोहेन मोहिता। भूयः सृजसि योगांस्त्वं विषामृतमिवैकताम् ॥ ६८ ॥ इच्छतोरत्र यो लाभः स्त्रीपुंसोरमृतोपमः । अलाभश्चापि रक्तस्य सोपि दोषो विषोपमः ॥६९॥ मा स्प्राक्षीः साधु जानीष्व स्वशास्त्रमनुपालय ।

वाला है ॥६४॥ तेरे इस कृत्यके कारण तेरे चित्तकी प्रसन्नता का नाशरूप तीसरा दोष तुझको लगा है, तूने अपनी श्रेष्ठता दिखानेका प्रयत्न करके मेरे शरीरमें प्रवेश किया है, यह तुझमें दुष्ट स्त्रीके चिन्ह हैं ॥ ६५ ॥ तुझे जीतनेकी इच्छा है और तूने केवल मुझे ही जीतनेका निश्चय किया है, परन्तु मेरी जो यह सारी सभा बैठी है, क्या इसको भी जीतनेका तूने निश्चय किया है ॥ ६६ ॥ मेरी सभाका पराजय करनेके लिये और अपने पक्षकी विजयके लिये तू मेरी सभामें बैठे हुए पूज्य पुरुषोंकी ओर दृष्टि डाल॥६७॥ अमर्षके कारण तुझे अपनी योगसमृद्धि पर मोह हुआ है,इसीकारण तू मोहित होगई है अत एव तू वार-म्वार अपनी बुद्धिसे दूसरेकी बुद्धिमें प्रवेश करती है (इसीप्रकार तूने मेरे शरीरमें प्रवेश किया है) यह विष और अमृतके संयोग की समान है ॥ ६८ ॥ स्त्री और पुरुष परस्पर समागम करना चाहते हों तब उनका जो परस्परका संयोग होता है,वह अमृत की समान होता है,परन्तु एककी इच्छा हो और एककी इच्छा न हो तो उन समागम की इच्छा करने वालोंको लाभ नहीं होता है और वह संयोग विषकी समान पापरूप माना जाता है ६९ तू मेरे समागमकी इच्छा न कर,तू मुझे धर्मात्मा समझ तु अपने

कृतेयं हि विजिज्ञासा मुक्तो नेति त्वया मम॥७०॥ एतत्सर्वं प्रतिच्छन्नं मयि नार्हसि गूहितुम् । सा यदि त्वं स्वकार्येण यद्यन्यस्य महीपतेः । तत्त्वं सत्रप्रतिच्छन्ना मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७१ ॥ न राजानं मृषा गच्छेन्न द्विजातिं कथंचन । न स्त्रियं स्त्रीगुणोपेतां हन्युर्ह्येते मृषागताः ॥ ७२ ॥ राज्ञां हि बलमैश्वर्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् । रूपयौवनसौभाग्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥ अत एतैर्बलैरेव बलिनः स्वार्थमिच्छता । आर्जवेनाभिगन्तव्या विनाशाय ह्यनार्जवम् ॥ ७४ ॥ सा त्वं जातिं श्रुतं वृत्तं भावं प्रकृतिमात्मनः । कृत्यमागमने चैव वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ७५ ॥ भीष्म-

धर्मानुसार अपने संन्यासधर्मकी रक्षा कर, मैं मुक्त हूँ अथवा नहीं ? तुझे जो यह जाननेकी इच्छा हुई थी वह भी (अब) पूर्ण होगई है ॥ ७० ॥ अपनी सब गुप्त बातें तुझे मुझसे नहीं छिपानी चाहिये,तू यह बता,कि-तूने यह सब कार्य अपने लिये किया है अथवा किसी शत्रु राजाकी प्रेरणासे किया है, संन्यासिनीके वेशमें छिपीहुई तुझे मुझसे यह सब बातें छिपानी न चाहियें ॥७१॥ (शास्त्रवचन है कि-) राजाके पास कभी कपट से न जावे, ब्राह्मणके पास कपटसे न जाय, धर्मपरायण स्त्रीके पास कपटसे न जावे, इनके पास जो कपटसे जाता है, उसका वे नाश कर डालते हैं ॥ ७२ ॥ राजाका बल ऐश्वर्य है, ब्रह्मवेत्ताओंका बल ब्रह्म है और स्त्रियोंका अनुत्तम बल रूप,यौवन और सौभाग्य (पतिव्रतधर्म है) ॥ ७३ ॥ इन बलोंसे ये बलवान् हैं, अतः अर्थकी इच्छा रखने वाला पुरुष इनके पास सरलतासे जावे, यदि इनके पास कोई उद्धततासे जाता है तो वह मारा जाता है॥७४॥तेरी ज्ञाति क्या है तूने कौनसे शास्त्रका अभ्यास किया है, तू कौनसे व्रतका पालन करती है, तेरा विचार क्या है, तेरी प्रकृति कैसी है, तू किस कार्यके लिये आई है ? यह सब

उवाच। इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तैरसमंजसैः। प्रत्यादिष्टा नरेंद्रेण सुलभा न व्यकंपत॥ ७६ ॥ उक्तवाक्ये तु नृपतौ सुलभा चारुदर्शना। ततश्चारुतरं वाक्यं प्रचक्रामाथ भाषितुम्॥७७॥ सुलभोवाच। नवभिर्नवभिश्चैव दोषैर्वाग्बुद्धिदूषणैः। अपेतमुपपन्नार्थमष्टादशगुणान्वितम्॥ ७८ ॥ सौक्ष्म्यं सांख्यक्रमौ चोभौ निर्णयः सप्रयोजनः। पंचैतान्यर्थजातानि वाक्यमित्युच्यते नृप॥ ७९ ॥ एषामेकैकशोर्थानां सौक्ष्म्यादीनां स्वलक्षणम्। शृणु संसार्यमाणानां पदार्थपदवाक्यतः॥ ८० ॥ ज्ञानं ज्ञेयेषु भिन्नेषु यदाभेदेन

मुझसे यथार्थ रीतिसे कह॥७५॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! इसप्रकार मिथिलाके राजाने दुःख देनेवाले अनुचित वचन उतावलीसे कहकर सुलभाका अपमान किया, परन्तु इससे सुलभा पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा॥ ७६ ॥ राजाके कह चुकने पर अद्भुत दृश्य वाली सुलभाने अति मधुर वात कहना आरम्भ की॥ ७७ ॥ सुलभाने कहा, कि-हे राजन्! वाक्य ऐसा होना चाहिये, जो वाणीके नौ दोषोंसे और बुद्धिके नौ दोषोंसे रहित, योग्य विषय वाला तथा अठारह गुणोंसे भरपूर हो॥७८॥हे राजन्! वाक्य उसको कहते हैं, जिसमें सौक्ष्म्य सांख्य,क्रम विनिर्णय और योजना ये पाँच अर्थ भरे हों (संशय वाले अर्थयुक्त वचनको सौक्ष्म्य कहते हैं पूर्वपक्षके और सिद्धान्त के गुणावगुणकी तुलना करनेका नाम सांख्य है, गुणावगुणमें गुण बलवान् है अथवा दोष बलवान् है इसका विचार करके मुखमेंसे निकालनेका नाम क्रम है,सिद्धान्त रूपी वचनका नाम निर्णय है, हेतुरूपी अर्थ बताने वाले वचनका नाम प्रयोजन है)॥ ७९ ॥ पदसे वाक्यसे, पदार्थसे और वाक्यार्थसे प्रयोगमें आनेवाले सूक्ष्म आदि प्रत्येक विषयके लक्षण मैं तुमसे कहती हूँ सुन॥ ८०॥ (अथ ज्ञेय जानने योग्य विषय), भिन्न होता

वर्तते । यत्राधिवासिनी बुद्धिस्तत्सौक्ष्म्यमितिवर्तते॥८१॥दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः । कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ ८२ ॥ इद पूर्वमिदं पश्चाद्वक्तव्यं यद्विवक्षितम् । क्रमयोगं तमप्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो जनाः ॥ ८३ ॥ धर्मकामार्थमोक्षेषु प्रतिज्ञाय विशेषतः । इदं तदिति वाक्यान्ते प्रोच्यते स विनिर्णयः॥८४॥इच्छाद्वेषभवैर्दुःखैः प्रकर्षो यत्र जायते । तत्र या नृपते वृत्तिस्तत्प्रयोजनमिष्यते ॥ ८५ ॥ तान्येतानि यथोक्तानि सौक्ष्म्यादीनि जनाधिप । एकार्थसमवेतानि वाक्यं मम निशामय ॥८६॥ उपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम् । नाश्लक्ष्णं न च संदिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः ॥ ८७ ॥ न गुर्वक्षरसंयुक्तं

है, तब ज्ञान भी भिन्न होता है उस समय बुद्धि संशयसे भरी होती है, तब उसको सूक्ष्म कहते हैं ८१ किसी विषयको लक्ष्य करके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके गुणों और अवगुणोंकी जो गिनती की जाती है, उसको संख्या कहते हैं ॥ ८२ ॥ जो विषय कहना हो उसमें अमुक पहिले कहना चाहिये और अमुक पीछे कहना चाहिये, ऐसे क्रमयोगको मनुष्य वाक्य कहते है॥८३॥धर्म अर्थ काम तथा मोक्षके संबंधमें भली प्रकार निर्णय करके जो बात निर्णयपूर्वक युक्तिसे कही जाती है,"कि-यह प्रमाण है" उसका नाम निर्णय है ॥ ८४ ॥ इच्छा अथवा द्वेषसे उत्पन्न होने वाले दुःखकी वृद्धि जिस विषयमें होती हैं उस विषयमें प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप जो वृत्ति है उसको हे नृपते प्रयोजन कहते हैं ॥ ८५ ॥ हे राजन् ! जिस एक ही विषयमें सौक्ष्म्य आदि पाँचों होते है उसको वाक्य कहते हैं, मेरे ऐसे वाक्यको तू सुन ॥ ८६ ॥ मैं जो वाक्य तुझ से कहती हूँ, वह (१) प्रस्तुत विषयसे युक्त (२) भिन२ अर्थोंसे रहित(प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों वाला) (३) न्याय-वृत्तान्तोंसे भरपूर (४) संक्षेप.

पराङ्मुखसुखं न च। नानृतं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम्॥८८
न न्यूनं कष्टशब्दं वा विक्रमाभिहितं न च। न शेषमनुक-

(५)कठोरतासे रहित और (६) और सन्देहसे रहित है॥८७॥
जिस वाक्यमें गुरु(कठोर)अक्षरोंका प्रयोग न हो [जैसे "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" इस वाक्यमें शुष्क वृक्ष और तिष्ठति आदि पद कठोर-कठिनसे बोले जाते हैं, ऐसे शब्द वाक्यमें सदोष माने जाते हैं ;] (२) जो मूर्खों (गँवार अज्ञानियों) को आनन्द देनेवाला न हो (सभ्यता भरा हो) अर्थात् अपशब्द, अमङ्गल, शब्द तथा तिरस्कारमय पद ग्राम्य कहलाते हैं और ऐसे पदों वाला, वाक्य, वाक्य नहीं माना जाता है (३) जिसमें असत्य न हो अर्थात् जो बात पुराण आदिमें न हो यथा कालिदास का मेघदूत वह असत्य मानी जाती है, परन्तु श्रुति, स्मृति आदि के प्रमाण वाला और प्रौढ उक्तिसे भरा हुआ वाक्य ही सत्य माना जाता है (४) जो धर्म अर्थ और कामसे विरुद्ध न हो यथा "यह वटुक यज्ञोपवीत विना हुए ही वेद पढता है" यह वाक्य धर्मविरुद्ध है, "राजा कामोपभोगके लिये ही पृथिवीका विजय करता है" यह वाक्य अर्थ शास्त्रके विरुद्ध है "हेबिम्बोष्ठि! तेरे ऊपरके ओष्ठमें दन्तक्षतका चिन्ह दिखाई देता है' यह वाक्य काम शास्त्रके विरुद्ध है, इसप्रकार जो वाक्य त्रिवर्गसे विरुद्ध होता है, वह वाक्य नहीं माना जाता है॥ (५) जो असंस्कृत अर्थात् प्राकृत भाषाका, न हो प्राकृत भाषाका उदाहरण इस प्रकार है:-'गल्भो लावण्यतल्लो ते लडहोमडहो भुजो। नेत्रे सेवा-इकं दोट्टमोट्टायित सखें सखि" (६) जो न्यूनतारहित हो अर्थात् जिसमें असंगत पद हों वह वाक्य वाक्य नहीं माना जाता है (७) जो व्याकरण और छन्दःशास्त्रके दोषोंसे रहित है (८) जिसमें अध्याहार न करना पड़े (९) जो लक्षणासे

ल्पेन निष्कारणमहेतुकम् ॥ ८९ ॥ कामात्क्रोधाद्भयाल्लोभाद्दैन्या-
च्चानार्यकात्तथा । ह्रीतोऽनुक्रोशतो मानान्न वक्ष्यामि कथंचन ९०
वक्ता श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं नृप । सममेति विवक्षायां
तदा सोऽर्थः प्रकाशते ॥ ९१ ॥ वक्तव्ये तु यदा वक्ता श्रोतारमव-
मन्यते । स्वार्थमाह परार्थं तच्चदा वाक्यं न रोहति ॥९२॥ अथ
यः स्वार्थमुत्सृज्य परार्थं प्राह मानवः । विशंका जायते तस्मिन्

जाननेमें आता हो वह वाक्य भी वाक्य नहीं माना जाता, यथा-
एक मित्र अपने मित्रसे कहे, कि-'विष खा विष' इस वाक्यमें
विष भक्षण करनेका अभिप्राय नहीं है, शत्रुके घर जीमनेका
निषेध किया है, परन्तु यह बात लक्षणासे प्रतीत होती है। इस
वाक्यमें समाधिनामक अलंकार है इसप्रकार आलंकारिक मानते
हैं परन्तु वेदके अर्थोंकी मर्यादाके अनुसार यह वाक्य सदोष
माना जाता है और युक्तिरहित निष्प्रयोजन वाक्य भी वाक्य
नहीं माना जाता है। इन दोषोंसे रहित जो वाक्य होता है, वही
वाक्य माना है॥८८-८९॥मैं तुझसे क्रोधसे, कामसे, भयसे लोभसे
दीनतासे, अनार्यपनसे, लज्जासे, दयासे, अथवा अभिमानसे
कोई बात नहीं कहती हूँ (परन्तु तूने मुझसे प्रश्नसे किया है,
इससे मैं तुझे उत्तर देती हूँ) ॥ ९० ॥ हे राजन् ! जब वक्ता,
श्रोता और वाक्य ये तीनों अविकल होते हैं और तत्त्वका
निर्णय सिद्धान्तके अनुसार किया जाता है, तब ही वक्तव्य विषय
यथार्थरीतिसे प्रकाशित होता है ॥९१॥ परन्तु जब वक्ता श्रोता
का अपमान करके स्वयं जो अर्थ समझा होता है, उसको ही
कहता है और जो अपने आप कहता है, उसको ही उत्तम मानता
है, तब वक्ताका वाक्य सफल नहीं होता है॥९२॥जो मनुष्य अपने
स्वार्थको त्यागकर परार्थका अनुसरण करता हुआ बोलता है,
यदि तब भी उसके भाषण परको शंका हो तो दूसरे वह वाक्य

वाक्यं तदपि दोषवत् ॥ ९३ ॥ यस्तु वक्ता द्वयोरर्थमविरुद्धं प्रभाषते । श्रोतुश्चैवात्मनश्चैव स वक्ता नेतरो नृप ॥ ९४ ॥ तदर्थवदिदं वाक्यं राजन्नेकमनाः शृणु । यथा जतु च काष्ठं च पांसवश्चोदबिन्दवः ॥ ९५ ॥ संश्लिष्टानि तथा राजन्प्राणिनामिह सम्भवः । शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धः पञ्चेन्द्रियाणि च ९६ पृथगात्मान आत्मानं संश्लिष्टा जतुकाष्ठवत् । न चैषां चोदना काचिदस्तीत्येष विनिश्चयः ॥ ९७॥ एकैकस्येह विज्ञानं नास्त्यात्मनि तथापरे । न वेदचक्षुश्चक्षुष्ट्वं श्रोत्रं नात्मनि वर्तते ॥९८॥ तथैव व्यभिचारेण न वर्तन्ते परस्परम् । संश्लिष्टं च न जानन्ति

सदोष माना जाता है ॥९३॥ परन्तु हे नृप ! अपने और श्रोता के अनुकूल विषयका भाषण करने वाला ही वक्ता माना जाता है, दूसरा नहीं ॥ ९४ ॥ इसलिये ही हे राजन् ! तुझे मनको स्थिर करके मेरे अर्थवाले वाक्यको सुनना चाहिये । तूने मुझसे बूझा, कि—मैं कौन हूँ ? मैं किसकी स्त्री) हूँ, मैं कहाँसे आई हूँ ? हे राजन् ! तूने जो मुझसे जो कुछ बूझा है उसको तू मन को एकाग्र करके सुन ! लाख और लकड़ी, धूलिके कण और जलबिन्दु जैसे मूलसे ही एक साथ संयुक्त होते हैं ॥९५॥ तैसे ही सब प्राणियोंकी उत्पत्ति है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियें ॥ ९६ ॥ ये सब भिन्न २ हैं तब भी ये लाख और लकड़ीकी समान एक दूसरेसे संयुक्त हैं,और यह प्रसिद्ध है. कि—कोई भी पुरुष इनमेंसे किसीसे भी यह नहीं बूझता है, कि—तू कौन है ? ॥९७॥ इनमेंकी किसी भी इन्द्रिय को अपना अथवा दूसरेका ज्ञान नहीं है, नेत्र अपने स्वरूपको नहीं देख सकता, तैसे ही श्रोत्र भी अपने स्वरूपको नहीं जानता है ॥ ९८ ॥ कदाचित् सब इन्द्रियें एक दूसरेके साथ मिलजावें तब भी, जैसे रज और जल एक दूसरेके साथ मिले हुए हैं. तब

यथाप इव पांसवः ॥ ९९ ॥ वाह्यानन्यानपेक्षन्ते गुणांस्तानपि मे शृणु । रूपं चक्षुः प्रकाशश्च दर्शने हेतवस्त्रयः ॥ १०० ॥ यथैवात्र तथान्येषु ज्ञानज्ञेयेषु हेतवः । ज्ञानज्ञेयांतरे तस्मिन्मनो नामापरो गुणः ॥१०१॥ विचारयति येनायं निश्चये साध्वसाधुनी । द्वादशस्त्वपरस्तत्र बुद्धिर्नाम गुणः स्मृतः । येन संशयपूर्वेषु बोद्धव्येषु व्यवस्यति ॥ १०२ ॥ अथ द्वादशके तस्मिन्सत्वं नामापरो गुणः । महासत्वोऽल्पसत्वो वा जन्तुर्येनानुमीयते ॥ १०३ ॥ अहंकर्तेति चाप्यन्यो गुणस्तत्र चतुर्दशः । ममायमिति ये नायं मन्यते न ममेति च ॥१०४॥ अथ पंचदशो राजन्गुणस्तत्रापरः स्मृतः ।

भी एक दूसरेको नहीं जान सकते तैसे ही, नेत्र आदि भी एक दूसरेको नहीं जान सकते ॥ ९९ ॥ ये इन्द्रियें अपना २ धर्म पूर्ण करनेके लिये वाहरके पदार्थकी अपेक्षा रखती हैं, इस विषयको मैं तुमसे कहता हूँ, सुन प्रत्येक पदार्थको देखनेमें रूप नेत्र और प्रकाश ये तीन हेतु है ॥ १०० ॥ जैसे इस दर्शनमें तीन हेतु हैं, ऐसे ही दूसरे ज्ञान तथा ज्ञेयमें भी तीन हेतु हैं, इन ज्ञान और ज्ञेयके मध्यमें मन नामक एक गुण और भी रहता है ॥ १०१ ॥ (मन ग्यारहवाँ गुण है) वारहवाँ गुण बुद्धि है, जब किसी पदार्थमें शंका होती है,तब बुद्धिनामक गुणसे मनुष्य अमुक वस्तु भली है या बुरी है. इसका विचार कर सकता है, तैसे ही मनुष्य बुद्धिसे जानने योग्य पदार्थोंको जाननेका भी प्रयत्न करता है ॥१०२॥ इस वारहवें बुद्धि नामक गुणमें सत्त्व नामक तेरहवाँ गुण है इस सत्त्वसे अमुक प्राणी महा सत्त्ववाला है अथवा अल्पसत्त्व वाला है, यह प्रतीत होसकता है ॥१०३॥ और तहाँ अहंकार नामक (चौदहवाँ) गुण रहता है और उसके आधारसे फला वाला जगत् रहता है अर्थात् वासना स्वयं देखने में नहीं आती है, परन्तु उसका प्रकाश जगत्से होता है (प्राण,

पृथक्कलासमूहस्य सामर्थ्यं तदिहोच्यते ॥ १०५ ॥ गुणस्त्वेवापर-स्तत्र संघात इव षोडशः । प्रकृतिर्व्यक्तिरित्येतौ गुणौ यस्मिन् समाश्रितौ१०६सुखासुखे जरामृत्यू लाभालाभौ प्रियाप्रिये । इति चैकोनविंशोयं द्वन्द्वयोग इति स्मृतः१०७ऊर्ध्वं चैकोनविंशत्या कालो नामापरो गुणः। इतीमं विद्धि विंशत्या भूतानां प्रभवाप्ययम्१०८ विंशकश्चैष संघातो महाभूतानि पंच च । सदसद्भावयोगौ तु गुणावन्यौ प्रकाशकौ ॥ १०९ ॥ इत्येवं विंशकश्चैव गुणाः सप्त च ये स्मृताः । विधिः शुक्रं बलं चेति त्रयं एते गुणाः परे ११० विंशतिर्दश चैवं हि गुणाः संख्यानतः स्मृताः । समग्रा यत्र वर्तन्ते

श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम ये सोलह कला हैं। जब तक वासना है, तब तक जन्ममरण है, इस वासनासे ही जगत् की रचना है, यह वासनात्मक जगत् अहंकारमें रहता है)१०५ इनमें समष्टिरूपमें सोलहवाँ अविद्या गुण रहता है, उस अविद्या में प्रकृति और व्यक्ति अथवा माया और प्रकाश नामक दो गुण रहते हैं ॥ १०६ ॥ सुख और दुःख जरा और मरण, लाभ और हानि, प्रिय और अप्रिय ये द्वन्द्वयोग उन्नीसवाँ है ॥१०७॥ तदनन्तर काल नामक एक वीसवाँ गुण है, वह काल जगत्की उत्पत्तिऔर प्रलय करता है॥१०८॥इसप्रकार वीस गुणोंका समु-दाय है, फिर पञ्चमहाभूत तथा भाव और अभाव नामक दूसरे दो गुण मिला कर दूसरे सात गुण और भी कहे हैं, फिर विधि (वासनामें वीजरूपसे रहनेवाले धर्म और अधर्म), शुक्र (वासना को अंकुरित करने वाले कारण) और बल (वासना की तृप्तिके अनुकूल प्रयत्न(नामक दूसरे भी तीन गुण हैं१०९-११०जिसमें ये तीस गुण रहते हैं उसको शास्त्रमें शरीर कहा है ॥ १११ ॥ कितने ही पुरुष (सेश्वर सांख्यवादी) इन तीस कलाकी उत्पत्ति

तच्छरीरमिति स्मृतम् ॥ १११ ॥ अव्यक्तं प्रकृतिं त्वासां कलानां कश्चिदिच्छति । व्यक्तं चासां तथा चान्यः स्थूलदर्शी प्रपश्यति ॥ ११२ ॥ अव्यक्तं यदि वा व्यक्तं द्वयीं मथ चतुष्टयीम् । प्रकृतिं सर्वभूतानां पश्यत्यध्यात्मचिन्तकाः ॥ ११३ ॥ येयं प्रकृतिरव्यक्ता कलाभिर्व्यक्ततां गता । अहं च त्वं च राजेन्द्र ये चाप्यन्ये शरीरिणः ॥ १४ ॥ बिन्दुन्यासादयोऽवस्थाः शुक्र-

---

पुरुष तथा प्रकृतिसे मानते हैं, कितने ही निरीश्वरवादी परमाणु को कलाकी उत्पत्तिरूप मानते है, तथा दूसरे (काल, अदृष्ट और ईश्वरको माननेवाले कणाद) स्थूलदर्शी अव्यक्तको कला की उत्पत्तिरूप मानते है ॥ ११२ ॥ अव्यक्त कारण हो, व्यक्त कारण हो अथवा दोनों पुरुष तथा व्यक्त (परमाणु) कारण हो, अथवा चारों (पुरुष, माया, जीव तथा अविद्या) कारण हों तब भी अध्यात्मज्ञानवादी प्रकृतिको सब प्राणियोंकी कारण रूप मानते हैं ॥११३॥ यह प्रकृति अव्यक्त (इन्द्रियोंसे न देखी जासकनेवाली) है और कलाओंसे व्यक्त होरही है हे राजेन्द्र ! मैं तू तथा दूसरे सब शरीरधारी भी इस प्रकृतिमेंसे उत्पन्न हुए हैं (यहाँ तक सुलभाने जनकके "तू कौन है" इस प्रश्नका उत्तर दिया ! सारांश यह है, कि-जहाँ पूरे तीस गुण होते हैं तहाँ शरीर संज्ञा होती है इन तीस कला अथवा गुणोंकी उत्पत्ति उपादान कारण सेश्वर सांख्यवादी पुरुष और प्रकृतिको मानते हैं, निरीश्वरसांख्यवादी परमाणुको उत्पत्तिरूप मानते हैं तथा कपिल मतवाले अव्यक्तको उत्पत्तिरूप मानते हैं, चार्वाक चारप्रकारके परमाणुरूप व्यक्तको, कणाद दोनोंको कारण मानते हैं, परन्तु वेदान्ती कहते हैं, कि-व्यवहारमें स्वयं ही जीवरूपको प्राप्त हुआ शिव अपनी ही उपाधिसे अपनेको देखता है, वही उत्पत्तिका कारण है, इसप्रकार सबका ही उपादान कारण है, फिर तू कौन

शोणितसम्भवाः । यासामेव निपातेन कललं नाम जायते ११५ कललाद् बुद्बुदोत्पत्तिः पेशी च बुद्बुदोत्स्मृता । पेश्यास्त्वंगाभिनिर्वृत्तिर्नखरोमाणि चांगतः ॥ ११६ ॥ सम्पूर्णे नवमे मासि जन्तोर्जातस्य मैथिल। जायते नामरूपत्वं स्त्रीपुमान्वेति लिङ्गतः ११७ जातमात्रं तु तद्रूपं दृष्ट्वा ताम्रनखांगुलि । कौमार रूपमापन्नं रूपतो नोपलभ्यते ॥ ११८ ॥ कौमाराद्यौवनं चापि स्थाविर्यं चापि यौवनात् । अनेन क्रमयोगेन पूर्वं पूर्वं न लभ्यते ॥ ११६ ॥ कलानां पृथगर्थानां प्रतिभेदः क्षणे-क्षणे । वर्त्तते सर्वभूतेषु सौक्ष्म्यात्तु न विभाव्यते ॥ २० ॥ न चैषामत्ययो राजन लक्ष्यते प्रभवो न च ।

और मैं कौन? ११४ पुरुषके वीर्यका स्त्रीके रुधिरके बिन्दुरूप गर्भ स्थानमें सिंचन होता है, तब उसमें कलल उत्पन्न होता है ११५ कललमेंसे बुद्बुद उत्पन्न होता है, बुद्बुदमेंसे पेशी उत्पन्न होती है, पेशीमेंसे अंगोंकी उत्पत्ति होती है, और अंगोंमेंसे नख तथा रोम उत्पन्न होते हैं ११६ हे मिथिलाधिप ! (गर्भमें) नौ मास पूर्ण होने पर प्राणी उत्पन्न होता है और वह चिन्होंसे पुत्र वा पुत्री प्रतीत होता है, फिर उसका नाम पड़ता है ॥ ११७ ॥ वह बालक जब उत्पन्न होता है, तब उसके हाथकी अँगुलियें और नख ताम्रवर्णके होते हैं; जब वह कुमारावस्थामें आता है, तब उसका पहिलेका रूप नहीं रहता ॥ ११८ ॥ कुमारावस्थासे युवावस्थामें आता है युवावस्थासे वृद्धावस्थामें आता है, इस प्रकार जैसे २ क्रमशः अगली २ अवस्थाको पाता है, तैसे २ उसकी पूर्वावस्था देखनेमें नहीं आती है ॥ ११६ ॥ (पहिले कही हुई) कलायें भिन्न २ प्रकारकी हैं और वे क्षण २ में परिणाम पानेवाली हैं, (वे जिसमें परिणाम पाती हैं उसी रूपका परिवर्तन होजाता है, इसीप्रकार समस्त प्राणियोंके रूपमें क्षणमें फेरफार होजाता है) परन्तु यह परिवर्तन सूक्ष्म होनेके कारण

अवस्थाग्रामवस्थायां दीपस्येवार्चिषो गतिः ॥ १२१ ॥ तस्याप्येवं प्रभावस्य सदश्वस्येव धावतः । अजस्रं सर्वलोकस्य कः कुतो वा न वा कुतः ॥ १२२ ॥ कस्येदं कस्य वा नेदं कुतो वेदं न वा कुतः । सम्बन्धः कोऽस्ति भूतानां स्वैरप्यवयवैरिह १२३ यथादित्यान्मणेश्चापि वीरुद्भ्यश्चैव पावकः । जायंत्येवं समुदयात्कलानामिव जन्तवः ॥ १२४ ॥ आत्मन्येवात्मनात्मानं यथा त्वमनुपश्यसि । एवमेवात्मनात्मनं यथा त्वमनुपश्यसि ॥ एवमेवा-

देखनेमें नहीं आता है ॥ १२० ॥ हे राजन् ! प्रज्वलित अग्नि जैसे उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है, परन्तु वह सूक्ष्म होनेके कारण जैसे जाननेमें नहीं आती है, तैसे ही मनुष्यकी प्रत्येक अवस्थामें उसके पूर्वरूपका नाश और अगले रूपकी उत्पत्ति होती है परन्तु वह सूक्ष्म होनेके कारण देखनेमें नहीं आती है ॥ १२१ ॥ ऐसे ही प्राणिमात्रकी ही अवस्था है अर्थात् जो शरीर करके कहनेमें आता है उसके विषयमें एक उत्तम घोड़ेके दौड़नेकी समान परिवर्त्तन होता रहता है, तव अन्तमें कौन किससे उत्पन्न हुआ है और कौन किससे उत्पन्न नहीं हुआ २२ यह कौन है और कौन नहीं है? कहाँसे उत्पन्न नहीं हुआ? अथवा यह कहाँ उत्पन्न नहीं हुआ प्राणी तथा उसके शरीरसे क्या सम्बन्ध रहता है (राजा जनकने पूछा था, कि—तू किसकी पत्नी है ? तथा किस जातिकी है? यह उत्तर उसके सम्बन्धमें दिया गया है)१२३ जैसे चकमक पत्थर तथा लोहेको रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न होजाता है तथा जैसे दो काष्ठको घिसनेसे अग्नि उत्पन्न होजाता है इस प्रकार ही पहले कही हुई सव कलायें इकट्ठी होकर प्राणियोंको उत्पन्न करती हैं ॥१२४॥ तू जिस प्रकार अपने शरीरके मध्य शरीरको और आत्माके मध्य आत्माको देखता है तैसे ही दूसरे के शरीरके मध्य शरीरको और आत्माके मध्य आत्माको क्यों

त्मनात्मानमन्यस्मिन् किं न पश्यसि ॥ २५ ॥ यद्यात्मनि पर स्मिंश्च समतामध्यवस्यसि । अथ मां कासि कस्येति किमर्थमनुपृच्छसि ॥ २६ ॥ इदं मे स्यादिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य मैथिल । कासि कस्य कुतो वेति वचनैः किं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥ रिपौ मित्रेऽथ मध्यस्थे विजये सन्धिविग्रहे । कृतवान्यो महीपाल। किं तस्मिन्मुक्तलक्षणम् ॥ २८ ॥ त्रिवर्गं सप्तधा व्यक्तं यो न वेदेह कर्मसु । संगवान् यस्त्रिवर्गेण किं तस्मिन्मुक्तलक्षणम् ॥ २९ ॥ प्रिये वाप्यप्रिये वापि दुर्बले बलवत्यपि । यस्य नास्ति समं चक्षुः किं तस्मिन्मुक्तलक्षणम् ॥ ३० ॥ तदयुक्तस्य ते मोक्षे योऽभि

नहीं देखता है।१२५॥ यदि तुझे अपने और दूसरेकी आत्मामें समानताका ज्ञान होता तो तू मुझसे, तू किसकी है यहाँ किस लिये आई है ऐसा प्रश्न क्यों करता ? ॥ १२६ ॥ हे मिथिला-नगरीके राजा! यदि तू "यह मेरा है और यह मेरा नहीं है "ऐसे द्वन्द्वों से सत्य ही मुक्त होगया होता तो "तू कौन है ? किस की है तू किस लिये यहाँ आई है इन प्रश्नोंसे तुझे क्या प्रयोजन होता ?॥ १२७ ॥ जो राजा शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, विजय, संधि, और विग्रहमें भेदभावसे वर्ताव करता हो क्या उसमें मुक्तके लक्षण होते हैं ॥१२८॥ धर्म अर्थ तथा काम ये त्रिवर्ग हैं और इनके सात(धर्मार्थकाम असंकीर्ण एक,इनके तीन दुगड्डे,और तीन तिगड्डे) विभाग हैं, इनके वास्तविक स्वरूपको जो नहीं जानता है, तथा जो इनमें आसक्त रहता है क्या उसमें मुक्तके लक्षण हो सकते हैं ॥ १२९ ॥जो पुरुष प्रिय और अप्रिय पर तथा सबल और दुर्बल पर समानदृष्टि नहीं रखता है क्या उसमें मुक्तके लक्षण होसकते हैं ॥ १३० ॥ हे राजन् ! कुपथ्य करने वालेको औषध सेवन करते समय जैसे उसके सम्बन्धी उसको कुपथ्य करनेसे रोकते हैं, तैसे ही यम नियमका पालन करने

मानो भवेन्नृप । सुहृद्भिः सन्निवार्यस्तेऽविरक्तस्यैव भेषजम् ३१ तानि तानि तु संचिंत्य सङ्गस्थानान्यरिंदम । आत्मनात्मनि संपश्येत्किमन्यन्मुक्तलक्षणम् ॥ ३२ ॥ इमान्यन्यानि सूक्ष्माणि मोक्षमाश्रित्य कानिचित् । चतुरङ्गप्रवृत्तानि संगस्थानानि मे शृणु ३३ य इमां पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति ह । एक एव स वै राजा पुरमध्यावसत्युत ॥ ३४ ॥ तत्पुरे चैकमेवास्य गृहं यदधितिष्ठति । गृहे शयनमप्येकं निशायां यत्र लीयते ॥३५॥ शय्यार्धं तस्य चाप्यत्र स्त्रीपूर्वमधितिष्ठति । तदनेन प्रसंगेन फलेनैवेह युज्यते ॥ ३६ ॥ एवमेवोपभोगेषु भोजनाच्छादनेषु च । गुणेषु

वाले तुझमें जो मोक्षविषयक अभिमान हुआ है उसको तेरे सम्बन्धियोंको रोकना चाहिये ॥ १३१ ॥ हे शत्रुदमन राजन् ! स्त्री आदि आसक्तिके स्थान में जो आत्म-बुद्धि रखता है अर्थात् उनको अपने में ही देखता है, बाहर नहीं देखता है वही मुक्त कहाता है, इसके अतिरिक्त मुक्तका और लक्षण क्या होसकता है ॥१३२॥ हे राजन् ! तूने मोक्षका आश्रय करने पर भी आसक्तिके चार (शयन, उपभोग, भोजन और आच्छादन) सूक्ष्म स्थानों का भी आश्रय किया है, उन स्थानोंके संबंध में, मैं तुझसे कहता हूँ सुन ॥ १३३ ॥ जो राजा एक छत्र वाली सारी पृथ्वी पर राज्य करता है वह राजा स्वयं इकला ही नगरमें बसता है, वह जिस मन्दिरमें रहता है, उस मन्दिरमें भी एक ही होता है ॥ १३४ ॥ उस मन्दिरमें उसके सोनेकी एक ही शय्या होती है, उस पर वह रात्रिमें निद्रा लेता है ॥ १३५ ॥ उसकी शय्याके आधे भागमें उसकी रानी सोती है अर्थात् राजाके भोगमें तो आधी ही शय्या आती है, इस प्रकार राजा अपने भागमें आने वाले थोड़ेसे ही फलका भोक्ता है (और अभिमान सबका रखता है)॥१३६॥

परिमेयेषु निग्रहानुग्रहं प्रति ॥३७॥ परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेऽप्यपि प्रसज्जते । सन्धिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ३८ स्त्रीषु क्रीडाविहारेषु नित्यमस्यास्वतन्त्रता । मन्त्रे चामात्यसमितौ कुतस्तस्य स्वतन्त्रता ॥ ३९ ॥ यदा ह्याज्ञापयत्यन्यांस्तत्रास्योक्ता-स्वतन्त्रता । अवशः कार्यते तत्र तस्मिंस्तस्मिन् क्षणे स्थितः ४० स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः । शयने चाप्यनुज्ञातः सुप्त उत्थाप्यतेऽवशः ॥ ४१ ॥ स्नाह्यालभ पिब प्राश जुहुध्यग्नीन्

इसी प्रकार जिस वस्तुका वह उपभोग करता है उसके सम्बन्धमें, तथा जिन वस्त्रोंको धारण करता है उनके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये, वह इस प्रकार सब वस्तुओंको एक परिमित परिमाणमें ही भोगता है, इसी प्रकार वह अनुग्रह करने और शिक्षा देनेके विषयमें भी पराधीन है ॥ १३७ ॥ राजा सदा (छोटेसे छोटा काम करनेमें भी) पराधीन है, वह जिनको अपना कहता है, उन सब कार्योंमें उसका बहुत थोड़ा भाग है और उन थोड़े भागोंमें ही वह आसक्त होकर रहता है, सन्धि विग्रहमें भी राजा स्वतन्त्र कैसे होसकता है (क्योंकि–उनमें उसको दूत आदि पर आधार रखना पड़ता है) ॥ १३९ ॥ वह दूसरों पर आज्ञा चलाता है, परन्तु वह उसमें भी स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि–उस समय वह पराधीन होकर दूसरोंसे अपने काम करवाता है ॥ १४० ॥ राजा सोना चाहता है, परन्तु काम करनेकी इच्छा वाले पुरुष उसको सोने नहीं देते, सोते समय वह दूसरोंकी अनुमति लेता है, और जब वह सोता रहता है तब राजकीय आवश्यक कार्योंके लिये यदि मनुष्य उसको उठाते हैं, तो उसको उठना पड़ता है ॥ १४१ ॥ राजासे दूसरे कहते हैं, कि–"स्नान करो, इस वस्तुका स्पर्श करो, इसको पियो, इसको खाओ, अग्निमें होम करो, यज्ञ करो, अमुक बात कहो,

यजेत्यपि । ब्रवीहि शृणु चापीति विवशः कार्यते परैः ॥ ४२ ॥ अभिगम्याभिगम्यैवं याचन्ते सततं नराः । न चाप्युत्सहते दातुं वित्तरक्षी महाजनान् ॥४३ ॥ दाने कोपक्षयोप्यस्य वैरं चास्याप्रयच्छतः । क्षणेनास्योपवर्त्तन्ते दोषा वैराग्यकारकाः ॥ ४४ ॥ प्राज्ञान् शूरांस्तथैवाढ्यानेकस्थानपि शंकते । भयमप्यभये राज्ञो यैश्च नित्यमुपास्यते ॥ ४५ ॥ तथा चैते प्रदुष्यन्ति राजन् ये कीर्त्तिता मया । तथैवास्य भयं तेभ्यो जायते पश्य यादृशम् ।४६। सर्व स्वे स्वेः गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही । निग्रहानुग्रहान्कुर्वस्तुल्यो जनक राजभिः ॥ ४७ ॥ पुत्रा दारास्तथैवात्मा

अमुक बात सुनो" उस समय उसको पराधीन होकर दूसरोंकी इच्छानुसार सब करना पडता है ॥ १४२ ॥ मनुष्य उसके पास बारम्बार जाकर धनकी याचना करते है परन्तु राजधनका रक्षक होनेके कारण उसे महापुरुषोंको धन देनेका उत्साह नहीं होता है ॥ १४३ ॥ यदि वह दान देता है तो उसका कोप खाली हो जाता है, यदि दान नहीं देता है तो निराश याचक उसकी ओर वैरदृष्टिसे देखने लगते हैं, वह क्षण भरमें ही बडी उलझनमें पड जाता है, फिर क्षण भरमें ही वैराग्यको उत्पन्न करने वाले दोष उसके मनको घेर लेते हैं ॥ १४४ ॥ बुद्धिमान, शूर और धनाढ्य पुरुष उसके पास रहते हों, तब भी उसको उनके ऊपर सन्देह ही रहता है, सदा अपनी सेवा करनेवालोंसे भी उसको भय ही बना रहता है ॥ १४५ ॥ हे राजन् ! मैंने जो पुरुष अब तुझसे कहे हैं, वे भी जब दोषसे दूषित होजाते हैं, तब राजाको उनकी ओरसे कैसा भय लगता है, इसकी ओर तू दृष्टि दे १४६ सब पुरुष अपने २ घरमें राजा हैं, सब पुरुष अपने २ घरमें गृही हैं और हे राजा जनक ! सब पुरुष राजाओंकी समान अपने २ घरमें निग्रह तथा अनुग्रह करनेमें समर्थ हैं ॥ १४७ ॥

कोशो मित्राणि संचयाः। परैः साधारणा ह्येते तैस्तैरेवास्य हेतुभिः ४८ हतो देशः पुरं दग्ध प्रधानः कुञ्जरो मृतः। लोकसाधारणेष्वेषु मिथ्याज्ञानेन तप्यते ॥ ४९ ॥ अमुक्तो मानसैर्दुःखैरिच्छाद्वेषभयोद्भवैः। शिरोरोगादिभी रोगैस्तथैवाभिनियंतृभिः ॥ ५० ॥ द्वंद्वैस्तैस्तैरुपहतः सर्वतः परिशंकितः। बहुमत्यर्थिकं राज्यमुपास्ते गणयन्निशाः ॥ ५१ ॥ तदल्पसुखमत्यर्थं बहुदुःखमसारवत्। तृणाग्निज्वलनप्रख्यं फेनबुद्बुदसंनिभम् ५२ को राज्यमभिपद्येत प्राप्य चोपशमं लभेत्। ममेदमिति यच्चेदं पुरं राष्ट्रं च मन्यसे ॥ ५३ ॥ बलं कोशममात्याश्च कस्यैतानि

राजाओंकी समान दूसरोंके भी पुत्र, स्त्री, दास, खजाना, मित्र तथा भण्डार होता है, इनमें राजा दूसरे मनुष्योंसे कुछ भी निराला नहीं है ॥ १४८ ॥ "तेरे देशका नाश होगया, तेरा नगर जल गया, तेरा मुख्य हाथी मरगया" यह सुनकर राजाको भी अज्ञान वश इन सबके मिथ्या होनेका ज्ञान न होनेसे सर्वसाधारणकी समान सन्ताप होता है ॥ १४९ ॥ राजा इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए मानसिक दुःखोंसे मुक्त नहीं होता है, वह बहुतसे शिरोरोग और शीतोष्णके दुःखोंसे पराभव पाता रहता है १५० दूसरोंकी समान राजा पर (सुख दुःख आदि) द्वन्द्वोंका प्रभाव पड़ता है, वह सब ओर सन्देह भरी दृष्टिसे देखता है, राज्य में शत्रु और विघ्न भरे हुए हैं, इसलिये जब राजा राज्यको भोगता है तब वह रात्रिको (तारे) गिनते २ ही बितादेता है १५१ अतः राजाका पद अति अल्प सुखवाला है, उसमें दुःख बहुतसे हैं, वह तृणाग्निकी समान थोड़े समय रहने वाला और जलके फेन तथा बबूलेकी समान सारहीन है ॥ १५२ ॥ ऐसे राज्यकी इच्छा कौन करेगा यदि ऐसा राज्य मिल भी जाय तो उसको शान्ति कैसे मिल सकती है, तू समझता है, कि-यह नगर मेरा

न वा नृप । मित्रामात्यपुरं राष्ट्रदण्डः कोशो महीपतिः ॥ ५४ ॥ सप्तांगस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्येव तिष्ठतः । अन्योन्यगुणयुक्तस्य कः केन गुणतोऽधिकः ॥ ५५ ॥ तेषु तेषु हि कालेषु तत्तदंगं विशिष्यते । येन यत्सिध्यते कार्यं तत्प्राधान्याय कल्पते ॥ ५६ ॥ सप्तांगश्चैव संघातस्त्रयश्चान्ये नृपोत्तम । संभूय दशवर्गोयं भुंक्ते राज्यं हि राजवत् । यश्च राजा महोत्साहः क्षत्रधर्मे रतो भवेत् ५७ स तुष्येद्दशभागेन ततस्त्वन्यो दशावरैः । नास्त्यसाधारणो राजा नास्ति राज्यमराजकम् ॥५८॥ राज्येऽसति कुतो धर्मो धर्मेऽसति

है, यह देश मेरा है ॥ १५३ ॥ तू समझता है, कि—यह सेना, यह भण्डार और ये मंत्री मेरे हैं, परन्तु हे राजन् ! वास्तवमें ये किसके है ? अर्थात् किसीके नहीं हैं । मित्र, मंत्री, नगर, देश, दण्ड, भण्डार और राजा ॥ १५४ ॥ ये राज्यके सात अंग हैं ये जैसे तीन लकड़ियें एक दूसरेके आधारसे खड़ी रहती हैं, ऐसे ही परस्परके आधारसे खड़े रहते हैं, प्रत्येक अंग अपना काम करता है, उनमें कौन अङ्ग गुणमें दूसरेसे अधिक है अर्थात् कोई भी नहीं ॥ १५५ ॥ अपना २ समय आने पर सब अङ्ग उत्तम माने जाते हैं, और जिस अङ्गसे जो काम सिद्ध होता है, वह अङ्ग प्रधान माना जाता है ॥ १५६ ॥ हे श्रेष्ठ राजन् ! इन सात अङ्गोंका समुदाय तथा नीतिशास्त्रमें कहे हुए (वृद्धि, क्षय तथा स्थान नामक) दूसरे तीन अङ्ग मिल कर, ये कुल दश अङ्ग राजाकी समान राज्यका उपभोग करते हैं ॥ १५७ ॥ जो राजा उत्साह वाला हो, क्षत्रियके धर्ममें परायण रहता हो, वह प्रजासे दशांश लेकर संतुष्ट रहे, बहुतसे राजे दशांशसे कम लेकर भी संतुष्ट होजाते हैं, राजा असाधारण नहीं है, तथा राजाके बिना राज्य भी नहीं रहता ॥ १५८ ॥ राज्य न होने पर धर्म कहाँसे रह सकता है और धर्माचरण न होने पर परब्रह्मकी प्राप्ति

कुतः परम् । योऽप्यत्र परमो धर्मः पवित्रं राजराज्ययोः ॥ ५६ ॥ पृथिवी दक्षिणा यस्य सोऽश्वमेधो न युज्यते। साहमेतानि कर्माणि राजदुःखानि मैथिल ॥ ६० ॥ समर्था शतशो वक्तुमथवापि सहस्रशः। स्वदेहेनाभिषंगो मे कुतः परपरिग्रहे ॥६१॥ न मामेवं विधां युक्तामीदृशं वक्तुमर्हसि । ननु नाम त्वया मोक्षः कृत्स्नः पंचशिखाच्छ्रुतः ॥ ६२ ॥ सोपायः सोपनिषदः सोपासंगः सनिश्चयः। तस्य ते मुक्तसंगस्य पाशानाक्रम्य तिष्ठतः ॥ ६३ ॥ छत्रादिषु विशेषेषु पुनः संगः कथं नृप । श्रुतं तेन श्रुतं मन्ये मृषा चापि श्रुतं श्रुतम् ॥६४॥ अथवा श्रुतसंकाशं श्रुतमन्यच्छ्रुतं

कैसे होसकती है, इस जगत्में परमपवित्र धर्म राज्य और राजा के आधारसे टिक रहा है ॥ १५६ ॥ जिसमें सम्पूर्ण पृथिवी दक्षिणामें दीजाती है, वह अश्वमेध यज्ञ भी राजाकी समान नहीं है (परन्तु कितने राजे धर्मानुसार अपना राजकाज चलाते हैं ?) हे मिथिलाधिप ! मैं राजा और राज्यके सैकड़ों और सहस्रों दुःखोंका वर्णन कर सकती हूँ, मेरा अपने शरीरके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तब दूसरेके शरीरके साथ मेरा सम्बन्ध कैसे होसकता है ॥ १६०–१६१ ॥ मैं इस प्रकार योगधर्मका पालन करने वाली हूँ, अतः तुझे "तूने मेरे शरीरमें प्रवेश क्यों किया" यह कहना अनुचित है, क्या तूने पञ्चशिख आचार्यसे भली प्रकार मोक्षधर्म सुना है१६२ तथा उनसे इसके उपाय (निदिध्यासन) रीति (श्रवण मनन) विधि (ध्यान) परिणाम (ब्रह्मके साथ एकत्व) को जाना है, यदि तू काम आदिको जीत कर संगरहित हुआ हो तो १६३ हे राजन् ! मैं तुझसे बूझती हूँ, कि तू छत्र आदि चिह्नोंका संग किस लिये कर रहा है ? मेरा विचार है कि—तूने शास्त्राध्ययन नहीं किया है, यदि तूने शास्त्राध्ययन किया है, तो तेरा शास्त्रा-

त्वया । अथापीमासु संज्ञासु लौकिकीषु प्रतिष्ठसे ॥ ६५ ॥ अभिषंगावरोधाभ्यां बद्धस्त्वं प्राकृतो यथा । सत्त्वेनानुप्रवेशो हि योयं त्वयि कृतो मया ॥ ६६ ॥ किं तवापकृतं तत्र यदि मुक्तोऽसि सर्वशः । नियमो ह्येषु वर्णेषु यतीनां शून्यवासिता ॥ ६७ ॥ शून्यमावेशयंत्या च मया किं कस्य दूषितम् । न पाणिभ्यां न बाहुभ्यां पादोरुभ्यां न चानघ ॥ ६८ ॥ न गात्रावयवैरन्यैः स्पृशामि त्वां नराधिप । कुले महति जातेन ह्रीमता दीर्घदर्शिना । नैतत्सदसि वक्तव्यं सद्वाऽसद्वा मिथः कृतम् ॥ ६९ ॥ ब्राह्मणा

ध्ययन दम्भसे भरा हुआ है ॥ १६४ ॥ अथवा तूने शास्त्राध्ययन नहीं किया है, परन्तु शास्त्र सरीखी दूसरी वस्तुका अध्ययन किया है,मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है,कि–तूने लौकिक सम्पत्तियोंको ही वशमें कर लिया है और साधारण मनुष्यकी समान उन (स्त्री पुत्र आदि) में आसक्त होरहा है, और उनके वशमें होकर तू उनसे बँध गया है (अर्थात् तू ज्ञानवृद्ध नहीं है) ॥ १६५ ॥ यदि सत्य है, कि तू विदेहमुक्त है, तो मैंने मन से तेरे शरीरमें प्रवेश करके तेरा क्या बुरा किया है ? ॥१६६॥ सब वर्णोंमे संन्यासी शून्य स्थानमें रहे, यह नियम है, इसलिए मैंने भी तेरे बुद्धिसत्त्वको बोधशून्य देखकर उसमें प्रवेश कर किसका अपराध किया है ? ॥ १६७ ॥ हे राजन् ! मैंने अपने दोनों हाथोंसे, दोनों भुजाओंसे, दोनों पैरोंसे, दोनों जंघाओंसे अथवा शरीरके किसी दूसरे अवयवसे तेरा स्पर्श नहीं किया है ॥ १६८ ॥ तू महाकुलमें उत्पन्न हुआ है, लज्जाशील है,दीर्घदृष्टि है, तेरे शरीरमें मेरा प्रवेश अच्छा हो अथवा बुरा हो, परंतु वह कर्म गुप्त ही है, और उस व्यवहारको हम दोनों ही जानते हैं, इस गुप्त व्यवहारको क्या तुझे सभामें प्रकाशित करना उचित है ॥ १६९ ॥ ये सब ब्राह्मण हमारे गुरु हैं

गुरवश्चेमे तथा मान्या गुरूत्तमाः । त्वं चाप्य गुरुरप्येषामेवमन्योन्यगौरवम् ॥ ७० ॥ तदेवमनुसंदृश्य वाच्यावाच्यं परीक्षता । स्त्रीपुंसोः समवायोयं त्वया वाच्यो न संसदि ॥ ७१ ॥ यथा पुष्करपर्णस्थं जलं तत्पर्णमस्पृशत् । तिष्ठत्यस्पृशती तद्वत्त्वयि वत्स्यामि मैथिल ॥७२॥ यदि चाद्य स्पृशंत्या मे स्पर्शं जानासि कञ्चन । ज्ञानं कृतमबीजन्ते कथन्तेनेह भिक्षुणा ॥ ७३ ॥ स गार्हस्थ्याच्च्युतश्च त्वं मोक्षं चानाप्य दुर्विदम् । उभयोरंतराले वै वर्त्तसे मोक्षवार्त्तिकः ॥ ७४ ॥ न हि मुक्तस्य मुक्तेन ज्ञस्यैक-

ये हमारे मान्य तथा परमगुरु हैं, तैसें ही तू राजारूपसे इनका परमगुरु है, इसप्रकार तुममें परस्पर गौरव रहता है उनका तू सत्कार करता है और उनको तेरा सत्कार करना चाहिये १७० इसका विचार करके तुझे सभामें क्या कहना चाहिये और क्या न कहना चाहिये, इसका तू विचार करने वाला होता तो तू इस सभामें दो विरुद्धजाति (स्त्री,पुरुष)के संबंध की वात न कहता ७१ हे मिथिलाधिप ! जैसे कमलके पत्ते पर पड़ा हुआ जल कमलके पत्तेका स्पर्श नहीं करता है,तैसे ही मैं भी तेरा स्पर्श (तक) नहीं करती हूँ ॥१७२॥ मैं आज तुझे विलकुल स्पर्श नहीं कर रहीहूँ, तब तू मेरे स्पर्शको जानता है, तो फिर तेरे गुरु पञ्चशिख संन्यासीने तेरे ज्ञानको बीज (वासना) रहित कैसे कियाहै?१७३ अतः स्पष्ट है, कि-तू गृहस्थाश्रमसे भ्रष्ट होगया है और दुःखसे प्राप्त होने वाला मोक्ष भी तुझे नहीं मिला है, परन्तु तू मोक्षकी वातें ही किया करता है और गृहस्थाश्रम तथा मोक्ष इन दोनोंके बीचमें लटक रहा है ॥ १७४ ॥ मुक्तका मुक्तके साथ समागम होनेसे अर्थात् चिदात्मा (पुरुष) भाव ये और प्रकृति अभाव है; उन दोनोंका समागम होनेसे वर्णसंकरता नहीं होती है (अर्थात चिदात्मा मुक्त है ,और एक ही है और चिदात्माका

त्वपृथक्त्वयोः । भावाभावसमायोगे जायते वर्णसंकरः ॥ ७५ ॥ वर्णाश्रमाः पृथक्त्वेन दृष्टार्थस्यापृथक्त्विनः। नान्यदन्यदिति ज्ञात्वा नान्यदन्यत्र वर्तते ॥ ७६ ॥ पाणौ कुण्डं तथा कुंडे पयः पयसि मक्षिका । आश्रिताश्रययोगेन पृथक्त्वेनाश्रिताः पुनः ॥७७॥ न तु कुण्डे पयोभावः पयश्चापि न मक्षिका । स्वयमेवाप्नुवन्त्येते भावा न तु पराश्रयम् ॥७८॥ पृथक्त्वादाश्रमाणां च वर्णान्यत्वे

चिदात्माके साथ योग होना दुर्घट (असम्भव) है और जो बात असम्भव है वहाँ वर्णसंकरता कैसी ? असत्य प्रकृतिके साथ सत्य चिदात्मा पुरुषका संयोग ही कैसे होसकता है ?) ।१७५। वर्णाश्रमका अभिमान रखने वाले जीवात्माको वर्णाश्रम वाला आत्मा पृथक् दीखता है, परन्तु जो जानता है, कि-दूसरा कुछ है ही नहीं उसकी दृष्टिमें तो आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं है (भावार्थ-जो देहका आत्मामें आरोप करते है अर्थात् देहको ही आत्मा मानते हैं, और व्यवहारके धर्मोंको तथा आश्रमके धर्मोंको वास्तवमें भिन्न २ मानते हैं, उनको वर्णसंकरता प्रतीत होसकती है । सुलभाने कहा, कि-मेरा देह तेरे देहसे भिन्न है, परन्तु मेरा और तेरा आत्मा तो एक ही है, जब मैं ऐसा देखती हूँ तब तेरा बुद्धिसत्त्व मुझमें है या नहीं, अर्थात् जब आत्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं, तब तुझमें प्रवेश किसने किया ? अर्थात् हे जनक ! तू ब्रह्मस्वरूप है और वर्ण तथा आश्रमका अभिमान तुझमें नहीं है,तो फिर वर्णसंकरताकी बुद्धि तुझमें कैसे हुई,यह तो अज्ञान तेरा ही है)७६जैसे हाथमें कूँडा होता है,कूँडेमें दूध होता है, दूधमें मक्खी होती है, ये जैसे आश्रित आश्रयके योगसे रहते हैं, तब भी एक दूसरेसे भिन्न हैं ।।१७७।। कूँडेमें दूधका भाव नहीं है, दूध मक्खी नहीं है, वे प्रत्येक अपने २ भाव (स्वरूप) में रहते हैं और क्षणिक पराश्रयी होनेसे वे अपने भावको त्यागते

तथैव च । परस्परपृथक्त्वाच्च कथं ते वर्णसंकरः ॥७९॥ नास्मि वर्णोत्तमा जात्या न वैश्या नावरा तथा । तव राजन्सवर्णास्मि शुद्धयोनिरविप्लुता ॥ ८० ॥ प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः । कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम् ॥८१॥ द्रोणश्च शतशृङ्गश्च चक्रद्वारश्च पर्वतः । मम सत्रेषु पूर्वेषां चिता मघवता सह ॥ ८२ ॥ साहं तस्मिन्कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे । विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥ ८३ ॥ नास्मि सत्रप्रतिच्छन्ना न परस्वापहारिणी । न धर्मसंकरकरी स्वधर्मेऽस्मि धृतव्रता ॥ ८४ ॥ नास्थिरा स्वप्रतिज्ञायां नासमीक्ष्य प्रवा-

---

नहीं ॥ १७८ ॥ इस ही प्रकार मुक्त जीवात्माके लिये वर्ण और आश्रम हैं तो भी मुक्त असंग ही है (अर्थात् वर्णाश्रमधर्म पालने पर भी मुक्तको वर्ण या आश्रम बाधा नहीं देते हैं) तो फिर तेरा और मेरा सम्बन्ध होनेसे वर्णसंकरता कैसे उत्पन्न होगी ? ॥ १७९ ॥ और मैं तुझसे उत्तम (ब्राह्मण) जातिकी भी नहीं हूँ, वैश्य अथवा शूद्र जातिकी भी नहीं हूँ परन्तु हे राजन् ! मैं तेरी ही जातिकी हूँ और शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुई हूँ ॥ १८० ॥ प्रधान नामक एक प्रसिद्ध राजर्षि तेरे सुननेमें आया होगा, मै उसके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ और मेरा नाम सुलभा है ॥ १८१ ॥ मेरे पूर्वज पुरुषोंके यज्ञमें इन्द्रके साथ, द्रोण, शतशृङ्ग, शक्रद्वार और पर्वतके अभिमानी देवता आते थे ॥ १८२ ॥ मैं उस राजाके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ, मुझे समान पति नहीं मिला, इससे मैं गुरुसे मोक्षधर्मको पढ़कर इकली रहती हूँ और मुनिके व्रतका पालन करती हूँ ॥ १८३ ॥ मैंने संन्यासिनीका मिथ्या भेष धारण नहीं किया है अर्थात् मैं निष्कपट हूँ, मैं दूसरेके धनको चुराने वाली और धर्ममें संकरता करनेवाली नहीं हूँ, परन्तु मुनिके व्रतको पालन कर मैं अपने

दिनी । नासमीद्यागता चेह त्वत्सकाशं जनाधिप ॥८५॥ मोक्षे ते भावितां बुद्धिं श्रुत्वाहं कुशलैषिणी । तव मोक्षस्य चाप्यस्य जिज्ञासार्थमिहागता ॥ ८६ ॥ न वर्गस्था ब्रवीम्येतत्स्वपक्षपरपक्षयोः । मुक्तो व्यायच्छते यश्च शान्तौ यश्च न शाम्यति ॥ ८७ ॥ यथा शून्ये पुरागारे भिक्षुरेकां निशां वसेत् । तथाहं त्वच्छरीरेऽस्मिन्निमां वत्स्यामि शर्वरीम् ॥ ८८ ॥ साहं मानप्रदानेन वागातिथ्येन चार्चिता । सुप्ता सुशरणं प्रीता श्वो गमिष्यामि मैथिल ८९ भीष्म उवाच । इत्येतानि स वाक्यानि हेतुमन्त्यर्थवन्ति च । श्रुत्वा नाधिजगौ राजा किंचिदन्यदतः परम् ॥१९०॥ ॥

धर्मका आचरण करती हूँ ॥ १८४ ॥ मैं अपनी प्रतिज्ञा पालनेमें शिथिल नहीं हूँ, विना विचारे मैं कोई बात नही करती हूँ और हे राजन् ! मैं तेरे पास विना विचारे आई भी नहीं हूँ ॥१८५॥ परन्तु तेरी मोक्ष पर भाववाली बुद्धि है, यह सुन कर तेरे कल्याणकी कामनासे और तेरे मोक्ष (ज्ञान) को जाननेके लिये मैं यहाँ आई हूँ ॥ १८६ ॥ मैं अपने पक्षका मण्डन और दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये तुझसे यह बात नहीं कहती हूँ, जो मनुष्य मुक्त है, वे मल्लकी समान अपना विजय करनेके लिये विवादका व्यायाम नहीं करते हैं, परन्तु शान्त परब्रह्ममें स्थिति करते हैं, उनको ही मुक्त समझना चाहिये ॥१८७॥ जैसे संन्यासी नगरके निर्जन घरमें एक रात्रि निवास करता है, ऐसे ही मैं भी आजकी रात्रि तेरे शरीरमें निवास करूँगी ॥१८८॥ हे मैथिल ! तूने मुझे मान देकर तथा वाणीसे अतिथिसत्कार कर मेरी पूजा की है, अत एव मैं तेरे शरीररूपी सुन्दर घरमें शयन करके तुझसे प्रसन्न हो कल प्रातःकाल यहाँसे चली जाऊँगी । १८९। भीष्मजीने कहा, कि-इस प्रकार सुलभाके युक्तियुक्त वचन सुन कर राजा मौन होगया, उसने कुछ उत्तर नही दिया १९० । ३२०

युधिष्ठिर उवाच । कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा । एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ १ ॥ अव्यक्तव्यक्ततत्त्वानां निश्चयं बुद्धिनिश्चयम् । वक्तुमर्हसि कौरव्य देवस्याजस्य या कृतिः ॥ २ ॥ भीष्म उवाच । प्राकृतेन सुवृत्तेन चरन्तमकुतोभयम् । अध्याप्य कृत्स्नं स्वाध्यायमन्वशाद्वै पिता सुतम् ॥ ३ ॥ व्यास उवाच । धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ । क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४ ॥ सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः । अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत् परिपालय ॥ ५ ॥ सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम् । देव-

युधिष्ठिरने बूझा, कि हे भीष्मजी ! पहिले व्यासजीके पुत्र शुकदेवको वैराग्य कैसे हुआ था, इस बातका मुझे बड़ा आश्चर्य है, अतः मैं इसको सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥ हे कुरुकुलोत्पन्न ! अव्यक्त (प्रकृति–कारण) व्यक्त (कार्य) और तत्त्व (शुद्ध ब्रह्म) का निर्णय तथा अजन्मा नारायणकी लीलाका जिस प्रकार आपने अपनी बुद्धिसे निर्णय किया हो, तिस प्रकार आप मुझसे कहिये ॥ २ ॥ भीष्मजीने कहा, कि–शुकदेव प्राकृत धर्म का आचरण करते थे; उनको किसी ओरसे भय नहीं था, यह देख कर उनके पिता व्यासजीने उनको सम्पूर्ण वेद पढ़ा कर इस प्रकार उपदेश दिया ॥ ३ ॥ व्यासजीने कहा, कि–हे पुत्र ! तू जितेन्द्रिय रहकर सदा धर्मका सेवन कर, नित्य महातीक्ष्ण गरमी सरदी और भूँख प्यासको सहन कर तथा (योगियोंकी समान) प्राणवायुको जीत कर जितेन्द्रिय बन ॥ ४ ॥ सत्य, सरलता, अक्रोध (क्षमा) अनसूया (गुणज्ञता) दम, तप, अहिंसा तथा दयालुताका विधिपूर्वक सदा पालन कर ॥ ५ ॥ सत्यमें स्थिति कर, धर्ममें विहार कर, सारी कुटिलताका त्याग दे, पञ्चमहायज्ञ कर अतिथियोंको जिमानेके पीछे जो शेष बचे

तातिथिशेषेण यात्रां भक्ष्य संलिह ॥ ६ ॥ फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत्स्थिते । अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ७ अप्रमत्तेषु जाग्रत्सु नित्ययुक्तेषु शत्रुषु । अन्तरं लिप्समानेषु बालस्त्वं नावबुध्यसे ॥८॥ अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथायुषि । जीविते छिद्यमाने च किमुत्थाय न धावसि ॥ ९ ॥ ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् । पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ता भृशनास्तिकाः ॥ १० ॥ धर्माय येऽभ्यसूयंति बुद्धिमोहान्विता नराः । अपथा गच्छतां तेषामनुयातापि पीड्यते ॥११॥ ये तु तुष्टाः श्रुतिपरा महात्मानो महाबलाः । धर्म्यं पन्थानमारूढास्तानुपास्व च

उसका भोजन कर ॥ ६ ॥ यह शरीर जलके बबूलेकी समान है, और जीव-जैसे पक्षी वृक्ष पर रहने पर भी अलिप्त रहता है, तैसे ही शरीरमें भी निर्लेप रहता है । स्नेहियोंके साथ वास अनित्य है, तब भी हे पुत्र ! तू कैसे सोरहा है ॥७॥ तेरे (काम आदि) शत्रु सावधान हैं, जागृत है, और तेरे छिद्रोंको देखनेमें नित्य तत्पर रहते हैं फिर भी क्या तू बालककी समान इन बातोंको नहीं जानता है ? ॥ ८ ॥ तेरे दिन बीतते चले जाते हैं, तेरी आयु क्षीण होती जाती है, जीवन छिदा जारहा है, फिर भी तू उठ कर क्यों नहीं (गुरुकी शरणमें) दौड़ता है ॥ ९ ॥ (पुनर्जन्मको न मानने वाले) घोर नास्तिक पारलौकिक कार्य के समय गाढ़ निद्रामें पड़ जाते है और मांस तथा रुधिरको बढ़ाने वाले लौकिक कर्म करनेकी ही इच्छा किया करते है ।१०। मूढबुद्धि मूर्ख पुरुष धर्मसे द्वेष करते हैं, अधर्मके मार्गमें चलते हैं, ऐसे मोहमग्न पुरुषोंके अनुगामी भी उनकी समान पीडा पाते हैं ॥ ११ ॥ परन्तु संतोषी, वेदवचनों पर श्रद्धा रखने वाले महामना पुरुष बड़े भारी धार्मिक बलको रखते हैं और धर्ममार्ग का सेवन करते हैं, तू उनकी उपासना कर और उनसे ज्ञान-

पृच्छ च ॥१२॥ उपधार्य मतं तेषां बुधानां धर्मदर्शिनाम्। नियच्छ परया बुद्ध्या चित्तमुत्पथगामि वै ॥ १३ ॥ आद्यकालिकया बुद्ध्या दूरे श्व इति निर्भयाः । सर्वभक्ष्या न पश्यन्ति कर्मभूमिमचेतसः ॥१४॥ धर्मं निःश्रेणिमास्थाय किंचित् किंचित्समारुह । कोषकारवदात्मानं वेष्टयन्नानुबुध्यसे ॥ १५ ॥ नास्तिकं भिन्नमर्यादं कूलपातमिव स्थितम् । वामतः कुरु विस्रब्धो नरं वेणुमिवोद्धृतम् ॥ १६ ॥ कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् । नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्म दुर्गाणि सन्तर ॥ १७ ॥ मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीड़ते । अमोघासु पतंतीषु धर्म-

सम्बन्धी प्रश्न कर ॥ १२ ॥ धर्मके स्वरूपको जानने वाले उन विद्वानोंके मतको ग्रहण कर और उन्मार्गगामी अपने चित्तको श्रेष्ठ बुद्धिसे अपने वशमें कर ॥१३॥ वर्तमानकालको ही देखने की बुद्धि वाले भविष्यको बहुत दूर मानने वाले तथा जो सब के अन्नको खालेते हैं, वे मनुष्य मूर्ख है, क्योंकि-वे यह नहीं जानते कि-यह जगत् केवल कर्मभूमि है ॥१४॥ धर्मरूपी सीढ़ी के पास पहुँच कर क्रमशः २ ऊपरको चढ़, तूने अपने शरीरको रेशमके कीड़ेकी समान लाररूपी मायासे अपने शरीरको बाँध लिया है, परन्तु इस बातको तू समझता नहीं है ॥ १५ ॥ जो पुरुष (वेद न मानने वाले) नास्तिक, शास्त्रकी मर्यादा भङ्ग करने वाले हैं वे अहलेके समय नदीके तटकी समान हैं उनको तू उखेड़े हुए बाँसकी समान निःशंक होकर त्याग दे ॥ १६ ॥ तू योगको नौका बना और काम, क्रोध, मृत्यु तथा पञ्चेन्द्रियरूप जलसे भरी हुई नदीका तथा जन्मरूप दुर्गको तर जा ॥ १७ ॥ मृत्यु जगत्का नाश कर रही है, जरा जगत्को चारों ओरसे पीड़ा देरही है और मनुष्योंकी आयुको हर सफल होती हुई रात्रि रूपी नदी वेगसे बह रही है, उसको धर्मरूपी नौकासे तैर

पोतेन सन्तर ॥ १८ ॥ तिष्ठंतं च शयानं च मृत्युरन्वेषते यदा । निर्वृत्तिं लभते कस्मादकस्मान्मृत्युनाशितः ॥ १९ ॥ संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् । वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २० ॥ क्रमशः संचितशिखो धर्मबुद्धिमयो महान् । अन्धकारे वेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥ २१ ॥ संपतन्देहजालानि कदाचिदिह मानुषे । ब्राह्मण्यं लभते जन्तुस्तत्पुत्र परिपालय ॥२२॥ ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते । इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य च त्वनुपमं सुखम् २३ ब्राह्मण्यं बहुभिरवाप्यते तपोभिस्तल्लब्ध्वा न रतिपरेण हेलितव्यम् । स्वाध्याये

जा ॥ १८ ॥ मनुष्य सोता अथवा बैठा हो मृत्यु उसको खोजती ही रहती है और अकस्मात् उसका नाश कर डालती है. फिर तू आनन्दमें क्यों बैठा है ॥ १९ ॥ भेड़का बच्चा तिनकोंको चुग रहा हो और तृप्त न हुआ हो, तब भी भेड़िनी उसको उठा कर लेजाती है, ऐसे पुरुष धनके संचयमें लगा हो, तृप्त न हुआ हो, तब भी मृत्यु उसको पकड़ कर लेजाती है ॥ २० ॥ यदि तू संसाररूपी अन्धकारमें प्रवेश करना चाहता है तो तू क्रमशः धर्मसंचयरूपी महादीपकको धारण कर, उसकी शिखा को क्रमशः उकसा ॥ २१ ॥ मनुष्यलोकमें अनेक देहोंको धारण करनेके पीछे ब्राह्मणका देह मिलता है तूने उस ब्राह्मण देहको पाया है,अतः हे तात ! तू उसकी भली भाँति रक्षा कर ॥२२॥ ब्राह्मणका शरीर कामनाके लिये नहीं उत्पन्न होता है, परन्तु इस लोकमें तपरूपी क्लेश भोगनेके लिये और मरणके अनन्तर अनेक सुख भोगनेके लिये रचागया है ॥२३॥ ब्राह्मणत्व बहुत समय तक तीव्र तप करनेसे मिलता है अतः तुझे ब्राह्मणत्वको सुरतपरायण होकर गुमा देना उचित नहीं है, ब्राह्मणको नित्य सावधान रहकर वेदके स्वाध्यायमें तप करनेमें तथा इन्द्रियोंके

तपसि दमे च नित्ययुक्तः क्षेमार्थी कुशलपरः सदा यतस्व २४ अव्यक्तप्रकृतिरयं कलाशरीरः सूक्ष्मात्मा क्षणत्रुटिशोनिमेषरोमा। संध्यास्यः समबलशुक्लकृष्णनेत्रो मासांगो द्रवति वयोहयो नराणाम् ॥२५॥ तं दृष्ट्वा प्रसृतमजस्रमुग्रवेगं गच्छन्तं सततमिहान्ध्यवेक्षमाणम्। चक्षुस्ते यदि न परप्रणेतृनेयं धर्मे ते भवतु मनः परं निशाम्य२६ये चात्र प्रचलितधर्मकामवृत्ताः क्रोशन्तः सततमनिष्टसंप्रयोगाः।क्लिश्यन्तः परिगतवेदनाशरीरा बह्वीभिः सुभृशं अधर्मकारणाभिः २७ राजा सदा धर्मपरः शुभाशुभस्य गोप्ता समीक्ष्य

निग्रहमें असक्त रहना चाहिये, इस प्रकार क्षेमकी इच्छा वालेको कुशल कर्ममें तत्पर रहना चाहिये ॥ २४ ॥ मनुष्यकी आयुरूप एक घोड़ा है, इस घोड़ेका स्वभाव अव्यक्त (जाननेमें न आ सकने वाला) है,शरीर सोलह कलाओंसे बँधा हुआ है, उसका आत्मा सूक्ष्म है, क्षण त्रुटि और निमेष आदि उसके शरीरके रोम हैं सायं और प्रातःसंध्या उसके दोनों खभे हैं। शुक्ल और कृष्णपक्ष उसके समान शक्तिवाले दो नेत्र हैं, महीने अंगरूप हैं, मनुष्यका आयुरूप यह घोड़ा वेगसे दौड़ रहा है ।२५। यह आयुरूप घोड़ा महावेगसे आगेको अदृश्यमार्गमेंको दौड़ा ही चला जाता है, अतः यदि तू अन्धा न हो तो अर्थात् तुझको ज्ञान हो तो तू दूसरोंसे परमात्माके स्वरूपको जान, और तेरा मन धर्म पर आस्थावाला हो ॥ २६ ॥ इस जगत्में जो पुरुष धर्मको त्याग देता है और अपनी इच्छानुसार वर्ताव करता है, दूसरोंसे द्वेष करता है, कुमार्गका अनुसरण करता है उसको यमलोकमें शरीर धारण करना पड़ता है तथा अधर्मके कर्मके कारण अनेक प्रकारका दुःख सहना पड़ता है ॥२७॥ जो राजा उत्तम तथा अधम वर्णकी प्रजाकी यथायोग्यरीतिसे रक्षा करता है और यथार्थरीतिसे धर्माचरण करता है,तो वह पुण्यात्माओंके

सुकृतिनां दधाति लोकान् । बहुविधमपि चरति प्रविशति सुख-मनुपगतं निरवद्यम् ॥ २८ ॥ श्वानो भीषणकाया अयोमुखानि वयांसि बलगृध्रपक्षिणां च संघाः । नरकदने रुधिरपा गुरुवचन-नुपरत विशंत्यसन्तः ॥ २९ ॥ मर्यादानियताः. स्वयंभुवा य इहेमाः प्रभिनत्ति दशगुणा मनोनुगत्वात् । निवसति भृशमसुखं पितृविषयविपिनमवगाह्य स पापः ॥ ३० ॥ यो लुब्धः सुभृशं प्रियानृतश्च मनुष्यः सततनिकृतिवंचनाभिरतिः स्यात् । उपनिधि-भिरसुखकृत्स परमनिरयगो भृशमसुखमनुभवति दुष्कृतकर्मा ३१ उष्णां वैतरणीं महानदीमवगाढोऽसि पत्रवनभिन्नगात्रः । परशु-

लोकोंमें जाता है, अनेक प्रकारके सत्कर्म करनेसे उस राजाको जो निर्दोष सुख प्राप्त होता है, वह सैकड़ों जन्मोंमें भी प्राप्त नहीं होसकता ॥२८॥ और अपने माता पिता तथा गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन करने वाला पुरुष मृत्युके पीछे नरकमें पड़ता है, तहाँ उस पर भयंकर शरीर वाले कुत्ते, अयोमुख कौए, जङ्गली कौए, गिद्ध तथा दूसरे पक्षी और रक्त चूसने वाले कीडे आक्रमण करते हैं ॥ २९ ॥ और जो पुरुष ब्रह्माजीकी बाँधी हुई (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक) दश प्रकारकी मर्यादाको भंग करता है और अपनी इच्छाके अनुसार वर्ताव करता है, उस पापी मनुष्यको पितृलोकके 'असिपत्र नामक वनमें रहकर घोर दुःख भोगना पड़ता है ॥ ३० ॥ जो मनुष्य लोभी होता है, जिसकी असत्यभाषण पर प्रीति होती है तथा जिसकी नित्य नीचकर्म करनेमें और ठगई करनेमें प्रीति होती है तथा जो छल-कपट करके दूसरोंको दुःख देता है, ऐसा पापकर्म करने वाला पुरुष महानरकमें पड़ता है, और अपने पापकर्मके कारण महा-दुःख पाता है ॥ ३१ ॥ ऐसे पापीको वैतरणी नामकी महानदी

वनद्रुमो निपतितो वसति च महानिरये भृशार्तः ॥ ३२ ॥ महापदानि कत्थसे न चाप्यवेक्षसे परम् । चिरस्य मृत्युकारिकामनागतां न बुध्यसे ॥ ३३ ॥ प्रयाय तां किमास्यते समुत्थितं महद्भयम् । अतिप्रमाथि दारुणं सुखस्य संविधीयताम् ॥ ३४ ॥ पुरा मृतः प्रणीयते यमस्य राजशासनात् । त्वमन्तकाय दारुणैः प्रयत्नमार्जने कुरु ॥ ३५ ॥ पुरा समूलबांधवं प्रभुर्हरत्यदुःखवित् । तवेह जीवितं यमो न चास्ति तस्य वारकः ॥३६॥ पुराभिवाति मारुतो यमस्य यः पुरःसरः । पुरैक एव नीयसे कुरुष्व सांपरा-

में स्नान करना पड़ता है, उस नदीका जल उष्ण होता है। उसका शरीर असिपत्र नामक वनमें रहनेसे छिद जाता है, वह परशुके वनमें शयन करता है, इसप्रकार वह रात दिन महानरक में पड़ कर घोर दुःख भोगता है ॥ ३२ ॥ तू केवल ब्रह्मा और दूसरे देवताओंके स्थानोंको देखकर कहता है, कि मैं भाग्यवान् हूँ परन्तु तू अन्धा है इससे ही सर्वोत्तम मोक्षके स्थानको नहीं देखता है,शोक है,कि–तू सदाका अन्धा है अत एव भविष्यमें आने वाली मृत्युकी दासीरूप वृद्धावस्थाको भी तू नहीं देखता है।३३। मोक्षमार्गकी ओर दौड़ किस लिये बैठा हुआ है, तेरे सुखको नष्ट करने वाला महाभय आलगा है, अतः तू मुक्ति पानेका प्रयत्न कर ॥३४॥ तेरे मरने पर तू यमकी आज्ञासे उनके पास पहुँचेगा, अतः तू मोक्षसुखके लिये कृच्छ्र आदि तप करके धर्म को प्राप्त करनेका प्रयत्न कर ॥ ३५ ॥ समर्थ यमको दूसरेके दुःखका ज्ञान नहीं है, वह सब मनुष्योंके जीवनका नाश करता है अर्थात् वह तेरा और तेरे मित्रोंका नाश करेगा, ऐसा करनेसे उसको कोई भी नहीं रोक सकेगा ॥ ३६ ॥ तेरे सामने जब यमका पवन चलेगा, उस समय वह क्षणभरमें तुझे यमके पास लेजावेगा अतः तू परलोकमें हित करने वाले धर्मका आचरण

यिकम् ॥३७॥ पुरा स हि क्व एव ते मवाति मारुतोंतकः । पुरा च विभ्रमन्ति ते दिशो महाभयागमे ॥३८॥ श्रुतिश्च सन्निरुध्यते पुरा तवेह पुत्रक । समाकुलस्य गच्छतः समाधिमुत्तमं कुरु ॥३९॥ शुभाशुभे पुरा कृते प्रमादकर्मविप्लुते । स्मरन्पुरा न तप्यसे निधत्स्व केवलं निधिम् ॥४०॥ पुरा जरा कलेवरं विजर्जरी करोति ते । बलांगरूपहारिणी निधत्स्व केवलं निधिम् ॥४१॥ पुरा शरीरमन्तको भिनत्ति रोगसारथिः । प्रसह्य जीवितक्षये तपो महत्समाचर ॥ ४२ ॥ पुरा वृका भयंकरा मनुष्यदेहगोचराः । अभिद्रवन्ति सर्वतो यतश्च पुण्यशीलने ॥ ४३ ॥ पुरांधकारमेकशेनु-

कर ॥ ३७ ॥ (पूर्वजन्ममें) तेरे सामने प्राणोंको हरण करने वाला जो पवन चल रहा था, वह कहाँ गया (इसका तुझे ज्ञान है) जब तेरे ऊपर महाभय पड़ेगा उस समय दिशाएँ तुझे घूमती हुई दीखेंगी (इसका तुझे ध्यान है ?) ॥ ३८ ॥ हे पुत्र ! जब तू व्याकुल होकर चलने लगेगा उस समय तेरे कान बहरे होजायंगे, अतः तू उत्तम योगसमाधिको कर ॥३९॥ तुझसे प्रमादवश जो शुभाशुभ कर्म बन गए हों उनके लिये पश्चात्ताप करनेका समय आनेसे पहिले ही तू योगसमाधिके भण्डारको भरले ॥ ४० ॥ वृद्धावस्था तेरे शरीरके बल तथा रूपका नाश कर डालेगी और तेरे शरीरको शिथिल कर डालेगी अतः तू शरीर शिथिल होनेसे पहिले योगभण्डारको ही भर ४१ काल रोगरूपी सारथिके साथ आकर बलपूर्वक तेरे शरीर और प्राणोंका नाश कर डालेगा, अतः मरण होनेसे पहिले ही तू महातप कर ॥ ४२ ॥ काम आदि भयंकर व्याघ्र तेरे शरीरमें रहते है, वे चारों ओरसे तुझे घेर लेंगे, अतः तू पुण्यकर्म करने का प्रयत्न कर ॥ ४३ ॥ (मरनेसे पहिले) प्रथम तो गाढ़ अन्धकारको देखेगा और फिर पर्वतके शिखर पर सुवर्णके

पश्यसि त्वरस्व वै। पुरा हिरण्मयान्नगान्निरीक्षसेऽद्रिमूर्धनि४४ पुरा कुसंगतानि ते सुहृन्मुखाश्च शत्रवः। विचालयन्ति दर्शनाद्घटस्व पुत्र यत्परम्॥४५॥धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः। मृतं च यन्न मुंचति समर्जयस्व तद्धनम् ॥ ४६ ॥ न तत्र संविभुज्यते स्वकर्मभिः परस्परम् । यदेव यस्य यौतकं तदेव तत्र सोऽश्नुते ॥ ४७ ॥ परत्र येन जीव्यते तदेव पुत्रदीयताम्। धनं यदक्षरं ध्रुवं समर्जयस्व तत्स्वयम् ॥ ४८ ॥ न यावदेव पच्यते महाजनस्य यावकम् । अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वरम्४६

पुष्पोंको देखेगा (ये मरणके चिन्ह हैं) अतः इनको देखनेसे पहिले ही तू धर्माचरण करनेकी उतावली कर ॥ ४४ ॥ इस संसारमें दुष्ट पुरुषोंकी संगति और स्नेहीसी प्रतीत होनी वाली शत्रुरूप इन्द्रियोंकी संगति तेरी बुद्धिको भ्रष्ट कर देगी, अतः उससे पहिले ही तू परब्रह्मको जाननेका प्रयत्न कर ॥ ४५ ॥ जिस धनको राजा अथवा चोरका भय नहीं है, जो धन मरे हुए स्वामीका भी त्याग नहीं करता है, ऐसे धनको तू संपादन कर ॥ ४६ ॥ अपने कर्मोंसे तू ऐसे धनको सम्पादन कर, कि-परलोकमें उसका हिस्सेदार कोई हो ही नहीं, मनुष्यका पुण्यरूपी धन ऐसा है, कि-'हिस्सेदार उसमेंसे भाग नहीं माँग सकते ।४७। जिससे परलोकमें आजीविका चले ऐसी वस्तुका हे पुत्र! तू दान दे और जो धन अक्षर और ध्रुव है उस धनको तू स्वयं इकट्ठा कर ४८ धनीकी ल्हपसी पकती होती है उससे पहिले ही काल उसको पकड़ कर लेजाता है (तू इस ध्यानमें न रह कि-पहिले सब सुख भोगलूं, फिर मोक्षकी ओर मन लगाऊँगा, क्योंकि-भोग से सन्तुष्ट होनेसे पहिले ही काल तुझको निगल जावेगा अतः कल्याणप्रद कर्म करनेकी तू शीघ्रता कर) ॥ ४६ ॥ मनुष्य मर कर परलोकमें इकला ही जाता है उस समय उसके साथ उसकी

न मातृपुत्रबांधवानसंस्तुतः प्रियो जनः । अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥ ५० ॥ यदेव कर्म केवलं पुरा कृतं शुभाशुभम्। तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ॥५१॥ हिरण्यरत्नसंचयाः शुभाशुभेन संचिताः।न तस्य देहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः ५२ परत्र गामिकस्य ते कृताकृतस्य कर्मणः । न साक्षि आत्मना समो नृणामिहास्ति कश्चन ॥५३॥मनुष्यदेहशून्यकं भवत्यमुत्र गच्छतः। प्रविश्य बुद्धिचक्षुषा प्रदृश्यते हि सर्वशः ॥ ५४ ॥ इहाग्निसूर्यवायवः शरीरमाश्रितास्त्रयः । त एव तस्य साक्षिणो भवन्ति धर्मदर्शिनः ॥ ५५ ॥ अहर्निशेषु सर्वतः स्पृशत्सु सर्वचारिषु । प्रका-

माता, पुत्र, बान्धव अथवा प्रिय मनुष्य इनमेंसे कोई भी नहीं जाता है ॥ ५० ॥ हे पुत्र ! जीव जब परलोकमें जाता है, उस समय जो उसने शुभाशुभ कर्म किया होता है, वही उसके साथ जाता है ॥ ५१ ॥ शुभ अथवा अशुभ कर्म करके सुवर्णके और रत्नोंके ढेर इकट्ठे किये हों तब भी मनुष्यका शरीर छूटने पर वे मनुष्यका हित नहीं कर सकते ॥ ५२ ॥ परलोकमें जाने पर तू (जीव) ने क्या २ कर्म किये हैं और क्या कर्म न किये हैं इसका साक्षी आत्मासे अधिक और कोई नहीं है ॥ ५३ ॥ जब कर्तारूप चैतन्य (जीवात्मा) साक्षी चैतन्यमें लीन होजाता है, तब उसका शरीर मर जाता है इसको योगी बुद्धिरूपी नेत्रसे हृदयाकाशमें प्रवेश करके देखते हैं (योगी कर्तारूप चैतन्यका साक्षीरूप चैतन्यमें लय होनेको ही शरीरका मरण समझते है) ॥ ५४ ॥ इस लोकमें रहने वाले अग्नि, सूर्य और वायु ये तीन देवता शरीरका आश्रय करके रहते हैं, वे ही मनुष्यके किये हुए धर्मको देखने वाले और जीवके साक्षी हैं ॥५५॥ दिन और रात्रि इन दोनोंमें दिनमें वस्तुओंको प्रकाशित करनेका गुण है और रात्रिमें वस्तुओंको गुप्त करनेका गुण है, ये दोनों सदा सब

शत्रुदृष्टस्तिषु स्वधर्ममेव पालय ॥ ५६ ॥ अनेकपारिपंथिके विरूपरौद्रमक्षिके। स्वमेव कर्म रच्यतां स्वकर्म तत्र गच्छति ॥ ५७ ॥ न तत्र संविभज्यते स्वकर्मणा परस्परम्। तथा कृतं स्वकर्मजं तदेव भुज्यते फलम् ॥ ५८ ॥ यथाप्सरोगणाः फलं सुखं महर्षिभिः सह। तथाप्नुवन्ति कर्मजं विमानकामगामिनः ॥ ५९ ॥ यथेह यत्कृतं शुभं विपाप्मभिः कृतात्मभिः। तदाप्नुवन्ति मानवास्तथा विशुद्धयोनयः ॥ ६० ॥ प्रजापतेः सलोकतां बृहस्पतेः शतक्रतोः। व्रजन्ति ते परां गतिं गृहस्थधर्मसेतुभिः ॥ ६१ ॥ सहस्रशोऽप्यनेकशः प्रवक्तुमुत्सहाम ते। अबुद्धिमोहनं पुनः प्रभु-

वस्तुओंका स्पर्श करते रहते हैं (और उनकी आयुको क्षीण करते रहते हैं) अतः तू सदा अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन कर ।५६। परलोक (वा यमलोक विभाग) बहुतसे शत्रु (भयंकर पक्षी और भेड़िये) और भयंकर और विरूप मक्खियोंसे भरपूर है अतः तू अपने कर्ममें परायण रह, क्योंकि—उस मार्गमें अपने ही कर्म काममें आते हैं ।।५७।। परलोकमें कोई दूसरेके कर्ममें भाग नहीं लेसकता, परन्तु सब अपने २ कर्मके फलको ही भोगते हैं ॥ ५८ ॥ जैसे महर्षि और अप्सरायें अपने २ कर्मके फलको भोगते हैं, तैसे ही पुण्यकर्म करने वाले भी विमानोंमें बैठ कर अपनी इच्छानुसार विहार करते हैं तथा अपने कर्मफलको प्राप्त करते हैं ॥ ५९ ॥ पापरहित शुद्ध जातिके और आत्माके स्वरूप को देखने वाले मनुष्य परलोकमें तथा इस लोकमें अपने ही किये हुए शुभ कर्मको पाते हैं ।।६०।। जो गृहस्थाश्रमके धर्मका पालन करते हैं वे प्रजापतिके, बृहस्पतिके अथवा इन्द्रके श्रेष्ठ लोकोंमें जाते हैं ।।६१।। मैं तुझे ऐसे सैंकड़ों और सहस्रों उपदेश देसकता हूँ, परन्तु समर्थ धर्म ही मनुष्योंकी बुद्धिमें मोह उत्पन्न कर देता है (भावार्थ—धर्म मनुष्यको सुखके मार्गकी ओर लेजासकता है

निनाय पावकः ॥६२॥ गता त्रिरष्टवर्षता ध्रुवोऽसि पंचविंशकः । कुरुष्व धर्मसंचयं वयो हि तेऽतिवर्तते ॥६३॥ पुरा करोति सोऽन्तकः प्रमादगोमुखां चमूम् । यथा गृहीतमुत्थितस्त्वरस्व धर्मपालने ६४ यथा त्वमेव पृष्ठतस्त्वमग्रतो गमिष्यसि । तथा गतिं गमिष्यतः किमात्मना परेण वा ॥ ६५ ॥ यदेकपातिना सतां भवत्यमुत्र गच्छताम् । भयेषु सांपराथिकं निधत्स्व केवलं निधिम् ॥६६॥ सकूलमूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यसंगवान् । न सन्ति यस्य वारकाः कुरुष्व धर्मसन्निधिम् ॥६७॥ इदं निदर्शनं मया तवेह पुत्र सांप्र-

---

परन्तु सैकड़ों उपदेश देने पर भी (बिना आचरण किये) वह सुखके मार्गको प्राप्त नहीं करा सकता ॥ ६१ ॥ तुझको चौबीस वर्ष बीत गए हैं और अब तेरी पच्चीस वर्षकी अवस्था है, तेरी आयु बीती जारही है, अतः तू धर्मका संग्रह कर ले ॥ ६३ ॥ प्रमादी और असावधान पुरुषके घरमें रहने वाला काल, अति शीघ्रतासे तेरी इन्द्रियोंकी भोगशक्तिका नाश करे, उससे पहिले ही तू अपनी शक्ति पर आधार रख कर खड़ा हो और धर्मकी रक्षा करनेके लिये त्वरा कर ॥ ६४ ॥ जब तू इस लोकमेंसे परलोकमें अकेला ही जायगा और अपने आगे और पीछे केवल तू ही तू होगा तब तुझे अपने शरीरसे और स्त्री पुत्रसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ६५ ॥ मनुष्य यमालयमें अकेला ही जाता है, तब यह स्पष्ट है, कि-उसको तहाँके भयसे छूटनेके लिये हित-कारक योगसमाधिरूप भण्डारको भरना चाहिये ॥ ६६ ॥ समर्थ यम सब प्रकारके संगोंसे रहित है, वह आदिसे अन्त तकके सब सम्बन्धियोंका नाश करता है, और उसको ऐसा करनेसे कोई नहीं रोक सकता, अतः तू धर्मकी शरण ले ६७ हे पुत्र ! मैंने अपने शास्त्रज्ञानके अनुसार तथा अनुमानसे तुझ को जो अभी उपदेश दिया है, तिसके अनुसार तू धर्माचरण

तम् । स्वदर्शनानुमानतः प्रवर्थितं कुरुष्व तत् ।।६८।। दधाति यः स्वकर्मणा ददाति यस्य कस्यचित् । अबुद्धिमोहजैर्गुणैः स एक एव युज्यते ।। ६९ ।। श्रुतं समस्तमश्नुते प्रकुर्वतः शुभाः क्रियाः । तदेतदर्थदर्शनं कृतज्ञमर्थसंहितम् ।। ७० ।। निर्बन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।छित्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः।७१ किं ते धनेन किं बन्धुभिस्ते किं ते पुत्रैः पुत्रक यो मरिष्यसि । आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहास्ते क्व गताश्च सर्वे ।। ७२ ।। श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । न हि प्रतीक्षते मृत्युः

कर ।। ६८ ।। जो मनुष्य अपने आश्रमके कर्म करके अपने देह का पोषण करता है, तथा किसी फलके लिये दानधर्म करता है, वह पुरुष अज्ञान और मोहके गुणोंसे मुक्त होकर ब्रह्मको पाता है ।। ६९ ।। जो पुरुष शास्त्रोक्त कर्म करता है, उस पुरुषको "तत्त्वमसि" आदि महावाक्योंसे होनेवाला सर्वात्मरूपी ज्ञान होता है और उस ज्ञानसे परमपुरुषार्थरूप मोक्ष मिलता है, कृतज्ञ पुरुषको जो उपदेश दिया जाता है वह सफल होता है ।।७०।। जो पुरुष ग्राम (लौकिक व्यवहार)में रहकर उससे प्रीति करने लगता है, तो वह प्रीति उसके लिये रज्जुरूप होजाती है, पुण्य-कर्म करनेवाले उस प्रीतिरूप डोरीको काटकर महासुख पाते हैं, परन्तु पापकर्म करनेवाले, इस प्रीतिरूप डोरीको नहीं काट सकते ।। ७१ ।। हे पुत्र ! तू तो मरणधर्मवाला है, तो फिर तुझे धन, भाई और पुत्रोंसे क्या काम है, (शरीररूपी) गुहामें रहने वाले आत्माकी शोध करनेकी ओर ही लक्ष दे और तेरे पिता-मह आदि सब कहाँ गए, इसका विचार कर ।।७२।। जो काम कल करनेका हो उसको आज ही करडालना चाहिये, जो कर्म अपरान्हमें करता हो उसको पूर्वान्हमें ही करलेना चाहिये, क्यों कि-काल यह नहीं देखता है, यह काम इसने किया है अथवा

कृतं वास्य न वा कृतम् ॥७३॥ अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्तेह बान्धवाः । अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥ ७४ ॥ नास्तिकान्निरनुक्रोशान्नरान्पापमते स्थितान् । वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ॥ ७५ ॥ एवमभ्याहते लोके कालेनोपनिपीडिते । सुमहद्धैर्यमालम्ब्य धर्मं सर्वात्मना कुरु ॥ ७६ ॥ अथेमं दर्शनोपायं सम्यग्यो वेत्ति मानवः । सम्यक् स्वधर्मं कृत्वेह परत्र सुखमश्नुते॥७७॥न देहभेदे मरणं विजानतां न च प्रणाशः स्वनुपालिते पथि । धर्मं हि यो वर्धयते स पण्डितो य एव धर्माच्च्यवते स मुह्यति ॥ ७८ ॥ प्रयुक्तयोः कर्मपथि स्वकर्मणोः फलं

नहीं किया है७३जब मनुष्य मर जाता है तब उसके संबंधी और स्नेही श्मशान तक उसके साथ२जाते हैं औरउसको अग्निमें भस्म कर फिर लौट आते हैं७४ तू यदि परब्रह्मको पाना चाहता हो तो सावधान होकर नास्तिकोंको,निर्दय पुरुषोंको तथा पापकर्म करने वाले पुरुषोंको निःसंकोच होकर वामभागमें कर अर्थात् छोड़दे और आलस्यरहित होकर अपनी आत्माका कल्याण करनेवाले मार्ग को पकड़ ॥ ७५ ॥ इसप्रकार जब सारा जगत् कालके वशमें पड़ा हुआ है और काल मनुष्यको दुःख देता है, इसलिये तू बड़े भारी धैर्यको धारणकर सच्चे मनसे धर्मका आचरण कर७६ जो मनुष्य परब्रह्मके साक्षात्कारके इस उपायको भली भाँति जानता है तथा जो अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करता है, वह पुरुष इसलोकमें भलीप्रकार स्वधर्मका आचरण कर परलोक में सुख भोगता है ॥ ७७ ॥ एक देहको त्यागकर दूसरे देहको प्राप्त करनेमें अर्थात् देहभेदमें मरण ही नहीं है, यह जाननेवाले और धर्ममार्ग पर चलनेवाले पुरुषोंको किसी दिन भी हानि नहीं पहुँचती है जो पुरुष धर्मकी वृद्धि करता रहता है,उसको पण्डित समझना चाहिये और जो पुरुष धर्मसे भ्रष्ट होजाता है उसको

भयोक्ता लभते यथाकृतं । निहीनकर्मा निरयं प्रपद्यते त्रिविष्टपं गच्छति धर्मपारगः ॥ ७९ ॥ सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् । तथात्मानं समादध्याद्भ्रश्यते न पुनर्यथा ८० यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वर्गमार्गानुसारिणी । तमाहुः पुण्यकर्माणमशोच्यं पुत्रबान्धवैः ॥८१॥ यस्य नोपहता बुद्धिर्निश्चये ह्यवलंबते । स्वर्गे कृतावकाशस्य नास्ति तस्य महद्भयं ॥ ८२ ॥ तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः । तेषामल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ॥ ८३ ॥ यस्तु भोगान्परित्यज्य शरीरेण तपश्चरेत् । न

मूर्ख समझना चाहिये ॥७८॥ जो पुरुष सत्कर्म करनेमें आसक्त रहता है, वह अपने कृत्यके कारण यथाविधि स्वर्ग तथा दूसरे फलको पाता है तथा जो मनुष्य अधर्मका आचरण करता है, उसको नरकमें गिरना पड़ता है ॥७९॥ स्वर्गके सोपानरूप दुर्लभ मनुष्यदेहको पाकर मनुष्य इसप्रकार आत्माके स्वरूपको जाने कि-जिससे वह फिर भ्रष्ट न हो ॥ ८० ॥ जिस पुरुषकी बुद्धि स्वर्गके मार्गका अनुसरण करती है और धर्मका उल्लंघन नहीं करती है, उसको पण्डित पुण्यकर्म करनेवाला कहते हैं, ऐसे पुरुषके मरणसे उसके पुत्रों और बान्धवोंको शोक नहीं करना पड़ता है ॥ ८१ ॥ जिस मनुष्यकी बुद्धि चञ्चल नहीं है और ब्रह्ममें लगी हुई है तथा जिसने स्वर्ग प्राप्त किया है वह महाभय (नरक) से छूट जाता है ॥ ८२ ॥ जिनका जन्म तपोवनमें हुआ है और जिनका मरण तपोवनमें हुआ है, उनको सब कामना और भोगोंसे अज्ञात रहनेके कारण महापुण्यकी प्राप्ति नहीं होती है (अर्थात् गृहस्थाश्रम भोगनेके पीछे वृद्ध होने पर कामनाओंका त्याग करना जितना श्रेयस्कर है, गृहस्थाश्रम भोगे विना और उसका अनुभव किये विना कामनाओंका त्याग करना उतना श्रेयस्कर नहीं है) ॥ ८३ ॥ परन्तु जो पुरुष

तेन किञ्चिन्नप्राप्तं तन्मे बहुमतं फलं ॥ ८४ ॥ मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च । अनागतान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ८५ अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् । न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ॥ ८६ ॥ न तेषां भवता कार्यं न कार्यं तव तैरपि । स्वकृतैस्तानि जातानि भवांश्चैव गमिष्यति ॥ ८७ ॥ इह लोके हि धनिनां स्वजनः स्वजनायते । स्वजनस्तु दरिद्राणां जीवतामपि नश्यति ॥ ८८ ॥ संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः । ततः क्लेशमवाप्नोति परत्रेह तथैव च ॥ ८९ ॥ पश्यति

भोगोंको त्यागकर शरीरसे तप करते हैं, उनको ऐसी वस्तु कोई नहीं है, जो प्राप्त न हो सके, इसको ही मैं उत्तम फल मानता हूँ ॥ ८४ ॥ इस जगत्में सहस्रों माता पिता होगए हैं और होंगे तथा सहस्रों स्त्री पुत्र होगए हैं और होंगे, जो होगए हैं और जो होंगे; वे किसके थे और किसके होंगे और हम किसके हैं ? (अर्थात् कोई किसीका नहीहै) ॥८५॥ मैं इकला हूँ, मेरा कोई भी नही है, तैसे ही मैं भी किसीका कुछ नहीं हूँ, मैं जिसका होऊँ ऐसा मैं किसीको नहीं देखता तथा जिसको मैं अपना कहूँ ऐसा भी कोई नहीं है ॥८६॥ तुझे उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है और उनको भी तुझसे कोई प्रयोजन नहीं है सब प्राणी अपने पूर्व-जन्मके कर्मानुसार उत्पन्न हुए हैं (तू भी अपने कर्मानुसार उत्पन्न हुआ है और अब जैसा कर्म करेगा वैसा गति(जन्म) पावेगा ८७ इस जगत्में ऐसा प्रतीत होता है, कि धनी पुरुषके सम्बन्धी धनके कारण उसके पास बने रहे रहते हैं और जो निर्धन होते हैं उनके जीते रहने पर भी उनके सम्बन्धी उनसे प्रयोजन नहीं रखते हैं ॥८८॥ मनुष्य अपनी स्त्री (और पुत्र) के लिये अनेक प्रकारके पापकर्म करता है इससे वह इस लोक और परलोक इन दोनों लोकोंमें दुःख भोगता है ॥ ८९ ॥ ज्ञानी पुरुष अप

छिन्नभूतं हि जीवलोकं स्वकर्मणा । तत्कुरुष्व तथा पुत्र कृत्स्नं यत्समुदाहृतम् ॥ ६० ॥ तदेतत्संप्रदृश्यैव कर्मभूमिं प्रपश्यतः । शुभान्याचरितव्यानि परलोकमभीप्सता ६१ मासर्तुसंज्ञापरिवर्तकेन सूर्याग्निना रात्रिदिवेंधनेन। स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेन भूतानि कालः पचति प्रसह्य ॥ ६२ ॥ धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते बलेन किं येन रिपुं न बाधते । श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ६३ भीष्म उवाच इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु । शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदैशिकम् ६४

कर्मसे ही इस जीव (मृत्यु) लोकको छिन्न भिन्न होता हुआ देखते हैं, अतः हे पुत्र ! मैंने तुझे जो उपदेश दिया है उसके अनुसार तू आचरण कर ॥ ६० ॥ इसको कर्मभूमि समझ कर इस कर्मभूमिमें परलोक (स्वर्ग) की इच्छा करने वाले पुरुषको शुभ कर्म ही करने चाहियें ॥ ६१ ॥ यह काल सर्वशक्तिमान् रसोइया है, वह अपने भाजनगृहमें सबको राँधता है मास और ऋतु इस कालके तवेरूप है, सूर्य अग्निरूप है, रात और दिन ईंधन हैं, क्योंकि—दिन और रात्रि प्रत्येक प्राणीके कर्मोंके साक्षी हैं ॥ ६२ ॥ जिस धनका न दान दिया जाय और जो न भोगमें आवे वह धन किस कामका ? जिस शास्त्रश्रवणसे धर्माचरण न होसके वह शास्त्रश्रवण किस कामका ? और जिससे शत्रुओंको पीड़ा न दी जासके वह बल भी किस कामका है ? और जो आत्मा जितेन्द्रिय नहीं होसकता और दुष्कर्म करनेसे मनको नहीं रोक सकता, ऐसे आत्मासे भी क्या ? ॥ ६३ ॥ भीष्मजीने कहा, कि हे युधिष्ठिर ! व्यासजीकी हित करनेवाली बात सुनकर शुकदेवजी मोक्षका उपदेश देनेवाले अपने पिताको त्याग कर मोक्षका उपदेश देने वाले गुरुको ढूँढनेके लिये चल पड़े ॥ ६४ ॥ तीनसौ इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२१ ॥

युधिष्ठिर उवाच॥यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च।गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः। स कर्म कलुषं कृत्वा क्लेशे महति धीयते॥२॥दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात्क्लेशं भयाद्भयम्।मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ॥ ३ ॥ उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम् । श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥४॥ व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च । हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥ प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः । क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणाः ॥ ६ ॥ पुलका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु । तद्विधा-

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्म पितामह ! यदि दान दिया हो, तप किया हो और गुरुओंकी सेवाकी हो तो उसका क्या फल मिलता है, यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥ मनुष्यकी बुद्धि अनर्थके साथ युक्त होने पर मनको पापमें डुबा देती है, इस स्थितिमें मनुष्य दुःखमें मग्न होजाता है ॥ २ ॥ पापी मनुष्य दरिद्री होकर उत्पन्न होता है, इसके ऊपर दुष्काल पर दुष्काल दुःख पर दुःख और भय पर भय पड़ता है वह मरे हुए मनुष्यों से भी गया बीता है ॥ ३ ॥ श्रद्धावान्, इन्द्रियोंका निग्रह करने वाले तथा पुण्यकर्म करने वाले पुरुषोंको धनका लाभ होता है और वे उत्सव पर उत्सव, सुख पर सुख और स्वर्गके पीछे स्वर्गको ही पाते चले जाते हैं ॥ ४ ॥ नास्तिक प्राणी हिंसक प्राणी और हाथियोंसे भरे हुए प्रदेशमें तथा सर्प चोर और अनेक प्रकारके भययुक्त अगम्य मार्गोंमें (अन्धोंकी समान) हाथ टेक कर जाते है, इससे अधिक और दुःख क्या होगा ।५। देवता तथा अतिथियोंसे प्रेम करने वाले, उदार सत्पुरुषोंसे प्रीति करने वाले और यज्ञमें दक्षिणा देने वाले पुरुष आत्मज्ञानियोंके

एते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥ सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति । शेते सह शयानेन येन येन यथाकृतम् ॥ ८ ॥ पापं तिष्ठति तिष्ठंतं धावन्तमनुधावति । करोति कुर्वतः कर्मच्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥ येन येन यथा यद्यत्पुरा कर्मसु निश्चितम् । तत्तदेवोत्तरं भुंक्ते नित्यं विहिततात्मना ॥ १० ॥ समानकर्मविपाकविधानपरिरक्षणम् । भूतग्राममिमं कालः समंतादपकर्षति ॥११॥ अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च । स्वं कालं नातिवर्त्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥ १२ ॥ समानश्चावमानश्च लाभो-

---

कल्याणप्रद मार्गको पाते हैं ६ जैसे बीजरहित धान्यके छिलके व्यर्थ है और गन्दे अण्डे व्यर्थ होते हैं, ऐसे ही धर्मको न माननें वाले पुरुष व्यर्थ हैं ॥ ७ ॥ मनुष्य कितनी ही शीघ्रतासे चले कर्म भी उतनी ही शीघ्रतासे उसके पीछे चलते हैं, जब कर्म करने वाला सोजाता है, तब उसके साथ उसके कर्म भी सोजाते हैं ॥८॥ जब कर्म करने वाला खड़ा होता है तो उसके कर्म भी खड़े होजाते हैं यदि वह दौड़ता है तो उसके कर्म भी उसके पीछे दौड़ते हैं, यदि वह कर्म करता है तब कर्म भी उसके साथ रहते हैं और कर्मानुसार फल देते हैं इस प्रकार कर्मछायाकी समान कर्म करने वालेके साथ घूमते हैं९ जिस२ने पहिले जो२कर्म जिस२ प्रकार किया वह उस२ कर्मको उस प्रकार अवश्य भोगता है१० अपने २ कर्मानुसार दूर अथवा समीपमें पड़े हुए (पशु पक्षी अथवा मनुष्ययोनियें पड़े हुए) सब प्राणियोंको नियमपूर्वक काल खेंच कर लेजाता है ॥ ११ ॥ अपने २ समयका कोई उल्लङ्घन नहीं करता है (समय आने पर पुष्प खिलता है और फल फलता है) इसी प्रकार पहिले किये हुए कर्म अपने काल का उल्लंघन नहीं करते है ॥ १२ ॥ मान और अपमान, लाभ और अलाभ, हानि और वृद्धि ये सब अपना कार्य किया करते

ऽलाभः चयाव्ययौ । प्राप्त्वा न निवर्तन्ते निधनान्ताः पदे पदे १३
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहतं सुखम् । गर्भशय्यामुपादाय
भजते पूर्वदेहिकम् ॥१४॥ बालो युवा वा वृद्धश्च यत्करोति शुभा-
शुभम् । तस्यां तस्यामवस्थायां भुंक्ते जन्मनि जन्मनि ॥ १५ ॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् । तथा पूर्वकृतं कर्म
कर्त्तारमनुगच्छति ॥१६॥ मलिनं हि यथा वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति
वारिणा । उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥१७॥ दीर्घ-
कालेन तपसा सेवितेन महामते । धर्मनिर्धूतपापानां संसिध्यंते
मनोरथाः ॥ १८ ॥ शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।

हैं, उनको कोई रोकने पर भी नहीं रोक सकता वे नित्य नहीं
हैं, पद २ पर नष्ट होजाते हैं ॥ १३ ॥ प्राणीको अपने अशुभ
कर्मसे दुःख भोगना पडता है और अपने शुभ कर्मसे सुख भोगना
पड़ता है, प्राणी जबसे गर्भमें आता है, तबसे ही उसको अपने
पूर्वजन्मके कर्म भोगने पड़ते है ॥ १४ ॥ बाल्यावस्था, तरुणा-
वस्था, अथवा वृद्धावस्थामें जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किये
होते हैं, उसका फल उसको उस २ अवस्थामें ही जन्म २ में
भोगना पड़ता है ॥ १५ ॥ बछड़ा जैसे सहस्रों गौओंमेंसे अपनी
माँको ढूँढ लेता है, इसी प्रकार पूर्वजन्मका किया हुआ कर्म भी
अपने कर्ताको ढूँढ कर उसके पीछे २ लग जाता है ॥ १६ ॥
जैसे मैला वस्त्र जलसे धोने पर शुद्ध स्वेत होजाता है ऐसे ही
उपवास करनेसे अति तपे हुए पुरुषोंका शरीर भी शुद्ध होजाता
है, तब वे बहुत समय तक अनन्त सुख पाते है ॥१७॥ हे महा-
बुद्धिमान् युधिष्ठिर ! तपोवनमें बहुत समय तक तप करनेसे
मनुष्योंके पातक दूर होजाते हैं और उनके मनोरथ सिद्ध होजाते
हैं ॥ १८ ॥ जैसे आकाशमें उड़ने वाले पक्षियोंका और जैसे
जलमें घूमनेवाले मत्स्योंका पदचिन्ह नहीं दीखता ऐसे ही पुरुष-

पर्द यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृतां गतिः ॥ १६ ॥ अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्त्तितैश्च व्यतिक्रमैः । पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्ममूलिको नाम द्वात्रिंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२२ ॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः । सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः । न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्यं महात्मनः ॥ २ ॥ कथं च बालस्य सतः सूक्ष्मज्ञाने गता मतिः । यथा नान्यस्य लोकेऽस्मिन्द्वितीयस्येह कस्यचित् ॥ ३ ॥ एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते । न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतोऽमृतमुत्तमम् ॥४॥ माहात्म्यमात्मयोगं च विज्ञानं च शुकस्य

कर्म करनेवालोंकी गति भी नहीं दीखती ॥ १६ ॥ दूसरोंको उपालंभ न देने चाहियें और तथा दूसरोंके भ्रमसे हुए कर्मोंका उदाहरण भी न देना चाहिये, परन्तु जो कर्म आनन्द देनेवाला धर्मानुकूल और उत्तम फल देनेवाला हो उसको करना चाहिये २० तीनसौ बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२२ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भीष्मपितामह ! व्यासजीके यहाँ महातपस्वी शुकका जन्म किसप्रकार हुआ था और उन्होंने परमसिद्धि किसप्रकार पाई थी, यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥ तपोधन व्यासजीने किस स्त्रीसे शुकको उत्पन्न किया था, हम इन महात्मा की माताको और इनके जन्मके श्रेष्ठ वृत्तान्तको नहीं जानते हैं२ शुक बालक थे तब भी उनको सूक्ष्मज्ञान पानेकी बुद्धि कैसे उत्पन्न होगई, ऐसी बुद्धि तो दूसरे मनुष्योंको बालकपनमें कभी उत्पन्न नहीं होती है॥ ३॥ हे महामति भीष्म ! मैं इस बातको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ, इस उत्तम कथामृतको सुनतेहुए मैं अघाता

ह। यथावदनुपूर्वेण तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥ भीष्म उवाच।
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनू-
चानः स नो महान्॥६॥ तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पांडव।
तदिंद्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ॥७॥ इन्द्रियाणां प्रस-
ङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्। संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति
मानवः ॥ ८ ॥ अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च। योगस्य
कलया तात न तुल्यं विद्यते फलम् ॥ ९ ॥ अत्र ते वर्तयिष्यामि
जन्मयोगफलं तथा। शुकस्याग्र्यां गतिं चैव दुर्विदामकृतात्मभिः१०
मेरुशृङ्गे किल पुरा कर्णिकारवनायुते। विजहार महादेवो भीमै-
र्भूतगणैर्वृतः ॥११॥ शैलराजसुता चैव देवी तत्राभवत्पुरा। तत्र

नहीं हूँ ॥४॥ हे पितामह ! शुकदेवजीका माहात्म्य और उनका
आत्मयोग तथा विज्ञान यथार्थरीतिसे क्रमशः मुझसे कहिये॥५॥
भीष्मजीने कहा, कि–मनुष्य वर्षोंसे, झुर्री पड़जानेसे, धनवान्
होजानेसे अथवा कुटुम्बियोंसे बड़ा नहीं माना जाता है, किन्तु
ऋषियोंने यह निश्चय किया है, कि–जो सम्पूर्ण वेदको पढ़ाहो
वही बड़ा है ॥ ६ ॥ हे पाण्डव ! तूने मुझसे जो बातें बूझी हैं,
इन सबकी जड़ तप है और वह तप इन्द्रियोंको नियममें रखनेसे
ही होता है अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥ यह बात तो स्पष्ट है, कि–
मनुष्य इन्द्रियोंको स्वच्छन्द कर देनेसे अवश्य ही दूषित होजाता
है और इन्द्रियोंको नियममें रखता है तो सिद्धि पाता है ॥ ८ ॥
सहस्रों अश्वमेध यज्ञ और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ भी योगकी
सोलहवीं कलाकी तुलना नहीं करसकते ॥ ९ ॥ अब मैं तुमसे
शुकका जन्म, उनके योगका फल तथा अज्ञानियोंके जाननेमें न
आनेवाली शुककी उत्तम गति तुमसे कहूँगा ॥ १० ॥ पहिले
जिस पर सहस्रों कनेरके वन खिल रहे थे उस मेरुपर्वतके शिखर
पर भयानक भूतगणोंके साथ महादेव विहार करते थे ॥ ११ ॥

दिव्यं तपस्तेपे कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १२ ॥ योगेनात्मानमाविश्य योगधर्मपरायणः । धारयन्स तपस्तेपे पुत्रार्थं कुरुसत्तम ॥ १३ ॥ अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य वा विभो । धैर्येण संमितः पुत्रो मम भूयादिति स्म ह ॥ १४ ॥ संकल्पेनाथ योगेन दुष्प्रापमकृतात्मभिः । वरयामास देवेशमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १५ ॥ अतिष्ठन्मारुताहारः शतं किल समाः प्रभुः । आराधयन्महादेवं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १६ ॥ तत्र ब्रह्मर्षयश्चैव सर्वे राजर्षयस्तथा । लोकपालाश्च लोकेशं साध्याश्च वसुभिः सह ॥ १७ ॥ आदित्याश्चैव रुद्राश्च दिवाकरनिशाकरौ । वसवो मरुतश्चैव सागराः सरितस्तथा ॥ १८ ॥ अश्विनौ देवगन्धर्वास्तथा नारदपर्वतौ । विश्वा-

---

उस समय पर्वतराजकी पुत्री देवी पार्वती भी उनके साथमें थीं इसी समय उस पर्वतके शिखरके पास प्रभु कृष्ण द्वैपायन तप कर रहे थे ॥ १२ ॥ हे कुरुकुलमें उत्तम युधिष्ठिर ! योगधर्ममें परायण रहनेवाले वह मुनि योगसे आत्मामें प्रवेश करके योगसे ही देहको धारण किये रहकर पुत्र प्राप्तिके लिये तप करते थे १३ उन्होंने महादेवजीसे प्रार्थना की, कि–हे विभो ! अग्नि वायु, जल, पृथ्वी और आकाशके बलसे युक्त पुत्र मुझको दीजिये १४ इस प्रकार प्रार्थना कर उत्तम तपका आरम्भ किया और पापी पुरुष जिनको प्राप्त नहीं करसकते उन देवेशका उन्होंने संकल्पपूर्वक योगसे आराधन करना आरम्भ करदिया ॥ १५ ॥ व्यासजी वायुका भक्षण करते हुए सौ वर्ष तक खड़े रहे और उन्होंने उमापति तथा अनेकरूपधारी महादेवकी उपासना की ॥ १६ ॥ इस स्थानमें सब ब्रह्मर्षि, राजर्षि, लोकपाल, लोकेश, और वसुओं सहित साध्यदेवता ॥ १७ ॥ आदित्य, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वसु, वायु, सागर, नदियें ॥ १८ ॥ अश्विनीकुमार देवता, गन्धर्व, नारद, पर्वत, विश्वावसु, गन्धर्व, सिद्ध और अप्सरायें भी

वसुश्च गन्धर्वः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा ॥ १६ ॥ तत्र रुद्रो महादेवः कर्णिकारमयीं शुभाम् । धारयाणः स्रजं भाति ज्योत्स्नामिव निशाकरः ॥२०॥ तस्मिन्दिव्ये वने रम्ये देवदेवर्षिसंकुले । आस्थितः परमं योगमृषिः पुत्रार्थमच्युतः ॥ २१ ॥ न चास्य हीयते प्राणो न ग्लानिरुपजायते । त्रयाणामपि लोकानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २२ ॥ जटाश्च तेजसा तस्य वैश्वानरशिखोपमाः । प्रज्वलंत्यः स्म दृश्यन्ते युक्तस्यामिततेजसः ॥२३॥ मार्कण्डेयो हि भगवानेतदाख्यातवान्मम । स देवचरितानीह कथयामास मे सदा २४ एता अद्यापि कृष्णस्य तपसा तेन दीपिताः ।अग्निवर्णा जटास्तात प्रकाशंते महात्मनः ॥ २५ ॥ एवंविधेन तपसा तस्य भक्त्या च भारत । महेश्वरः प्रसन्नात्मा चकार मनसा मतिम् ॥ २६ ॥

थी ॥१६॥ तहां पर महादेव रुद्र कनेरकी मालाको धारण किये हुए चाँदनीको धारण करनेवाले चन्द्रमाकी समान शोभा पारहे थे ॥ २० ॥ देवता और देवर्षियोंसे व्याप्त दिव्य और रम्य वनमें मुनि कृष्ण द्वैपायन पुत्रके लिये अखण्ड योग धारण करके तप करते थे ॥ २१ ॥ तप करने पर भी उनका बल क्षीण नहीं हुआ था तथा उनको ग्लानि भी नहीं हुई थी, व्यासके उत्तम तपको देखकर तीनों लोक आश्चर्यमें होगए ॥ २२ ॥ अपार तेजस्वी योगसाधना करनेवाले व्यासजीकी जटा तेजसे अग्निकी ज्योतिकी समान प्रज्वलित होरही थी ॥२३॥ यह कथा मुझसे भगवान् मार्कण्डेय मुनिने कही थी, वे मुझे सदा सत्पुरुषोंके चरित्र सुनाया करते थे ॥ २४ ॥ उन्होंने मुझसे कहा था कि-हे तात ! कृष्णद्वैपायन व्यास मुनिके उस समयके तपसे प्रकाशित हुई अग्निके वर्णकीसी उनकी जटा, उन महात्माके मस्तक पर उसीप्रकार अब भी प्रकाशमान दीखती है ॥२५॥ हे भारत! व्यासजीके तपसे और भक्तिसे महेश्वर अपने मनमें प्रसन्न हुए

उवाच चैवं भगवांस्त्र्यम्बकः प्रहसन्निव । एवंविधस्ते तनयो द्वैपायन भविष्यति ॥२७॥ यथा ह्यग्निर्यथा वायुर्यथा भूमिर्यथा जलम् । यथा च खं तथा शुद्धो भविता ते सुतो महान् ॥ २८ ॥ तद्भावभावी तद्बुद्धिस्तदात्मा तदपाश्रयः । तेजसावृत्य लोकांस्त्रीन्यशः प्राप्स्यति ते सुतः ॥ २९ ॥ ॥ ॥ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२३ ॥

भीष्म उवाच । स लब्ध्वा परमं देवाद्वरं सत्यवतीसुतः । अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया ॥ १ ॥ अथ रूपं परं राजन्बिभ्रतीं स्वेन तेजसा । घृताचीं नामाप्सरसमपश्यद्भगवान्नृपः २ ऋषिरप्सरसं दृष्ट्वा सहसा काममोहितः । अभवद्भगवान्व्यासो

और उनको इच्छित वर देनेका उन्होंने अपने मनमें विचार किया ॥२६॥ भगवान् त्रिनेत्र तब हँसते हुए उनके पास आकर कहनेलगे, कि-हे द्वैपायन ! तेरे यहां ऐसा पुत्र होगा, कि-२७ जैसा वायु है, जैसा अग्नि है, जैसी पृथ्वी है जैसा जल है और जैसा आकाश है, तैसा महान् और शुद्ध पुत्र तेरे यहाँ होगा२८ वह तेरा पुत्र ब्रह्मभावकी भावना वाला ब्रह्मविषयक बुद्धिवाला और ब्रह्ममें स्थिति करनेवाला होगा और तेरा पुत्र अपने तेजसे तीनों लोकों को व्याप्त कर यशको पावेगा ॥२९॥ तीनसौ तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२३ ॥

भीष्मजीने कहा, कि हे युधिष्ठिर ! सत्यवतीके पुत्र व्यासजी महादेवजीसे श्रेष्ठ वरदान पाकर एक दिन अग्नि उत्पन्न करने के लिये दो अरणियोंकी इकट्ठी करके घिसने लगे ॥ १ ॥ हे राजन्! जिस समय वह महामुनि अरणीमन्थनके कार्यमें लगेहुए थे, उसी समय अपने तेजसे उत्तमरूपको धारण करनेवाली घृताची नामकी एक अप्सरा भगवान् व्यासजीको दिखाई दी२

वने तस्मिन्युधिष्ठिर ॥ ३ ॥ सा च दृष्ट्वा तदा व्यासं कामसंविग्न-मानसम् । शुकी भूत्वा महाराज घृताची समुपागमत् ॥ ४ ॥ स तामप्सरसं दृष्ट्वा रूपेणान्येन संवृताम् । शरीरजेनानुगतः सर्वगात्रातिगेन ह ॥ ५ ॥ स तु धैर्येण महता निगृह्णन्हृच्छयं मुनिः । न शशाक नियंतुं तद्व्यासः प्रविसृतं मनः ॥ ६ ॥भाविताच्चैव भावस्य घृताच्या वपुषा हृतः । यत्नानियच्छतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया ॥ ७ ॥ अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमवापतत् । सोविशंकेन मनसा तथैव द्विजसत्तमः। ८॥ अरणीं ममन्थ ब्रह्मर्षिस्तस्यां जज्ञे शुको नृप । शुक्रे निर्मथ्यमाने स शुको जज्ञे महातपाः ॥ ९ ॥ परमर्षिर्महायोगी अरणीगर्भसंभवः । यथाध्वरे समिद्धोग्निर्भाति हव्यमुदावहन् ॥१०॥ तथारूपः शुको जज्ञे प्रज्वलन्निव तेजसा ।

हे युधिष्ठिर ! वनमें उस अप्सराको देखकर भगवान् व्यासजी कामसे मोहित होगए ॥ ३ ॥ हे महाराज ! घृताची अप्सरा व्यासजीके मनको कामसे मोहित हुआ देखकर शुकीका रूप धारण कर उनके पास आई ॥ ४ ॥ अप्सराको अन्य रूपमें छुपी हुई देखकर व्यासके शरीरमें उत्पन्न हुआ काम उनके अंग २ फैलगया ॥५॥ मुनि बड़े भारी धैर्यको धारण कर कामका निग्रह करनेलगे परन्तु सब प्रयत्न करने पर भी कामसे विह्वल होनेके कारण वह अपने मनको नियममें न रखसके ॥६॥ प्रारब्धवश घृताचीने उनके मनको हरलिया था इसकारण यत्नपूर्वक मनको नियममें रखकर वे अग्नि प्रकट करनेके लिये अरणीको मथरहे थे, कि–उनका वीर्य अरणियों पर स्खलित होगया ॥७॥ परन्तु द्विजसत्तम वह ब्रह्मर्षि मुनि निःशंक चित्तसे अरणीको मथते ही रहे, इतनेमें ही उस अग्निमें पड़े हुए शुक्रसे हे राजन् ! महातपस्वी,परमर्षि और महायोगी शुकका अरणीमेंसे जन्म हुआ।८ यज्ञमें हव्यको ग्रहण करनेसे वृद्धिको प्राप्त हुआ अग्नि जैसे शोभा

विभ्रत्पितुश्च कौरव्य रूपवर्णमनुत्तमम् ॥११॥ बभौ तदा भावितात्मा विधूम इव पावकः । तं गङ्गा सरितां श्रेष्ठा मेरुपृष्ठे जनेश्वर ॥ १२ ॥ स्वरूपिणी तदाभ्येत्य तर्पयामास वारिणा । अंतरिक्षाच्च कौरव्य दण्डः कृष्णाजिनं च ह ॥ १३ ॥ पपात भूमिं राजेंद्र शुकस्यार्थे महात्मनः । जेगीयन्ते स्म गंधर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः १४ देवदुंदुभयश्चैव प्रावाद्यन्त महास्वनाः । विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा तुम्बुरुनारदौ ॥ १५ ॥ हाहाहूहूश्च गन्धर्वौ तुष्टुवुः शुकसम्भवम् । तत्र शक्रपुरोगाश्च लोकपालाः समागताः ॥ १६ ॥ देवा देवर्षयश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपि च । दिव्यानि सर्वपुष्पाणि प्रववर्ष च मारुतः ॥ १७ ॥ जंगमाजंगमं चैव प्रहृष्टमभवज्जगत् ।

पाता है, तैसे ही दमकते हुए तेजवाले शुक उत्पन्न हुए ॥ १० ॥ और हे कुरुकुलोत्पन्न ! उन्होंने पिताके अति उत्तम रूप तथा वर्णको धारण किया था, महामना शुक निर्धूम अग्निकी समान दमक रहे थे ॥ ११ ॥ हे जनेश्वर ! उस समय नदियों में श्रेष्ठ गङ्गा नदी स्त्रीका रूप धारण करके मेरु पर्वतपर आई और अपने जलसे शुकको स्नान कराया ॥ १२ ॥ और हे कुरुवंशी राजेन्द्र ! आकाशमेंसे दण्ड तथा कृष्णमृगचर्म महात्मा शुकके लिये पृथ्वीपर गिरे ॥ १३ ॥ इस समय गन्धर्व गानेलगे अप्सराएँ नाचने लगीं देवता महाध्वनिसे बाजे बजानेलगे १४ गन्धर्व विश्वावसु, तुम्बुरु, नारद, हाहा तथा हूहू नामक गंधर्व शुकके जन्मकी स्तुति करनेलगे ॥१५॥ उस समय तहाँ इन्द्रकी चौधराहटमें लोकपाल भी आए थे, देवता देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी तहाँ आये थे ॥१६॥ पवन सब प्रकारके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे, उस समय स्थावर जंगमात्मक सब जगत् हर्षमें भर गया था ॥ १७ ॥ महाकान्तिमान् शङ्कर पार्वतीजीको लेकर तहाँ प्रीतिसे स्वयं पधारे थे और उन्होंने मुनिपुत्रका जन्म होने

तं महात्मा स्वयं प्रीत्या देव्या सह महाद्युतिः ॥ १८ ॥ जातमात्रं मुनेः पुत्रं विधिनोपानयत्तदा । तस्य देवेश्वरः शक्रो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १९ ॥ ददौ कमण्डलुं प्रीत्या देववासांसि वा विभो । हंसाश्च शतपत्राश्च सारसाश्च सहस्रशः ॥२०॥ प्रदक्षिणमवर्तंत शुकाश्चाषाश्च भारत । आरणेयस्तपो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः ॥२१॥ तत्रैवोवास मेधावी व्रतचारी समाहितः । उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥ २२ ॥ उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा । बृहस्पतिं च वव्रे स वेदवेदाङ्गभाष्यवित् २३ उपाध्यायं महाराज धर्ममेवानुचिंतयन् ।सोऽधीत्य निखिलान्वेदान् सरहस्यान्ससंग्रहान् ॥२४॥ इतिहासं च कार्त्स्न्येन राजशास्त्राणि वा विभो । गुरवे दक्षिणां दत्वा समावृत्तो महामुनिः ॥ २५ ॥ उग्रं तपः समारेभे ब्रह्मचारी समाहितः । देवतानामृषीणां च

पर उसका विधिपूर्वक उपनयनसंस्कार किया था ॥ १८ ॥ देवेश्वर इन्द्रने उसको अद्भुत दृश्यवाला दिव्य कमण्डलु तथा दिव्य वस्त्र प्रीतिसे अर्पण किये थे ॥१९॥ हे भारत ! उस समय हंस, शतपत्र शुक और सहस्रों सारसोंने शुकदेवकी प्रदक्षिणा की २० महाकान्तिमान् अरणीसे उत्पन्न हुए महाबुद्धिमान् शुकदेवजी दिव्य जन्म पाकर वहां ही ब्रह्मचारी वनकर रहने लगे ॥२१॥ हे महाराज ! उनके उत्पन्न होते ही रहस्य और संग्रहसहित सब वेद जैसे उनके पिताके पास आये थे तैसे उनके पास उपस्थित होगए ॥२२। वेद और वेदाङ्गोंके भाष्यको जाननेवाले शुकदेवजीने धर्मका विचार करके बृहस्पतिको अपना गुरु बनाया ।२३। हे विभो ! उन्होंने बृहस्पतिजीसे रहस्य और संग्रहसहित संपूर्ण वेद, इतिहास और राजशास्त्र पढ़े फिर वह गुरुदक्षिणा देकर घर आये ।२४-२५। तहाँ आकर उन्होंने ब्रह्मचर्यको पाल समाहित रहकर उग्र तप करना आरम्भ कर दिया । वह तपस्वी

बाल्येपि स महातपाः ॥२६॥ संमन्त्रणीयो मान्यश्च ज्ञानेन तपसा तथा । न त्वस्य रमते बुद्धिराश्रमेषु नराधिप । त्रिषु गार्हस्थ्य-मूलेषु मोक्षधर्मानुदर्शिनः ॥ २७ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२४ ॥

भीष्म उवाच । स मोक्षमनुचिंत्यैव शुकः पितरमभ्यगात् । प्राहा-भिवाद्य च गुरुं श्रेयोर्थी विनयान्वितः ॥ १ ॥ मोक्षधर्मेषु कुशलो भगवान्प्रब्रवीतु मे । यथा मे मनसः शांतिः परमा सम्भवेत्प्रभो २ श्रुत्वा पुत्रस्य तु वचः परमर्षिरुवाच तम् । अधीष्व पुत्र मोक्षं वै धर्मांश्च विविधानपि ॥ ३ ॥ पितुर्नियोगाज्जग्राह शुको धर्मभृतां वरः । योगशास्त्रं च निखिलं कापिलं चैव भारत ॥ ४ ॥ स तं

बाल्यावस्थामें ही देवता तथा ऋषियोंके ज्ञान और तपके कारण माननीय और संदेहको निवृत्त करनेवाले होगए थे ॥ २६ ॥ हे राजन् ! मोक्षधर्मको श्रेष्ठ माननेवाले उन शुककी बुद्धि गृह-स्थाश्रमसे उत्पन्न होनेवाले और तीनों आश्रमोंसे प्रसन्न नहीं होती थी ॥ २७ ॥ तीनसौ चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३२४॥

भीष्मजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! मोक्षका ही विचार करते २ उसका मार्ग जाननेके लिये शुक अपने पिताके पास गए, सर्वोत्तम श्रेय (मोक्ष) की इच्छावाले शुक विनयपूर्वक गुरु व्यासजीको प्रणाम करके बूझने कि-॥ १ ॥ हे भगवन् ! आप मोक्षधर्मको जाननेमें कुशल हैं, अतः हे भगवन् ! जिस प्रकार मेरे मनको परमशान्ति मिले तिस प्रकार मोक्षधर्मको मुझसे कहिये ॥ २ ॥ पुत्रके ऐसे वचन सुनकर परमर्षि व्यासजी बोले कि हे पुत्र ! तू मोक्षके धर्मका अध्ययन कर तैसे ही जीवनके अनेक प्रकारके धर्मोंका भी अध्ययन कर ॥३॥ पिताकी आज्ञासे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ शुकने हे भारत ! सम्पूर्ण योगशास्त्र तथा

श्राह्मया श्रिया युक्तं ब्रह्मतुल्यपराक्रमम् । मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम् ॥ ५ ॥ उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् । स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः ।६। पितुर्नियोगमादाय जगाम मिथिलां नृप । प्रष्टुं धर्मस्य निष्ठां वै मोक्षस्य च परायणम् ७उक्तश्च मानुषेण त्वं पथा गच्छेत्यविस्मितः। न प्रभावेण गंतव्यमतरिक्षचरेण वै ॥ ८ ॥ आर्जवेणैव गंतव्यं न सुखान्वेषिणा तथा । नान्वेष्टव्या विशेषास्तु विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ९ ॥ अहंकारो न कर्तव्यो याज्ये तस्मिन्नराधिपे । स्थातव्यं च वशे तस्य स ते छेत्स्यति संशयम् ॥१०॥ स धर्मकुशलो

कपिलके सांख्यशास्त्रका अध्ययन किया ॥ ४ ॥ जब व्यासजीने देखा कि-पुत्र ब्रह्मतेजवाला होगया है, ब्रह्माके समान पराक्रम वाला है तथा मोक्षधर्ममें कुशल होगया है ॥ ५ ॥ तब उन्होंने पुत्रसे कहा, कि-"तू मिथिलाके राजा जनकके पास जा, मिथिला का राजा तुझसे मोक्षसम्बन्धी सब साधन कहेगा" ॥ ६ ॥ हे राजन् ! पिताकी आज्ञा होनेसे धर्मकी सत्यता तथा मोक्षशास्त्र के साधनको जाननेके लिये शुक मिथिलाके राजासे मिलनेको चले ॥७॥ चलते समय व्यासजीने शुकसे कहा, कि-तू विस्मित हुए विना जिस मार्गसे साधारण मनुष्य जाते हैं उस मार्गसे मिथिलानगरीको जाना, परन्तु योगके प्रभावसे आकाशमार्गसे मिथिलामें न जाना (क्योंकि-इसप्रकार जिज्ञासुको जाना उचित नहीं है) ॥ ८ ॥ व्यासजीने और कहा, कि-तू सुखकी आशा से तहाँ न जाना, परन्तु सरलतासे जाना, तहाँ तू विषयों (मित्र और कलत्र) को न खोजना, क्योंकि- विषयरूप मित्र और कलत्र आसक्तिके कारणरूप हैं ६ मिथिलाका राजा उन राजाओंमें है जिनके यज्ञमें हम भाग लेसकते हैं, तू उसके साथ रह कर मैं श्रेष्ठ हूँ ऐसा अभिमान न करना, परन्तु उसकी आज्ञामें रहना,

राजा मोक्षशास्त्रविशारदः।याज्यो मम स यद्ब्रूयात्तत्कार्यमविशंकया ॥ ११ ॥ एवमुक्तः स धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः। पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथिवीं ससागराम् ॥१२॥ स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च। बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च ॥ १३ ॥ मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः। क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥ १४ ॥ स देशान्विविधान्पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान्। आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः १५ पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन्। अध्वानं सोऽतिचक्राम खचरः खे चरन्निव ॥ १६ ॥ पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च। रत्नानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति १७

वह तेरे संशयको काट देगा ॥१०॥ वह राजा सब धर्मोंमें कुशल है और मोक्षशास्त्रमें निपुण है और वह मेरा यजमान है, अतः वह तुझसे जो कुछ कहे, उसको तू निःशंक होकर करना ११ इसप्रकार उपदेश पाकर धर्मात्मा शुक,सागरसहित संपूर्ण पृथ्वी का आकाशमार्गसे उल्लंघन करनेमें समर्थ होने पर भी,पैदल ही मिथिला नगरीकी ओर चले ॥ १२ ॥ पर्वत, नदी, तीर्थ, सरोवर और हिंसक प्राणियोंसे व्याप्त वन, महावन, मेरुवर्ष और हरिवर्षका उल्लंघन करके तथा हिमवान्वर्षको लाँघकर भारतवर्षमें आये ॥ १३ ॥१४ ॥ वह महामुनि जहाँ चीन और हूण जातियें बसती थीं ऐसे देशोंको लाँघकर अन्तमें आर्यावर्तमें आये थे. १५ वह पिताके वचनको स्वीकार करके और उस ही बातका ध्यान करते २ आकाशमार्गमें उड़ते हुए पक्षीकी समान पैरोंसे पृथ्वीका उल्लंघन करते हुए चल रहे थे ॥ १६ ॥ उनके मार्गमें अनेक रमणीय परगने और नगर आये, तहाँ भाँति २के रत्नोंकी खाने भी पड़ीं, वे उनकी ओर दृष्टि पड़ने पर भी ध्यान नहीं देते थे ॥ १७ ॥ मार्गमें उन्होंने रमणीय बगीचे, प्रदेश और

उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च। पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ॥ १८ ॥ सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह। रक्षितान्धर्मराजेन जनकेन महात्मना ॥१९॥ तत्र ग्रामान्बहून्पश्यन्बह्वन्नरसभोजनान्। पल्लीघोषान्समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ॥ २० ॥ स्फीतांश्च शालियवसैर्हंससारससेवितान्। पद्मिनीभिश्च शतशः श्रीमतीभिरलंकृतान् ॥ २१ ॥ स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान्। मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ॥ २२ ॥ हस्त्यश्वरथसंकीर्णं नरनारीसमाकुलम्। पश्यन्नपश्यन्निव तत्समतिक्रामदच्युतः ॥ २३ ॥ मनसा तं वहन्भारं तमेवार्थं विचिंतयन्। आत्मारामः प्रसन्नात्मा मिथिलामाससाद ह२४ तस्या द्वारं समासाद्य निःशंकः प्रविवेश ह। तत्रापि द्वारपालास्त-

---

बहुतसे पवित्र तीर्थोंका अतिक्रमण किया ॥ १८ ॥ इसप्रकार चलते २ वह थोड़े ही समयमें धर्मराज महात्मा जनकसे रक्षित विदेह प्रान्तमें आपहुँचे ॥ १९ ॥ विदेह प्रान्तमें शुकने पुष्कल धान्य, रस तथा भोजनकी अधिकता वाले बहुतसे ग्राम देखे और गौओंके झुण्डोंसे भरे हुए भी बहुतसे ग्राम देखे ॥२०॥ सट्टीके चावल और जौंसे हरे भरे बहुतसे खेत देखे, तैसे ही हंस और सारसोंसे भरपूर तथा कमलोंसे सुशोभित बहुतसे सरोवर देखे ॥ २१ ॥ धनाढ्य मनुष्योंकी बस्ती वाले विदेह देशको लाँघकर शुक, मिथिला नगरीके समृद्धिवाले उपवनमें आ पहुँचे ॥ २२ ॥ आत्मस्वरूपमें रहनेवाले शुक हाथी, घोड़े, रथ तथा सहस्रों स्त्री पुरुषोंसे व्याप्त मिथिलाके उपवनको देखा अनदेखा करते हुए आगेको बढ़े ॥२३॥ और अपने मनमें जिस अर्थकी कामना थी उसका ही चिंतवन करते हुए तथा मनसे भी मोक्षके जाननेके भारको धारण करते हुए आत्मामें आनन्द पानेवाले शुक प्रसन्न मनसे मिथिला नगरीके पास पहुँच गए२४

सुग्रवाचा न्यषेधयन् ॥ २५ ॥ तथैव च शुकस्तत्र निर्मन्युः सम-तिष्ठत । न चातपाध्वसंतप्तः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ॥ २६ ॥ प्रता-म्यति ग्लायति वा नापैति च तथातपात् । तेषां तु द्वारपालाना-मेकः शोकसमन्वितः ॥ २७ ॥ मध्यंगतमिवादित्यं दृष्ट्वा शुकमव-स्थितम् । पूजयित्वा यथान्यायमभिवाद्य कृतांजलिः ॥२८॥ प्रावे-शयत्ततः कक्ष्यां द्वितीयां राजवेश्मनः । तत्रासीनः शुकस्तात मोक्ष-मेवान्वचिंतयत् ॥ २९ ॥ छायायामातपे चैव समदर्शी समद्युतिः । तं मुहूर्तादिवागम्य राज्ञो मन्त्री कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥ प्रावेशय-त्ततः कक्ष्यां तृतीयां राजवेश्मनः । तत्रान्तःपुरसंबद्धं महच्चैत्ररथो-पमम् ॥ ३१ ॥ सुविभक्तजलाक्रीडं रम्यं पुष्पितपादपम् । शुकं

नगरीके मुख्य द्वार पर आने पर भी द्वार पर खड़ेहुए द्वारपालोंने उनको भीतर जानेसे रोका,तब वह शान्तमनसे ध्यान करतेहुए तहाँ खड़े रहे और आज्ञा मिलने पर नगरमें उपस्थित हुए २५ समृद्धिमान् मनुष्योंसे भरेहुए मुख्य राजमार्गमें आगेको बढ़ते हुए वे राजभवनके सन्मुख पहुँचे और निःशंक चित्तसे भवनके भीतर घुसनेलगे ॥ २६ ॥ तहाँ भी द्वारपालोंने उग्रवचन कह कर उनको रोका, यह सुनकर शुक क्रोध न कर तहाँ ही खड़े रहे ॥२७॥ सूर्यकी धूप और लम्बी यात्राके परिश्रमसे वह जरा भी संतप्त नहीं हुए थे तैसे ही क्षुधा और प्याससे भी वह पीडित नहीं हुए थे, सूर्यके ताप से वे जरा भी नहीं कुम्हलाये थे,दुःखी और शोक युक्त भी नहीं हुए थे २८ ॥ (परन्तु उनको तहाँ ही खड़ा देखकर) उन द्वारपालोंमें एक द्वारपाल मध्यान्हके सूर्यकी समान शुकको खड़ा हुआ देखकर शोकातुर हुआ ॥२९॥ और उचित रीतिसे उनकी पूजाकर दोनों हाथ जोड़कर उनको प्रणाम किया और शुकको राजमहलकी पहिली ड्योढीमें प्रविष्ट किया हे तात ! शुक पहिली ड्योढीमें घुस तहाँ बैठे २ मोक्षका विचार

प्रावेशयन्मंत्री. प्रमदावनमुत्तमम् ॥ ३२ ॥ स तस्यासनमादिश्य निश्चक्राम ततः पुनः । तं चारुवेषाः सुश्रोण्यस्तरुण्यः प्रियदर्शनाः ॥ ३३ ॥ सूक्ष्मरक्ताम्बरधरास्तप्तकाञ्चनभूषणाः । संलापोल्लापकुशला नृत्यगीतविशारदाः ॥३४॥ स्मितपूर्वाभिभाषिण्यो रूपेणाप्सरसां समाः।कामोपचारकुशला भावज्ञाः सर्वकोविदाः ३५ परं पञ्चाशत नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन् । पाद्यादीनि प्रतिग्राह्य पूजया परयार्चयन् ॥ ३६ ॥ कालोपपन्नेन तदा स्वाद्वन्नेनाभ्यतर्पयन् । तस्य भुक्तवतस्तात तदन्तःपुरकाननम् ॥ ३७ ॥

करनेलगे, शुक समदृष्टि थे,अतः वह आया और धूपको एकसी समझते थे ॥३१॥ थोड़े समयमें राजाका मन्त्री दोनों हाथ जोड़े हुए उनके पास आया और शुकको राजमन्दिरकी दूसरी ड्योढी में लेगया ॥ ३२ ॥ तहाँसे एक बड़े भारी बगीचेमें जाना होता था, वह बगीचा अन्तःपुरसे सम्बन्ध रखता था और चैत्ररथके उपवनकी समान था वहां नियमित स्थलोंमें जलक्रीड़ा करनेके लिये अनेक जलाशय बनाये गए थे, मनको आनन्द देनेवाले पुष्पोंवाले वृक्ष उस बगीचेमें खिल रहे थे ॥ ३३ ॥ मन्त्री दूसरी ड्योंढीमेंसे शुकको इस स्थानमें ले आया और उनकी सेवामें उपस्थित की हुई रवरूपवती स्त्रियोंको उनको बैठनेके लिये आसन बतानेको कहकर तहाँसे चला गया ॥ ३४ ॥ उन सबका वेश सुन्दर था,नितम्ब स्थूल थे,ये अवस्थामें तरुण थीं,रूप सुन्दर था और वे लाल रंगकी पतली साड़ियें पहिर रही थी और तपेहुए सुवर्णके आभूषण पहिर रहीं थी३५वे बोलने और वार्ता करनेमें कुशल थीं, नृत्य और गायनकलामें चतुर थीं ये सब सुंदरियें स्मित करके भाषण करनेवालीं और अप्सराओंकी समान रूपवती थीं ३६ ये कामना करनेमें कुशल और सब विषयोंको जाननेवाली थीं, वाराङ्गनाओंमें मुख्य ये पचास स्त्रियें उनके चारों

सुरम्यं दर्शयामासुरेकैकत्वेन भारत । क्रीडन्त्यश्च हसंत्यश्च गायन्त्यश्चापि ताः शुभम् ॥३८॥ उदारसत्वं सत्वज्ञाः स्त्रियः पर्यचरंस्तथा । आरणेयस्तु शुद्धात्मा निःसन्देहः स्वकर्मकृत् ॥ ३९ ॥ वश्येंद्रियो जितक्रोधो न हृष्यति न कुप्यति । तस्मै शय्यासनं दिव्यं देवार्हं रत्नभूषितम् ॥ ४० ॥ स्पर्ध्यास्तरणसंकीर्णं ददुस्ताः परमस्त्रियः । पादशौचं तु कृत्वैव शुकः संध्यामुपास्य च ॥ ४१ ॥ निषसादासने पुण्ये तमेवार्थं विचिन्तयन् । पूर्वरात्रे तु तत्रासौ भूत्वा ध्यानपरायणः ॥ ४२ ॥ मध्यरात्रे यथान्यायं निद्रामाहारयत्प्रभुः । ततो मुहूर्तादुत्थाय कृत्वा शौचमनन्तरम् ॥४३॥ स्त्रीभिः

ओर खड़ी थीं३७और उन्होंने पैर धोनेके लिये जल देकर विधिविधानसे उनकी पूजा की, तदनन्तर उन अप्सराओंने ऋतुके अनुकूल स्वादिष्ट अन्न तयार कर मुनिको जिमाकर तृप्त किया ३८ शुक भोजन कर चुके, तब हे भारत ! उन स्त्रियोंने अन्तःपुरके मनोहर बगीचेके प्रत्येक स्थानको उनको क्रमशः दिखाया ॥३९॥ तदनन्तर सब मनुष्योंके सत्त्वको जाननेवाली उन स्त्रियोंने क्रीड़ा करते २ हँसते २ और गाते २ उदार सत्त्व वाले उन मुनिकी सेवा करना आरम्भ की ॥४०॥ शुद्ध अन्तःकरणवाले, सन्देहरहित हो अपना कर्म करनेवाले, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले और क्रोधको जीतनेवाले अरणीपुत्र शुक उन स्त्रियोंकी सेवासे हर्षित भी नहीं हुए और उन पर क्रुद्ध भी नहीं हुए ॥ ४१ ॥ तदनन्तर उन स्त्रियोंने शुकको सोनेके लिये दिव्य पलङ्ग दिया यह पलंग देवताओंके सोने योग्य था, रत्नोंसे मढ़ा हुआ था, उस पर स्पर्धा करने योग्य गद्दे बिछे हुए थे ॥ ४२ ॥ शुकने अपने हाथ पैर धोकर संध्यावन्दन किया, फिर वह दिव्य आसन पर बैठे और वह जिस कारण मिथिलामें आये थे, उसका विचार करने लगे ॥४३॥ रात्रिके प्रथम प्रहरमें वह ध्यानपरायण होकर

परिवृतो धीमान्ध्यानमेवान्वपद्यत ॥४४॥ अनेन विधिना कार्ष्णि-स्तदहः शेषमच्युत । तां च रात्रिं नृपकुले वर्तयामास भारत ४५

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२५ ॥

भीष्म उवाच । ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत । पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च ॥ १ ॥ आसनं च पुरस्कृत्य रत्नानि विविधानि च । शिरसा चार्घमादाय गुरुपुत्रं समभ्यगात् ॥ २ ॥ स तदासनमादाय बहुरत्नविभूषितम् । स्पर्ध्यास्तरणसंस्तीर्णं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ ३ ॥ पुरोधसा संगृहीतं हस्तेनालभ्य पार्थिवः । प्रददौ गुरुपुत्राय शुकाय परमार्चितम् ॥ ४ ॥ तत्रोपविष्टं तं कार्ष्णिं शास्त्रतः प्रत्यपूजयत् । पाद्यं

मोक्षका ही विचार करने लगे, फिर मध्य रात्रिके समय समर्थ शुक योगमें कही हुई रीतिसे निद्रा लेने लगे ॥ ४४ ॥ और ब्राह्ममुहूर्त्त हुआ कि–वे स्नान आदि कर पवित्र हुए और स्त्रियोंसे घिरे हुए होने पर भी बुद्धिमान् शुक ध्यानमें मग्न होगए ४५ हे भारत ! अपने स्वरूपमें रहनेवाले कृष्णद्वैपायनके पुत्र शुकने इसप्रकार मिथिलाधिपतिके राजभवनमें दिन और रात्रि बिताई थी ॥ ४६ ॥ तीनसौ पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२५ ॥

भीष्मजीने कहा, कि–हे भारत ! दूसरे दिन प्रातःकालको राजा जनक अपने अन्तःपुरकी सकल स्त्रियों और पुरोहितको आगे करके मन्त्रियोंको साथमें ले शुकके पास आया ॥ १ ॥ दिव्य आसन,नानाप्रकारके रत्न और अर्घको अपने मस्तक पर रखकर वह गुरु पुत्रके पास गया स्पर्धा करनेयोग्य उत्तम बिछौने से सजा हुआ बहुमूल्य सर्वतोभद्र नामक एक आसन पुरोहित ने लाकर उनके सामने रक्खा तब राजाने पुरोहितसे वह आसन लेकर गुरुपुत्र शुकको बैठनेके लिये दिया ॥३–४॥ कृष्णद्वैपायन

निवेद्य प्रथममर्घं गां च न्यवेदयत् ॥ ५ ॥ स च तां मन्त्रवत्पूजां प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि । प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकाद् द्विजसत्तमः ॥ ६ ॥ गां चैव समनुज्ञाय राजानमनुमान्य च । पर्यपृच्छन्महातेजा राज्ञः कुशलमव्ययम् ॥ ७ ॥ अनामयं च राजेन्द्र शुकः सानुचरस्य ह । अनुशिष्टस्तु तेनासौ निषसाद सहानुगः ॥ ८ ॥ उदारसत्त्वाभिजनो भूमौ राजा कृतांजलिः । कुशलं चाव्ययं चैव पृष्ट्वा वैयासकिं नृपः । किमागमनमित्येवं पर्यपृच्छत पार्थिवः ॥ ९ ॥ शुक उवाच । पित्राहमुक्तो भद्रं ते मोक्षधर्मार्थकोविदः । विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः ॥१०॥ तत्र गच्छस्व वै तूर्णं यदि ते हृदि संशयः । प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा स ते च्छेत्स्यति संशयम् ११

के पुत्र शुक उस आसन पर बैठे तब राजाने शास्त्रानुसार उनकी पूजा की पहिले शुकको पाद्य दिया फिर अर्घ दिया और मधुपर्कमें उनको एक गौ दी ॥ ५ ॥ द्विजोत्तम शुकने वेदमन्त्रोंसे विधिपूर्वक की हुई पूजाको स्वीकृत किया, फिर राजा जनकसे पूजाको स्वीकार करनेके अनन्तर उसकी गौको स्वीकृत कर राजाका सन्मान किया ॥६॥ महातेजस्वी शुकने फिर राजाका कुशलसमाचार बूझा ॥ ७ ॥ हे राजेन्द्र ! फिर राजासे उसके सेवक आदिका आरोग्य बूझा, फिर शुकको बैठनेकी आज्ञा देने पर राजा अपने मंत्री आदिके साथ बैठ गया ॥ ८ ॥ उदार मन वाले उत्तम कुलके उस राजाने दोनों हाथ जोड़ कर व्यासपुत्र शुकसे भी कुशलसमाचार तथा आरोग्य बूझा, फिर पृथ्वी पर बैठे २ उनसे बूझा, कि आप किस कारण यहाँ पधारे हैं ॥९॥ शुकने कहा, कि–तेरा कल्याण हो ! मेरे पिताने मुझसे कहा था, कि-मेरे यजमान जनक नाम वाले-प्रसिद्ध राजाको मोक्षका अच्छा ज्ञान है ॥ १० ॥ यदि तेरे हृदयमें संशय हो तो तू उसके पास शीघ्र ही जा, वह तेरे प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिविषयक सन्देह

सोऽहं पितुर्नियोगात्त्वामुपप्रष्टुमिहागतः । तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ यथावद्वक्तुमर्हसि ॥१२॥ किं कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किमात्मकः। कथं च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन तपसाथ वा ॥१३॥ जनक उवाच। यं कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु । कृतोपनयनस्तात भवेद्वेदपरायणः ॥ १४ ॥ तपसा गुरुवृत्त्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो । देवतानां पितृणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः ॥ १५ ॥ वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च । अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः ॥ १६ ॥ समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत् । अनसूयुर्यथा न्यायमाहिताग्निस्तथैव च ॥ १७ ॥ उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु

को तुरत ही दूर कर देगा ॥ ११ ॥ अतः मैं अपने पिताकी आज्ञासे आपसे ज्ञान पानेके लिये आया हूँ, हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! आप मेरे (प्रश्नोंका) यथार्थरीतिसे समाधान करिये १२ ब्राह्मणको इस लोकमें क्या करना चाहिये, मोक्षके हेतुका स्वरूप क्या है और मोक्ष तपसे मिल सकता है अथवा ज्ञानसे ? ॥१३॥ जनकने कहा, कि-ब्राह्मणको जन्मसे लेकर जो २ काम करने चाहियें उनको तू सुन हे तात ! ब्राह्मण यज्ञोपवीत होजाने पर वेद पढ़े ॥ १४ ॥ और हे तेजस्वी शुक ! तप गुरुकी सेवा तथा ब्रह्मचर्य पालता हुआ वेदाभ्यास करे इन्द्रियोंको वशमें कर वेद पढ़नेके अनन्तर गुरुदक्षिणा दे गुरुसे आज्ञा ले पिताके घर आवे फिर (यज्ञ आदि कर) देवताओंके ऋणसे और (पुत्र उत्पन्न करके) पितरोंके ऋणसे छूटे और किसीसे ईर्षा न करे १५-१६ समावर्तन-संस्कार करनेके पीछे विवाह करके अपनी स्त्रीमें ही रत रहता हुआ गृहस्थाश्रमका पालन करे, किसीसे ईर्षा न करता हुआ न्यायानुसार वर्ताव कर अग्निमें होम (अग्निहोत्र) करे ॥ १७ ॥ फिर पुत्र पौत्रोंको उत्पन्न कर वानप्रस्थ आश्रम का सेवन करे और वानप्रस्थ आश्रममें भी गृहस्थाश्रमके अग्निमें

बन्याश्रमपदे वसेत् । तानेवाग्नीन्यथाशास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः १८ स वनेऽग्नीन्यथान्यायमात्मन्यारोप्य धर्मवित् । निर्द्वंद्वो वीतरागात्मा ब्रह्माश्रमपदे वसेत् ॥ १९ ॥ शुक उवाच । उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वंद्वे हृदि शाश्वते । किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत्त्रिषु २० एतद्भवंतं पृच्छामि तद्भवान्वक्तुमर्हति । यथा वेदार्थतत्त्वेन ब्रूहि मे त्वं जनाधिप ॥२१॥ जनक उवाच । न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् । न विना गुरुसंबन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः२२ गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते । विज्ञाय कृतकृत्यस्तु

ही शास्त्रानुसार होम करे, अतिथियों पर प्रेम रक्खे ॥ १८ ॥ फिर धर्मज्ञ पुरुष वनमें शास्त्रानुसार अग्निहोत्रकी अग्नियोंका अपनी आत्मामें आरोपण करे, निर्द्वन्द्व होजावे, वीतराग होजाय इस प्रकार ब्रह्माश्रमपद (संन्यासाश्रम) धारण करे ॥ १९ ॥ शुकने बूझा, कि -यदि किसी पुरुषको ज्ञान (शास्त्राध्ययनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान) तथा विज्ञान (अनुभवसे हुआ ज्ञान) होगया हो और उसके हृदयमेंसे सुख दुःख आदि द्वन्द्व भी जाते रहे हों, तब भी क्या उसको ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमोंको पालना ही चाहिये (अर्थात् आपके कथन और "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्द गृहाद्वावनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्-जब वैराग्य होजाय उसी दिन ब्रह्मचर्याश्रमसे, गृहस्थाश्रमसे अथवा वानप्रस्थ आश्रमसे ही संन्यास लेलेय" इस श्रुतिमें विरोध पड़ता है) २० हे जनाधिप ! यह बात मैं आपसे बूझना चाहता हूँ, सो आप मुझसे कहिये, आप वेदार्थका विचार कर मुझे उत्तर दीजिये २१ जनकने कहा, कि ज्ञान और विज्ञानके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होसकती और गुरुके साथ सम्बन्ध किये विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥ इस संसारमें गुरु पार उतारने वाले हैं और ज्ञान नौका कहलाती है, मनुष्य जब गुरु और ज्ञानसे कृत-

तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥ २३ ॥ अनुच्छेदाय लोकानामनुच्छेदाय कर्मणाम् । पूर्वैराचरितो धर्मश्चातुराश्रम्यसंकटः ॥ २४ ॥ अनेन क्रमयोगेन बहुजातिषु कर्मणाम् । हित्वा शुभाशुभं कर्म मोक्षो नामेह लभ्यते ॥ २५ ॥ भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥ २६ ॥ तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः । त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत्परम-मभीप्सतः ॥२७॥ राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान्विवर्जयेत् । सात्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना ॥ २८ ॥ सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । संपश्यन्नोपलिप्येत जले वारि-

कृत्य होजाता है, तब इन दोनोंको-(नदीके पार पहुँचा हुआ मनुष्य जैसे नौका और मल्लाहको त्याग देता है तैसे) त्याग दे २३ (वामदेवकी समान ब्रह्मचर्यसे पहिले ज्ञान होजाय तब भी) सब लोकोंकी (अव्यवस्थासे होने वाली) गड़बड़ीको रोकनेके लिये तथा कर्मोंका उच्छेद न हो इस लिये पहिले विद्वान् चारों आश्रमोंके धर्मोंका पालन करते थे ॥ २४ ॥ इस प्रकार अनेक धर्मका पालन करे, ऐसा करते २ शुभाशुभ कर्मका त्याग होकर परिणाममें मोक्ष होजाता है ॥ २५ ॥ अनेक जन्मोंमें (कर्म करते २ बुद्धि आदिसे) इन्द्रियें शुद्ध होजाती हैं, तब शुद्धान्तः-करण वाला मनुष्य पहिले आश्रममें ही मोक्षको प्राप्त होजाता है ॥२६॥ इस प्रकार चित्तशुद्धि होने पर मुक्त हुए सब पदार्थों को देखने वाले परब्रह्मको पाना चाहने वाले विद्वान् पुरुषको तीनों आश्रमोंकी विशेष आवश्यकता नहीं है ॥२७॥ ऐसा पुरुष सदा राजस और तामस दोषोंको त्याग कर सत्त्वगुणी मार्गको ग्रहण कर आत्मासे अपने आत्माके स्वरूपको देखे ॥ २८ ॥ जो पुरुष सब प्राणियोंमें अपने आत्माका दर्शन करता है और अपने आत्मामें सब प्राणियोंका दर्शन करता है, वह पुरुष जलमें फिर

रो यथा ॥ २९ ॥ पक्षिवत्प्लवणादूर्ध्वममुत्रानंत्यमश्नुते । विहाय हान्निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वः प्रशमं गतः ॥ ३० ॥ अत्र गाथाः पुरा तीताः शृणु राज्ञा ययातिना । धार्यन्ते या द्विजैस्तात मोक्षशास्त्र-शारदैः ॥ ३१ ॥ ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत्स-म् । स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥३२॥ न बिभेति रो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः । यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म पद्यते तदा ॥ ३३ ॥ यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् । र्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३४॥ संयोज्य मनसा-ानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहिनीम् । त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा

कर भी जलसे लिप्त न होने वाले जलचरकी समान पुण्य पाप से लिप्त नहीं होता है ॥ २९ ॥ (जैसे भूचरको एक पर्वत परसे दूसरे पर्वत पर चढ़ना होता है तो वह पर्वत परसे धीरे २ उतर कर फिर दूसरे पर्वत पर धीरे २ चढ़ता है, इस प्रकार मुक्तको नहीं करना पड़ता है, परन्तु वह तो) पक्षी जैसे एक पर्वत परसे दूसरे पर्वत (नीचे उतरे बिना) उड़ कर पहुँच जाता है, तैसे ही शान्तिको प्राप्त हुआ निर्द्वन्द्व पुरुष अपने देहको त्याग कर अनन्त मोक्षको पाता है ॥ ३० ॥ इस विषयमें राजा ययातिने पहिले गाथाएँ गाई थीं उनको मोक्षाभिलाषियोंने कण्ठ कर रक्खा है उनको तू सुन ॥ ३१ ॥ अपनी आत्मामें जो ज्योति है, वह और कहीं नहीं है, वह सब प्राणियोंमें समानभावसे रहती है, योगारूढ़ चित्त वाला पुरुष उसको स्वयं देख सकता है ३२ जिससे दूसरा भयभीत नहीं होता है और जो दूसरेसे भयभीत नहीं होता है और जो इच्छा तथा द्वेष नहीं करता है वह ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥ जब मन, वाणी और कर्मसे किसीका अशुभ नहीं करता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ जब मोहमें डालने वाली ईर्षाको त्याग कर मनको आत्मामें लगा

ब्रह्मत्वमश्नुते ॥ ३५ ॥ यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम् । समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३६॥ यदा स्तुतिं च निंदां च समत्वेनैव पश्यति । कांचनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥ ३७ ॥ शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् । जीवितं मरणं चैव ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३८ ॥ प्रसार्येह यथांगानि कूर्मः संहरते पुनः । तथेन्द्रियाणि मनसा संयंतव्यानि भिक्षुणा ३९ तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते । तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥ ४० ॥ एतत्सर्वं च पश्यामि त्वयि बुद्धिमतां वर । यच्चान्यदपि वेत्तव्यं तत्त्वतो वेद तद्भवान् ॥ ४१ ॥

देता है और काम तथा मोहको त्याग देता है, तब मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ॥ ३५ ॥ पुरुष जब श्रवण करने योग्य विषयोंमें, देखने योग्य विषयोंमें (ऐसे ही अन्य इन्द्रियोंके उपभोग्य विषयोंमें) तथा सब प्राणियों पर समदृष्टि रखता है और सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंके प्रभावसे रहित होता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥३६॥ पुरुष जब निन्दा और स्तुतिको समान समझता है, सुवर्ण और लोहेको एकसा समझता है, सुख और दुःखको भी समान समझता है ॥ ३७ ॥ गरमी, सरदी, अर्थ अनर्थ, और प्रिय अप्रिय तथा जीवन और मरणको भी समान समझता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥३८॥ जैसे कछुआ अपने अंगोंको फैला कर फिर सकोड़ लेता है, तैसे ही संन्यासी अपने मन तथा इन्द्रियोंको अपने वशमें करले ॥ ३९ ॥ अंधेरे से व्याप्त घर जैसे दीपकसे दीखता है, ऐसे ही बुद्धिरूपी दीपक से (अज्ञानसे व्याप्त) आत्मा देखा जासकता है ॥४०॥ हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! (मैंने जो यह सब बातें कहीं) ये सब मैं आप में देखता हूँ तथा दूसरी जानने योग्य बातोंको भी आप जानते हैं ॥ ४१ ॥ हे ब्रह्मर्षे ! गुरुकी कृपासे, तुम्हें जो उपदेश मिला

ब्रह्मर्षे विदितश्चासि विषयांतमुपागतः । गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया ॥ ४२ ॥ तस्यैव च प्रसादेन प्रादुर्भूतं महामुने । ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनासि विदितो मम ॥ ४३ ॥ अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव । अधिकं तव चैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ ४४ ॥ बाल्याद्वा संशयाद्वापि भयाद्वाप्यविमोक्षजात् । उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ॥४५॥ व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः । विमुच्य हृदयग्रंथीनासादयति तां गतिम् ॥ ४६ ॥ भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम् ॥४७॥ नास्ति ते सुखदुःखेषु विशेषो नासि लोलुपः । नौत्सुक्यं नृत्यगीतेषु न राग उपजायते ॥ ४८ ॥ न बन्धुष्वनुबन्धस्ते न भयेष्वस्ति ते भयम् ।

है उससे तुमने विषयोंका अतिक्रमण कर लिया है, यह मैं समझता हूँ ॥ ४२ ॥ हे महामुने ! आपके पिताके प्रसादसे मुझे भी दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ है, इससे मैं भी आपको पहिचान सका हूँ ॥ ४३ ॥ आप अपने विज्ञानको जितना समझते हैं, आपका विज्ञान उससे अधिक है, आपकी गति और ऐश्वर्य भी आप अपनेमें जितनी समझते हैं उससे अधिक है ॥ ४४ ॥ बालकपनसे, संशयसे अथवा मोक्ष न मिलनेके सन्देहके कारण विज्ञान प्राप्त होने पर भी मनुष्य मोक्षको नहीं पासकता ॥४५॥ परन्तु शुद्ध उद्यम करके मुझ सरीखे पुरुषके संदेह दूर करने पर हृदयकी गाँठ कट जाने पर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ ४६ ॥ तुम को विज्ञान प्राप्त होगया है, तुम्हारी बुद्धि स्थिर है, और तुम लोभी भी नहीं हो, परन्तु हे ब्रह्मन् ! उद्योग किये विना मोक्ष नहीं मिलता है ॥ ४७ ॥ तुम सुख अथवा दुःखमें भेदभाव नहीं रखते हो, लोभी नहीं हो, नृत्य तथा गीतमें तुमको उत्कण्ठा नहीं है, तुम्हारी किसी वस्तु पर प्रीति नहीं है ॥ ४८ ॥ तुम्हारी

पश्यामि त्वां महाभाग तुल्यलोष्ठाश्मकांचनम् ॥४६॥ अहं त्वा-मनुपश्यामि ये चाप्यन्ये मनीषिणः। आस्थितं परमं मार्गमक्षयं तमनामयम् ॥ ५० ॥ यत्फलं ब्राह्मणस्येह मोक्षार्थश्च यदात्मकः। तस्मिन्वै वर्तसे ब्रह्मन्किमन्यत्परिपृच्छसि ॥५१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२६ ॥

भीष्म उवाच। एतच्छ्रुत्वा तु वचनं कृतात्मा कृतनिश्चयः। आत्मनात्मानमास्थाय दृष्ट्वा चात्मानमात्मना ॥ १ ॥ कृतकार्यः सुखी शांतस्तूष्णीं प्रायादुदङ्मुखः। शैशिरं गिरिमुद्दिश्य सधर्मा मातरिश्वनः ॥ २ ॥ एतस्मिन्नेव काले तु देवर्षिर्नारदस्तथा। हिमवन्तमियाद्द्रष्टुं सिद्धचारणसेवितम् ॥ ३ ॥ तमप्सरोगणा-

भाइयों पर प्रीति नहीं है, तुमको भयदायक पदार्थोंसे भय नहीं है, हे महाभाग्यवान् मुने! तुम पत्थर और सुवर्णको एकसा समझते हो, मैं तुमको इस प्रकारका देखता हूँ ॥ ४६ ॥ मैं तथा दूसरे बुद्धिमान् पुरुष भी तुमको अक्षय, अनामय मोक्षमार्गमें स्थिति करके रहता हुआ देखते हैं ॥ ५० ॥ हे ब्राह्मण! इस जगत्में ब्राह्मणपनेका जो फल है और जो मोक्षका स्वरूप है, उस स्वरूपमें आप वर्ताव कर रहे हैं और आप क्या बूझना चाहते हैं ॥५१॥ तीनसौ छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२६ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-जनककी इस बातको सुन कर आत्मज्ञानी शुकने मोक्ष पानेका निश्चय किया और स्वयं आत्मामें स्थिति कर अपने आत्माका दर्शन किया ॥ १ ॥ उनको अपना काम सिद्ध होनेसे स्वयं सुख मिला और शान्ति मिली, तदनन्तर शुक उत्तर दिशाकी ओर मुख करके वायुकी समान वेगसे हिमालयकी ओर जाने लगे ॥ २ ॥ इस समय देवर्षि नारद भी सिद्ध और चरणोंसे सेवित, हिमालयका दर्शन करनेके लिये

कीर्णं शान्तस्वननिनादितम् । किन्नराणां सहस्रैश्च भृङ्गराजै-स्तथैव च ॥४॥ मद्गुभिः खंजरीटैश्च विचित्रैर्जीवजीवकैः ॥५॥ चित्रवर्णैर्मयूरैश्च केकाशतविराजितैः । राजहंससमूहैश्च कृष्णैः परभृतैस्तथा ॥ ६ ॥ पक्षिराजो गरुत्मांश्च यं नित्यमधितिष्ठति । चत्वारो लोकपालाश्च देवाः सर्षिगणास्तथा ॥ ७ ॥ तत्र नित्यं समायान्ति लोकस्य हितकाम्यया । विष्णुना यत्र पुत्रार्थे तपस्तप्तं महात्मना ॥ ८ ॥ तत्रैव च कुमारेण बाल्ये क्षिप्ता दिवौकसः । शक्तिर्न्यस्ता क्षितितले त्रैलोक्यमवमन्य वै ॥९॥ तत्रोवाच जग-त्स्कन्दः क्षिपन्वाक्यमिदं तदा । योऽन्योस्ति मत्तोऽभ्यधिको विप्रा यस्याधिकं प्रियाः ॥१०॥ यो ब्रह्मण्यो द्वितीयोऽस्ति त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् । सोभ्युद्धरत्विमां शक्तिमथवा कंपयत्विति ॥ ११ ॥

तहाँ आये ॥३॥ वह हिमालय पर्वत अप्सराओंसे भर रहा था, शान्तध्वनिसे भर पूर था सहस्रों किन्नर, सहस्रों भृंगराज ॥४॥ मद्गु, और खञ्जरीट तथा जीवजीवक नामक (दिव्य) पक्षी ५ अनेक वर्णके, मधुर स्वरसे गायन करने वाले मयूर, राजहंस और काली कोयल आदिसे वह शोभायमान था ॥ ६ ॥ तहाँ पक्षिराज गरुड़ सदा रहते हैं और चारों लोकपाल, देवता तथा ऋषि ॥ ७ ॥ भी लोकोंका हित करनेकी इच्छासे तहाँ नित्य आते हैं और महात्मा विष्णुने भी पहिले उस पर्वत पर पुत्र के लिये तप किया था ॥ ८ ॥ और उसी पर्वत पर स्वामिकार्ति-केयने बाल्यावस्थामें देवताओंका और तीनों लोकोंका अपमान करके पृथ्वी पर अपनी शक्ति छोड़ी थी ॥ ९ ॥ फिर स्वामि कार्तिकेयने जगत्का अपमान करके इस प्रकार वाक्य कहा था, कि–"जो मुझसे अधिक हो, अथवा जिसको ब्राह्मण अधिक प्रिय हों ॥ १० ॥ अथवा जो मेरी समान ब्रह्मचर्य पालता हो अथवा तीनों लोकोंमें पराक्रमी हो वह मेरी इस शक्तिको उचकावे

तच्छ्रुत्वा व्यथिता लोकाः क इमामुद्धरेदिति । अथ देवगणं सर्वं संभ्रान्तेन्द्रियमानसम् ॥१२॥ अपश्यद्भगवान्विष्णुः क्षिप्तं सासुर-राक्षसम् । किं त्वत्र सुकृतं कार्यं भवेदिति विचिन्तयन् ॥ १३ ॥ अनामृष्यः ततः क्षेपमवैक्षत च पावकिम् । संप्रगृह्य विशुद्धात्मा शक्तिं प्रज्वलितां तदा ॥ १४ ॥ कंपयामास सव्येन पाणिना पुरुषोत्तमः । शक्त्यां तु कंप्यमानायां विष्णुना बलिना तदा १५ मेदिनी कंपिता सर्वा सशैलवनकानना।शक्तेनापि समुद्धर्तुं कंपिता साभवत्तदा ॥१६॥ रक्षिता स्कन्दराजस्य धर्षणा प्रभविष्णुना । तां कम्पयित्वा भगवान्प्रह्लादमिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥ पश्य वीर्यं कुमारस्य नैतदन्यः करिष्यति । सोऽमृष्यमाणस्तद्वाक्यं समुद्धर-

अथवा घुमावे"११॥यह सुन कर मनुष्य व्यथित होने लगे और यह विचारने लगे, कि—इस शक्तिको कौन उठावेगा, स्वामि कार्तिकेयकी बात सुन कर सब देवताओंकी इन्द्रियें और मन मोहमें पड़ गए॥ १२ ॥ भगवान् विष्णुने भी देखा, कि—इसने असुर तथा राक्षसोंके चित्तको चक्करमें डाल दिया है, अतः यहाँ कौनसा सदुपाय करना चाहिये ॥१३॥ विशुद्धात्मा भगवान् स्वामि कार्तिकेयके तिरस्कारको न सह सकनेके कारण अग्नि-स्वरूप देवपुत्र स्कन्दकी ओर दृष्टि कर उस तेजस्वी शक्तिको१४ दाहिने हाथसे उठा कर घुमाने लगे ॥ १५ ॥ उस समय पर्वत और वन तथा महावनसहित सारी पृथ्वी काँपने लगी उस समय पृथ्वीको उठाने भी समर्थ विष्णुने पृथ्वीको कम्पित ही किया ॥१६॥ और स्वामि कार्तिकेयके तिरस्कारसे अपनी रक्षा की थी, भगवान्ने कार्तिकेयकी शक्तिको घुमा कर इस प्रकार प्रह्लादसे कहा, कि—॥ १७ ॥ "कुमारके पराक्रमको देखो, कोई दूसरा ऐसा पराक्रम नहीं करसकता" प्रह्लादसे भगवान्की बात सही नहीं गई और वह शक्तिको उठानेका विचार करने

रणनिश्चितः ॥ १८ ॥ जग्राह तां तदा शक्तिं न चैनां स व्यकम्पयत् । नादं महान्तं मुक्त्वा स मूर्छितो गिरिमूर्धनि ॥ १९ ॥ विह्वलः प्रापतद्भूमौ हिरण्यकशिपोः सुतः । तत्रोत्तरां दिशं गत्वा शैलराजस्य पार्श्वतः ॥ २० ॥ तपोऽतप्यत दुर्धर्षं तात नित्यं वृषध्वजः । पावकेन परिक्षिप्तं दीप्यता यस्य चाश्रमम् ॥ २१ ॥ आदित्यपर्वतं नाम दुर्धर्षमकृतात्मभिः । न तत्र शक्यते गन्तुं यक्षराक्षसदानवैः ॥ २२ ॥ दशयोजनविस्तारमग्निज्वालासमावृतम् । भगवान्पावकस्तत्र स्वयं तिष्ठति वीर्यवान् ॥२३॥ सर्वान् विघ्नान्प्रशमयन्महादेवस्य धीमतः । दिव्यं वर्षसहस्रं हि पादेनैकेन तिष्ठतः ॥ २४ ॥ देवान्संतापयंस्तत्र महादेवो महाव्रतः । ऐन्द्रीं तु दिशमास्थाय शैलराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥ विविक्ते पर्वततटे

लगा ॥ १८ ॥ हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रह्लादने वह शक्ति उठा तो ली, परन्तु वह उसको घुमा नहीं सका और बड़ी भारी गर्जना कर मूर्छित हो, पर्वतकी समान भूमि पर गिर पड़ा ॥ १९ ॥ हे तात ! जहाँ हिरण्यकशिपुका पुत्र विह्वल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा था ऐसे हिमालय पर्वतकी उत्तर दिशाके एक पर्वत पर २० हे तात ! वृषभध्वज शंकर सदा दुराधर्ष तपको करते हैं, और अग्नि प्रदीप्त होकर उनके आश्रमके चारों ओर प्रज्वलित होता रहता है ॥ २१ ॥ इस पर्वतको आदित्यपर्वत कहते हैं, अज्ञानी पुरुष उस पर्वतके पास नहीं जासकते, तैसे ही यक्ष, राक्षस और दानव भी उस पर्वत पर नहीं जासकते ॥२२॥ इस पर्वतके समीप में दश योजनके विस्तारमें वीर्यवान् अग्नि स्वयं अपनी ज्वालाओं को फैला रहे हैं ॥ २३ ॥ तहाँ बुद्धिमान् महादेवजीने एक सहस्र दिव्य वर्षों तक एक पैरसे खड़े होकर तप किया था, उस समय अग्निने तहाँके सब विघ्नोंको शांत रक्खा था ॥ २४ ॥ महाव्रतधारी महादेवजीने देवताओंको संतप्त किया था, ऐसे बुद्धिमान्

पाराशर्यो महातपाः । वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान्महातपाः ॥ २६ ॥ सुमन्तुं च महाभागं वैशंपायनमेव च । जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम् ॥ २७ ॥ यत्र शिष्यैः परिवृतो व्यास आस्ते महातपाः । तत्राश्रमपदं रम्यं ददर्श पितुरुत्तमम् ॥ २८ ॥ आरणेयो विशुद्धात्मा नभसीव दिवाकरः । अथ व्यासः परिक्षिप्तं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २९ ॥ ददर्श सुतमायान्तं दिवाकरसमप्रभम् । असज्जमानं वृक्षेषु शैलेषु विषयेषु च । योगयुक्तं महात्मानं यथा बाणं गुणाच्च्युतम् ॥ ३० ॥ सोऽभिगम्य पितुः पादावगृह्णादरणीसुतः । यथोपजोषं तैश्चापि समागच्छन्महामुनिः ॥३१॥ ततो निवेदयामास पित्रे सर्वमशेषतः । शुको जनकराजेन संवादे प्रीतमानसः ॥ ३२ ॥ एवमध्यापयन्शिष्यान्

पर्वतराज हिमाचलकी पूर्व दिशामें ॥ २५ ॥ एक निर्जन पर्वत तट पर महातपस्वी पराशरके पुत्र व्यासजीने अपने शिष्य महाभाग्यशाली सुमन्तुको, महाभाग्यशाली वैशम्पायनको, महाबुद्धिमान् जैमिनिको और तपस्वी पैलको वेद पढ़ाये थे ॥२६–२७॥ अपने महातपस्वी पिता शिष्योंसे घिरे हुए जहाँ बैठे थे उस रमणीय आश्रमको शुकने देखा ॥ २८ ॥ विशुद्धात्मा अरणियों में उत्पन्न हुए शुक आकाशमें दिपते हुए सूर्यकी समान दिप रहे थे, व्यासजीने भी चारों ओर व्याप्त प्रज्वलित अग्नि और सूर्यकी समान कान्ति वाले अपने पुत्रको आते हुए देखा, जैसे धनुषमेंसे छूटा हुआ बाण वेगसे आता है तैसे ही योगी और महात्मा शुक भी वृक्षोंमें, पर्वतोंमें तथा प्रदेशोंमें अटके बिना आरहे थे ॥ २९–३० ॥ अरणीपुत्र शुकने पिताके पास जा उनके दोनों चरण पकड़े तथा उनके शिष्योंसे भी वह महामुनि उचित रीतिसे मिले ॥ ३१ ॥ तदनन्तर शुकने राजा जनकके साथ जो संवाद हुआ था, वह सब आदिसे अन्त तक प्रसन्न

व्यासः पुत्रं च वीर्यवान् ।। उवास हिमवत्पृष्ठे पाराशर्यो महामुनिः ।। ३३ ।। ततः कदाचिच्छिष्यास्तं परिवार्यावतस्थिरे । वेदाध्ययनसंपन्नाः शांतात्मानो जितेन्द्रियाः ।।३४।। वेदेषु निष्ठां संप्राप्य सांगेष्वपि तपस्विनः । अथोचुस्ते तदा व्यासं शिष्याः प्रांजलयो गुरुम् ।। ३५ ।। शिष्या ऊचुः । महता तेजसा युक्ता यशसा चापि वर्धिताः । एकं त्विदानीमिच्छामो गुरुणानुग्रहं कृतम् ।। ३६ ।। इति तेषां वचः श्रुत्वा ब्रह्मर्षिस्तानुवाच ह । उच्यतामिति तद्वत्सा यद्वः कार्यं प्रियं मया ।। ३७ ।। एतद्वाक्यं गुरोः श्रुत्वा शिष्यास्ते हृष्टमानसाः । पुनः प्रांजलयो भूत्वा प्रणम्य शिरसा गुरुम् ।।३८।। ऊचुस्ते सहिता राजन्निदं वचनमुत्तमम् । यदि प्रीत उपाध्यायो धन्याः स्मो मुनिसत्तम ।। ३९ ।। कांक्षा-

---

मनसे पिताको सुनाया ।। ३२ ।। फिर वीर्यवान् महामुनि पराशरके पुत्र व्यासजी अपने शिष्योंको और पुत्रको वेद पढातेहुए हिमाचल पर रहनेलगे ।। ३३ ।। वेदका अध्ययन करनेवाले, शान्तात्मा जितेन्द्रिय और अंगों सहित वेदोंमें पारंगत वे शिष्य एक समय उनको घेरकर बैठे हुए थे उन्होंने हाथ जोड़कर गुरु व्यासजीसे प्रश्न किया, ।। ३५ ।। शिष्योंने बूझा कि-हे गुरो ! आपने हमको महातेजस्वी करदिया है और हमारे यशको भी बढाया है,परन्तु अब हम आपसे एक अनुग्रह पाना चाहते हैं ३६ शिष्योंकी बात सुनकर ब्रह्मर्षिने उनसे कहा, कि-हे वत्सो ! मैं तुम्हारा जो प्रिय कार्य करसकता होऊँ, उसको तुम कहो।।३७। गुरुका वचन सुनकर शिष्य मनमें परमप्रसन्न हुए फिर दोनों हाथ जोड़ मस्तक नमा कर गुरुको प्रणाम किया ।। ३८ ।। और हे राजन् ! फिर वे सब एक साथ यह कहने लगे, कि हे मुनिसत्तम ! यदि आप गुरुदेव प्रसन्न हुए हैं तो हम परम भाग्यवान् है ।। ३९ ।। हे महर्षि ! हम सब यह चाहते हैं, कि आप हमें

मस्तु वयं सर्वे वर दातुं महर्षिणा । षष्ठः शिष्यो न ते ख्यातिं गच्छेदत्र प्रसीद नः ॥ ४० ॥ चत्वारस्ते वयं शिष्या गुरुपुत्रश्च पञ्चमः । इह वेदाः प्रतिष्ठेरन्नेष नः कांक्षितो वरः ॥ ४१ ॥ शिष्याणां वचनं श्रुत्वा व्यासो वेदार्थतत्त्ववित् । पराशरात्मजो धीमान्परलोकार्थचिन्तकः ॥४२॥ उवाच शिष्यान्धर्मात्मा धर्म्यं नैःश्रेयसं वचः । ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म शुश्रूषवे तथा ॥४३॥ ब्रह्मलोके निवासं यो ध्रुवं समभिकांक्षते । भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥ ४४ ॥ नाशिष्ये संप्रदातव्यो नाव्रते नाकृतात्मनि । एते शिष्यगुणाः सर्वे विज्ञातव्या यथार्थतः॥४५॥ नापरिक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन। यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ॥४६॥परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत्कुलगुणादिभिः।

ऐसा वर दे, कि-हमारे अतिरिक्त आपका छठा शिष्य वेदाभ्यास करके प्रसिद्धि न पावे, यह वर देनेके लिये आप हमपर प्रसन्न हूजिये ॥ ४० ॥ हम आपके चार शिष्य और पाँचवें गुरुपुत्र ये पाँच व्यक्ति ही वेदको पढ़कर प्रतिष्ठा पावै, ऐसा वर हम चाहते हैं ॥ ४१ ॥ शिष्योंकी बात सुनकर, परलोकका विचार रखने वाले धर्मात्मा और वेदके परमतत्त्वको जाननेवाले, पराशरके पुत्र बुद्धिमान् व्यासजीने शिष्योंसे धर्म-भरा कल्याणकारक वचन कहा कि-"ब्रह्मलोकमें निवास करना चाहनेवाले पुरुषको ब्राह्मणको वेद सदा पढाने चाहियें, तैसे ही ब्रह्मको जाननेकी इच्छा वालेको भी वेद सदा पढाने चाहियें, तुम बहुतसे होजाओ अर्थात् बहुतोंको वेद पढाओ और इस वेदका विस्तार करो४३-४४ परन्तु जो शिष्य न हो, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करनेवाला न हो और जिसका मन वशमें न हो उसको वेद न पढाना चाहिये, इनको शिष्योंके ये, सब गुण यथार्थरीतिसे जाननेवाले चाहियें४५ जिसके चरित्रकी परीक्षा न की हो उसको किसीप्रकार भी वेद

न नियोज्याश्च वः शिष्या अनियोगे महाभये ॥ ४७ ॥ यथामति यथापाठं तथा विद्या फलिष्यति। सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ॥ ४८ ॥ श्रावयेच्चतुरो वर्णान्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः । वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम् ॥ ४९ ॥ स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयंभुवा । यो निर्वदेत संमोहाद्ब्राह्मणं वेदपारगम् ५० सोऽभिध्यानाद्ब्राह्मणस्य पराभूयादसंशयम् । यश्चाधर्मेण विब्रूयाच्चाधर्मेण पृच्छति ॥ ५१ ॥ तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति । एतद्वः सर्वमाख्यातं स्वाध्यायस्य विधिं प्रति ॥ ५२ ॥ उपकुर्याच्च शिष्याणामेतच्च हृदि वो भवेत् ॥ ५३ ॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२७ ॥

न पढाना चाहिये, जैसे अग्निमें तपानेसे, छीलनेसे और कसनेसे शुद्ध सुवर्णकी परीक्षा होती है, ऐसे ही कुल और गुण आदिसे शिष्योंकी परीक्षा होती है, और तुम शिष्योंको अयोग्य तथा महाभयदायक काममें न लगाना ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ विद्या पढाने पर भी जिनकी जैसी बुद्धि और पाठ होगा उनको वैसी ही फलेगी, सब मनुष्य दुःखोंके पार होजावें और सब कल्याण पावें ॥४८॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको यह उपदेश दो और वेदके अध्ययनके कार्यको महत्त्वका समझो ॥ ४९ ॥ ब्रह्माजीने देवताओंकी स्तुति करनेके लिये वेदोंको उत्पन्न किया है, जो मनुष्य मूर्खतासे वेदपारंगत ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है ॥५०॥ तो ब्राह्मणोंका अनिष्ट चिंतवन करनेसे उसका पराभव ही होता है, जो मनुष्य अधर्मसे प्रश्न करता है और अधर्मसे उत्तर देता है ॥ ५१ ॥ उन दोनोंमेंसे एक मृत्युको पाता है अथवा द्वेषपात्र होजाता है, इसप्रकार मैंने तुमसे वेदके स्वाध्यायकी सब विधि कहदी ॥५२॥ अब तुम इस बातको हृदयमें रखते हुए (अपने) शिष्योंका उपकार करो ॥५३॥ तीनसौ सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त

भीष्म उवाच । एतच्छ्रुत्वा गुरोर्वाक्यं व्यासशिष्या महौजसः। अन्योन्यं हृष्टमनसः परिपस्वजिरे तदा ॥ १ ॥ उक्ताः स्मो यद्भगवता तदा त्वायतिसंहितम् । तन्नो मनसि संरूढं करिष्यामस्तथा च तत् ॥२॥ अन्योऽन्यं संविभाष्यैवं सुप्रीतमनसः पुनः । विज्ञापयन्ति स्म गुरुं पुनर्वाक्यविशारदाः ॥३॥ शैलादस्मान्महीं गन्तुं कांक्षितं नो महामुने । वेदाननेकधा कर्तुं यद् ते रुचितं प्रभो ॥ ४ ॥ शिष्याणां वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः । प्रत्युवाच ततो वाक्यं धर्मार्थसहितं तदा ॥ ५ ॥ क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते । अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ॥ ६ ॥ तेऽनुज्ञातास्ततः सर्वे गुरुणा सत्यवादिना ।

भीष्मजीने कहा, कि-व्यासजीके महाबली शिष्य, गुरुकी इस बातको सुनकर मनमें प्रसन्न हुए और एक दूसरेसे मिले ॥ १ ॥ और आपसमें कहने लगे, कि-'गुरुदेवने हमसे भविष्यमें हित करनेवाली जो बात कही है, वह हम अपने मनमें रक्खेंगे और उसके अनुसार आचरण करेंगे ॥ २ ॥ इसप्रकार परस्पर बात चीत कर वे मनमें बहुत प्रसन्न हुए और वाक्यके स्वरूपको जाननेवाले वे शिष्य गुरुसे फिर विनती करने लगे, कि-॥ ३ ॥ हे महामुने ! हम इस पर्वत परसे पृथ्वी पर जाना चाहते हैं और तहाँ जाकर हे प्रभो ! यदि आपकी इच्छा हो तो एक २ वेदके अनेक विभाग करना चाहते हैं ॥ ४ ॥ शिष्योंकी बात सुनकर पराशरके पुत्र प्रभु व्यासजीने धर्म और अर्थसे भरा हुआ हित कारी वचन कहा ॥ ५ ॥ कि-तुम्हारी इच्छा हो तो तुम पृथ्वी पर जाओ अथवा देवलोकमें जाओ, परन्तु तुम प्रमाद न करना क्योंकि ब्रह्म (वेद) छलसे भरा हुआ है अर्थात् यदि तुम वेद का नित्य स्वाध्याय करनेमें प्रमाद करोगे तो उसको भूल जाओगे ॥ ६ ॥ (इसप्रकार कहकर) उन सत्यवादी गुरुने सब

ष्युः प्रदक्षिणं कृत्वा व्यासं मूर्ध्नाभिवाद्य च ॥७। अवतीर्य महीं ...थं चातुर्होत्रमकल्पयन् । संयाजयन्तो विप्रांश्च राजन्यांश्च विश-तथा ॥ ८ ॥ पूज्यमाना द्विजैर्नित्यं मोदमाना गृहे रताः । याज-ध्यापनरताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ॥९॥ अवतीर्णेषु शिष्येषु ...ासः पुत्रसहायवान् । तूष्णीं ध्यानपरो धीमानेकान्ते समुपा-विश्‍त् ॥ १० ॥ तं ददर्शाश्रमपदे नारदः सुमहातपाः । अथैनम-ब्रवीत्काले मधुराक्षरया गिरा ॥ ११ ॥ भो भो ब्रह्मर्षे वासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते । एको ध्यानपरस्तूष्णीं किमास्से चिंतयन्निव १२ ब्रह्मघोषैर्विरहितः पर्वतोऽयं न शोभते । रजसा तमसा चैव सोमः सोपप्लवो यथा ॥ १३ ॥ न भ्राजते यथा पूर्वं निषादाना-

शिष्योंको आज्ञा दी, तब वे शिष्य गुरु व्यासजीकी प्रदक्षिणा कर और उनको मस्तकसे प्रणाम कर ॥ ७ ॥ पृथ्वी पर उतरे, और चार होताओंसे होनेवाले कर्मोंकी व्यवस्था कर उनको चलाने लगे ? और ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्योंको यज्ञ कराने लगे ॥ ८ ॥ द्विज भी सदा उनकी पूजा करनेलगे, वे आनन्दसे गृहस्थाश्रमको चलाने लगे, द्विजोंको यज्ञ या होम कराने लगे, वेद पढ़ाते लगे और वे श्रीमान् होकर जगत्में प्रसिद्ध होगये ९ इस प्रकार शिष्योंके भूमि पर चले जाने पर बुद्धिमान् व्यासजी पुत्रसहित एकान्तमें बैठ कर चुपचाप ध्यान करने लगे ॥ १० ॥ उस समय महातपस्वी नारदजी व्यासजीको आश्रममें ध्यान-परायण देख कर उनसे मधुर अक्षरों वाली वाणीमें कहने लगे, कि-॥११॥ हे वशिष्ठके वंशमें उत्पन्न हुए ब्रह्मर्षे ! इस आश्रम वेदका घोष क्यों नहीं होता है और तुम इकले विचार करते हुए ध्यानपरायण हो चुपचाप कैसे बैठे हो ॥ १२ ॥ राहुसे ग्रसा हुआ चन्द्रमा जैसे रजोगुण और तमोगुणसे शोभा नहीं पाता है; तैसे ही यह पर्वत भी वेदध्वनि न होनेसे शोभा नहीं पाता है १३

मिवालयः । देवर्षिगणजुष्टोऽपि वेदध्वनिनिराकृतः ॥ १४ ॥ ऋषयश्च हि देवाश्च गन्धर्वाश्च महौजसः । वियुक्ता ब्रह्मघोषेण न भ्राजन्ते यथा पुरा ॥ १५ ॥ नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् । महर्षे यत्त्वया प्रोक्तं वेदवादविचक्षण ॥१६॥ एतन्मनोनुकूलं मे भवानर्हति भाषितुम् । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वत्र च कुतूहली ॥ १७ ॥ त्रिषु लोकेषु यद्वृत्तं सर्वं त मते स्थितम् । तदाज्ञापय विप्रर्षे ब्रूहि किं करवाणि ते । १८ ॥ यन्मया समनुष्ठेयं ब्रह्मर्षे तदुदाहर । विमुक्तस्येह शिष्यैर्मे नातिहृष्टमिदं मनः ॥ १९ ॥ नारद उवाच । अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् । मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं

यह पर्वत देवर्षियोंसे सेवित होनेपर भी पहिलेकी समान वेदध्वनि न होनेसे भिल्लोंके ग्रामकी समान प्रतीत होता है, इसकी पहलेकी सी शोभा नहीं रहा है १४ तैसे ही महाबली ऋषि और देवता तथा गन्धर्व भी ब्रह्मघोषसे रहित होनेके कारण पहिलेकी समान शोभा नहीं पाते है ॥ १५ ॥ नारदजीकी बात सुन कर कृष्णद्वैपायनने कहा, कि-हे महर्षे ! हे वेदवादविचक्षण ! आपने जो बात कही ॥ १६ ॥ वह मेरे मनके अनुकूल कही है, आपको ऐसा ही कहना चाहिये, क्योंकि-आप सर्वज्ञ हो, सर्वदर्शी हो और सब समय कुतूहल करने वाले हो ॥ १७ ॥ तीनों लोकोंमें जो बात होती है उस सबको आप जानते हैं, अतः हे विप्रर्षे ! बताओ और आज्ञा दो, कि-मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूं ? ॥ १८ ॥ हे ब्रह्मर्षे ! अब मुझे क्या करना चाहिये, यह आप मुझसे कहिये, शिष्योंसे वियोग होजानेके कारण मेरा मन अति प्रसन्न नहीं रहता है ॥ १९ ॥ नारदजीने कहा, कि-वेदकी आवृत्ति न करना वेदका दूषण है, व्रत न पालना ब्राह्मणका दूषण है, वाहीक वंश पृथ्वीका मल माना जाता है और कुतूहल

मलम् ॥ २० ॥ अधीय तान्भवान्वेदान्सार्धं पुत्रेण धीमता । विधुन्वन्ब्रह्मघोषेण रक्षोभयकृतं तमः ॥ २१ ॥ भीष्म उवाच । नारदस्य वचः श्रुत्वा व्यासः परमधर्मवित् । तथेत्युवाच संहृष्टो वेदाभ्यासदृढव्रतः ॥ २२ ॥ शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत् । स्वरेणोच्चैः स शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव ॥ २३ ॥ तयोरभ्यसतोरेव नानाधर्मप्रवादिनोः । वातोतिमात्रं प्रववौ समुद्रानिलवेजितः ॥ २४ ॥ ततोऽनध्याय इति तं व्यासः पुत्रमवारयत् । शुको वारितमात्रस्तु कौतूहलसमन्वितः ॥ २५ ॥ अपृच्छत्पितरं ब्रह्मन्कुतो वायुरभूदयम् । आख्यातुमर्हति भवान्वायोः सर्वं विचेष्टितम् ॥ २६ ॥ शुकस्यैतद्वचः श्रुत्वा व्यासः परमविस्मतः ।

(नवीन २ वस्तु देखने और जाननेकी इच्छा) स्त्रियोंका दोष माना जाता है ॥ २० ॥ अतः तुम अपने बुद्धिमान् पुत्रके साथ वेदोंका स्वाध्याय करो और उसके घोषसे राक्षसोंके भयसे उत्पन्न हुए अन्धकारका नाश करो ॥ २१ ॥ भीष्मजीने कहा, कि–नारदजीका वचन सुन कर परमधर्मको जानने वाले व्यासजी ने "तथास्तु" कह कर परम हर्ष या वेदका स्वाध्याय करनेका दृढ़व्रत धारण किया ॥२२॥ फिर अपने पुत्र शुकके साथ ऊँचे स्वरसे तीनों लोकोंको गुञ्जारते हुए शिक्षासहित वेदका पाठ करने लगे ॥२३॥ अनेक प्रकारके धार्मिक विषयों पर वादविवाद करना जानने वाले पिता पुत्र जप वेदका स्वाध्याय करने लगे, उस समय समुद्रके वायुसे कम्पित हुआ वायु वेगसे बहने लगा २४ पवनको चलते हुए देख कर व्यासजी बोले, कि–"यह समय अनध्यायका है" यह कह कर उन्होंने शुकको वेद पढ़नेसे रोका, वेदका पढ़ना रोक देनेसे शुकके मनमें इसका हेतु जाननेके लिये कुतूहल हुआ ॥ २५ ॥ उन्होंने अपने पितासे प्रश्न किया कि– 'यह वायु कहाँसे उत्पन्न हुआ है ? आप मुझसे वायुके सब

अनध्यायनिमित्तेऽस्मिन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥ दिव्यन्ते चक्षुरुत्पन्नं स्वयं ते निर्मलं मनः । तमसा रजसा चापि त्यक्तः सत्त्वे व्यवस्थितः ॥ २८ ॥ आदर्शे स्वामिवच्छायां पश्यस्यात्मानमात्मना । व्यश्यात्मनि स्वयं वेदान्बुद्ध्या समनुचिंतय ॥ २९ ॥ देवयानचरो विष्णोः पितृयानश्च तामसः । द्वावेतौ प्रेत्य पंथानौ दिवं चाधश्च गच्छतः ॥ ३० ॥ पृथिव्यामन्तरिक्षे च यत्र सम्वान्ति वायवः । सप्तैते वायुमार्गा वै तान्निबोधानुपूर्वशः ॥ ३१ ॥

कर्म कहिये ॥ २६ ॥ अनध्यायके निमित्तरूप वायुसम्बन्धी ऐसे प्रश्नको सुन कर, व्यासको परम आश्चर्य हुआ और वह कहने लगे, कि-॥ २७ ॥ योगसे तेरी दृष्टि दिव्य होगई है और तेरा मन भी निर्मल है और तू भी रजोगुण तथा तमोगुणसे मुक्त होकर सत्त्वगुणमें स्थिति कर रहा है ॥२८॥ तू स्वयं एक पुरुप जैसे आरसीमे अपनी छायाको देखता है, तैसे ही तू भी आत्मासे आत्माको देखता है अर्थात् तुझको आत्मज्ञान होगया है, तू स्वयं अपनी बुद्धिसे वेदोंके अर्थोंका ऊहापोह करके (पवन कहाँसे उत्पन्न हुआ है) इसका विचार कर ॥२९॥ एक विष्णु सम्बन्धी देवयानमार्ग है और दूसरा तमोगुणी पितृयानमार्ग है, मरणके अनन्तर आकाश (स्वर्ग) में जाने वाले और नीचे (नरक) में जाने वाले जीवके लिये ये दो मार्ग हैं ॥ ३० ॥ पृथ्वी (देह) में और अन्तरिक्ष (ब्रह्माण्ड) में जहाँ ये वहते हैं, उन सात स्थानोंको तू क्रमशः मुझसे सुन (देहमें वायुके जो स्थान बीज और वर्ण हैं उनका नकुलीशके योगपारायण ग्रंथमें इस प्रकार वर्णन किया है, कि-प्राणवायु नासिकाके अग्रभागमें, हृदयमें नाभिमें, और पादाङ्गुष्ठके मध्यमें रहता है उसका वर्ण नील है, और ॐकार तथा रेफके पहिले अक्षर य बीजसे युक्त है (ॐ यम्) अपानका वर्ण कृष्ण है, वह गरदनमें, पीठमें, पीठके अन्त

तत्र देवगणाः साध्या महाभूता महाबलाः । तेषामप्यभवत्पुत्रः समानो नाम दुर्जयः ॥ ३२ ॥ उदानस्तस्य पुत्रोऽभूद्व्यानस्तस्याभवत्सुतः । अपानश्च ततो ज्ञेयः प्राणश्चापि ततो परः ॥ ३३ ॥ अनपत्योऽभवत्प्राणो दुर्धर्षः शत्रुतापनः । पृथक्कर्माणि तेषां तु प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ३४ ॥ प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक् । प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते ॥ ३५ ॥

में और एड़ियोंमें रहता है, और अनुसार तथा नकारान्त पकारान्त वीज (ॐ यम्) पीड़ासे युक्त हैं । व्यानका वर्ण इन्द्रधनुष की समान है, त्वचा और इन्द्रियें उसका स्थान है और वह अनुसार तथा ल वीज (ॐ लम्) से युक्त हैं, उदान मस्तकमें, तालुके मध्यभागमें, अग्रभागमें, कण्ठमें, हृदयमें तथा पित्तके स्थानमें रहता है, वह रक्तवर्णका है और अनुस्वार तथा यकारान्त वीज (ॐ रम्) से युक्त है । समान नाभि, हृदय तथा सब संधियोंमें रहता है तथा प्रणवसे युक्त लान्त वीज (ॐ वम्) से अतिउज्ज्वल है और उसका वर्ण स्वेत है और छठे और सातवें मार्ग अनुक्रमसे जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति देने वाले हैं यह आगे कहे जावेंगे) ॥ ३१ ॥ तहाँ (शरीरमें) देवता (इन्द्रियें) रहते हैं, ये इन्द्रिये महाबली साध्य देवताओंसे तथा महाभूतोंसे अधिष्ठित हैं, इन सबोंने समान नामक एक दुर्जय पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥ उसके उदान नामकपुत्र हुआ, उसके व्यान नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसके अपान नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसके प्राण नामक पुत्र हुआ ॥ ३३ ॥ प्राण अपुत्र परन्तु वह दुर्धर्ष और शत्रुताप है, अब इन वायुओंके पृथक् २ कर्मोंको मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ३४ ॥ भिन्न २ क्रिया करनेमें वायु प्राणियोंकी सहायता करता है, तथा भूतों (जीवों) को प्रवृत्त रखता है इससे वह प्राण नामसे पहिचाना जाता है ३५

प्रेरयत्यभ्रसंघातान् धूमजांश्चोष्मजांश्च यः । प्रथमः प्रथमे मार्गे प्रवहो नाम योऽनिलः ॥ ३६ ॥ अम्बरे स्नेहमभ्येत्य विद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः । आवहो नाम संवाति द्वितीयः श्वसनो नदन् ॥३७॥ उदयं ज्योतिषां शश्वत्सोमादीनां करोति यः । अन्तर्देहेषु चादानं ये वदन्ति मनीषिणः ॥३८॥ यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम् । उद्धृत्याददते चापो जीमूतेभ्योंवरेऽनिलः ॥ ३९ ॥ योऽद्भिः संयोज्य जीमूतान्पर्जन्याय प्रयच्छति । उद्वहोनामवंहिष्ठ-स्तृतीयः स सदागतिः ॥ ४० ॥ समुह्यमाना बहुधा येन नीताः

प्रथम वायुका नाम प्रवह (समान) है, वह प्रथम मार्गमें बहता है और धूम तथा उष्णतासे उत्पन्न हुए मेघोंको आकाशमें प्रेरित करता है (पहिले कहे हुए नासिकाके अग्रभाग, हृदय, नाभि, और अंघूठेमेंके किसी एक स्थानमें नीलवर्णके प्राणोंको रोक कर उसके ॐ यम् बीजात्मक शरीरका ध्यान करके योगी कुछ समयमें सिद्धि पाता है और जीवनमें ही शरीरके प्रवह नामक वायुके मार्गमें भ्रमण करता है और शरीरपात होने पर प्रवहके साथ तद्रूपताको पाता है। इसी प्रकार दूसरे पवनोंके विषयमें भी समझना चाहिये) ॥३६॥ वह आकाशमें जाते २ जलके साथ स्नेह करता है तथा बिजलीके तेजके साथ मिल कर महाकान्ति-मान् होजाता है दूसरे पवनका नाम आवह है वह गर्जना करता हुआ बहता है ॥३७॥ और वह प्रकाशवान् सोम आदि पदार्थों का उदय करता है और विद्वान् कहते हैं, कि-यह शरीरमें रहने वाला उदान (अपान) वायु है ॥३८॥ जो वायु चारों समुद्रों मेंसे जलको ग्रहण कर आकाशमें मेघोंको देता है ॥ ३९ ॥ तैसे ही जो मेघोंको जल देनेके पीछे उसके देवता पर्जन्यको जल देता है, वह उद्वह नामक तीसरा वायु है वह महान् और सदागति है ॥ ४० ॥ जो वायु मेघोंको चारों ओर लेजाता है और उनको

पृथग्घनाः । वर्षमोक्षकृतारंभास्ते भवन्ति घनाघनाः ॥ ४१ ॥ संहता ये न चाविद्धा भवन्ति नदतां नदाः । रक्षणार्थाय संभूता मेघत्वमुपयान्ति च ॥ ४२ ॥ योऽसौ वहति भूतानां विमानानि विहायसा । चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ॥४३॥ येन वेगवता रुग्णा रूक्षेण रुजता नगान् । वायुना सहिता मेघास्ते भवन्ति बलाहकाः ॥४४॥ दारुणोत्पात संचारो नभसस्तनयित्नुमान् । पंचमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः ॥४५॥ यस्मिन्पारिप्लवा दिव्या वहंत्यापो विहायसा । पुण्यं चाकाशगंगायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ॥४६॥ दूरात्प्रतिहतो यस्मिन्नेकरश्मिर्दिवाकरः । यो निरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा ॥ ४७ ॥ यस्मादाप्यायते

अलग २ कर देता है और जो वायु मेघोंको बरसनेसे पहिले पिघलाता है तथा घना करता है ॥ ४१ ॥ और जो वायु इकट्ठे हुए मेघोंको तितर बितर कर डालता है उस समय मेघ बड़ी गर्जना करते हैं और जो पवन जगत्की रक्षा करनेके लिये मेघरूपको प्राप्त होगया है ॥४२॥ तथा जो पवन प्राणियोंके विमानों को आकाशमार्गमें लेजाता है पर्वतोंको भी तोड़ डालने वाले उस चौथे वायुका नाम संवह है ॥४३॥ और जो वेगवान् पर्वी वायु रूक्ष चलता है, वृक्षोंको गिरा देता है और जिस वायुके साथ रहनेसे मेघ बलाहक (बलसे दूसरेका उन्मर्दन कर बहने वाले कहलाते हैं) ॥४४॥ जो आकाशमें दारुण उत्पातके साथ बहता है और गर्जना करता है, वह विवह नामक महावेगवान पाँचवाँ वायु है ॥ ४५ ॥ जो वायु दिव्य जलको आकाशमें ही धारण करता है उसको नीचे नहीं गिरने देता है और जो आकाशगंगाके पवित्र जलको नीचे नहीं गिरने देता है ॥ ४६ ॥ और जिस वायुसे सूर्य दूर पर रुका रहता है और जिस वायुके रोकनेके कारण सहस्रों किरण वाला भी सूर्य एक किरण

सोमः क्षीणः सम्पूर्णमण्डलः । षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ॥ ४८ ॥ सर्वप्राणभृतां प्राणान् यो नु काले निरस्यति । यस्य वर्त्मानुवर्त्तेते मृत्युवैवस्वतावुभौ ॥ ४९ ॥ सम्यगन्वीक्षतां बुद्ध्या शान्तयाध्यात्मचिन्तकाः । ध्यानाभ्यासाभिरामाणां योऽमृतत्वाय कल्पते ॥५०॥ यं समासाद्य वेगेन दिशोऽन्तं प्रतिपेदिरे । दक्षस्य दश पुत्राणां सहस्राणि प्रजापतेः ॥ ५१ ॥ येन सृष्टः पराभूतो यात्येव न निवर्त्तते । परावहो नाम परो वायुः स दुरतिक्रमः ॥ ५२ ॥ एवमेतेऽदितेः पुत्रा मारुताः परमाद्भुताः । अनारतन्ते संवान्ति सर्वगाः सर्वधारिणः ॥ ५३ ॥ एतत्तु महदाश्चर्यं यदयं पर्वतोत्तमः । कम्पितः सहसा तेन वायुनातिप्रवा-

---

वालासा प्रतीत होता है और इस सारी पृथिवीको प्रकाशित करता है ॥ ४७ ॥ और संपूर्ण मण्डलके क्षीण होने पर भी चन्द्रमा जिससे वृद्धिपाता है, वह विजय करनेवाले वायुओंमें छठा वायु है ॥४८॥ और जो वायु समयानुसार सब प्राणियोंके प्राणोंका संहार करता है और जिसके पीछे २ मृत्यु तथा सूर्यके पुत्र यम ये दोनों जाते हैं ॥ ४९ ॥ हे अध्यात्मचिन्तक पुरुषों ! शान्तबुद्धिसे भलीप्रकार अवलोकन करनेवाले और ध्यान तथा योगके अभ्यास करनेमें प्रीति करनेवाले पुरुषोंको जो मोक्ष देता है ॥ ५० ॥ और दक्ष प्रजापतिके दश सहस्र पुत्र जिस वायुका आश्रय करके दिशाके अन्तमें जा पहुँचे थे ॥ ५१ ॥ तथा जिस वायुके स्पर्शसे पराजित हुआ जीव इस जगत्को त्याग देता है और फिर नही लौटता है उसका नाम परावह वायु है, इस वायुका कोई उल्लंघन नही कर सकता ५२ इसप्रकार अदितिके पुत्र वायु परम आश्चर्य प्रद कर्म करनेवाले और सब वस्तुओंको धारण करनेवाले है, तथा विश्राम लिये विना वहा करते है ५३ परन्तु अतिवेगसे वहते हुए वायुसे यह पर्वत एक साथ काँप

यता ॥ ५४ ॥ विष्णोर्निःश्वासवातोऽयं यदा वेगसमीरितः ।
सहसोदीर्यते तात जगत्प्रव्यथते तदा ॥ ५५ ॥ तस्माद् ब्रह्मविदो
वेदान्नाधीयन्तेऽतिवायति । वायोर्वायुभयं ह्युक्तं ब्रह्म तत्पीडितं
भवेत् ॥ ५६ ॥ एतावदुक्त्वा वचनं पराशरसुतः प्रभुः। उक्त्वा
पुत्रमधीष्वेति व्योमगंगामगात्तदा ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तिर्नाम
अष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२८ ॥

भीष्म उवाच । एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत् ।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान्प्रष्टुमीप्सया ॥ १ ॥ देवर्षिं तु शुको
दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम् । अर्घपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूज-
यत् ॥ २ ॥ नारदोऽथाब्रवीत्प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर । केन त्वां

उठा, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ५४ ॥ यह पवन विष्णुके
मुखका निःश्वास वायु है । हे तात ! विष्णुका निःश्वासवायु
जब एकसाथ वेगसे चलने लगता है तब जगत् काँप उठता है ५५
अतः वेदवेत्ता पुरुष पवन अत्यंत वहता हो तो वेदोंको नहीं पढ़ते
हैं, क्योंकि–वायुको वायुका भय होता है (क्योंकि–वेद स्वयं भी
वायुरूप है) इस अखिल ब्रह्म (जगत्) को अधिक चलते
हुए वायुसे दुःख होता है (अतः वायु बहुत वहता हो तो वेदका
स्वाध्याय न करना चाहिये) ॥ ५६ ॥ पराशरके पुत्र व्यासजी
इस प्रकार कह कर अपने पुत्रको "वेद पढ़नेकी आज्ञा देकर
आकाशगंगाकी ओर चले गए ॥ ५७ ॥ तीनसौ अट्ठाईसवाँ
अध्याय समाप्त ॥ ३२८ ॥ * * *

भीष्मने कहा, कि–हे राजा युधिष्ठिर ! व्यासजीके चले जाने
पर एकान्तमें बैठ कर स्वाध्याय करने वाले शुकके पास वेदोंका
अर्थ बूझनेकी इच्छासे नारदमुनि आये ॥ १ ॥ देवर्षि नारदको
अपने यहाँ पधारा हुआ देखकर शुकने वेदोक्त विधिसे अर्घ देकर

श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत् ॥ ३ ॥ नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत । अस्मिंल्लोके हितं यत्स्यात्तेन मां योक्तुमर्हसि ॥४॥ नारद उवाच । तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम् । सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥ नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः । नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥६॥ निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता। सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ॥ ७ ॥ मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति । नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम् ॥ ८ ॥ सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धिनी ।

नारदकी पूजा की ॥ २ ॥ इस पूजासे प्रसन्न हो नारदजीने शुकसे बूझा, कि-हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! हे वत्स ! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ, अतः बता तेरा क्या प्रिय कार्य करूँ ॥३॥ हे भरतवंशी राजन् ! नारदजीकी बात सुनकर शुक बोले, कि-इस जगत्में जो हित कहाता है, वह मेरे ऊपर करिये ॥ ४ ॥ नारदजीने कहा, कि-पहिले तत्त्वको जाननेकी जिज्ञासासे शुद्ध मनके जो ऋषि सनत्कुमारके पास गए थे उनसे उन्होंने इस प्रकार कहा था॥५॥ विद्याकी समान नेत्र नहीं हैं सत्यकी समान तप नहीं है राग (प्रीति) की समान दुःख नहीं है और त्यागकी समान सुख नहीं है ॥ ६ ॥ पाप करनेसे सदा दूर रहे, नित्य पुण्यशील रहे, अच्छा बर्ताव करे, सद्वृत्ति रक्खे, यह सर्वोत्तम श्रेय (हित) है ॥७॥ सुखरहित मनुष्यजन्मको पाकर जो उसमें प्रीति करता है, वह मोहको प्राप्त होता है और वह मनुष्य दुःखसे नहीं छूट सकता सांसारिक पदार्थोंका संयोग दुःखका चिन्ह है ॥ ८ ॥ जो जीव सांसारिक पदार्थोंमें आसक्त होजाता है, उसकी बुद्धि मोहरूपी जालको बढ़ाती है और जो पुरुष मोहरूपी जालमें फँस जाता है, वह पुरुष इस लोकमें तथा परलोकमें

मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते ॥ ९ ॥ सर्वोपायात्तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः । कार्यः श्रेयोर्थिना तौ हि श्रेयो- घातार्थमुद्यतौ ॥१०॥ नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्स- रात् । विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥११॥आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् । आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्या- द्विद्यते परम् ॥ १२ ॥ सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् । यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम ॥ १३ ॥ सर्वारम्भ- परित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः । येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः ॥१४॥ इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान्यश्चरत्यात्मवशैरिह । असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः ॥ १५ ॥ आत्म-

दुःख पाता है ॥ ९ ॥ अतः कल्याण चाहने वालेको सब प्रकार से काम और क्रोधको अंकुशमें रखना चाहिये, क्योंकि—ये दोनों कल्याणका नाश करनेको तत्पर रहते हैं ॥१०॥ मनुष्य तपको क्रोधसे बचावे, लक्ष्मीको मत्सरसे बचावे, विद्याकी मान तथा अपमानसे रक्षा करे और आत्माकी प्रमादसे रक्षा करे अर्थात् सावधान रहे ॥ ११ ॥ सौजन्य परमधर्म माना जाता है, क्षमा परमबल है और आत्मज्ञान परमज्ञान माना जाता है और सत्य से अधिक कोई वस्तु नहीं है ॥ १२ ॥ सत्य बोलना हितकारक है, परन्तु हितकारी बात कहना सत्यसे भी अधिक अच्छा है जो प्राणियोंका हित करने वाला हो उसको मैं सत्य समझता हूँ ॥ १३ ॥ जो पुरुष सब प्रकारके कार्योंका त्याग कर देता है, आशारहित होता है तथा जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता है तथा जिसने सब वस्तुओंको त्याग दिया उसको विद्वान् और पण्डित समझना चाहिये ॥ १४ ॥ जो पुरुष किसी विषयमें आसक्त हुए बिना अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सब विषयोंको भोगता है, जिसका आत्मा शान्त है, जिसमें किसी प्रकारका

भूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च । स निमुक्तपरं श्रेयो न चिरे-णाधितिष्ठति ॥१६॥ अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासभाषणं तथा। यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विदन्ते परम् ॥ १७ ॥ न हिंस्यात्सर्व-भूतानि मैत्रायणगतिश्चरेत् । नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केन-चित् ॥ १८ ॥ आकिंचन्यं सुसंतोषो निराशीस्त्वमचापलम् । एत-दाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः ॥ १९ ॥ परिग्रह परि-त्यज्य भव तात जितेन्द्रियः । अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥ २० ॥ निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमा-

विकार नहीं है और जो समाधिमें आसक्त है ॥१५॥ जो अपनी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवताओंके साथ तदाकार होकर तथा भिन्न-रूपसे रहता है, जो शरीरवान् होने पर भी अपनेको शरीरके साथ एकाकार नहीं मानता है वह पुरुष मुक्त कहलाता है और थोड़े ही समयमें परमश्रेयको प्राप्त करता है।१६।हे मुने! जो पुरुष प्राणियोंकी ओर कभी दृष्टि नहीं करता है, उनका स्पर्श नहीं करता है तथा उनके साथ कभी भाषण नहीं करता है,वह परमश्रेय (मोक्ष) को पाता है ।। १७ ।। किसी प्राणीकी हिंसा न करे परन्तु सब प्राणियोंके साथ मित्रता करे और इस मनुष्यजन्म को पाकर किसीसे वैर भी न करे ॥ १८ ॥ आत्माके स्वरूपको जानने वाले और मनको जीतनेवाले पुरुषके लिये सब वस्तुओं का त्याग, इच्छापूर्वक सन्तोष, सब आशाओंका त्याग और दृढतासे रहना परमकल्याणकारक कहा है ॥ १९ ॥ हे तात ! तू परिग्रह (संग्रह) का त्याग करके जितेन्द्रिय हो और इस लोक तथा परलोकमें शोकरहित स्थानमें निवास कर ॥ २० ॥ जिनको लोभ नहीं होता है, उनको शोक भी नहीं होता है, अतः मनुष्यको सब प्रकारसे लोभका त्याग कर देना चाहिये, हे सौम्य ! यदि तू लोभको त्याग देगा तो दुःख और संतापसे

त्मनः । परित्यज्यामिर्प सौम्य दुःखतापाद्विमोक्ष्यसे ॥ २१ ॥ तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना । अजितं जेतुकामेन भाव्यं संगेष्वसंगिना ॥ २२ ॥ गुणसंगेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा । ब्राह्मणो न चिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ॥ २३ ॥ द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः । विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ॥ २४ ॥ शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम् । अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥ २५ ॥ तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः । संसारे पच्यते जंतुस्तत्कथं नावबुध्यसे ॥२६॥ अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः । अनर्थे

मुक्त होजावेगा ॥ २१ ॥ अजित (ब्रह्म) को जीतना चाहने वालेको नित्य तप करना चाहिये इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये ईश्वरका मनन करना चाहिये और मनको नियममें रखना चाहिये; ऐसे पुरुषको विषयोंमें रह कर उन पर प्रीति न करनी चाहिये ॥ २२ ॥ जो ब्राह्मण गुणों पर आसक्ति नहीं रखता है, सदा इकला घूमता है, वह थोड़े ही समयमें अनुपम सुखको पाता है ॥ २३ ॥ काममें आसक्त रहकर जीवन विताने वाले प्राणियोंमें जो अकेला आनन्दसे विहार करता है उसको प्रज्ञान से तृप्त हुआ समझना चाहिये और ज्ञानसे तृप्त हुए पुरुषको शोक नहीं करना पड़ता है ॥ २४ ॥ देह कर्मके अधीन है, शुभ कर्मोंसे देवत्व प्राप्त होता है, शुभ तथा अशुभ मिश्र कर्मोंसे मनुष्य देह मिलता है और अशुभ कर्म करनेसे पशु वा पक्षीकी योनिमें जन्म होता है ॥ २५ ॥ संसारमें उत्पन्न होने पर प्राणी मृत्यु अथवा वृद्धावस्थाके दुःखसे नित्य दुःख भोगा करता है और संतापसे नित्य संतप्त हुआ करता है, क्या तू इसको नहीं समझता है ? ॥ २६ ॥ तू अहित वस्तुको हित मान बैठा है, अध्रुव वस्तुको ध्रुव मान बैठा है अनर्थकारक वस्तुको अर्थकारक मान

चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुध्यसे ॥ २७ ॥ संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात्तन्तुभिरात्मजैः । कोपकार इवात्मानं वेष्टयन्नावबुध्यसे २८ अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः । कृमिर्हि कोपकारस्तु वध्यते सपरिग्रहात् ॥ २९ ॥ पुत्रदारकुटुंबेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः । सरःपंकार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ ३० ॥ महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान् । स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जतून्सुदुःखितान् ॥३१॥ कुटुंबं पुत्रदारांश्च शरीरं संचयांश्च ये । पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ॥ ३२ ॥ यदा सर्वान्परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते । अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं

बैठा है, किसलिये तू वस्तुको नहीं पहिचानता है ॥ २७ ॥ जैसे रेशमका कीडा अपनी लारके तन्तुओंसे ही अपनेको लपेटता हुआ नहीं जानता है, तैसे ही तू भी मोहके कारण अपने कर्मके तन्तुओंसे बँध रहा है, परन्तु इस बात को नहीं जानता है, इस जगत्में परिग्रह (सांसारिक वस्तुओं पर आसक्ति रखने) करनेसे क्या प्रयोजन है, परिग्रह दोष वाला है, कोषकार अपने ही परिग्रह (आसक्ति) से बँध जाता है ॥ २९ ॥ जैसे वनके वृद्ध हाथी दलदलमें फँस कर दुःखी होते हैं तैसे ही प्राणी भी, पुत्र, स्त्री और कुटुम्बियोंमें आसक्ति होनेसे दुःखी होता है ॥ ३० ॥ महाजालसे जलमेंसे किनारे पर खेंच लानेसे मछली जैसे दुःख पाती है ऐसे ही स्नेहजालके द्वारा घसिटते हुए प्राणीको भी अतिदुःख होता है ३१ कुटुम्ब, पुत्र, स्त्रियें, शरीर तथा धन आदिका जो संग्रह है, ये सब पराया और अध्रुव (नाशवान्) है, इसमें तेरा क्या है ? अच्छे और बुरे कर्म ही उसके है ॥ ३२ ॥ जब तू सबका त्याग कर पराधीन होजायगा, तो फिर तू अनर्थमें क्यों फँस रहा है और हितकारी कर्मका सेवन क्यों नही करता है ॥ ३३ ॥ जिस

समर्थं नानुतिष्ठसि ॥३३॥ अविश्रान्तमनालंबमपाथेयमदैशिकम् । तमःकांतारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ॥३४॥ न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित्पृष्ठतोऽनुगमिष्यति । सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥ ३५ ॥ विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम् । अर्थार्थमनुसार्यंते सिद्धार्थश्च विमुच्यते ॥३६॥ निबंधनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः । छित्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिंदति दुष्कृतः ॥ ३७ ॥ रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम् । गन्धपंकां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम् ॥३८॥ क्षमारित्रां सत्य-

मार्गमें विश्रान्तिका स्थान नहीं है, जिस मार्गमें किसीका आश्रय नहीं मिलता है, जहाँ सम्बल नहीं मिलता है, जिस मार्गमें दिशाएँ नहीं मालूम होतीं, और जिस देशमें अन्धकार भर रहा है, ऐसे मार्गमें साधनके विना तू अकेला कैसे जा सकेगा ॥ ३४ ॥ क्योंकि—जब तू परलोककी ओर प्रस्थान करेगा, उस समय कोई मनुष्य तेरे साथ नहीं आवेगा और तेरे पुण्य पाप कर्म ही उस समय तेरे साथ चलेंगे ॥ ३५ ॥ मनुष्य अर्थों के अर्थको अर्थात् परब्रह्म को विद्या, कर्म, शौच और अति विस्तार वाले ज्ञानकी सहायतासे खोजता है और जब उसका अर्थ सिद्ध होजाता है अर्थात् परब्रह्मका साक्षात्कार होजाता है, तब वह पुरुष सिद्धार्थ (मुक्त)कहलाता है३६ ग्राममें (विषयोंमें) आसक्ति मनुष्यको बन्धनमें बाँधनेवाली डोरी की समान है, पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष इस प्रीतिमयी डोरीको काट डालता है और पाप कर्म करनेवालेसे वह डोरी काटी नहीं जाती ॥३७॥ (यह जीवन एक नदीरूप है) इस नदीमें सौंदर्य रूप किनारे हैं, मनोरूप प्रवाह है, स्पर्शरूप द्वीप हैं, रसरूप तरंगे हैं, गन्धरूप कीचड़ है, शब्दरूप जल है उसका स्वर्गकी ओर जानेवाला मार्ग कठिनतासे भराहुआ है ॥ ३८ ॥ उसमें

मयी धर्मस्थैर्यवटारकाम् । त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत् ॥ ३९ ॥ त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृतेत्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४० ॥ त्यज धर्ममसंकल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया । उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥४१॥ अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गंधि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४२ ॥ जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥ ४३ ॥ इदं विश्वं जगत्सर्वमजगच्चापि यद्भवेत् । महा-

यह शरीररूपी नौका पड़ीहुई है जिसके लिये क्षमारूपी बल्ली की आवश्यकता है, सत्य इसमें पतवार है, इसको खैंचकर स्थिर करनेवाली रज्जु धर्म है, इसका मार्ग त्यागरूपी पवनसे भरा हुआ है ऐसी नौकासे जीवनरूपी नदीको तैर जाना चाहिये ३९ तू धर्म तथा अधर्मको त्यागदे, सत्य और असत्यको त्यागदे, और सत्य तथा असत्य इन दोनोंको त्यागकर जिससे तूने सत्य तथा असत्यका त्याग किया हो उसको भी त्यागदे ॥ ४० ॥ असंकल्पसे धर्मको त्यागदे, इच्छाको त्याग अधर्मको त्याग दे और बुद्धिसे सत्य तथा असत्य इन दोनोंको त्यागदे और परम तत्त्व(ब्रह्म)का निश्चय कर बुद्धिको त्यागदे ॥४१॥ इस देहरूपी घरमें अस्थिरूप थम्भे हैं, यह डोरीरूपी स्नायुओंसे बँधा हुआ है, यह मांस और रुधिरसे लिहसा हुआ है, चमड़ेसे मढ़ाहुआ है अतिदुर्गन्धित मलमूत्रसे भराहुआ है ॥४२॥ यह वृद्धावस्था और शोकसे घिरा हुआ है रोगके रहनेका दुःखमय स्थान है, यह रजोगुणरूपी धूलसे भराहुआ है तथा अनित्य है, ऐसे भूतोंके निवासस्थानरूप इस देहको तू त्यागदे ४३ यह विश्व, यह संपूर्ण जगत् और जो इस अजगत्मेंसे उत्पन्न हुआ है वह पञ्च-महाभूत और महत् अर्थात् बुद्धि जिसके आश्रयसे हैं अर्थात् देह

भूतात्मकं सर्वं महद्यत्परमाश्रयात् ॥ ४४ ॥ इन्द्रियाणि च पंचैव तमः सत्त्वं रजस्तथा । इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ४५ सर्वैरिहेंद्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः॥चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ॥ ४६ ॥ एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते । त्रिवर्गन्तु सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ ४७ ॥ य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ । पारंपर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किंचन ॥४८॥ इन्द्रियैर्गृह्यते यद्यत्तत्तद्व्यक्तमिति स्थितिः । अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिंगग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ४९ ॥ इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते । लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति ॥५०॥ परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति । पश्यतः

से भिन्न है ॥ ४४ ॥ पूर्वोक्त सब पाँच इन्द्रियें और सत्त्व, रज तथा तम इन सत्रहके समुदायको अव्यक्त कहते हैं ॥ ४५ ॥ यह सब अव्यक्त और पाँच इन्द्रियार्थ इनको चौवीस (बाईस) का अव्यक्ताव्यक्तका समूह कहते हैं ॥४६॥ जो इन सब तत्त्वोसे युक्त है, वह पुरुष कहलाता है जो धर्मको, अर्थको, कामको, सुखको, दुःखको, जीवनको और मरणको जानता है, वह जगत् की उत्पत्ति और विनाशको यथार्थरीतिसे जानता है, ज्ञानसंबंधी प्रत्येक बात परम्परासे जाननी चाहिये ॥ ४७-४८ ॥ जो वस्तु इन्द्रियोंसे जानी जाती है, वह व्यक्त कहलाती है और जो इन्द्रियोंसे नहीं जानी जाती और लिंग (चिह्न) से जानी जाती वह अव्यक्त कहलाती है ॥४०॥ जैसे (प्यासा) पुरुष वर्षाकी धाराओंसे संतुष्ट होजाता है, ऐसे ही इन्द्रियोंको वशमें रखनेसे मनुष्य सन्तुष्ट होता है और जगत्भरमें अपनी आत्माको फैला हुआ अर्थात् सर्ववस्तुमय देखता है और सब वस्तुओंको अपने आत्मामें आत्मामय देखता है ॥ ५० ॥ सब अवस्थाओंमें सब प्राणियोंमें सदा परमात्माको देखने वाले पुरुषकी ज्ञानमूला शक्ति

सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वथा ॥ ५१ ॥ सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते।ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान् ५२ लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते । अनादिनिधनं जंतुमात्मनि स्थितमव्ययम् ॥ ५३ ॥ अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित् । यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ॥५४॥ स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा । ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ॥५५॥ तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वा पथ्यमिवातुरः । अजस्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः ॥ ५६ ॥ बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत्सदा । ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह ॥ ५७ ॥ परिभ्रमति संसारं चक्रवद्बहुवेदनः । स त्वं

नष्ट नहीं होती है ॥ ५१ ॥ जो पुरुष मोहजन्य विविध क्लेशोंका ज्ञानसे उल्लंघन कर जाता है, उस मनुष्यका सब प्राणियोंके सहवाससे भी अशुभ नहीं होता है ॥५२॥ ज्ञानी पुरुष बुद्धिके बलसे लोकमार्ग (इस जगत्में चलते हुए मार्ग) का नाश नहीं करते हैं, मोक्षके उपायको जानने वाले महात्माओंने कहा है, कि-अपनेमें जो चेतन रहता है, वह आदि तथा अन्तरहित है, सब जन्तुओंमें जन्म लेता है, जीवात्माके साथ (साक्षीरूपसे) रहता है, वह कर्ता नहीं है, मूर्तिमान् नहीं है, मनुष्य अपने किये हुए कर्मानुसार नित्य सुख और दुःख भोगता है ॥ ५३-५४ ॥ वह दुःखोंका नाश करनेके लिये अनेक प्राणियोंकी हिंसा करता है और उससे बहुतसे नवीन २ कर्म उत्पन्न करता है और नवीन २ जन्म पाता है ॥५५॥ और फिर रोगी जैसे अपथ्य कर दुःखी होता है, तैसे ही मोहसे अन्धा बना हुआ दुःखोंको सुख मानने वाला नित्य नवीन २ कर्मोंसे संतप्त होता है ॥ ५६ ॥ कर्मबद्ध पुरुष दही बिलोनेकी रईकी समान सदा बँधता रहता है और दबाया जाता है, इस प्रकार कर्मोंमें बँधा हुआ जीव जब

तिष्ठत्यबंधस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः ॥ ५८ ॥ सर्ववित्सर्वजित्सिद्धो भवभावविवर्जितः । संयमेन नवं बंधं निवर्त्य तपसो बलात् ॥ संप्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकोनत्रिंशा- धिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२९ ॥

नारद उवाच अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् । निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते ॥ १ ॥ शोकस्थान- सहस्राणि भयस्थानशतानि च । दिवसे दिवसे मूढमाविशंति न पण्डितम् ॥२॥ तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे । तिष्ठते चेद्वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम् ॥ ३ ॥ अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप-

अपने कर्मोंका उदय होता है तब योनियोंमें उत्पन्न होता है ५७ और अनेक वेदनाओंको भोगता हुआ इस संसारमें चक्रकी समान जन्ममरणके चक्कर काटा करता है, परन्तु तू तो बन्धन तथा कर्मसे मुक्त है ॥५८॥ सब वस्तुको जानने वाले और काम क्रोध आदिको जीतने वाले तुझे सिद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये, और सब वासनाओंसे मुक्त होना चाहिये, बहुतसे मनुष्योंने संयम करके और तपके बलसे कर्मके नवीन बन्धनोंको त्याग कर दुःखरहित बड़ा सुख देने वाली सिद्धि पाई है ॥५९॥ तीनसौ उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२९ ॥ छ छ

नारदजीने कहा, कि-शोकका नाश करनेके लिये शान्ति देने वाले कल्याणप्रद शास्त्रको सुन कर मनुष्य बुद्धि पाता है और बुद्धिसे सुख पाता है ॥ १ ॥ शोक करनेके सहस्रों अवसर आते हैं और भयभीत होनेके भी सैंकड़ों अवसर आते है, वे मूर्खों पर प्रतिदिन अपना प्रभाव जमाते है, परन्तु पण्डित पर उनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता ॥ २ ॥ अतः अनिष्टका नाश करनेके लिये तू मेरे कहे हुए इतिहासको सुन, यदि बुद्धि वश

योगात्प्रियस्य च । मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥४॥ द्रव्येषु समतीतेषु गुणास्तान्न विचिंतयेत् । न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥ दोषदर्शी भवेत्तत्र यत्र रागः प्रवर्तते । अनिष्टवर्धितं पश्येत्तथा क्षिप्रं विरज्यते ॥ ६ ॥ नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति । अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते॥७॥ गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च । सर्वाणि नैत-देकस्य शोकस्थानं हि विद्यते॥८॥ मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीत-मनुशोचति । दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ९ ॥ नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्ध्या दृष्ट्वा लोकेषु संततिम् । सम्यक्प्रपश्यतः सर्वं

में रहती है तो शोकका नाश होजाता है ॥ ३ ॥ अनिष्ट वस्तुका संयोग होने पर और प्रिय वस्तुका वियोग होने पर अल्पबुद्धि वाले मनुष्य मानसिक दुःख पाया करते हैं ॥४॥ भूतकालमें हुई वस्तुओंके गुणोंका स्मरण कर मनुष्य शोक न करे, यदि मनुष्य भूतकालकी वस्तुका प्रेमसे विचार करता है, तो वह स्नेह बन्धन-वाला कहलाता है, जिस वस्तु पर प्रेम होने लगे उस वस्तुके प्रति दोष-दृष्टिसे देखना चाहिये तथा वह वस्तु अनिष्ट करने वाली है,ऐसा समझना चाहिये, इस प्रकारकी दृष्टि करनेसे तुरत विराग होजाता है ॥ ५-६ ॥ जो पुरुष भूतकालका शोक करता है उस पुरुषको उससे धर्मका, अर्थका अथवा यशका लाभ नहीं होता है (अर्थात् गई हुई वस्तु लौट कर नहीं आती है ॥ ७ ॥ प्राणियोंको कितनी ही वार वस्तुएँ मिल जाती हैं) और बहुत वार उनसे वियोग भी होजाता है.ये सब एक ही मनुष्यके शोकस्थान नहीं होते हैं ॥८॥ जो मनुष्य मरेहुए अथवा नष्ट हुए पदार्थोंका शोक करता है, वह मनुष्य एक दुःखसे दूसरे दुःखको पाता है, इस प्रकार वह दो अनर्थोंको पाता है ॥ ९ ॥ जो बुद्धिसे जगत्की वृद्धि (और नाश) को देखता है, वह रोता

नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥ १० ॥ दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते । यस्मिन्न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ॥ ११ ॥ भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत् । चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥ १२ ॥ प्रज्ञया मानसं दुखं हन्याच्छारीरमौषधैः । एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १३ ॥ अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः । आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥ १४ ॥ न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति । अशोचन्प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ १५ ॥ सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः । स्निग्धत्वं चेंद्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ १६ ॥ परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं

नहीं है, जो सम्यक् दृष्टिसे देखता है, उसको किसी समय भी आँसू गिरानेका अवसर नहीं आता है ॥ १० ॥ शारीरिक अथवा मानसिक कष्टका अवसर आने पर यदि अपना प्रयत्न दुःख दूर करनेमें सफल न हो तो उसका विचार न करे ॥ ११ ॥ अपने ऊपर पड़े हुए दुःखका विचार न करना ही उसकी औषध है, क्योंकि-दुःखका विचार करनेसे दुःख घटता नहीं है उल्टा बढता ही है ॥ १२ ॥ मानसिक दुःखका प्रज्ञासे नाश करे और शारीरिक दुःखोंका औषधियोंसे नाश करे, यह विज्ञानकी सामर्थ है, दुःख पडने पर बालकों अर्थात् मूर्खोंकी समान वर्ताव न करना चाहिये ॥ १३ ॥ यौवन, रूप, जीवन, धनका संग्रह, आरोग्य, प्रिय मनुष्योंके साथ निवास इन सब नाशवान् वस्तुओं में पण्डित मोहित नहीं होते हैं ॥ १४ ॥ सारे देशके दुःखके लिये एक मनुष्यको शोक न करना चाहिये और उसका उपाय प्रतीत होजाय तो शोक न कर उस (दुःख दूर करने) के उपायको करे ॥१५॥ इस जीवनमें दुःख सुखसे अधिक (भोगने पडते) हैं तथा मोहवश इन्द्रियोंके विषयोंसे स्नेह होजाता है

नरः । अभ्येति अत्र सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः ॥ १७ ॥ त्यजन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः । दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिंतयेत् ॥१८॥ अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।अतृप्ता यांति विध्वंसं सन्तोषं यान्ति पंडिताः१६ सर्वे क्षयांता निचयाः पतनांताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगांता मरणांतं हि जीवितम् ॥ २० ॥ अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।तस्मात्संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पंडिताः२१ निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति । स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिंतयेत्॥२२॥ भूतेषु भावं संचिंत्य ये बुद्ध्वा मनसः

और मरण अच्छा नहीं लगता है ॥ १६ ॥ जो मनुष्य सुख और दुःख इन दोनोंको त्याग देता है वह परब्रह्मको पाता है और पण्डित उस पुरुषका शोक नहीं करते हैं ॥ १७ ॥ धन दूसरोंको देनेमें दुःख होता है, उसकी रक्षा करनेमें भी दुःख होता है और उसको पानेमें भी दुःख होता है, अतः ऐसे धनके नष्ट होने पर चिन्ता न करनी चाहिये ॥ १८ ॥ धनसंग्रहसे भिन्न २ अवस्था होने पर भी मनुष्यको अधिककी आशा लगी रहती है और अन्तमें वह सन्तुष्ट न रहकर मर जाता है, परन्तु पण्डित पुरुष सदा सन्तुष्ट ही रहते हैं ॥१६॥ सब संग्रह (मिलावट) परिणाममें नष्ट होंगे, जो ऊपर चढ गए है वे गिरेंगे, संयोगका अन्त वियोगमें होता है और जीवन मरणरूप परिणाम वाला है ॥ २० ॥ पिपासा (तृष्णा) का अन्त नहीं है और सन्तोष परम सुखस्वरूप है, इसलिये इस संसारमें पंडित सन्तोषको ही परमधन मानते हैं ॥ २१ ॥ आयु सदा चलती रहती है, यह निमेषमात्रके लिये भी खड़ी नहीं रहती, यह शरीर ही जब अनित्य है फिर दूसरी किस वस्तुको नित्य समझें १२२ जो सब प्राणियोंमें भाव (परमात्मा) है, ऐसा विचार पूर्वक

परम् । न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥ संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् । व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २४ ॥ तथाप्युपायं संपश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम् । अशोचन्नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २५ ॥ शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च । नोपभोगात्परं किंचिद्धनिनो वाधनस्य च ॥२६॥ प्राक्संप्रयोगाद्भूतानां नास्ति दुःखं परायणम् । विप्रयोगात्तु सर्वस्य न शोचेत्प्रकृतिस्थितः ॥ २७ ॥ धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा । चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥ २८ ॥ प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितर-

जानते हैं और उसको मनसे पर (अशुद्ध मनसे समझमें न आने वाला) समझते हैं, वे मोक्षमार्गमें जाने पर परमात्माको देखते हुए शोक नहीं करते हैं॥२३॥जंगलमें नई २ घास खोजने के लिये निकले हुए और तृप्त न होकर घूमते हुए पशुको जैसे बाघ उठा कर लेजाता है, तैसे ही पुरुष पदार्थोंका संग्रह कर रहा होता है और कामनाओंसे तृप्त नहीं हुआ होता है तब भी मृत्यु उसको घसीट कर लेजाती है ॥२४॥ अत एव मनुष्यको दुःखमें से छूटनेके लिये उपाय करना चाहिये, जो मनुष्य सब प्रकारके व्यसनोंसे रहित होजाता है, वह मुक्त होजाता है ॥२५॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयोंमें उपभोगके अतिरिक्त निर्धन या धनीको और कुछ नहीं मिलता है ॥२६॥ विषयोंका समागम होनेसे पहिले प्राणियोंको दुःख नहीं होता है; अतः जो पुरुष अपनी मूलप्रकृतिकी स्थितिमें रहता है उसको स्त्री, पुत्र, धन और धान्य आदिके वियोगसे कुछ भी दुःख नहीं होता है २७ धैर्यसे उपस्थेन्द्रिय और उदरकी रक्षा करे,नेत्रसे हाथ पैर की रक्षा करे, मनसे नेत्र तथा कानकी रक्षा करे और ब्रह्मविद्या से मन तथा वाणीकी रक्षा करे ॥२८॥ अपनेको पहिचान कर

रेषु च । विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी रा च पण्डितः ॥ २९ ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः । आत्मनैव सहायेन यश्चरेत्स सुखी भवेत् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३० ॥

नारद उवाच । सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते । नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम् ॥ १ ॥ स्वभावाद्यत्नमातिष्ठेद्यत्नवान्नावसीदति । जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ॥ २ ॥ रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः । सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः ॥ ३ ॥ व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः । अवशस्य विनाशाय शरीरमप-

---

तथा दूसरे मनुष्यों परसे प्रीतिको हटा कर जो नम्र बन इस जगत्में विचरता है उसको सुखी और पण्डित समझना चाहिये ॥ २९ ॥ जो पुरुष आत्मामें प्रीति रखता है (अर्थात् जिसको स्त्री पुत्र आदि बाहरी पदार्थ आनन्द नहीं देते है) जो योगसाधन करता है निरपेक्ष रहता है, लोभका त्याग करता है और अपने आत्मारूप सहायकके साथ ही विचरता है वह सुखी होता है ॥ ३० ॥ तीनसौ तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३३० ॥

नारदजीने कहा, कि—जब जीवनमें सुख और दुःखके परिवर्तन के अवसर आते हैं, उस समय मनुष्यकी बुद्धि, सुनीति अथवा पुरुषार्थ उनको रोक नहीं सकते ॥ १ ॥ अतः पुरुष स्वभावसे ही प्रयत्न करे (क्योंकि—) प्रयत्न करनेवाला पुरुष दुःखी नहीं होता है, मनुष्य अपने आत्माको प्रिय समझकर उसकी जरा, मरण और रोगसे रक्षा करे ॥ २ ॥ शारीरिक और मानसिक रोग दृढ धनुषधारीके छोड़े हुए बाणोंकी समान शरीरको पीडित करते हैं ॥ ३ ॥ अनेक तृष्णाओंसे पीडा पाते हुए, दुःखी होते

कृष्यते ॥ ४ ॥ स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव । आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥ ५ ॥ व्यत्ययोऽयमनन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः । जातान्मर्त्याञ्जरयति निमेषान्नावतिष्ठते ॥ ६ ॥ सुखदुःखानि भूतानामजरो जरयत्यसौ । आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ॥ ७ ॥ अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान् । इष्टानिष्टान्मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः ॥ ८ ॥ योऽयमिच्छेद्यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात् । यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ॥ ९ ॥ संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः । दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ॥ १० ॥ अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषा-

---

हुए, जीनेकी इच्छा रखते हुए पराधीन मनुष्यका शरीर नाश की ओर घसिटता जाता है ॥ ४ ॥ नदियोंके स्रोत आगेको ही बढ़ते रहते हैं, पीछेको कभी नहीं लौटते हैं; ऐसे ही दिन और रात भी मनुष्योंकी आयुको हरते हुए चले जाते हैं और पीछेको नहीं लौटते हैं ॥ ५ ॥ शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष एकके पीछे एक आते रहते हैं और वे जन्म धारण करनेवाले मनुष्योंको क्षीण करते रहते हैं और क्षण भरके लिये भी खड़े नहीं रहते ॥ ६ ॥ अक्षय आदित्य बारम्बार उदय तथा अस्त होकर मनुष्योंके सुख और दुःखोंको पकाया (तयार किया) करता है ॥ ७ ॥ और रात्रियें भी मनुष्योंके बिना विचारे हुए भाग्यके अधीन रहनेवाले अच्छे अथवा बुरे प्रसंगोंको लेकर आती हैं और चली जाती हैं ॥ ८ ॥ पुरुषकी क्रिया का फल यदि (पुरुषके) अपने अधीन होता तो वह जिस फल की इच्छा करता उसको ही पा सकता था ॥ ९ ॥ इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले, कुशल और बुद्धिमान् मनुष्य भी यदि कर्म नहीं करते है तो उनको भी फल नहीं मिलता है ॥ १० ॥ और

धमाः ॥ आशीर्भिरप्यसंयुक्ता ईश्यन्ते सर्वकामिनः ॥११॥ भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः । वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते ॥१२॥ अचेष्टमानमासीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठते । कश्चित्कर्मानुसृत्यान्यो नामाप्यमधिगच्छति ॥ १३ ॥ अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः । शुक्रमन्यत्र संभूतं पुनरन्यत्र गच्छति ॥ १४ ॥ तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा । आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते ॥ १५ ॥ केषांचित्पुत्रकामानामनुसंतानमिच्छताम् । सिद्धौ प्रयतमानानां न, चाण्डमुपजायते ॥१६॥ गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव । आयुष्माञ्जायते पुत्रः कथं प्रेत्य इवाभवत् ॥ १७ ॥ देवानिष्ट्वा तप-

---

जो मूर्ख तथा गुणरहित होते हैं तथा पुरुषोंमें अधम होते हैं, उनको कोई आशीर्वाद नहीं मिला होता है तब भी उनकी सब कामनाएँ पूर्ण होतीं हुई दीखती हैं । ११ ॥ और बहुतसे नित्य हिंसा करने वाले और प्राणियोंको सदा ठगते रहने वाले पुरुष सुख भोगते हुए दीखते हैं ॥१२॥ कोई पुरुष कर्म किये बिना बैठे रहते हैं, तब भी लक्ष्मी उनकी सेवा करती है और बहुतसे पुरुषोंको कर्म करने पर भी अभिलषित वस्तु नहीं मिलती । १३ ऐसा होने पर पुरुषको अपने (प्रारब्ध) का अपराध (दोष) समझना चाहिये, स्वभावतः शुक्र एक स्थानसे उत्पन्न होकर और स्थलोंमें जाता है ॥ १४ ॥ शुक्र यदि योनिमें पड़ता है तो गर्भ रह जाता है और (वीर्य तथा रज इकट्ठे नहीं होते हैं तो) नहीं भी रहता है, उसका परिणाम आमके मौलकी समान होता है ॥ १५ ॥ कोई पुरुष पुत्र और पौत्रकी इच्छा करता है और उसकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है तब भी उसके सन्तान नहीं होती ॥ १६ ॥ और जो क्रोधमें भरे हुए सर्पकी समान गर्भसे डरते हैं उनके यहाँ, वह स्वयं ही मरण पाकर किसी प्रकार उत्पन्न

स्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः । दश मासान्परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ॥ १८ ॥ अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसंचितान् । विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मंगलैः ॥१९॥ अन्योऽन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे । उपद्रव इवाविष्टो योनिगर्भः प्रपद्यते ॥ २० ॥ शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम् । प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविचेष्टितम् ॥ २१ ॥ निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम् । विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम् ॥ २२ ॥ संगत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम् । केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि ॥ २३ ॥ अन्नपानानि

होगए हों ऐसा, आयुष्मान् पुत्र उत्पन्न होजाता है ॥ १७ ॥ पुत्रकी इच्छा रखने वाले बहुतसे दयनीय पुरुष देवताओंकी पूजा करते हैं तथा तप करते हैं तब दश महीने तक गर्भ रहनेके बाद उनके यहाँ कुलकलंक पुत्र होता है ॥१८॥ और मांगलिक कर्म करनेसे उत्पन्न हुए बहुतसे पुत्र अपने पिताके संग्रह करके रक्खे हुए बहुतसे धन, धान्य और भोगोंका उपभोग करते हैं ॥१९॥ जब स्त्री और पुरुष परस्पर एकत्रित होकर समागम करते हैं तब उपद्रवकी समान योनिमें गर्भका प्रवेश होता है ॥ २० ॥ जैसे ही प्राणका संरोध होता है, तैसे ही दूसरे तत्त्व (स्वर्गके और नरकके बीजरूप स्थूल) शरीरके नष्ट होते ही मांस और श्लेष्ममय स्थूलशरीरसे जिसने चेष्टाकी थी उस जीवको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ २१ ॥ एक नौकाके मनुष्योंको उतारनेके लिये दूसरी नौका जैसी तयार रक्खी जाती है, तैसे ही एक शरीरका नाश होने पर जले हुए और नष्ट हुए शरीरके आश्रित जीवको लेनेके लिये पूर्वकी समान एक दूसरा नाशवान् शरीर तयार हो रक्खा होता है ॥ २२ ॥ समागम कर उदरमें अचेतन वीर्यकी बूँद डाली जाती है (और गर्भ रहता है) वह गर्भ किस

जीर्यन्ते यत्र भक्ष्यार्थाः भक्षिताः। तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते ॥ २४ ॥ गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियमा गतिः। धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः ॥ २५ ॥ स्रवन्ति ह्युदराद्गर्भा जायमानास्तथापरे। आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते॥२६॥ एतस्माद्योनिसम्बन्धाद्यो बीजं परिमुच्यते। प्रजां च लभते कांचित्पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति ॥ २७ ॥ स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम्। प्राप्नुवन्ति ततः पंच न भवन्ति गतायुषः ॥ २८ ॥

प्रयत्नसे जीता है, यह तू जानता है ॥२३॥ जिस उदरमें अन्न, जल और भक्ष्य पदार्थ जीर्ण होजाते हैं, उस उदरमें अन्न भी गर्भकी समान क्यों नहीं पच जाता ॥२४॥ और जिस उदरमें मूत्र तथा विष्ठा स्वाभाविकरीतिसे रहते हैं, उस गर्भमें रहने और निकलनेमें भी जीव स्वतन्त्र नहीं है ॥ २५ ॥ बहुतसे जीव गर्भमेंसे स्रव जाते हैं, बहुतसे उत्पन्न होजाते हैं और बहुतसे जन्म लेकर मर जाते हैं ॥ २६ ॥ इस प्रकार योनिसम्बन्ध होनेसे जो पुरुष (स्त्रीकी योनिमें) वीर्य छोड़ता है, तब उसके सन्तान होती है और वह संतान फिर मैथुनकर्ममें तत्पर होजाती है, (इस प्रकार सृष्टिका व्यवहार चलता रहता है) ॥२७। अनादिकालके प्रवाहसे बँधे हुए देहकी आयुके क्षय होनेका जब अवसर आता है, तब शरीरके पाँचों भूत सातवीं (स्थविर) दशा और नवमी (प्राणरोधकी) दशाको पाते हैं, परन्तु आत्मामें इनसे कोई विकार नहीं आता है (शरीरकी दश अवस्थाएँ इस प्रकार हैं-१ गर्भवास, २ जन्म ३ बाल्य ४ कुमारावस्था ५ पौगंडावस्था ६ यौवन ७ स्थविरता ८ जरा ९ प्राणरोध और १० नाश इन दश अवस्थाओंमें पाँच वर्ष तक बाल्यावस्था, बारह वर्ष तक कुमारावस्था, सोलह वर्ष तक पौगण्डावस्था, अड़तालीस वर्ष तक यौवनावस्था और बादको जरावस्था समझना चाहिये) ॥२८॥

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः । व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ॥ २९ ॥ व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम् वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ३० ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः संभृतौषधाः । व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः ॥ ३१ ॥ ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च । दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ३२ ॥ के वा भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान्मृगपक्षिणः । श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते ॥ ३३ ॥ घोरानपि दुराधर्षान्नृपतीनुग्रतेजसः । आक्रम्याददते रोगाः पशून्पशुगणा इव ॥ ३४ ॥ इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् । स्रोतसा

बहेलियेसे पीड़ा पाते हुए छोटे २ मृगोंकी समान जब मनुष्य व्याधियोंसे पीड़ित होने लगता है तब वह उठ भी नहीं सकता ॥ २९ ॥ जब रोग मनुष्यको दुःख देने लगते हैं तब मनुष्य बहुतसा धन खरच करता है परन्तु वैद्य प्रयत्न करने पर भी रोगीकी पीड़ाको दूर नहीं कर सकते ॥ ३० ॥ व्याधेके हाथमें पड़ कर जैसे मृग पीड़ा पाते है तैसे ही अतिनिपुण, कुशल और औषधियोंका बड़ा भारी संग्रह रखने वाले वैद्य भी रोगोंसे दुःखी होते हैं ॥ ३१ ॥ अनेक प्रकारके कषाय और नानाप्रकारके घृतों का पान करने वाले भी जरावस्थासे हाथियोंसे नष्ट किये गए वृक्षोंकी समान निर्बल होते हुए देखनेमें आते हैं ॥ ३२ ॥ इस पृथ्वीमें पशु और पक्षी जब रोगसे पीड़ित होते हैं, तब उनकी रक्षा कौन करता है ? पशु, पक्षी और दरिद्र पुरुष अधिकतर बीमार नहीं होते हैं ॥ ३३ ॥ परन्तु बड़े २ पशु जैसे छोटे २ पशुओं पर चढ़ाई कर उनको वशमें कर लेते हैं, तैसे ही रोग भी भयङ्कर, दुराधर्ष और उग्र तेज वाले राजाओंको पकड़ कर अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ३४ ॥ इस प्रकार जगत् अपने दुःख

सहसाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ॥ ३५ ॥ न धनेन न राज्येन नोग्रेण तपसा तथा ।स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः३६ न म्रियेरन्न जीयरन्सर्वे स्युः सर्वकामिनः । नाप्रियं प्रतिपश्येयु-रुत्थानस्य फले सति ॥ ३७ ।। उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते । यतते च यथाशक्ति न च तद्वर्तते तथा ॥३८॥ ऐश्वर्य-मदमत्तांश्च मत्तान्मद्यमदेन च । अप्रमत्ताः शठाः शूरा विक्रांताः पर्युपासते ॥ ३९ ॥ क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषांचिदसमीक्षिताः । स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किंचिदधिगम्यते ॥ ४० ॥ महच्च फल-वैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु । वहन्ति शिबिकामन्ये यांत्यन्ये शिबिका-

के कारण शब्द नहीं कर सकता, मोह तथा शोकमें डूबा हुआ है और वह बलवान् कालके प्रवाहमें फँस कर घिसटा हुआ चला जारहा है ॥ ३५ ॥ देहधारी जीव अपनी रक्षा करनेके लिये तत्पर होता है और प्रयत्न करता है तो भी धनसे, राज्यसे तथा भयङ्कर तप करके भी शरीरके स्वभावमें परिवर्तन नहीं किया जासकता ॥ ३६ ॥ देहधारी यदि प्रयत्नका फल पासकते तो वे मरते नही और वृद्ध भी नहीं होते तथा सब अपनी काम-नाओंको पूर्ण कर लेते तथा उनको अशुभ देखनेका भी समय नही आता ॥ ३७ ॥ सब मनुष्य उत्तरोत्तर बढ़ना चाहते हैं, और अपनी शक्तिके अनुसार प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु उनकी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं होता है ॥ ३८ ॥ सावधान रहने वाले, प्रमाणिक, शूर और पराक्रमी पुरुष, ऐश्वर्यके मदसे मत्त हुए तथा धनके मदसे मत्त हुए पुरुषोंकी सेवा करते हैं ॥ ३९ ॥ कितने ही पुरुष अपने दुःखों पर ध्यान देते हैं तो उनका दुःख नष्ट होजाता है और बहुतसोंके पास थोड़ासा भी धन नहीं होता है, तब भी वे दुःखरहित प्रतीत होते है ॥ ४० ॥ इस प्रकार कर्मके फलमें बड़ी विपमता दीखती है, कितने ही पुरुप पालकी

कागताः ॥ ४१ ॥ सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः । मनुष्यांश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः ॥ ४२ ॥ द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः । इदमन्यत्पदं पश्य मात्र मोहं करिष्यसि ॥ ४३ ॥ त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४४ ॥ एतत्ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम । येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकाद्दिवं गताः ॥ ४५ ॥ नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान् । संचिन्त्य मनसा धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ४६ ॥ पुत्रदारैर्महान्क्लेशो विद्याम्नाये महाञ्छ्रमः । किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम् ॥ ४७ ॥ ततो मुहूर्तं संचित्य निश्चितां गति-

---

उठाते हैं तो कितने ही पालकीमें बैठ कर जाते हैं ॥ ४१ ॥ सब मनुष्य धन चाहते हैं, परन्तु उनमेंसे थोड़ोंके पास रथ होते हैं, बहुतसोंकी स्त्रियें मर जाती हैं (फिर उनका विवाह नहीं होता) और बहुतोंके सहस्रों स्त्रियें होती हैं ॥ ४२ ॥ सुख और दुःख एक साथ रहते हैं, इनमें कितने ही प्राणियोंको दुःख और कितने ही प्राणियोंको सुख होता है, इस आश्चर्यको तू देख और मोहमें मत पड़ ॥ ४३ ॥ तू धर्मका और अधर्मका त्याग कर, सत्य तथा असत्य इन दोनोंको त्याग दे और जिसकी सहायतासे सत्य तथा असत्य इन दोनोंको त्यागता है उसको भी त्याग दे अर्थात् बुद्धिको भी त्याग दे ॥ ४४ ॥ हे ऋषियोंमें श्रेष्ठ ! मैंने तुमसे यह परमगुप्त बात कही है, इसको जान कर देवता मर्त्यलोकका त्याग कर स्वर्गमें गए हैं ॥ ४५ ॥ नारदजी की बात सुन कर परमबुद्धिमान् और धीर शुकने मनमें विचार किया, परन्तु वह कुछ निश्चय न कर सके ? ॥ ४६ ॥ कि-पुत्र तथा स्त्रियोंसे बड़ा क्लेश होता है, विद्या और वेद पढ़नेमें बड़ा श्रम पड़ता है, तब थोड़े क्लेश वाला होने पर भी

मात्मनः । परावरज्ञो धर्मस्य-परान्नैश्रेयसीं गतिम् ॥ ४८ ॥ कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम् । नावर्तेयं यथा भूयो योनिसंकरसागरे ॥ ४९ ॥ परं भावं हि कांक्षामि यत्र नावर्तते पुनः । सर्वसंगान्परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम् ॥ ५० ॥ तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति । अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः ॥ ५१ ॥ न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः । अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ॥ ५२ ॥ तस्माद्योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम् । वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम् ॥ ५३ ॥ न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुर

महाफल देने वाला कौनसा स्थान होगा ॥ ४७ ॥ तदनन्तर भूत और भविष्यको जानने वाले शुकने दो घड़ी तक अपने लिये निर्माण की हुई गतिका विचार करके सर्वोत्तम गति पानेका निश्चय किया ॥ ४८ ॥ उन्होंने मनमें विचारा, कि–मैं (सब उपाधियोंसे) मुक्त होकर उत्तम गतिको किस प्रकार पाऊँ, कि–जिससे योनिसंकररूप इस संसारमें मुझे फिर न आना पड़े ॥ ४९ ॥ जहाँ जाने पर जीवात्मा फिर इस जगत्में नहीं आता है, ऐसे ब्रह्मभावकी मैं आकांक्षा करता हूँ, सब कर्मोंके फलोंके रागको त्याग कर मनसे अपनी उत्तम गति पानेका मैंने मनमें निश्चय किया है ॥ ५० ॥ मेरे आत्माको जहाँ शान्ति मिलेगी और जहाँ अक्षय अव्यक्त और सनातन आत्मारूपसे रहना होता है तहाँ मैं जाऊँगा ॥ ५१ ॥ परन्तु वह ब्रह्मरूप परगति योगका सेवन किये विना नहीं मिल सकती, क्योंकि–ज्ञानी पुरुषका देहबन्धन कर्म करनेसे नहीं छूटता ॥ ५२ ॥ इसलिये योगका आश्रय करके गृहरूपी शरीरको त्याग वायुरूप होकर तेजके पुञ्जरूप दिवाकरमें मैं प्रवेश करूँगा ॥ ५३ ॥ जैसे (धूमादि-यज्ञादिमार्गसे) सोमलोकमें गया हुआ जीव देवताओंके

गणैर्यथा । कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति॥५४॥ क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते । नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः ॥ ५५ ॥ रविस्तु संतापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः । सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमंडलः ॥ ५६ ॥ अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम् । अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशंकेनांतरात्मना ॥५७॥ सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम् । ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोतिदुःसहम् ॥ ५८ ॥ आपृच्छामि नगान्नागान्गिरिमुर्वीं दिशो दिवम् । देवदानवगन्धर्वान्

साथ अपना पुण्य क्षीण होने पर कम्पायमान होकर भूमि पर पड़ता है और जब उसके पुण्यकी वृद्धि होती है, तब वह फिर स्वर्गमें जाता है और (अर्चिरादिमार्गसे) तेजःपुञ्ज दिवाकरमें प्रवेश करने वालेको फिर मृत्युलोकमें नहीं आना पड़ता है ५४ चन्द्रमा भी नित्य (कृष्णपक्षमें) क्षीण होता है और (शुक्लपक्षमें) फिर बढ़ता है, इस लिये चन्द्रमाको वारम्वार क्षीण होता और फिर बढ़ता हुआ समझ कर मैं चन्द्रलोकमें प्रवेश करना नहीं चाहता ॥ ५५ ॥ परन्तु सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणोंसे सब लोकोंको सन्ताप देता है, (उसकी कलामें घटती बढ़ती नहीं होती है) सब पदार्थोंमेंसे रसको खेंचता है तथा उसका मण्डल सदा अक्षय रहता है ॥ ५६ ॥ इस लिये मुझे प्रकाशमान् तेज वाले सूर्यमण्डलमें प्रवेश करनेकी इच्छा होती है, तहाँ सूर्यमण्डल में निःशंक चित्तसे (पुनर्जन्म पानेके अथवा दुःख पानेके भयसे मुक्त होकर) निवास करूँगा और तहाँ मेरा कोई तिरस्कार न कर सकेगा । इसलिये मैं सूर्यके घरमें अपने इस शरीरको डाल कर ऋषियोंके साथ अतिदुःसह सूर्यके तेजमें प्रवेश करूँगा ॥५८॥ अब मैं वृक्षोंसे, हाथियोंसे, पर्वतोंसे, पश्चिम दिशाओं (के दिक्पालों) से, आकाशसे, देव, दानव, गन्धर्व,

पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ५९ ॥ लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः । पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवा सहर्षिभिः ॥६०॥ अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम् । तस्मादनुज्ञां संप्राप्य जगाम पितरं प्रति ॥ ६१ ॥ सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम् । शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान्मुनिम् ॥६२॥ श्रुत्वा चर्षिस्तद्वचनं शुकस्य प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम् । भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे॥६३॥निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः । मोक्षमेवानुसंचिन्त्य गमनाय मनो दधे ॥ ६४ ॥ पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः । कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसंघनिषेवितम्॥६५॥एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पिशाच, सर्प तथा राक्षसोंसे भी कहता हूँ, कि-इस जगत्में रहने वाले सब प्राणियोंमें मैं प्रवेश करूँगा, इसमें सन्देह न करो, सब देवता और ऋषि मेरे योगके प्रभावको देखें ॥ ५९-६० ॥ इस प्रकार कह कर लोकोंमें प्रसिद्ध नारद ऋषिको उन्होंने आज्ञा दी और उनको आज्ञा ली, फिर वह अपने पिताके पास गए ।६१। शुकने महात्मा कृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की फिर कृष्णद्वैपायन मुनिसे (अर्चिरादि मार्गसे) जानेकी आज्ञा माँगी ॥६२॥ महात्मा व्यास ऋषि शुकके कहनेको सुन कर प्रसन्न हुए और उनसे बोले, कि-"हे पुत्र ! मैं आज तुझको देख कर अपने नेत्रोंको प्रसन्न करूँ, तब तक तू खड़ा रह ॥ ६३ ॥ परन्तु शुकको किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं थी, उनमेंसे स्नेह भी जाता रहा था और उनके संशय भी दूर होगए थे इस लिये उन्होंने मोक्ष पानेका ही विचार करते २ गमनकी ओर मनको प्रेरित किया ॥ ६४ ॥ इस कारण वह मुनिसत्तम अपने पिताको त्याग कर सिद्ध पुरुषोंसे सेवित विशाल कैलास पर्वतकी ओर गए ॥ ६५ ॥ तीनसौ इकतीसवाँ अध्याय समाप्त

भीष्म उवाच । गिरिशृङ्गं समारुह्य सुतो व्यासस्य भारत । समे देशे विविक्ते स निःशलाक उपाविशत् ॥१॥ धारयामास चात्मानं यथा शास्त्रं यथाविधि । पादप्रभृतिगात्रेषु क्रमेण क्रमयोगवित् २ ततः स प्राङ्मुखो विद्वानादित्येनाचिरोदिते । पाणिपादं समादाय विनीतवदुपाविशत् ॥ ३ ॥ न तत्र पक्षिसंघातो न शब्दो नातिदर्शनम् । यत्र वैयासकिर्धीमान् योक्तुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥ स ददर्श तदात्मानं सर्वसंघविनिःसृतम् । प्रजहास ततो हासं शुकः संप्रेक्ष्य तत्परम् ॥ ५ ॥ स पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये । महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्यक्रामद्विहायसम् ॥ ६ ॥ ततः प्रदक्षिणं कृत्वा देवर्षिं नारदं ततः । निवेदयामास च तं स्वं योगं

भीष्मजीने कहा, कि–हे भरतवंशी राजन् ! व्यासजीके पुत्र शुक पर्वतके शिखरके ऊपर चढकर तृणरहित एकान्त सपाट स्थानमें बैठे ॥१॥ फिर अपने क्रमको जाननेवाले शुकने शास्त्रानुसार विधिपूर्वक पैरसे आरम्भ कर शरीरके सब अवयवोंमें अनुक्रमसे आत्माकी धारणा करना आरम्भकी ॥ २ ॥ फिर थोड़े ही समयमें सूर्यका उदय हुआ, तब विद्वान् शुक पूर्वदिशा की ओर मुख करके अपने हाथ और पैरोंको यथायोग्यरीतिसे करके विनयीकी समान बैठे ॥ ३ ॥ जिस स्थानमें व्यासजीके पुत्र योगसाधना करनेकी तयारी करते हुए बैठे थे तहाँ पक्षी नहीं थे किसीका शब्द सुनाई नहीं आता था, तैसे ही वह स्थान किसीकी दृष्टिमें भी नहीं पड़ता था, उस समय शुकने अपने आत्माको सब संगोंसे रहित देखा, शुकदेव उस पर–आत्माको देखकर बहुत हँसे ॥ ५ ॥ फिर उन्होंने मोक्षमार्ग पानेके लिये फिर योगका सेवन करना आरम्भ किया और महायोगीश्वर होकर उन्होंने आकाशका उल्लंघन किया६तदनन्तर देवर्षि नारद की प्रदक्षिणा करके उन परमर्षिसे अपने योगकी बात निवेदन

परमर्षये ॥ ७ ॥ शुक उवाच । दृष्टो मार्गः प्रवृत्तोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु तपोधन । त्वत्प्रसादाद्‌ गमिष्यामि गतिमिष्टां महाद्युते॥८॥ नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायनात्मजः । अभिवाद्य पुनर्योग-मास्थायाकाशमाविशत् ॥ ९ ॥ कैलासपृष्ठादुत्पत्य स पपात दिवं तदा । अन्तरिक्षचरः श्रीमान्वायुभूतः सुनिश्चितः ॥ १० ॥ तमुद्यन्तं द्विजश्रेष्ठं वैनतेयसमद्युतिम् । ददृशुः सर्वभूतानि मनोमारुत-रंहसम् ॥ ११ ॥ व्यवसायेन लोकांस्त्रीन्सर्वान् सोऽथ विचिंतयन् । आस्थितो दीर्घमध्वानं पावकार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥ तमेकमनसं यांतमव्यग्रमकुतो भयम् । ददृशुः सर्वभूतानि जंगमानि चराणि च ॥ १३ ॥ यथाशक्ति यथान्यायं पूजां वै चक्रिरे तदा । पुष्प-

की ॥ ७ ॥ शुकने कहा कि-हे तपोधन ! मैंने मोक्षमार्गको देखा है अब मैं तहाँ जानेको प्रवृत्त हुआ हूँ, आपका कल्याण हो, हे महाकान्तिमान् मुने ! मैं आपकी कृपासे अपनी इष्टगतिको पाऊँगा ॥ ८ ॥ यह सुनकर नारदजीने उनको आज्ञा दी, तब द्वैपायनके पुत्र शुकदेवजीने प्रणाम किया फिर योगका सेवन कर आकाशमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥ श्रीमान् शुकने आकाशमें उड़नेका निश्चय करके वायुका रूप धारण किया और कैलास-पर्वतके शिखर परसे उड़कर आकाशमें फिरने लगे॥ १० ॥ सब प्राणी गरुड़की समान कान्तिवाले और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ शुकको मन और पवनकी समान वेगसे उड़तेहुए देखने लगे ॥ ११ ॥ उस समय शुकने अग्नि और सूर्यकी समान प्रभाववाले तीनों लोकोंको ब्रह्मकी समान देखा तब वह उस लंबे मार्गमें आगेको चढ़े ॥ १२ ॥ एकाग्र मनवाले शान्त और निर्भयपनेसे आगेको बढ़ते हुए शुककी ओर स्थावर जङ्गमात्मक सबप्राणियोंने दृष्टि डाली ॥ १३ ॥ उस समय सब प्राणियोंने अपनी अपनी शक्ति और रीतिके अनुसार उनकी पूजा की और देवताओंने

वर्षैश्च दिव्यैस्तमवचक्रुर्दिवौकसः ॥ १४ ॥ तं दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे गन्धर्वाप्सरसां गणाः । ऋषयश्चैव संसिद्धाः परं विस्मयमागताः ॥ १५ ॥ अन्तरिक्षगतः कोयं तपसा सिद्धिमागतः । अधःकायोर्ध्ववक्त्रश्च नेत्रैः समभिरज्यते ॥ १६ ॥ ततः परमधर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः । भास्करं समुदीक्षन्स प्राङ्मुखो वाग्यतोऽगमत् ॥ १७ ॥ शब्देनाकाशमखिलं पूरयन्निव सर्वशः। तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा सर्वाप्सरोगणाः॥१८॥ संभ्रान्तमनसो राजन्नासन्परमविस्मिताः। पंचचूडाप्रभृतयो भृशमुत्फुल्ललोचनाः१९ दैवतं कतमं ह्येतदुत्तमां गतिमास्थितम् । सुनिश्चितमिहायाति विमुक्तमिव निःस्पृहम् ॥ २० ॥ ततः समभिचक्राम मलयं नाम

उन पर पुष्पवृष्टिकी ॥ १४ ॥ सब गन्धर्व और अप्सराओंके मण्डल शुकको देख कर विस्मित हुए और सिद्ध ऋषि भी उन को देख कर विस्मित हुए ॥१५॥ (और विचारने लगे, कि) जिसकी काया नीचे रह गई है और जो ऊपरको मुख करके अन्तरिक्षमें चला जारहा है, यह नेत्रोंसे आनन्दित होता हुआ तपसे सिद्धिको प्राप्त करने वाला कौन है ? ॥ १६ ॥ परमधर्मात्मा और तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध यह शुक यहाँसे पूर्वदिशाकी ओर सूर्यके सामने दृष्टि करके, वाणीको नियममें रख कर, अखिल आकाशको अपनी गतिके वेगके कारण होने वाले शब्दसे भरते हुएसे आगेको चले, पञ्चचूड़ा आदि सब अप्सराओंके समूह भी शुकको एक साथ आते हुए देख कर हे राजन् ! मनमें डरने लगे, बड़े विस्मित होने लगे और उनके नेत्र भी हर्षसे प्रफुल्लित होने लगे ॥ १७-१९ ॥ (वे विचारने लगीं, कि-) यह उत्तम गतिको प्राप्त हुआ कोई देवता होगा ? यह निःस्पृह मुक्तिको प्राप्त हुआ कोई पुरुष आरहा है ॥ २० ॥ इतनेमें ही उर्वशी और पूर्वचित्ति नामक अप्सराओंके निवासस्थान मलय-

पर्वतम् । उर्वशी पूर्वचित्तिश्च य नित्यमुपसेवनः ॥ २१ ॥ तस्य ब्रह्मर्षिपुत्रस्य विस्मयं ययतुः परम् । अहो बुद्धिसमाधानं वेदाभ्यासरते द्विजे ॥ २२ ॥ अचिरेणैव कालेन नभश्चरति चन्द्रवत् । पितृशुश्रूषया बुद्धिं संप्राप्तोऽयमनुत्तमाम् ॥२३॥ पितृभक्तो दृढतपाः पितुः सुदयितः सुतः । अनन्यमनसा तेन कथं पित्रा विसर्जितः ॥ २४ ॥ उर्वश्या वचनं श्रुत्वा शुकः परमधर्मवित् । उदैक्षत दिशः सर्वा वचने गतमानसः ॥ २५ ॥ सोंतरिक्षं महीं चैव सशैलवनकाननाम् ।विलोकयामास तदा सरांसि सरितस्तथा २६ ततो द्वैपायनसुतं बहुमानात्समंततः । कृताञ्जलिपुटाः सर्वा निरीक्षन्ते स्म देवताः ॥ २७ ॥ अब्रवीत्तास्तदा वाक्यं शुकः परमधर्मवित् । पिता यद्यनुगच्छेन्मां क्रोशमानः शुकेति वै ॥ २८ ॥

पर्वत पर शुक पहुँच गए ॥२१॥ उन ब्रह्मर्षिके पुत्रको देख कर वे दोनों अप्सराएँ अतिविस्मित होकर बोल उठीं, कि-वेदाभ्यासमें दत्तचित्त इस ब्राह्मणमें कैसी एकाग्रता है ॥२२॥ शुक पिताकी सेवा करके सबसे श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त कर थोड़े ही समयमें आकाशमें चन्द्रमाकी समान घूम रहा है ॥२३॥ यह पिताका भक्त है, इसका तप दृढ़ है, यह पिताका परमप्यारा पुत्र है, पुत्रके अतिरिक्त और किसीसे प्रीति न करने वाले पिताने इस पुत्रको जानेकी आज्ञा कैसे दी होगी ॥ २४ ॥ उर्वशीके इस वचनको सुन कर उस वचनकी ओर परम धर्मात्मा शुकका मन गया तब उन्होंने चारों ओरको देखा ॥ २५ ॥ उन्होंने अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर, तथा पर्वत वाले वन और महावनों पर और सरोवर तथा नदियों पर दृष्टि डाली ॥२६॥ उस समय सब देवता दोनों हाथ जोड़कर मानके साथ द्वैपायनके पुत्रकी ओर देखने लगे ॥ २७ ॥ तब परमधर्मको जाननेवाले शुकने देवताओंसे कहा, कि-' मेरे पिता शुक ! हे शुक ! कहते हुए मेरे पीछे आवें तो ॥ २८ ॥ तुम

ततः प्रतिवचो देयं सर्वैरेव समाहितैः । एतन्मे स्नेहतः सर्वे वचनं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥ शुकस्य वचनं श्रुत्वा दिशः सर्वाः सकाननाः । समुद्राः सरितः शैलाः प्रत्यूचुस्तं समंततः ॥ ३० ॥ यथाज्ञापयसे विप्र बाढमेव भविष्यति । ऋषेर्व्याहरतो वाक्यं प्रतिवक्ष्यामहे वयम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३२ ॥

भीष्म उवाच । इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्मर्षिः सुमहातपाः । प्रातिष्ठत शुकः सिद्धिं हित्वा दोषांश्चतुर्विधान् ॥१॥ तमो ह्यष्ट-

---

सब सावधान होकर मेरी ओरसे प्रत्युत्तर देना, तुम सब स्नेहके वश मेरे कहनेको मान्य करना ॥ २८ ॥ शुकके वचनको सुन कर दिशा, अरण्य, समुद्र, नदी और पर्वतोंने चारों ओरसे शुक को प्रत्युत्तर दिया, कि-॥ ३० ॥ हे विप्र ! ठीक है, आपने जिसप्रकार आज्ञा दी है उसी प्रकार होगा, व्यास ऋषि जिस समय आपको बुलावेंगे तब हम उनको प्रत्युत्तर देंगे ॥ ३१ ॥ तीनसौ बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३३२ ॥

भीष्मजीने कहा, कि–हे राजा युधिष्ठिर ! महातपस्वी ब्रह्मर्षि शुक इस प्रकार कहकर चार प्रकारके दोषोंको त्यागकर सिद्धि पानेके लिये चले ('धर्म, शास्त्रीय ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार प्रकारके सात्त्विक दोष मोक्षमें अड़चन डालदेते हैं अतः इनका भी त्याग कर देना चाहिये,अथवा पाप–संसर्ग,क्रोध तथा लोभ आदि दोषोंको त्याग देना चाहिये, मनुस्मृतिमें लिखा है, कि–'प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्" अर्थात् प्राणायाम करके राग आदि दोषोंको भस्म करदे, धारणाओंसे पाप आदिको भस्म करदे, प्रत्याहारसे इन्द्रियोंको विषयोंमें जानेसे रोके और ध्यान

विधं हित्वा जहौ पञ्चविधं रजः । ततः सत्त्वं जहौ धीमांस्तदद्भुतमिवाभवत्॥२॥ ततस्तस्मिन्पदे नित्ये निर्गुणे लिंगवर्जिते। ब्रह्मणि प्रत्यतिष्ठत्स विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥ ३ ॥ उल्कापाता दिशां दाहो भूमिकंपस्तथैव च। प्रादुर्भूतः क्षणे तस्मिंस्तदद्भुतमिवाभवत्४ द्रुमाः शाखाश्च मुमुचुः शिखराणि च पर्वताः । निर्घातशब्दैश्च गिरिर्हिमवान्दीर्यतीव ह ॥ ५ ॥ न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः । ह्रदाश्च सरितश्चैव चुक्षुभुः सागरास्तथा ॥ ६ ॥ ववर्ष वासवस्तोयं रसवच्च सुगंधि च । ववौ समीरणश्चापि

से काम, क्रोध असूया आदि अनीश्वर गुणोंको दूर करे ॥१॥ बुद्धिमान् शुकने पहिले आठ प्रकारके तमका त्याग किया, फिर पांच प्रकारके राजसका त्याग किया, अन्तमें सत्त्वगुणको भी त्यागदिया, शुकका यह काम आश्चर्यजनक था (पञ्चमहाभूत, दश इन्द्रियें मन, बुद्धि, वासना, कर्म प्राण और अविद्या इन आठ पुरियोंसे संबन्ध रखने वाला तम पांच प्रकारका है, और पाँच विषयोंमें प्रवृत्त करानेवाला रज पांच प्रकारका है) ॥ २ ॥ फिर निर्गुण सब प्रकारके चिन्होंसे रहित, नित्यस्थानरूप परब्रह्ममें उन्होंने स्थितिकी, उस समय शुक निर्धूम अग्निकी समान प्रकाशित होरहे थे ॥ ३ ॥ जिस समय शुक ब्रह्मभावको प्राप्त हुए उस समय तारे गिरनेलगे, दिशाओंमें दाह होने लगा और भूमि कांपने लगी, इसप्रकार अचरजमें डालनेवाला कर्म हुआ था ॥ ४ ॥ वृक्षोंकी शाखाएँ टूट गईं और पर्वतोंके शिखर गिर पड़े पर्वतमेंसे हिमाचलके टुकड़े २ होरहे हों ऐसा महाशब्द होने लगा, सूर्यका तेज मन्द होगया, अग्नि स्थगित होगए और जल के सोते, नदियें और सरोवर उफनने लगे ॥ ६ ॥ (परन्तु जिस समय शुक सिद्धि पानेके लिये चलने लगे उस समय) इन्द्र सुगन्धित और रसमय जल बरसाने लगा और पवन पवित्र

दिव्यगंधवहः शुचिः ॥ ७ ॥ स शृङ्गे प्रथमे दिव्ये हिमवन्मेरुसंभवे । संश्लिष्टे श्वेतपीते द्वे रुक्मरूप्यमये शुभे ॥ ८ ॥ शतयोजनविस्तारे तिर्यगूर्ध्वं च भारत । उदीचीं दिशमास्थाय रुचिरे संददर्श ह ॥९॥ सोऽविशंकेन मनसा तथैवाभ्यपतच्छुकः । ततः पर्वतशृङ्गे द्वे सहसैव द्विधाकृते ॥ १० ॥ अदृश्येतां महाराज तदद्भुतमिवाभवत् । ततः पर्वतशृङ्गाभ्यां सहसैव विनिःसृतः ॥११॥ न च प्रतिजघानास्य स गतिं पर्वतोत्तमः । ततो महानभूच्छब्दो दिवि सर्वदिवौकसाम् ॥ १२ ॥ गन्धर्वाणामृषीणां च ये च शैलनिवासिनः । दृष्ट्वा शुकमतिक्रान्तं पर्वतं च द्विधा कृतम् ॥ १३ ॥ साधु साध्विति तत्रासीन्नादः सर्वत्र भारत । स पूज्यमानो

और दिव्य सुगन्धको फैलाताहुआ वहने लगा ॥७॥(शुक उत्तर दिशामें गए तब) उन्होंने तहां दो सुन्दर शिखरोंको देखा, वे दोनों दिव्य शिखर हिमालय और सुमेरु पर्वतके थे वे एक दूसरेसे मिले हुए थे उनमें एक पीला शिखर सोनेका और दूसरा श्वेत शिखर चांदीका था ॥८॥ हे भारत ! इन दोनोंकी ऊँचाई और लम्बाई सौ योजनकी थी, शुकने उत्तर दिशाकी ओर जाना आरम्भ किया, उस समय ये दोनों सुन्दर शिखर उनकी दृष्टिमें पड़े ॥ ९ ॥ शुकदेव निःशंक मनसे उडते २ एक दम उन पर्वतके शिखरों पर बैठे कि-एक साथ उनके दो टुकड़े होगए१० यह देखकर हे महाराज ! सबको आश्चर्यसा हुआ फिर शुकदेव उन दोनों शिखरोंमेंसे एक साथ बाहर निकलगए॥ ११ ॥ और वह पर्वतश्रेष्ठ उनकी गतिको रोक न सका इससे स्वर्गमें देवताओंने बड़ी गर्जना की ॥ १२ ॥ गन्धर्वोंमे ऋषियोंने तथा उस पर्वत पर रहनेवालोंने शुक पर्वतका उल्लंघन कर गए तथा उस पर्वतके दो टुकड़े होगए यह देखकर हर्षनाद किया ॥१३॥ हे भरतवंशिन् ! उस पर्वत पर सर्वत्र "ठीक हुआ ! ठीकहुआ"

देवैश्च गन्धर्वैर्ऋषिभिस्तथा ॥ १४ ॥ यक्षराक्षससंघैश्च विद्याधरगणैस्तथा । दिव्यैः पुष्पैः समाकीर्णमन्तरिक्षं समन्ततः ।१५। आसीत्किल महाराज शुकाभिपतने तदा । ततो मन्दाकिनीं रम्यामुपरिष्टादभिव्रजन् ॥ १६ ॥ शुको ददर्श धर्मात्मा पुष्पितद्रुमकाननाम् । तस्यां क्रीडंत्यभिरतास्ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥ शून्याकारं निराकाराः शुकं दृष्ट्वा विवाससः । तं प्रक्रमंतमाज्ञाय पिता स्नेहसमन्वितः ॥१८॥ उत्तमां गतिमास्थाय पृष्ठतोऽनुससार ह । शुकस्तु मारुतादूर्ध्वं गतिं कृत्वांतरिक्षगाम् ॥ १९ ॥ दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत्तदा । महायोगगतिं त्वन्यां व्यासोत्थाय महातपाः ॥२०॥ निमेषांतरमात्रेण शुकाभिपतनं ययौ ।

का नाद होनेलगा और देवता गन्धर्व ऋषि यक्ष और राक्षसोंके टोले और विद्याधरोंके मण्डल शुककी पूजा करनेलगे और उन्होंने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा कर आकाशको छादिया ॥ १४ ॥ १५ ॥ ये सब घटनाएँ हे महाराज ! शुकके आकाशमें उड़ते समय हुई थीं, फिर अन्तरिक्षमें उड़ते २ धर्मात्मा शुक रमणीय गंगाजीपर पहुँचे ॥ १६ ॥ तहांके वनोंमें वृक्षों पर फूल खिल रहे थे तहां (गङ्गा) पर अप्सराएँ नग्न होकर जलक्रीडा कररहीं थी ॥१७॥ वस्त्ररहित अप्सराओंको शून्य आकार वाले शुकको देखकर लज्जा नहीं हुई दूसरी ओर शुकको सिद्धिके लिये गया हुआ देखकर उनके स्नेही पिता१८योगकी उत्तम गतिको धारण करके उनके पीछे दौड़े, शुक पवनलोकसे भी ऊपरके लोकमें आकाशमार्गसे गए१९और उस समय अपने योगप्रभावको दिखाकर ब्रह्मस्वरूप होगए ॥ २० ॥ एक निमेषमात्रमें ही वह जहाँसे शुक उड़े थे तहाँ जापहुँचे, उन्होंने तहाँ देखा, कि-शुक एक पर्वतके दो टुकड़े करके चले गए हैं ॥२१॥ उस समय तहाँ रहने वाले ऋषियोंने व्यासजीसे उनके पुत्रका कर्म कहा, यह सुनकर उनके

स ददर्श द्विधा कृत्वा पर्वताग्रं शुकं गतम् ॥ २१ ॥ शशंसुस्ते प-यस्तत्र कर्म पुत्रस्य तत्तदा । ततः शुकेति दीर्घेण शब्देनाक्रन्दि-तस्तदा ॥ २२ ॥ स्वयं पित्रा स्वरेणोच्चैस्त्रींल्लोकाननुनाद्य वै । शुकः सर्वगतो भूत्वा सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ २३ ॥ प्रत्यभाषत धर्मात्मा भोः शब्देनानुनादयन् । तत एकाक्षरं नादं भोरित्येव समीरयन् ॥ २४ ॥ प्रत्याहरज्जगत्सर्वमुच्चैः स्थावरजङ्गमम् । ततः प्रभृति चाद्यापि शब्दानुच्चारितान् पृथक् ॥ २५ ॥ गिरि-गह्वरपृष्ठेषु व्याहरन्ति शुकं प्रति । अन्तर्हितः प्रभावन्तु दर्शयित्वा शुकस्तदा ॥ २६ ॥ गुणान्संत्यज्य शब्दादीन्पदमभ्यगमत्परम् । महिमानन्तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्यामिततेजसः ॥ २७ ॥ निषसाद गिरि-प्रस्थे पुत्रमेवानुचिन्तयन् । ततो मन्दाकिनीतीरे क्रीडन्तोऽप्सरसां

किया व्यासजी ऊँचे स्वरसे हे शुक ३ ! कह कर पुत्रको पुकारने लगे ॥ २२ ॥ और अपने पिताको उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको गुञ्जारता हुआ देख कर सबके आत्मारूप और सब दिशाओंमें व्याप्त हुए धर्मात्मा शुकने "भोः" ऐसे एकाक्षरी नादसे उनको उत्तर दिया ॥ २३–२४ ॥ वह शब्द स्थावर तथा जङ्गम सब जगत्में भर गया, तबसे आज तक उस शब्दका उच्चारण अब भी उत्तररूपमें किया जाता है ॥ २५ ॥ पर्वतकी गुफाओंमें तथा उनके ऊपर जो शब्द कहा जाता है, तब वह भी शुकके शब्दमें उत्तर देते हैं, इस प्रकार शुक अपने प्रभावको दिखा कर अन्त-र्धान होगए ॥ २६ ॥ और शब्द आदि गुणोंको त्याग कर परमपदको प्राप्त होगए, व्यासजी अपने अपार बल वाले पुत्रकी महिमाको देख कर ॥ २७ ॥ पुत्रके संबन्धमें विचार करते हुए पर्वतके शिखर पर बैठ गए, उस समय गङ्गाजीके किनारे पर अप्सराएँ नग्न होकर क्रीड़ा कर रहीं थीं वे सब मुनियोंमें श्रेष्ठ व्यासजीको देख कर संकुचित होगई, कितनी ही जलमें बैठ गई,

गणाः ॥ २८ ॥ आसाद्य तमृषिं सर्वाः संभ्रान्ता गतचेतसः । जले निलिल्यिरे काश्चित्काश्चिद्गुल्मान् प्रपेदिरे ॥ २९ ॥ वसनान्याददुः काश्चित्तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमम् । तां मुक्ततान्तु विज्ञाय मुनिः पुत्रस्य वै तदा ॥ ३० ॥ सक्ततामात्मनश्चैव प्रीतोऽभूद्व्रीडितश्च ह ॥३१॥ तं देवगन्धर्ववृतो महर्षिगणपूजितः । पिनाकहस्तो भगवानभ्यागच्छत शंकरः ॥ ३२ ॥ तमुवाच महादेवः सान्त्वपूर्वमिदं वचः । पुत्रशोकाभिसन्तप्तं कृष्णद्वैपायनं तदा ॥३३॥ अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य चैव ह । वीर्येण सदृशः पुत्रः पुरा मत्तस्त्वया वृतः ॥ ३४ ॥ स तथालक्षणो जातस्तपसा तव सम्भृतः । मम चैव प्रसादेन ब्रह्मतेजोमयः शुचिः ॥ ३५ ॥ स गतिं परमां प्राप्तो दुष्प्रापामजितेन्द्रियैः । दैवतैरपि विप्रर्षे तं त्वं किमनुशोचसि ॥ ३६ ॥ यावत्स्थास्यन्ति गिरयो यावत्स्थास्यन्ति

कितनी ही वृक्षोंमें दुबक गईं ॥ २८ ॥ और बहुतसी स्त्रियोंने उन मुनिश्रेष्ठ पुरुषको देख कर वस्त्र पहिर लिये, उस समय अपने पुत्रकी मुक्त-दशाको देख कर व्यासजी प्रसन्न हुए और अपनेको संसारमें आसक्त देख कर लज्जित हुए ॥ ३०-३१ ॥ इतनेमें ही देवता, और गन्धर्वोंसे घिरे हुए, महर्षियोंसे पूजित भगवान् शंकर हाथमें पिनाक नामक धनुषको धारण कर व्यासजी के पास आये ॥ ३२ ॥ उस समय महादेवजी पुत्रशोकसे अति दुःखित हुए व्यासजीको ढाढस देते हुए इसप्रकार कहनेलगे, कि-३३ हे व्यास ! तुमने पहिले मुझसे अग्नि, भूमि जल, वायु और आकाशकी समान पराक्रमी पुत्र माँगा था ॥३४॥ तुम्हारे तपोबलसे ऐसे ही लक्षणोंवाला और पवित्र पुत्र तुम्हारे यहां उत्पन्न हुआ था ॥ ३५ ॥ हे विप्रर्षे ! वह पुत्र अजितेन्द्रिय तथा देवताओंको भी दुर्लभ गतिको प्राप्त हुआ है, फिर तुम शोक क्यों करते हो ॥ ३६ ॥ जब तक पर्वत रहेंगे, जब तक समुद्र

सागराः । तावत्तवाक्षया कीर्तिः सपुत्रस्य भविष्यति ॥ ३७ ॥ छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा । द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन्मत्प्रसादान्महामुने ॥ ३८ ॥ सोऽनुनीतो भगवता स्वयं रुद्रेण भारत । छायां पश्यन्समावृत्तः स मुनिः परया मुदा ॥ ३९ ॥ इति जन्मगतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ । विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४० ॥ एतदाचष्ट मे राजन् देवर्षिर्नारदः पुरा । व्यासश्चैव महायोगी संजल्पेषु पदे पदे ४१ इतिहासमिमं पुण्यं मोक्षधर्मोपसंहितम् । धारयेद्यः शमपरः स गच्छेत्परमां गतिम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पतनसमाप्तिर्नाम त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ३३३

युधिष्ठिर उवाच। गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।

रहेंगे तब तक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्रकी कीर्ति अक्षय रहेगी ३७ और हे महामुने ! तुम इस लोकमें मेरी कृपासे सदा अपने पुत्र की समान ही छायाको सर्वत्र व्याप्त देखोगे ॥ ३८ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! इसप्रकार भगवान् रुद्रने व्यासजीको धीरज दिया, तब व्यासजी अपने पुत्रकी छायाको देख परमहर्षित हो लौट आये ॥ ३९ ॥ हे भरतवंशके श्रेष्ठ राजन् ! तेरे प्रश्न करने पर मैंने तुझसे शुकके जन्म और उनकी मुक्तिके विषयकी सब कथा विस्तारसे कही ॥ ४० ॥ हे राजन् ! पहिले देवर्षि नारदजीने तथा महायोगी व्यासजीने कथा(कहते समय मुझसे यह कथा वारम्वार कही थी ॥ ४१ ॥ जो पुरुष शान्तिपरायण रह कर मोक्षधर्मके इस पवित्र इतिहासको सुन कर स्मरण रखता है,वह पुरुष परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥४२॥ तीनसौ तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त । ३३३ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे पितामह ! गृहस्थ ब्रह्मचारी वानप्रस्थ

य इच्छेत्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ॥ १ ॥ कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो नैःश्रेयसं परम्। विधिना केन जुहुयाद्दैवं पित्र्यं तथैव च ॥ २ ॥ मुक्तश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः। स्वर्गतश्चैव किं कुर्याद्येन न च्यवते दिवः ॥ ३ ॥ देवतानां च को देवः पितृणां च पिता तथा। तस्मात्परतरं यच्च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥ भीष्म उवाच। गूढं मां प्रश्नवित्प्रश्नं पृच्छसे त्वमिहानघ। न ह्येतत्तर्कया शक्यं वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ५ ॥ ऋते देवप्रसादाद्वा राजन् ज्ञानागमेन वा। गहनं ह्येतदाख्यानं व्याख्यातव्यं तवारिहन् ॥ ६ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। नारदस्य च सम्वादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ७ ॥ नारायणो

अथवा संन्यासीको मोक्षकी इच्छा हो तो उसको किस देवताका पूजन करना चाहिये ॥ १ ॥ पुरुषको कौन कर्म करनेसे स्वर्ग मिलता है और कौन कर्म करनेसे मोक्ष मिलता है और किस विधिसे देवता तथा पितरोंकी पूजा करनी चाहिये ॥ २ ॥ मुक्त पुरुष कैसी गतिको पाता है मोक्षका स्वरूप क्या है ? स्वर्गमें गए हुए पुरुषोंको वहाँ जाने पर फिर न लौटना पड़े, इसके लिये क्या कर्म करने चाहिये ॥३॥ देवताओंके देवता कौन हैं ? पितरोंके पिता कौन है ? पितरोंके पितासे भी उत्तम देवता कौन हैं ? हे पितामह ! यह बात आप मुझसे कहिये ॥४॥ भीष्मजीने कहा कि हे निर्दोष ! प्रश्नके स्वरूपको जानने वाले तूने मुझसे ऐसा गूढ प्रश्न बूझा है, कि देवताओंकी कृपाके बिना अथवा शास्त्रज्ञानके बिना केवल तर्कसे सौ वर्षमें भी इसका उत्तर नहीं दिया जासकता, हे शत्रुघ्न ! इस प्रश्नका उत्तर गहन है, तब भी मैं तुमसे कहूँगा ही ॥ ५-६ ॥ इस विषयका भी नारायण और नारद ऋषिका सम्वादरूप प्रचीन इतिहास इस प्रकार है७ मेरे पिताने पहिले मुझसे कहा था, कि-सनातन (नर आदि)

हि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः । धर्मात्मजः सम्बभूव पितैवं मेऽभ्यभाषत ॥ ८ ॥ कृते युगे महाराज पुरा स्वायंभुवेऽन्तरे । नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयंभुवः ॥ ९ ॥ तेषां नारायणनरौ तपस्तेपतुरव्ययौ । बदर्याश्रममासाद्य शकटे कनकानये १० अष्टचक्रं हि तद्यानं भूतयुक्तं मनोरमम् । तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ कृशौ धमनिसन्ततौ ॥ ११ ॥ तपसा तेजसा चैव दुर्निरीक्ष्यौ सुरैरपि । यस्य प्रसादं कुर्वाते सदेवौ द्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥ नूनं तयोरनुमते हृदि हृच्छयचोदितः । महामेरोर्गिरेः शृङ्गात्प्रच्युतो गन्धमादनम् ॥ १३ ॥ नारदः सुमहद्भूतं सर्वलोकानचीचरत् । तं देशमगमद्राजन्बदर्याश्रममाशुगः ॥ १४ ॥ तयोराह्निकवेलायां

चार मूर्तियों वाले नारायणने धर्मके पुत्र बन कर जन्म लिया था ॥ ८ ॥ पहिले सत्ययुगमें हे महाराज ! स्वायंभुव नामक मन्वन्तरमें नर, नारायण हरि और स्वयंभू कृष्ण (ये चार पुत्र हुये थे) ॥ ९ ॥ उनमें अविनाशी नर और नारायण कनकमय रथ (शरीर) में बैठ कर बदरिकाश्रममें गए थे और तहाँ उग्र तप करने लगे ॥ १० ॥ यह (शरीररूपी) रथ आठ पहियों वाला था, उसमें (पंचमहा) भूत थे और वह रमणीय लगता था, तहाँ, आदिदेवता और लोकोंके नाथ वे दोनों उग्र तप कर कृश होगए थे और उनके शरीरकी नसें दीखने लगीं थीं ॥ ११ ॥ उनके तपके तेजके कारण देवता भी उनकी ओर नहीं देख सकते थे, वे दोनों देवता जिस पर कृपा करते थे, वही उनको देख सकता था ॥ १२ ॥ वास्तवमें उन देवताओंकी अनुमतिसे नारदके हृदयमें अन्तर्यामीने प्रेरणा की, तब महात्मा नारद मेरुपर्वतके शिखरसे गन्धमादन नामक पर्वतके शिखर पर जा पहुँचे ॥ १३ ॥ और तहाँसे सब लोकोंमें घूमने लगे, हे राजन् ! घूमतेर शीघ्रतासे चलने वाले नारदजी बदरिकाश्रममें पहुँचे॥१४॥

तस्य कौतूहलं त्वभूत् । इदं तदास्पदं कृत्स्नं यस्मिँल्लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥ सदेवासुरगन्धर्वाः सकिन्नरमहोरगाः । एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा ॥ १६ ॥ धर्मस्य कुलसन्ताने धर्मादेभिर्विवर्धितः । अहो ह्यनुगृहीतोऽद्य धर्म एभिः सुरैरिह १७ नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा । अत्र कृष्णो हरिश्चैव कस्मिंश्चित्कारणांतरे ॥ १८ ॥ स्थितौ धर्मोत्तरौ ह्येतौ तथा तपसि धिष्ठितौ ।एतौ हि परमं धाम काऽनयोराह्निकक्रिया १९ पितरौ सर्वभूतानां दैवतं च यशस्विनौ । कां देवतां तु यजतः पितॄन्वा कान्महामती ॥ २० ॥ इति संचिंत्य मनसा भक्त्या

नर और नारायणके आन्हिक कर्म करनेके समय नारदको (वहाँ प्रवेश कर देखनेका) कुतूहल हुआ (आश्रममें प्रवेश करके नारद) मनमें विचारने लगे, कि-"जिनमें देवता, असुर, गन्धर्व, किन्नर और महासर्पों सहित सब लोक रहते हैं, यह उनका ही स्थान है, पहिले ये एकरूप थे, पीछेसे उन्होंने चाररूप धारण कर लिये है ॥ १५-१६ ॥ (इन चार पुरुषोंने ही) धर्माचरण करके धर्मकी सन्तानकी वृद्धिकी है, इतना ही नहीं परन्तु आश्चर्यकी बात यह है, कि-आज भी नर नारायण हरि और कृष्ण ये चार देवता धर्म पर अनुग्रह कर रहे हैं, किसी कारणसे हरि और कृष्ण इस स्थानमें (पहिले) रहते थे.१७-१८ अब धर्माचरण करने वाले नर और नारायण नामक ऋषि इस स्थानमें तपस्या कर रहे हैं यह नर तथा नारायण दोनों परमधामरूप हैं, तब भी ये फिर कैसा आन्हिक कर्म करते होंगे ॥ १९ ॥ ये स्वतः सब प्राणियोंके पितारूप हैं, दैवतरूप हैं, यशस्वी हैं और महाबुद्धिमान् है तो भी किस देवता की पूजा करते होंगे तथा कौनसे पितरोंका तर्पण करते होंगे ? ॥ २० ॥ इस प्रकार भगवन् नारायणके संबन्धमें मनमें भक्तिपूर्वक विचार

नारायणस्य तु । सहसा प्रादुरभवत्समीपे देवयोस्तदा ॥ २१ ॥ कृते दैवे च पित्र्ये च ततस्ताभ्यां निरीक्षितः।पूजितश्चैव विधिना यथाप्रोक्तेन शास्त्रतः ॥ २२ ॥ तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यमपूर्वं विधिविस्तरम् । उपोपविष्टः सुप्रीतो नारदो भगवानृषिः ॥ २३ ॥ नारायणं संनिरीक्ष्य प्रसन्नेनांतरात्मना । नमस्कृत्वा महादेवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥ नारद उवाच । वेदेषु स–पुराणेषु सांगोपांगेषु गीयसे । त्वमजः शाश्वतो धाता माताऽमृतमनुत्तमम् ॥ २५ ॥ प्रतिष्ठितं भूतभव्यं त्वयि सर्वमिदं जगत् । चत्वारो ह्याश्रमा देव सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥ २६ ॥ यजन्ते त्वामहरहर्नानामूर्तिसमास्थितम् । पिता माता च सर्वस्य जगतः शाश्वतो

करते हुए नारद ऋषि एक दम उन दोनों देवताओंके पास आ पहुँचे । २१ ॥ नर और नारायणने देवताओंका यजन और पितरोंका तर्पण पूर्ण करनेके पीछे नारदजीके सामने देखा और शास्त्रोक्त-विधिसे उनकी पूजा की॥२२॥ (इन दोनों देवताओंके) दूसरे देवताओं और पितरोंके पूजन करनेके आश्चर्यजनक अपूर्व और विधिविस्तारवाले वर्तावको देखकर (अपना सत्कार होनेसे) आनन्दित होते हुए भगवान् नारद ऋषि तहाँ बैठे रहे ॥२३॥ फिर उन्होंने मनमें प्रसन्न हो नारायण को भली प्रकार देखकर उनको नमस्कार कर इस प्रकार कहा, कि–२४ वेदोंमें, वेदाङ्गोंमें उपांगोंमें पुराणोंमें आपकी कीर्ति गाई है, आप अजन्मा, शाश्वत, धाता, जगत्के मातारूप और सर्वोत्तम अमृतरूप हैं ॥ २५ ॥ भूतकालका और भविष्यत् कालका सब जगत् आपमें स्थिति करके रहता, हे देव ! गृहस्थाश्रम जिनका मूल है,ऐसे चारों आश्रम भी आपमें रहते हैं ॥ २६ ॥ और गृहस्थाश्रमी पुरुष अनेक मूर्तियोंमें निवास करके रहने वाले आपका प्रतिदिन यजन करते हैं, आप जगत्के माता पिता और सनातन गुरु हैं, तब भी आप

गुरुः । कं त्वय-यजसे देवं पितरं कं न विद्महे ॥ २७ ॥ श्रीभगवानुवाच । अवाच्यमेतद्वक्तव्यमात्मगुह्यं सनातनम् । तव भक्तिमतो ब्रह्मन्वक्ष्यामि तु यथातथम् ॥ २८ ॥ यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम् । इन्द्रियैरिंद्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥ २९ ॥ स ह्यंतरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते । त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः ॥ ३० ॥ तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम । अव्यक्ताव्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरव्यया ॥ ३१ ॥ तां योनिमावयोर्विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः । आवाभ्यां पूज्यते सो हि दैवे पित्र्ये च कल्प्यते ॥ ३२ ॥ नास्ति तस्मात्परोऽन्यो

किस देवता की पूजा कर रहे हैं और कौनसे पितरोंका तर्पण कर रहे है, यह हम नहीं जानते ॥ २७ ॥ श्रीभगवान् ने कहा, कि यह बात ऐसी है, कि–किसीसे कहनी न चाहिये, क्यों कि इसमें हमारी गुप्त बात है और वह सनातन कालकी है, परन्तु हे ब्रह्मन्! तू भक्तिमान् है, अतःमैं तुझे यथोचित रीतिसे तुझको इसका उत्तर दूँगा ॥ २८ ॥ जो तत्त्व सूक्ष्म, जाननेमें न आसकने वाला अव्यक्त, अचल, ध्रुव है तथा इन्द्रियें, उनके विषय और सब भूतों से रहित है ॥ २९ ॥ वह तत्त्व सब प्राणियोंका अन्तरात्मारूप है, उसको क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, तथा तीन गुण (सत्त्व , रज और तम) से रहित (तत्त्वको शरीरधारी देखकर उस) को मनुष्य "पुरुष" इस नामसे कल्पना करते हैं ॥ ३० ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! उस पुरुषसे तीनगुण वाला अव्यक्त उत्पन्न होता है, अव्यक्त और व्यक्त इन दोनों भाववालेको अविनाशी प्रकृतितत्त्व कहते हैं,तू उस प्रकृतिको हम दोनोंकी योनि (जड़) जान और जो देव सत् (कारण) रूप है और असत् (कार्य) रूप है, उस देव (आत्मा) की हम दोनों पूजा करते हैं, क्योंकि–देवता और पितरोंके कार्यमें भी हम उस देवताकी ही पूजा करते हैं ॥ ३२ ॥

हि पिता देवोऽथवा द्विज । आत्मा हि नः स विज्ञेयस्ततस्तं पूजयामहे ॥ ३३ ॥ तेनैषा प्रथिता ब्रह्मन्मर्यादा लोकभाविनी । दैवं पित्र्यं च कर्तव्यमिति तस्यानुशासनम् ॥ ३४ ॥ ब्रह्मा स्थाणुर्मनुर्दक्षो भृगुर्धर्मस्तथा यमः । मरीचिरंगिराऽत्रिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ ३५ ॥ वसिष्ठः परमेष्ठी च विवस्वान्सोम एव च । कर्दमश्चापि यः प्रोक्तः क्रोधो विक्रीत एव च ॥ ३६ ॥ एकविंशतिरुत्पन्नास्ते प्रजापतयः स्मृताः । तस्य देवस्य मर्यादां पूजयन्तः सनातनीम् ॥ ३७ ॥ दैवं पित्र्यं च सततं तस्य विज्ञाय तत्त्वतः । आत्मप्राप्तानि च ततः प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ३८ ॥ स्वर्गस्था अपि ये केचित्तान्नमस्यन्ति देहिनः । ते तत्प्रसादाद्गच्छन्ति तेनादिष्टफलां गतिम् ॥ ३९ ॥ ये हीनाः सप्तदशभिर्गुणैः कर्मभिरेव

क्यों कि हे द्विज! उस देवतासे अधिक कोई देवता अथवा पितर नहीं है, हमें उसको आत्मस्वरूप ही समझना चाहिये, हम उसको आत्मस्वरूप मानकर उसकी पूजा करते हैं ॥ ३३ ॥ हे ब्राह्मण ! उन्होंने ही लोकोंको उत्पन्न करनेकी मर्यादा बाँधी है और उनकी ही आज्ञा है; कि देवता और पितरोंका कर्म करना चाहिये ॥ ३४ ॥ ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, यम, मरीचि, अङ्गिरा अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, ॥ ३५ ॥ वसिष्ठ, परमेष्ठी, सूर्य, सोम, और जो कर्दम कहाता है, क्रोध, विक्रीत (अर्वाक् और क्रीत) ॥ ३६ ॥ ये इक्कीस प्रजापति आदिदेवसे उत्पन्न हुए हैं और उन्होंने ही इस सनातनदेवकी मर्यादा बाँधी है ३७ वे ब्राह्मणोत्तम(प्रजापति)यथार्थरीतिसे देवता तथा पितर संबन्धी कर्म करके उस आदिदेवसे अपनी कामनाओंको प्राप्त करते हैं ॥ ३८ ॥ स्वर्गमें रहने वाले बहुतसे देहधारी उसको प्रणाम करके उसकी निर्मित गति और फलको पाते हैं ॥ ३९ ॥ जो पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि ये गुण अव्यक्त

च । कलापञ्चदशत्यक्तास्ते मुक्ता इति निश्चयः॥४०॥ मुक्तानां तु गतिर्ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कल्पिता । स हि सर्वगुणश्चैव निर्गुणश्चैव कथ्यते ४१ दृश्यते ज्ञानयोगेन आवां च प्रसृतौ ततः । एवं ज्ञात्वा तमात्मानं पूजयावः सनातनम्॥४२॥तं वेदाश्चाश्रमाश्चैव नानामतसमास्थिताः। भक्त्या संपूजयंत्याशु गतिं चैषां ददाति सः॥४३॥ ये तु तद्भाविता लोके एकांतित्वं समास्थिताः। एतदभ्यधिकं तेषां यत्ते तं प्रविशंत्युत ॥४४॥ इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारद कीर्तितः । भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे अस्मद्भक्त्या च ते श्रुतः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३४ ॥

कहलाते है इन (सत्रह) गुणोंसे रहित होते हैं तथा (शुक्ल और कृष्णरूप सब) कर्मोंसे जो रहित होते है और जो पन्द्रह कलाओं से रहित होते हैं वे मुक्त कहलाते हैं, ऐसा (शास्त्रका) निश्चय है ॥ ४० ॥ हे ब्राह्मण ! मुक्तोंकी गतिको "क्षेत्रज्ञ" नामसे शास्त्रोंमें कहा है, वह क्षेत्रज्ञ सर्वगुणसम्पन्न कहाता है और वह सब गुणोंसे रहित निर्गुण भी कहाता है ॥ ४१ ॥ उसका ज्ञान से दर्शन होता है और हमारी भी उससे ही उत्पत्ति हुई है, इस प्रकार उसको जान कर हम दोनों उस सनातन परमात्माकी पूजा करते है ॥ ४२ ॥ वेद तथा आश्रम भी नानाप्रकारका अवतार धारण करने वाले परमात्माकी भक्तिसे पूजा करते हैं और परमात्मा उनको मुक्ति देता है ॥ ४३ ॥ इस जगत्में जो उस (परमात्मा) की भावना वाले हुए हैं और जो एक परिणामवाली एकान्तत्वकी स्थितिमें पहुँचे हैं उनको अधिक लाभ यह है, कि–वह परमात्माके स्वरूपमें प्रवेश करते हैं ४४ हे विप्रर्षि नारद ! तेरी भक्ति और प्रेमके कारण मैंने तुझसे यह गुप्त बात कही है मेरे अनुग्रहके कारण ही तू इस बातको सुन सका है ४५

भीष्म उवाच । स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठो नारायणेनोत्तम पूरुषेण । जगाद वाक्यं द्विपदां वरिष्ठं नारायणं लोकहिताभिवासम् ॥ १ ॥ नारद उवाच । यदर्थमात्मप्रभवेण जन्म कृतं त्वया धर्मगृहे चतुर्धा । तत्साध्यतां लोकहितार्थमद्य गच्छामि द्रष्टुं प्रकृतिं तवाद्याम् ॥ २ ॥ पूजां गुरूणां सततं करोमि परस्य गुह्यं न तु भिन्नपूर्वम् । वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम् ॥ ३ ॥ गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम् । तं चादिदेवं सततं प्रपन्न एकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम् ॥४॥ एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वं कस्मान्न पश्येयमनंतमीशम् । तत्पारमेष्ठ्यस्य वचो निशम्य नारायणः

भीष्मजीने कहा, कि इस प्रकार पुरुषोत्तम नारायणने मनुष्यों में उत्तम नारदजीसे कहा, तब नारदजीने भी प्राणिमात्रमें श्रेष्ठ लोकोंके कल्याणके स्थानरूप नारायणसे इस प्रकार कहा, कि—॥ १ ॥ नारदजीने कहा, कि-अपने स्वरूपसे उत्पन्न हुए आपने जिस कामको करनेके लिये धर्मके घरमें चार मूर्तिरूपसे जन्म धारण किया है, संसारका हित करनेकी इच्छासे मैं उस कामको साधनेके लिये आपकी आद्या प्रकृतिका दर्शन करनेके लिये जाता हूँ ॥ २ ॥ मैंने वेदोंका स्वाध्याय किया है, हे लोकनाथ ! मैंने तप भी किया है और पहिले मैंने असत्य भी नहीं बोला है, मैं अपने गुरुकी सदा पूजा करता हूँ, दूसरोंकी गुप्त बातोंको मैंने पहिले कभी प्रकट नहीं किया है ॥ ३॥ शास्त्रानुसार (हाथ, पैर, उदर और उपस्थ इन) चारकी (अनिष्ट कर्मसे) मैंने रक्षाकी है, मैं शत्रु और मित्रमें सदा समदृष्टि रखता हूँ, आदिदेव परमात्माकी सदा शरणमें रहता हूँ और अनन्यमनसे सदा आदिदेवकी भक्ति करता हूँ ॥ ४ ॥ इन गुणोंसे भली प्रकार शुद्ध होगए हैं सत्त्व जिसके ऐसा मैं किस लिये अनन्त

शाश्वतधर्मगोप्ता ॥ ५ ॥ गच्छेति तं नारदमुक्तवान्स संपूजयि-
त्वात्मविधिक्रियाभिः । ततो विसृष्टः परमेष्ठिपुत्रः सोऽभ्यर्चयित्वा
तमृषिं पुराणम् ॥ ६ ॥ खमुत्पपातोत्तमयोगयुक्तस्ततोऽधिमेरौ
सहसा निलिल्ये । तत्रावतस्थे च मुनिर्मुहूर्तमेकान्तमासाद्य गिरेः
स शृङ्गे ॥ ७ ॥ आलोकयन्नुत्तरपश्चिमेन ददर्श चाप्यद्भुतमुक्त-
रूपम् । क्षीरोदधेर्योत्तरतो हि द्वीपः श्वेतः स नाम्ना प्रथितो
विशालः ॥ ८ ॥ मेरोः सहस्रैः स हि योजनानां द्वात्रिंशतोर्ध्वं
कविभिर्निरुक्तः । अनिन्द्रियाश्चानशनाश्च तत्र निष्पन्दहीनाः सुसु-
गन्धिनस्ते ॥ ९ ॥ श्वेताः पुमांसो गतसर्वपापाश्चक्षुर्मुषः पाप-

ईश्वरके दर्शन न करूँ ? ब्रह्माके पुत्र नारदजीके ऐसे वचन सुन
कर सनातनधर्मके रक्षक भगवान् नारायणने ॥ ५ ॥ शास्त्रोक्त
रीतिसे नारदकी पूजा की और उनसे कहा, कि "अच्छा जाओ"
इस प्रकार ब्रह्माके पुत्र नारदको जानेकी आज्ञा दी तब नारदजी
ने उन पुराण ऋषिकी पूजा की ॥ ६ ॥ फिर श्रेष्ठ योगविद्याके
जानने वाले नारदजी आकाशमेंको उड़े और मेरुपर्वत पर जा पहुँचे
और शिखरके एकान्त स्थानमें जाकर दो घड़ी विश्राम किया ७
तदनन्तर नारदजीने वायव्यकोणकी ओर दृष्टि डाली तो उनको
एक अद्भुत दृश्य दिखाई दिया, कि-क्षीर समुद्रकी उत्तर दिशामें
श्वेत नामक एक द्वीप है ॥ ८ ॥ विद्वान् कहते हैं, कि यह श्वेत-
द्वीप मेरुपर्वतसे बत्तीस सहस्र योजन दूर है, उस द्वीपमें रहने
वाले पुरुष इन्द्रियरहित अर्थात् स्थूलदेहके संगसे रहित हैं इसी
लिये वे अन्नजल रहित रहते हैं अर्थात् शब्द आदि विषयभोग
से रहित हैं वे पलक नहीं मारते हैं, उनके शरीरमेंसे सदा सुगंध
निकलती रहती है, उनका शरीर श्वेत वर्णका (सत्त्वगुणमय)
है, वे सब पुरुष हैं, सब प्रकारके पापोंसे रहित हैं पापकर्म करने
वाले मनुष्योंको चौंधाने वाले हैं, उनका शरीर और अस्थियें

कृतां नराणाम् । वज्रास्थिकायाः सममानोन्मानादिव्यावयवरूपाः शुभसारोपेताः ॥ १० ॥ छत्राकृतिशीर्षा मेघौघनिनदाः सममुष्कचतुष्काराः जीवच्छतपादाः । षष्ट्या दन्तैर्युक्ताः शुक्लैरष्टाभिर्दंष्ट्राभिर्ये जिह्वाभिर्ये विश्ववक्त्रं लेलिहन्ते सूर्यप्रख्यम् ॥ ११ ॥ देवं भक्त्या विश्वोत्पन्नं-यस्मात्सर्वे लोकाः समसूताः । वेदा-धर्मा मुनयः शान्ता देवाः सर्वे तस्य निसर्गः ॥ १२ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्यंदाः सुगन्धिनः । कथन्ते पुरुषा जाताः-का तेषां गतिरुत्तमा ॥१३॥ ये च मुक्ता भवन्तीह

वज्रकी समान हैं, वे मान और अपमानको एकसा समझते हैं, उनके अंग और रूप दिव्य हैं, वे शुभ चिन्ह वाले और यौगिक बल वाले हैं ॥६-१०॥ उनके मस्तक (मांसरहित होनेसे) छत्रकी सी आकृति वाले हैं, उनका स्वर मेघकी समान गंभीर है,उनके वृषण शुष्क हैं, उनके पैरके तलुओंमें रेखाएँ हैं, उनके साठ दांत हैं, आठ डाढ़े हैं और बहुतसी जीभें हैं, ये श्वेतद्वीपनिवासी मनुष्य अपनी असंख्य जिह्वाओंसे जिसको सूर्यरूप कहते हैं और विश्व जिसका मुख है उस देवताको चाटाकरते हैं ॥११॥ जिनसे श्रेष्ठ विश्व उत्पन्न हुआ है, जिनसे यह सब लोक उत्पन्न हुए है, वेद, धर्म, शान्त मुनि तथा सब देवता भी जिन्होंने बिना प्रयत्नके उत्पन्न किये हैं उन देवको श्वेतद्वीपनिवासी अपने हृदयमें धारण करसकते हैं (अतः उनपर कालकृत परिणाम अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते) ॥ १२ ॥ युधिष्ठिरने कहा कि हे भीष्म ! श्वेतद्वीपके रहनेवाले मनुष्य इन्द्रियरहित (विषयोंका उपभोग न करनेवाले) आहाररहित, स्थिर नेत्रों वाले और सुगंधवाले किस प्रकार हुए हैं तथा उनकी कौनसी उत्तम गति होती है ॥१३॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! जो मनुष्य इसलोकमें मुक्ति पाते हैं उनके और श्वेतद्वीप निवासी मनुष्योंके लक्षणमें समानता क्या

नरा भरतसत्तम । तेषां लक्षणमेतद्धि तच्छ्वेतद्वीपवासिनाम् १४
तस्मान्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे । त्वं हि सर्वकथा-
रामस्त्वां चैवापाश्रिता वयम् ॥ १५ ॥ भीष्म उवाच । विस्ती-
र्णैषा कथा राजन् श्रुता मे पितृसन्निधौ । यैषा तव हि वक्तव्या
कथासारा हि सा मता ॥ १६ ॥ राजोपरिचरो नाम बभूवाधि-
पतिर्भुवः । आखण्डलसखः ख्यातो भक्तो नारायणं हरिम् १७
धार्मिको नित्यभक्तश्च पितुर्नित्यमतन्द्रितः । साम्राज्यं तेन संप्राप्तं
नारायणवरात्पुरा ॥ १८ ॥ सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्य-
मुखनिःसृतम् । पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥१९॥
पितृशेषेण विप्रांश्च संविभज्याश्रितांश्च सः । शेषान्नभुक् सत्य-
परः सर्वभूतेष्वहिंसकः ॥ २० ॥ सर्वभावेन भक्तः स देवदेवं

है ? ॥ १४ ॥ इस विषयके मेरे संदेहको दूर करिये, क्योंकि-
मुझे इसके लिये परम आश्चर्य हुआ है, आप सब कथाओं
को जानते हैं और हम आपकी शरणमें आये हैं ॥ १५ ॥
भीष्मने कहा, कि-हे राजन् ! यह कथा बहुत लम्बी है
पहिले पृथ्वीमें उपरिचर नाम वाला एक राजा राज्य करता था,
उसकी इन्द्रके साथ मित्रता थी, वह नारायणका प्रसिद्ध भक्त
था ॥ १७ ॥ धार्मिक था, पिताकी सदा भक्ति करता था, सदा
तन्द्रारहित रहता था उसने पहिले नारायणसे वर पाकर चक्र-
वर्तीपन पाया था ॥१८॥ वह पहिले सूर्यकी उपदेश दी हुई
सात्वत (पञ्चरात्र) विधिके अनुसार नारायणका पूजन करता
था और पूजा करनेसे बचे हुए भागसे पितामहोंका पूजन करता
था ॥ १९ ॥ और पितरोंका पूजन करनेसे जो कुछ बचता था
उससे ब्राह्मणोंका पूजन करता था, फिर (जो कुछ बचता था
उसको) अपने आश्रितोंमें बाँट देता था और उनसे जो अन्न
बचता था उसको अपने आप खाता था, वह सत्यभाषण करता

जनार्दनम् । अनादिमध्यनिधनं लोककर्तारमव्ययम् ॥२१॥ तस्य नारायणे भक्तिं वहतोऽमित्रकर्षिणः । एकशय्यासनं देवो दत्त-वान्देवराट् स्वयम् २२ आत्मराज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा । यत्तद्भागवतं सर्वमिति तत्प्रोक्षितं सदा । काम्यनैमित्तका राजन् यज्ञियाः परमक्रियाः । सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समा-हितः ॥२४॥ पांचरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः । प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जन्ते वाग्रभोजनम् ॥ २५ ॥ तस्य प्रशासतो राज्यं धर्मेणामित्रघातिनः।नानृता वाक् समभवन्मनो दुष्टं न चाभवत्२६ न च कायेन कृतवान्स पापं परमण्वपि । ये हि ते ऋषयः ख्याताः

था और किसीकी हिंसा नहीं करता था ॥ २० ॥ वह देवदेव, आदि, मध्य तथा अन्तरहित, जगत्के कर्ता अविनाशी जनार्दन की सर्व प्रकारके भक्ति करता था ॥ २१ ॥ शत्रुओंका संहार करने वाले उस राजाकी नारायणमें भक्तिको देख कर देवराज इन्द्र स्वयं उसको अपने आसन और शय्या पर बैठाया करता था ॥ २२ ॥ वह राजा अपने आत्मा, राज्य, अपनी स्त्री तथा अपने वाहन इन सबोंको भगवान्का मान कर उनकी सेवामें लगा रहता था ॥ २३ ॥ हे राजन् ! वह राजा यज्ञसम्बन्धी काम्य और नैमित्तिक इन दोनों उत्तम क्रियाओंको सात्वत (पञ्चरात्र) विधिके अनुसार किया करता था ॥ २४ ॥ उस राजाके घरमें पञ्चरात्रकी विधिको जानने वाले अच्छे२ महात्मा थे, वे भगवान्की बताई हुई विधिके अनुसार भगवान्के लिये रक्खे हुए अन्नका पहिले भोजन करते थे ॥२५॥ शत्रुका नाश करने वाले और धर्मसे राजकाज चलाने वाले उस राजाने कभी झूंठ नहीं बोला था और उसका मन भी कभी दूषित नहीं हुआ था ॥ २६ ॥ उस राजाने अपने शरीरसे अणुमात्र भी पाप नहीं किया था, महातेजस्वी मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह

सप्तचित्रशिखण्डिनः ॥ २७ ॥ तैरेकमतिभिर्भूत्वा यत्प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम् । वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ ॥२८॥ आस्यैः सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्ममनुत्तमम् । मरीचिरत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिनः॥२९ सप्त प्रकृतयो ह्येतास्तथा स्वायंभुवोऽष्टमः । एताभिर्धार्यते लोकस्ताभ्यः शास्त्रं विनिःसृतम् ॥ ३० ॥ एकाग्रमनसो दान्ता मुनयः संयमे रताः । भूतभव्यभविष्यज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ३१ ॥ इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम् । लोकान्संचिन्त्य मनसा ततः शास्त्रं प्रचक्रिरे ॥३२॥ तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षः पश्चाच्च कीर्तितः । मर्यादा विविधाश्चैव दिवि भूमौ च संस्थितिः ॥३३॥

क्रतु और वसिष्ठ इन चित्र–शिखण्डीके नामसे प्रसिद्ध सात ऋषियोंने मेरु नामक महापर्वत पर जिस उत्तम शास्त्रका एक मतसे उपदेश दिया था, जो चारों वेदोंके अनुकूल रचा गया है, तथा जिसमें सात मुखोंसे उत्तम लोकधर्म वर्णित है, उस पञ्चरात्र नामक शास्त्रका वह राजा पालन करता था ॥२७–२९॥ ये सात ऋषि (महत्–अहङ्कार आदि) सात प्रकृतिकी मूर्तियें हैं और स्वयंभू ब्रह्मा आठवीं प्रकृति है, ये आठ प्रकृति सारे संसारको धारण कर रहीं हैं और उनसे ही यह पंचरात्र शास्त्र उत्पन्न हुआ है ॥ ३० ॥ एकाग्र मन वाले, इन्द्रियोंका निग्रह करने वाले, संयममें प्रीति रखने वाले भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालको जानने वाले और सत्यधर्मपरायण ऋषियोंने यह जगत्का कल्याण करने वाला ब्रह्मस्वरूप अतिहित करने वाला है यह मनमें समझ कर इस शास्त्रको रचा है ॥ ३१–३२ ॥ इस शास्त्रमें धर्मका, अर्थका, कामका और अन्तमें मोक्षका वर्णन किया है और स्वर्ग तथा पृथ्वीके लिये अनेक प्रकारकी मर्यादाएँ बाँधी हैं॥३३॥इन सब सप्तर्षियोंने और ऋषियोंने एक साथ मिल

आराध्य तपसा देवं हरिं नारायणं प्रभुम् । दिव्यं वर्षसहस्रं वै सर्वे ते ऋषिभिः सह ॥३४॥ नारायणानुशास्ता हि तदा देवी सरस्वती । विवेश तानृषीन्सर्वान् लोकानां हितकाम्यया ॥३५॥ ततः प्रवर्तिता सम्यक्तपोविद्भिर्द्विजातिभिः । शब्दे चार्थे च हेतौ च एषा प्रथमसर्गजा ॥३६॥ आदावेव हि तच्छास्त्रमोंकारस्वरपूजितम् । ऋषिभिः श्रावितं तत्र यत्र कारुणिको ह्यसौ ॥ ३७ ॥ ततः प्रसन्नो भगवाननिर्दिष्टशरीरगः । ऋषीनुवाच तान्सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥ कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम् । लोकतंत्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्मः प्रवर्त्स्यते ॥ ३९ ॥ प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद्भविष्यति । यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा ॥ ४० ॥ यथाप्रमाणं हि मया कृतो ब्रह्मा

कर एक सहस्र दिव्य वर्षों तक तप कर भगवान् नारायण हरि की आराधना की थी ॥ ३४ ॥ तब भगवान्‌ने सरस्वती देवीको आज्ञा दी, तब भगवती सरस्वतीने लोकोंका हित करनेकी इच्छा से सप्तर्षियोंके शरीरमें प्रवेश किया ॥३५॥ और तपको जानने वाले ब्राह्मणोंने उस वाणीका शब्दमें, अर्थमें तथा हेतुमें भली प्रकार उपयोग किया इस प्रकार सरस्वती देवीकी यह पहिली सृष्टि हुई ॥ ३६ ॥ तदनन्तर ओंकार तथा स्वरोंसे पूजित वह शास्त्र जहाँ दयालु भगवान् विराजमान थे तहाँ जाकर ऋषियोंने उन दयालु भगवान् नारायणको पहले सुनाया ॥३७॥ यह सुनकर शरीरसे अदृश्य रहनेवाले भगवान् पुरुषोत्तम प्रसन्न हुए और उन्होंने अदृश्य रहकर सब ऋषियोंसे कहा, कि—३८ "तुमने एक लाख श्लोकका यह तन्त्रशास्त्र रचा है, इससे सब लोकोंके धर्मका प्रचार होगा ॥ ३९ ॥ प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों मार्गोंमें यह तन्त्रशास्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अङ्गिराके अथर्ववेदके पूर्ण अनुकूल है ॥ ४० ॥ हे ब्राह्मणों !

प्रसादतः । रुद्रश्च क्रोधजो विप्रा यूयं प्रकृतयस्तथा ॥४१॥ सूर्याचन्द्रमसौ वायुर्भूमिरापोऽग्निरेव च । सर्वे च नक्षत्रगणा यच्च भूताभिशब्दितम् ॥४२॥ अधिकारेषु वर्त्तन्ते यथा स्वं ब्रह्मवादिनः सर्वे प्रमाणं हि यथा तथा तच्छास्त्रमुत्तमम् ॥ ४३ ॥ भविष्यति प्रमाणं वै एतन्मदनुशासनम् । तस्मात्प्रवक्ष्यते धर्मान्मनुः स्वायंभुवः स्वयम् ॥ ४४ ॥ उशना बृहस्पतिश्चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः । तदा प्रवक्ष्यतः शास्त्रं युष्मन्मतिभिरुद्धृतम् ॥ ४५ ॥ स्वायंभुवेषु धर्मेषु शास्त्रे चौशनसे कृते । बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते ॥ ४६ ॥ युष्मत्कृतमिदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस्ततः । बृहस्पतिसकाशाद्वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः ॥ ४७ ॥ स हि सद्वात्तितो राजा मद्भक्तश्च भविष्यति । तेन शास्त्रेण लोकेषु क्रियाः

मैंने शास्त्रके नियमानुसार प्रसन्नतामेंसे ब्रह्माको, क्रोधसे रुद्रको और प्रकृतियोंके प्रतिनिधिस्वरूप तमको उत्पन्न किया है ॥४१॥ सूर्य, चन्द्रमा, वायु, भूमि जल, अग्नि, सब नक्षत्र और भूत नामधारी सम्पूर्ण पदार्थ और वेदशास्त्र प्रवीण ऋषि अपने २ स्थानोंमें रहकर अपने २ कामको किया करते हैं जिस प्रकार ये सब प्रमाण माने जाते हैं, तिसी प्रकार तुम्हारा यह उत्तमशास्त्र भी जगत्में मान्य माना जायगा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ मेरे ऐसे वरदानसे यह प्रमाण माना जायगा और स्वायंभुव मनु स्वयं ही इस शास्त्रमेंसे धर्मोंका प्रवचन करेंगे ॥ ४४ ॥ शुक्राचार्य और बृहस्पति जब उत्पन्न होंगे तब वे भी तुम्हारे इस एकमति होकर रचे हुए शास्त्रमेंसे धर्मोपदेश देंगे ॥४५॥ स्वायंभुव मनु, शुक्राचार्य और बृहस्पतिजीसे यह धर्म जगत्में प्रचलित होगा, फिर४६ हे उत्तम ब्राह्मणो ! प्रजापालक राजा वसु (उपरिचर) तुम्हारे इस रचे हुए इस शास्त्रको बृहस्पतिजीसे पढेगा ॥ ४७ ॥ वह सद्बुद्धि राजा मेरा भक्त होगा और वह शास्त्रानुसार सब

सर्वाः करिष्यति ॥ ४८ ॥ एतद्धि युष्मच्छास्त्राणां शास्त्रमुत्तम-
संज्ञितम् । एतदर्थ्यं च धर्म्यं च रहस्यं चैतदुत्तमम् ॥४९॥ अस्य
प्रवर्त्तनाच्चैव प्रजावन्तो भविष्यथ । स च राजश्रिया युक्तो
भविष्यति महान्वसु ॥ ५० ॥ संस्थिते तु नृपे तस्मिन् शास्त्रमे-
तत्सनातनम् । अन्तर्धास्यति तत्सर्वमेतद्वः कथितं मया ॥ ५१ ॥
एतावदुक्त्वा वचनमदृश्यः पुरुषोत्तमः । विसृज्य तानृषीन्सर्वा-
न्कामपि प्रस्तो दिशम् ॥५२॥ ततस्ते लोकपितरः सर्वलोकार्थ
चिंतकाः । प्रावर्त्तयंत तच्छास्त्रं धर्मयोनिं सनातनम् ॥ ५३ ॥
उत्पन्नेऽङ्गिरसे चैव युगे प्रथमकल्पिते । सांगोपनिषदं शास्त्रं
स्थापयित्वा बृहस्पतौ ॥ ५४ ॥ जग्मुर्यथेप्सितं देशं तपसे कृत-

क्रियाओंको करेगा ॥ ४८ ॥ तुम्हारा रचा हुआ यह शास्त्र सब
शास्त्रोंमें श्रेष्ठ माना जायगा और यह शास्त्र अर्थ और धर्म प्राप्त
करनेवाला तथा रहस्यमय होनेसे उत्तम होगा ॥ ४९ ॥ तुम इस
शास्त्रकी प्रवृत्ति करनेसे जगत्में प्रजावाले (मनुष्यजातिकी वृद्धि
करनेवाले) होगे और राजा वसु भी राज्यलक्ष्मी पाकर बडा
आदमी होगा ॥५०॥ और वह राजा मरेगा तब यह सनातन-
शास्त्र भी लुप्त होजावेगा, यह सब कथा मैंने तुम्हें समझादी५१
पुरुषोत्तम भगवान्ने अदृश्य रहकर इसप्रकार कहा, फिर वह
सब ऋषियोंको जानेकी आज्ञा देकर स्वयं एक दिशाकी ओर
चले गए ॥ ५२ ॥ तदनन्तर सब लोकोंका हित चाहनेवाले और
लोकोंके पितररूप उन ऋषियोंने धर्मके मूलरूप उस सनातन-
शास्त्रका जगत्में प्रचार किया ॥५३॥ फिर प्रथम युगमें अङ्गिरा
के यहाँ बृहस्पति उत्पन्न हुए तब उन्होंने वेद वेदांग और उप-
निषद् सहित यह शास्त्र बृहस्पतिजीको पढाया ॥ ५४ ॥ तदन-
न्तर सब लोकोंको धारण करनेवाले तथा सकल धर्मोंका प्रचार

निश्चयाः । धारणाः सर्वलोकानां सर्वधर्मप्रवर्त्तकाः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पंचत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३५ ॥

भीष्म उवाच । ततोऽतीते महाकल्पे उत्पन्नेऽङ्गिरसः सुते । बभूवुर्निर्वृता देवा जाते देवपुरोहिते ॥ १ ॥ बृहद्ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः । एभिः समन्वितो राजन्गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः ॥ २ ॥ तस्य शिष्यो बभूवाऽग्र्यो राजोपरिचरो वसुः । अधीतवांस्तदा शास्त्रं सम्यक् चित्रशिखण्डिजम् ॥३॥ स राजा भावितः पूर्वं दैवेन विधिना वसुः । पालयामास पृथिवीं दिवमाखण्डलो यथा ॥४॥ तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः । बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह ॥५॥ प्रजापतिसुताश्चात्र

करनेवाले वे ऋषि तप करनेका निश्चय करके अपनी इच्छानुसार किसी दिशामें तप करनेको चलेगए ॥ ५५ ॥ तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३३५ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-महाकल्प बीत जाने पर अङ्गिराके यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, उन देवपुरोहित (बृहस्पति) के उत्पन्न होने पर देवताओंको शान्ति मिली ॥ १ ॥ हे राजन् ! बृहत्, ब्रह्म और महत् इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थ है, उनको बृहस्पति कहनेका कारण यह है, कि-वे सब गुणोंसे युक्त थे ॥ २ ॥ राजा उपरिचर बृहस्पतिजीका मुख्य शिष्य था और उसने चित्रशिखण्डियोंके रचेहुए शास्त्रको अच्छी प्रकार पढा था ॥ ३ ॥ पहिलेसे ही शास्त्रोक्त कर्म करके शुद्ध हुआ वह राजा वसु इन्द्र जैसे स्वर्गकी रक्षा करता है तैसे पृथ्वीकी रक्षा करने लगा ॥४॥ उस महात्मा राजाने अश्वमेधनामक बडा भारी यज्ञ किया था, उस यज्ञमें उपाध्याय बृहस्पति होता अर्थात् मन्त्र पढकर अग्निमें घीकी आहुति देनेवाले बने थे ॥ ५ ॥ प्रजापतिके पुत्र, द्वित

सदस्याश्चाभवंस्त्रयः । एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ६ धनुषाख्योथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू । ऋषिर्मेधातिथिश्चैव ताण्ड्यश्चैव महानृषिः ॥ ७ ॥ ऋषिः शान्तिर्महाभागस्तथा वेदशिराश्च यः । ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता स्मृतः ८ आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशम्पायनपूर्वजः । कण्वोथ देवहोत्रश्च एते षोडश कीर्त्तिताः ॥ ९ ॥ संभूताः सर्वसंभारास्तस्मिन्राजन्महाक्रतौ । न तत्र पशुघातोऽभूत्स राजैवं स्थितोऽभवत् १० अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः । आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥ प्रीतस्ततोऽस्य भगवान्देवदेवः पुरातनः । साक्षात्तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥१२॥ स्वयं भागमुपाघ्राय पुरोडाशं गृहीतवान् । अदृश्येन हृतो भागो

और त्रित नामवाले तीनों महर्षि पुत्र उस यज्ञमें सदस्य (सब काम शास्त्रानुसार होता रहे इसका निरीक्षण करनेवाले) बने थे ॥ ६ ॥ धनुष और रैभ्य, अर्वावसु, परावसु ऋषि मेधातिथि और ताण्ड्य नामक महर्षि शान्ति ऋषि, महाभाग, महाभाग वेदशिरा शालिहोत्रके पिता ऋषिश्रेष्ठ कपिल, आद्य, कठ और वैशम्पायन ऋषिके पूर्वज तैत्तिरि ऋषि, कण्व और देवहोत्र यह सोलह ऋषि भी उस यज्ञमें (सदस्य) थे ७-९ हे राजन् ! उस महायज्ञमें सब प्रकारकी सामग्री थी, उस राजाकी मर्यादाके अनुसार उस यज्ञमें पशुहिंसा नहीं कीगई थी ॥१०॥ वह राजा स्वयं अहिंसक था और पवित्र, उदार मन वाला और कामनाओंसे रहित था और उसके कर्म प्रशंसनीय थे, वनमें उत्पन्न हुए पदार्थोंका ही उस यज्ञमें उपयोग किया गया था ॥ ११ ॥ तदनन्तर देवदेव भगवान् विष्णु उसके ऊपर प्रसन्न हुए और उन्होंने उसको साक्षात् दर्शन दिया परन्तु और किसीको उनका दर्शन नहीं हुआ ॥ १२ ॥ भगवान् श्रीहरिने अपने लिये दिये हुए पुरोडाश

देवेन हरिमेधसा ॥ १३ ॥ बृहस्पतिस्ततः क्रुद्धः स्रुचमुद्यम्य वेगितः । आकाशं घ्नन्स्रुचःपातै रोषादश्रूण्यवर्त्तयत् ॥ १४ ॥ उवाच चोपरिचरं मया भागोऽयमुद्यतः । ग्राह्यः स्वयं हि देवेन मत्प्रत्यक्षं न संशयः ॥ १५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । उद्यता यज्ञभागा हि साक्षात्प्राप्ताः सुरैरिह । किमर्थमिह न प्राप्तो दर्शनं स हरिर्विभुः ॥ १६ ॥ भीष्म उवाच । ततः स तं समुद्भूतं भूमिपालो महान्वसुः । प्रसादयामास मुनिं सदस्यास्ते च सर्वशः १७ ऊचुश्चैनमसम्भ्रान्ता न रोषं कर्त्तुमर्हसि । नैष धर्मः कृतयुगे यस्त्वं रोषमचीकृथाः ॥१८। अरोषणो ह्यसौ देवो यस्य भागोऽयमुद्यतः । न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते ॥ १९ ॥

को अदृश्य रहकर लिया और उसको सूँघकर स्वीकृत किया १३ तब तो बृहस्पतिजीको क्रोध आगया और स्रुवेको उठाकर वेग से आकाशमेंको फेंका और क्रोधके कारण उनकी आँखोंसे आँसू निकलने लगे १४ और राजा उपरिचरसे कहा, कि-' देवताको देनेके लिये यह भाग मैंने तयार किया है अतः देवताको मेरे सामने आकर इस भागको लेना ही चाहिये १५। युधिष्ठिरने बूझा कि-यज्ञका भाग जिस २ देवताको दिया है वह २ देवता साक्षात् आकर अपने यज्ञभागको स्वीकार करते हैं, तो व्यापक भगवान् हरिने फिर दर्शन क्यों न दिया ॥ १६ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-फिर क्रोधमें भरे हुए मुनि बृहस्पतिको भूमिपाल उपरिचर और सब सदस्य प्रसन्न करने लगे ॥ १७ ॥ और संभ्रमको त्यागकर बृहस्पतिजीसे कहने लगे, कि-" आपको क्रोध करना उचित नहीं है, आपने क्रोध किया, परन्तु सत्ययुगमें क्रोध करना धर्म नहीं माना जाता ॥१८॥ और आपने जिनके लिये भाग निकाला है, वे देवता भी क्रोधरहित हैं, हे बृहस्पते! उनको हम या आप नहीं देख सकते ॥ १९ ॥ परन्तु यह देव जिसके ऊपर दया करते हैं,

यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति । एकतद्वितत्रिताश्चोचुस्ततश्चित्रशिखण्डिनः ॥ २० ॥ वयं हि ब्रह्मणः पुत्रा मानसाः परिकीर्तिताः । गता निःश्रेयसार्थं हि कदाचिद्दिशमुत्तराम् ॥ २१ ॥ तप्त्वा वर्षसहस्राणि चरित्वा तप उत्तमम् । एकपादाः स्थिताः सम्यक्काष्ठभूताः समाहिताः ॥ २२ ॥ मेरोरुत्तरभागे तु क्षीरोदस्यानुकूलतः । स देशो यत्र नस्तप्तं तपः परमदारुणम् ॥२३॥ कथं पश्येमहि वयं देवं नारायणात्मकम् । वरेण्यं वरदं तं वै देवदेवं सनातनम् ॥ २४ ॥ कथं पश्येमहि वयं देवं नारायणं त्विति । अथ व्रतस्यावभृथे वागुवाचाशरीरिणी ॥ २५ ॥ स्निग्धगंभीरया वाचा प्रहर्षणकरी विभो । सुतप्तं वस्तपो विप्राः प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥ यूयं जिज्ञासवो भक्ताः कथं द्रक्ष्यथ तं विभुम् ।

वही उनको देख सकता है, तदनन्तर एकत, द्वित और त्रित तथा चित्रशिखण्डी बोले, कि–॥ २० ॥ हम ब्रह्माजीके मानस पुत्र प्रसिद्ध हैं एक समय मोक्षपानेकी इच्छासे हम उत्तर–दिशाकी ओर गए थे ॥ २१ ॥ तहाँ अपने मनको नियममें रख एक पैर से खड़े हो एक सहस्रवर्ष तक उत्तम तपका आचारण कर हम सूखी हुई लकड़ीकी समान होगए ॥ २२ ॥ हमने जिस प्रदेशमें परमदारुण तप किया था, वह देश मेरु पर्वतके उत्तरभागमें क्षीरसमुद्रके तटपर है ॥ २३ ॥ हमें श्रेष्ठ वरदान देने वाले देवदेव सनातन नारायणस्वरूप भगवान्का दर्शन किस प्रकार होगा? २४ हम नारायणका दर्शन किसप्रकार कर सकेंगे ? (ऐसा विचारते हुए) हम व्रतकी समाप्तिका स्नान कर रहे थे उस समय हमें परम हर्षित करती हुई स्नेह और गंभीरतासे भरी आकाशवाणी हुई, कि–"हे ब्राह्मणों ! तुमने प्रसन्नमनसे भली प्रकार तप किया है ॥ २५–२६ ॥ तुम भक्त यह जानना चाहते हो, कि परमात्माका दर्शन किस प्रकार हो, (अतः सुनो) क्षीर

क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभः ॥ २७ ॥ तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः। एकान्तभावोपगतास्ते भक्ताः पुरुषोत्तमम्॥२८ ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्ति सनातनम् । अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः ॥ २९ ॥ एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः । गच्छध्वं तत्र मुनयस्तत्रात्मा मे प्रकाशितः ।३०। अथ श्रुत्वा वयं सर्वे,वाचं तामशरीरिणीम् । यथाख्यातेन मार्गेण तं देशं प्रतिपेदिरे ॥ ३१ ॥ प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं तच्चित्तास्तदिदृक्षवः । ततोऽस्मद्दृष्टिविषयस्तदा प्रतिहतोऽभवत् ॥ ३२ ॥ न च पश्याम पुरुषं तत्तेजोहृतदर्शनाः । ततो नः प्रादुरभवद्विज्ञानं दैवयोगजम् ॥ ३३ ॥ न किलातप्ततपसा शक्यते द्रष्टुमंजसा ।

समुद्रकी उत्तर दिशाकी ओर महाप्रभाव वाला एक श्वेतद्वीप है ॥ २७ ॥ तहाँ नारायणमें परायण रहने वाले, चन्द्रमाकी समान कान्तिवाले और एकान्तभावसे रहने वाले पुरुष पुरुषोत्तमकी भक्ति करते हुए रहते हैं२८वे इन्द्रियरहित,आहार न करने वाले, पलक न मारने वाले और सुगंधवाले पुरुष सहस्र किरणों वाले सूर्यके शरीरमें प्रवेश करते हैं २९ श्वेतद्वीपवासी वे मनुष्य एक परमात्माको ही मानते है, हे मुनियों ! तुम उस श्वेतद्वीपमें जाओ, तहाँ मेरा स्वरूप प्रत्यक्षरूपसे विराजमान है" ॥ ३० ॥ हम सब उस आकाशवाणीको सुनकर उसके बताये हुए मार्गसे उस देशमें गए ॥ ३१ ॥ उस श्वेतद्वीप नाम वाले महाद्वीपमें पहुँच कर हमें परमात्माके दर्शन करनेकी इच्छा थी, हमारा मन उनमें ही लगा हुआ था, परन्तु तहाँ जातेही हम अंधे हो गए ॥३२॥ उनके तेजसे अपनी दर्शनशक्तिका नाश होनेसे उस पुरुषको हम न देख सके, तदन्तर दैवयोगसे हमें ज्ञान हुआ कि ॥३३॥ जिसने तप नहीं किया है,वह पुरुष सहजमें परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता, अत एव हमने फिर उसी समयसे सौ

ततः पुनर्वर्षशतं तप्त्वा तात्कालिकं महत् ॥ ३४ ॥ व्रतावसाने च शुभान्नरान्ददृशिरे वयम् । श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशान्सर्वलक्षणलक्षितान् ॥३५॥ नित्यांजलिकृतान्ब्रह्म जपतः प्रागुदङ्मुखान् । मानसो नाम स जपो जप्यते तैर्महात्मभिः ॥ ३६ ॥ तेनैकाग्रमनस्त्वेन प्रीतो भवति वै हरिः । याभवन्मुनिशार्दूल भाः सूर्यस्य युगक्षये ॥ ३७ ॥ एकैकस्य प्रभाता हक्साभवन्मानवस्य ह । तेजोनिवासः स द्वीप इति वै मेनिरे वयम् ॥ ३८ ॥ न तत्राभ्यधिकः कश्चित्सर्वे ते समतेजसः । अथ सूर्यसहस्रस्य प्रभां युगपदुत्थिताम् ॥ ३९ ॥ सहसा दृष्टवन्तः स्म पुनरेव बृहस्पते । सहिताश्चाभ्यधावन्त ततस्ते मानवा द्रुतम् ॥ ४० ॥ कृतांजलिपुटा हृष्टा

वर्ष तक बड़ा भारी तप किया ॥ ३४ ॥ व्रत पूर्ण होने पर हम को पुरुषोत्तमोंके दर्शन हुए, उनके शरीरका वर्ण श्वेत था, वे चन्द्रमाकी समान प्रतीत होते थे और सर्वलक्षण संपन्न थे ॥३५॥ दोनों हाथ जोड़ कर पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके वे सदा ब्रह्मका जप करते थे, वे महात्मा जो जप करते थे वह मानसिक जप था ॥ ३६ ॥ भगवान् हरि भी उन की एकाग्रता को देखकर उनके ऊपर प्रसन्न होते थे, हे मुनिशार्दूल ! प्रलयके समय जैसी सूर्यकी कांति हो जाती है, वैसे ही कान्ति उस द्वीपमें रहनेवाले प्रत्येक मनुष्यकी थी, यह देख कर हमने समझा, कि–तेजका निवास–स्थान यह द्वीप यही है ॥ ३७–३८ ॥ उस द्वीपमें कोई भी पुरुष दूसरेसे अधिक तेजस्वी नहीं था, तहाँ सब मनुष्य समान तेजवाले थे, तदनन्तर एक सहस्र सूर्यकी प्रभा जैसे एक साथ उदय होती हो ॥३९॥ तैसी प्रभा एक दम उदय होती हुई हे बृहस्पते ! हमारे देखनेमें आई, यह देख कर उस द्वी के सब मनुष्य इकट्ठे होकर ॥४०॥ हर्षमें भर गए और दोनों हाथ जोड़कर नमो,नमः का उच्चारण

नम इत्येव वादिनः । ततो हि वदतां तेषामश्रौष्म विपुलं ध्वनिम् ४१ वलिः किलोपह्रियते तस्य देवस्य तैर्नरैः । वयन्तु तेजसा तस्य सहसा हृतचेतसः ॥ ४२ ॥ न किंचिदपि पश्यामो हतचक्षुर्बलेन्द्रियाः । एकस्तु शब्दो विततः श्रुतोऽस्माभिरुदीरितः ॥ ४३ ॥ जितन्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन । नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज ॥ ४४ ॥ इति शब्दः श्रुतोस्माभिः शिक्षाक्षरसमन्वितः । एतस्मिन्नंतरे वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ॥४५॥ दिव्यान्युवाह पुष्पाणि कर्मण्याश्चौषधीस्तथा । तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः ॥ ४६ ॥ भक्त्या परमया युक्तैर्मनोवाक्कर्मभिस्तदा । नूनं तत्रागतो देवो यथा तैर्वागुदीरिता ॥४७॥ वयं त्वेनं

करते हुए उस ओर दौड़े, उनकी वह बड़ी भारी जयध्वनि हमारे सुननेमें आई थी ॥ ४१ ॥ उस द्वीपमें रहने वाले मनुष्य देवता को बलिदान देने लगे और हम तो उनके तेजसे हतचित्त होगए४२ अपनी नेत्रेन्द्रियकी दृष्टिशक्तिके उपहत होनेसे हम कुछ न देख सके, परन्तु उस द्वीपके मनुष्योंका उच्चारण किया हुआ एक महाशब्द हमारे सुननेमें आया, कि ॥४३॥ "हे पुण्डरीकाक्ष ! आपकी जय हो ! हे विश्वको उत्पन्न करने वाले ! आपको नमस्कार है, हे हृषीकेश ! हे महापुरुषपूर्वज ! आपको नमस्कार है !"॥४४॥ इसप्रकार शिक्षाके अक्षरों वाले शब्द हमारे सुननेमें आये, इसी समय सब प्रकारके गन्धोंको ग्रहण करनेवाला पवित्र वायु ॥ ४५ ॥ दिव्य पुष्पोंको और कर्मोपयोगी- औषधियोंको ले आया तदनन्तर पाँच प्रकारके कालको जानने वाले और हरिकी, एकाग्रभावसे भजन करने वाले उन पुरुषोंने ॥ ४६ ॥ मन, वाणी तथा कर्मसे, परमभक्तिपूर्वक पूजा की, वे जो बातें कर रहे थे उनसे हमने समझा, कि-तहाँ भगवान् अवश्य आये थे ॥ ४७ ॥ परन्तु हम उन देवकी मायासे मोहमें पड़ गए थे

न पश्यामो मोहितास्तस्य मायया । मारुते सन्निवृत्ते च बलौ च प्रतिपादिते ॥४८॥ चिन्ताव्याकुलितात्मानो जाताः स्मोऽङ्गिरसां वर । मानवानां सहस्रेषु तेषु वै शुद्धयोनिषु ॥ ४९ ॥ अस्मान्न कश्चिन्मनसा चक्षुषा वाप्यपूजयत् । तेऽपि स्वस्था मुनिगणा एकभावमनुव्रताः ॥५०॥ नास्मासु दधिरे भावं ब्रह्मभावमनुष्ठिताः । ततोऽस्मान्सुपरिश्रान्तांस्तपसा चातिकर्शितान् ॥ ५१ ॥ उवाच खस्थं कमपि भूतं तत्राशरीरकम् । देवं उवाच ।दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ॥ ५२ ॥ दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमैः । गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् ॥५३॥ न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथंचन । कामं कालेन महता

अतः भगवान्को न देख सके, तदनन्तर पवन शान्त होगया और उन्होंने भगवान्को बलिदान दिया ॥४८॥ हे अंगिराओंमें उत्तम ! उस समय हमारा आत्मा चिन्तासे व्याकुल होने लगा, तहाँ शुद्ध योनिवाले सहस्रों मनुष्य थे ॥ ४९ ॥ परन्तु उनमेंसे किसीने भी हमें मन अथवा दृष्टिसे मान नहीं दिया, वे सब मुनि स्वस्थ थे, एक भावसे (भगवान्का) व्रत करते थे, उन ब्रह्मभावका अनुष्ठान करने वालोंने भी हमें (किसी प्रकारका) भाव नहीं दिखाया, उस समय हम बहुत थक गए थे और तप करनेसे अतिकृश होगए थे ॥ ५१ ॥ उस समय किसी शरीररहित देवताने कहा, कि–तुमने सकल इन्द्रियोंसे रहित श्वेतवर्णके पुरुषोंको देखा. जो इन उत्तम ब्राह्मणोंको देखता है उसको देवेशके दर्शन होते हैं, तुम सब मुनि जैसे आये थे, तैसे ही शीघ्र यहाँसे चले जाओ॥५२॥५३॥जो पुरुष उन देवताका भक्त नहीं है उसको उनका दर्शन किसी प्रकार नहीं होसकता; परन्तु जो बहुत समयमें परमात्माके साथ ऐक्यभावको पाते हैं, वे, प्रभामण्डलके कारण दुर्निरीक्ष्य परमात्माको देख सकते हैं; हे श्रेष्ठ

एकान्तित्वमुपागतैः ॥ ५४ ॥ शक्यो द्रष्टुं स भगवान्प्रभामण्डलदुर्दृशः । महत्कार्यञ्च कर्त्तव्यं युष्माभिर्द्विजसत्तमाः ॥ ५५ ॥ इतः कृतयुगेऽतीते विपर्यासं गतेऽपि च । वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ५६ ॥ सुराणां कार्यसिद्ध्यर्थं सहाया वै भविष्यथ । ततस्तदद्भुतं वाक्यं निशम्यैवामृतोपमम् ॥ ५७ ॥ तस्य प्रसादात्प्राप्ताः स्मो देशमीप्सितमंजसा । एवं सुतपसा चैव हव्यकव्यैस्तथैव च ॥ ५८ ॥ देवोऽस्माभिर्न दृष्टः स कथं त्वं द्रष्टुमर्हसि । नारायणो महद्भूतं विश्वसृग्घव्यकव्यभुक् ॥ ५९ ॥ अनादिनिधनोऽव्यक्तो देवदानवपूजितः । एवमेकतवाक्येन द्वितत्रितमतेन च ॥ ६० ॥ अनुनीतः सदस्यैश्च बृहस्पतिरुदारधीः ।

ब्राह्मणो ! तुम्हें बड़ाभारी काम करना है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ यह सत्ययुग बीत जायगा और फिर वैवस्वत नामक मन्वन्तरमें त्रेतायुगका आरम्भ होगा, तब जगत् पर बड़ाभारी भय आकर पड़ेगा ॥ ५६ ॥ हे मुनियो ! तब तुम देवताओंका काम सिद्ध करनेके लिये उनकी सहायता करोगे, ऐसे अमृतकी समान अद्भुत वचनको सुनकर ॥ ५७ ॥ उन देवताओंकी कृपासे हम शीघ्र ही अपने इष्ट स्थान पर आपहुँचे, इसप्रकार हमने भली प्रकार तप किया था और हव्य कव्य दिये थे ॥ ५८ ॥ (तब भी) हमको उन देवताके दर्शन नहीं मिले, फिर तुम दर्शन करनेके पात्र कैसे हो ? नारायण महापुरुष हैं, विश्वको रचनेवाले हैं और हव्य कव्यका उपभोग करनेवाले हैं और वह आदि तथा अन्तरहित हैं, वे अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंसे जाननेमें स्पष्टरूपसे न आसकने वाले हैं और देवता तथा दानव उनकी पूजा करते हैं, इसप्रकार द्वित और त्रितके अनुमोदन किये हुए और एकतके कहे हुए वचनोंको सुनकर ॥ ५९ ॥ ६० ॥ और सदस्योंके समझानेसे उदारबुद्धि बृहस्पतिजीने यज्ञको समाप्त किया और परमात्माकी

समापयत्ततो यज्ञं दैवतं समपूजयत् ॥ ६१ ॥ समाप्तयज्ञो राजापि पूर्जां पालितवान्वसुः । ब्रह्मशापाद्दिवो भ्रष्टः प्रविवेश महीं ततः ६२ स राजा राजशार्दूल सत्यधर्मपरायणः । अन्तर्भूमिगतश्चैव सततं धर्मवत्सलः ॥ ६३ ॥ नारायणपरो भूत्वा नारायणजपं जपन् । तस्यैव च प्रसादेन पुनरेवोत्थितस्तु सः ॥ ६४ ॥ महीतलाद्गतः स्थानं ब्रह्मणः समनन्तरम् । परां गतिमनुप्राप्त इति नैष्ठिकधर्मसा ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद्राजा महान्वसुः । किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ॥ १ ॥ भीष्म उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । ऋषीणां चैव सम्वादं

पूजा की ॥ ६१ ॥ राजा वसु भी अपना यज्ञ समाप्त करके प्रजा का पालन करनेलगा (और अपने देहको त्याग कर स्वर्गमें गया तहाँ) ब्राह्मणके शापसे स्वर्गमेंसे भ्रष्ट होगया और उसने पृथ्वीमें प्रवेश किया ॥६२॥ हे राजसिंह ! वह राजा सत्यधर्म परायण रहनेवाला था और वह पृथ्वी पर आने पर भी सदा भक्तवत्सल रहता था ॥६३॥ वह नारायणमें परायण रह कर नारायणके नामको जपने लगा और नारायणकी कृपासे फिर पृथ्वीमेंसे बाहर निकला ॥ ६४ ॥ महीतलमेंसे निकल कर निष्ठावाले पुरुष जिस गतिको पाते हैं, ऐसी ब्रह्मस्थानसे भी ऊँची गति उसने पाई ॥६५॥ तीनसौ छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-राजा वसु इतना भगवद्भक्त होने पर भी स्वर्गमेंसे क्यों भ्रष्ट हुआ था और पृथ्वीके विवर (पाताल) में उसने किसलिये प्रवेश किया था ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-हे भरतवंशी राजन् ! इस विषयमें भी ऋषियोंका और देव-

विद्शानां च भारत॥२॥ अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्। स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥३॥ ऋषय ऊचुः। बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ॥ ४ ॥ नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः। इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥ ५ ॥ भीष्म उवाच। तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह। मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान्वसुः॥ ६ ॥ अन्तरिक्षचरः श्रीमान्समग्रबलवाहनः। तं दृष्ट्वा सहसायान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्॥ ७ ॥ ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम्। यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः॥ ८ ॥ कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं

ताओंका सम्वादरूप एक पुरातन इतिहास इस प्रकार कहाजाता है॥ २ ॥ देवताओंने उत्तम ब्राह्मणोंसे कहा, कि-तुम यज्ञमें अज का होम करना और अज शब्दसे बकरेका ग्रहण करना चाहिये दूसरा पशु नहीं लेना चाहिये, ऐसी शास्त्रकी मर्यादा है॥ ३ ॥ ऋषियोंने कहा, वेदकी श्रुति कहती है, कि यज्ञमें बीजों (धान्य के पुरोडाश) का होम करना चाहिये और उस बीजको ही अज कहते हैं, अतः तुम्हें बकरेका होम करना उचित नहीं है॥ ४ ॥ हे देवताओ! पशुका वध करना सत्पुरुषोंका धर्म नहीं है अब तो श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है, इसमें पशुओंका वध करना किस प्रकार उचित माना जासकता है॥ ५ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-इस प्रकार ऋषियोंमें और देवताओंमें वादविवाद होरहा था, इतनेमें ही नृपश्रेष्ठ वसु उस मार्गमें जाता हुआ तहाँ आपहुँचा वै अपनी सब सेना और वाहनोंको साथमें लेकर वह श्रीमान् राजा आकाशमें विचर रहा था अन्तरिक्षमें घूमनेवाले वसुको एकसाथ आता हुआ देखकर॥ ७ ॥ देवता तथा ब्राह्मण बोले, कि-यह हमारे सन्देहको दूर करेगा, क्योंकि-इसने यज्ञ किये हैं-यह

महान्वसुः । एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा ॥ ९ ॥ अपृच्छन्सहिताभ्येत्य वसुं राजानमंतिकात् । भो राजन्केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ॥ १० ॥ एतन्नः संशयं छिंधि प्रमाणं नो भवान्मतः । स तान्कृतांजलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः ॥ ११ ॥ कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ॥ ऋषय ऊचुः । धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप ॥ १२ ॥ देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन्वदस्व नः । भीष्म उवाच । देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात् ॥ १३ ॥ छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा । कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः ॥ १४ ॥ ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम् । सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात्त-

---

दाता है, श्रेष्ठ है और इसकी सब प्राणियों पर प्रीति है ॥ ८ ॥ यह महाराज वसु झूँठ क्यों बोलेगा ? इस भाँति देवता और ऋषि सम्वाद करके इकट्ठे हो राजा वसुके पास गए और उससे बूझा, कि-हे राजन् ! यज्ञमें अजका होम करना चाहिये अथवा औषधियोंका होम करना चाहिये ॥ १० ॥ (इस विषयमें) हम आपके मतको प्रमाण मानेंगे अतः आप हमारे सन्देहको दूर करिये, तब वसु दोनों हाथ जोडकर उनसे बूझने लगा, कि-११ "आप द्विजोत्तमोंको कौन मत इष्ट है, यह मुझसे सत्य२ कहिये" ऋषि बोले, कि-हे राजन् ! हमारा मत तो धान्यसे यज्ञ करनेका है ॥ १२ ॥ किन्तु देवताओंका मत पशुकी बलिसे यज्ञ करनेका है, अब हममें ठीक मत किसका है यह आप बताइये" भीष्मजी ने कहा, कि-देवताओंके पशु होमनेके मतको जानकर वसुने उनका पक्ष लेकर ॥ १३ ॥ उसी समय कहा, "यज्ञमें अज अर्थात् बकरेका होम करना चाहिये" यह सुनकर सूर्यकी समान कान्तिवाले सब ऋषि कुपित होगये ॥ १४ ॥ और देवताओंका पक्ष लेकर बोलने वाले विमानमें बैठे हुए राजा वसुसे कहा, कि-

स्माद्दिवः पत ॥१५॥ अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः । अस्मच्छापाभिघातेन महीं भित्त्वा प्रवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥ ततस्तस्मिन्मुहूर्तेऽथ राजोपरिचरस्तदा । अधो वै संबभूवाशु भूमेर्विवरगो नृप ॥१७॥ स्मृतिस्त्वेनं न विजहौ तदा नारायणाज्ञया । देवास्तु सहिताः सर्वे वसोः शापविमोक्षणम् ॥१८॥ चिंतयामासुरव्यग्राः सुकृतं हि नृपस्य तत् । अनेनास्मत्कृते राज्ञा शापः प्राप्तो महात्मना ॥ १९ ॥ अस्य प्रतिप्रियं कार्यं सहितैर्नो दिवौकसः । इति बुद्ध्या व्यवस्याशु गत्वा निश्चयमीश्वराः ॥ २० ॥ ऊचुः संहृष्टमनसो राजोपरिचरं तदा।ब्रह्मण्यदेवभक्तस्त्वं सुरासुरगुरुर्हरिः२१ कामं स तव तुष्टात्मा कुर्याच्छापविमोक्षणम् । मानना तु द्विजा

तूने देवताओंका पक्ष लिया है अतः तू स्वर्गमेंसे नीचे गिर पड१५ हे राजन् ! हमारे शापके कारण तू आजसे आकाशमें उड न सकेगा और हमारे शापवश पृथिवीको भेद कर उसमें प्रवेश करेगा ॥ १६ ॥ हे राजन् ! ऋषियोंने शाप दिया उसी मुहूर्तमें राजा उपरिचर आकाशमेंसे गिर पडा और पृथिवीके विवरमें घुस गया ॥ १७ ॥ परन्तु नारायणकी आज्ञासे स्मृतिने इसको नहीं त्यागा, तदनन्तर सब देवता एकत्र होकर राजा वसुको शापमेंसे छुडानेके लिये शान्तमनसे विचार करने लगे, क्योंकि उस राजाने सत्कर्म किये थे (देवता विचारने लगे, कि) इस महात्मा राजाको हमारे कारणसे शाप हुआ है ॥ १८ ॥ १९ ॥ अतः हमें एकत्र होकर इस राजाका हित करना चाहिये, इस प्रकार बुद्धिपूर्वक विचार कर देवताओंने शीघ्र ही निश्चय किया ॥ २० ॥ और मनमें हर्षित हो राजा उपरिचरसे कहने लगे, कि-"तुम ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले और देवताओंके भक्त हो तथा श्रीहरि देवता और दैत्योंके गुरु हैं ॥ २१ ॥ वे तुम्हारे ऊपर अति प्रसन्न रहते हैं, अतः वे तुम्हारे शापको दूर

तीनां कर्त्तव्या वै महात्मनाम् ॥२२॥ अवश्यं तपसा तेषां फलितव्यं नृपोत्तम । यतस्त्वं सहसा भ्रष्ट आकाशान्मेदिनीतलम् २३ एकं त्वनुग्रहं तुभ्यं दद्मो वै नृपसत्तम । यावत्त्वं शापदोषेण कालमासिष्यसेऽनघ ॥ २४ ॥ भूमेर्विवरगो भूत्वा तावत्त्वं कालमाप्स्यसि । यज्ञेषु सुहुतां विप्रैर्वसोर्धारां समाहितैः ॥ २५ ॥ प्राप्स्यसेऽस्मदनुध्यानान्मा च त्वां ग्लानिरस्पृशत् । न क्षुत्पिपासे राजेंद्र भूमेश्छिद्रे भविष्यतः ॥ २६ ॥ वसोर्धाराभिपीतत्वात्तेजसाप्यायितेन च । स देवोऽस्मद्वरात्प्रीतो ब्रह्मलोकं हि नेष्यति २७ एवं दत्वा वरं राज्ञे सर्वे ते च दिवौकसः । गताः स्वभवनं देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ २८ ॥ चक्रे वसुस्ततः पूजां विष्वक्सेनाय

करेंगे, परन्तु तुम सदा महात्मा ब्राह्मणोंका सन्मान करना २२ हे नृपोत्तम ! उन महात्माओंका तप अवश्य फल देगा, इसलिये तुम आकाशमेंसे एकाएक पृथिवी पर गिर पड़े हो ॥ २३ ॥ परन्तु हे नृपश्रेष्ठ ! हम तुम पर एक अनुग्रह करते हैं, कि-तुम्हें जब तक शाप भोगना पड़ेगा, तब तक पृथिवीके विवरमें रहने पर भी यज्ञोंमें ब्राह्मण सावधान होकर वसुकी धाराका जो होम करेंगे, वह तुमको मिला करेगी ॥ २४ ॥ २५ ॥ हमारी कृपासे हे राजेन्द्र ! (वसुधारा मिलनेसे) भूमिके विवरमें रहने पर भी तुमको ग्लानि नहीं होगी और क्षुधा तथा पिपासा भी तुमको दुःख नहीं देंगी ॥ २६ ॥ और वसुधाराका पान करते रहनेसे तुम्हारे तेजकी वृद्धि होती रहेगी और हमारे वरसे वह देव भी तुम पर प्रसन्न हो, तुमको ब्रह्मलोकमें ले जावेंगे" ॥ २७ ॥ इस प्रकार राजाको वर देकर स्वर्गमें रहनेवाले वे सब देवता और तपोधन ऋषि भी अपने २ स्थानों पर चले गए ॥ २८ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! तदनन्तर राजा वसुने विष्वक्सेन (नारायण) की पूजा की और नारायणके मुखसे निकले हुए मन्त्र

भीष्म उवाच । प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं नारदो भगवानृषिः । ददर्श तानेव नरान्‌ श्वेतांश्चन्द्रसमप्रभान् ॥ १ ॥ पूजयामास शिरसा मनसा तैश्च पूजितः । दिदृक्षुर्जप्यपरमः सर्वकृच्छ्रगतः स्थितः ॥ २ ॥ भूत्वैकाग्रमना विप्र ऊर्ध्वबाहुः समाहितः । स्तोत्रं जगौ स विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥ ३ ॥ नारद उवाच । नमस्ते देवदेवेश १ निष्क्रिय २ निर्गुण ३ लोकसाक्षिन् ४ क्षेत्रज्ञ ५ पुरुषोत्तमा ६ नन्त ७ पुरुष ८ महापुरुष ९ पुरुषोत्तम १०

भीष्मजीने कहा, कि–भगवान्‌ नारद ऋषि महाद्वीप श्वेतद्वीप में गए, तब उन्होंने चन्द्रमाकी श्वेत प्रभा वाले मनुष्योंको देखा ॥ १ ॥ और उनको मस्तक नमा कर अन्तः करणसे पूजा की, फिर उन्होंने भी नारदजीको पूजाकी, फिर (नारायणके) दर्शन करनेकी लालसा वाले नारदजी पुराणपुरुषके नामका जप करते हुए अतिकठिनतासे पालनेयोग्य व्रतको धारण कर तहाँ रहने लगे ॥ २ ॥ और मनको एकाग्र कर सावधान हो दोनों भुजाओंको उठाकर सगुण और निर्गुण रूप विश्वात्मा भगवान् की इस प्रकार स्तुति करने लगे ३ नारदजीने कहा, कि हे देवदेवश (देवतारूप (इन्द्रियोंसे खेलने वाले देवदेव (जीव) के ईश अन्तर्यामिन्) १ हे निष्क्रिय (व्यापक होनेसे क्रियारहित) २ हे (असंग होनेसे निर्गुण ! ३ हे सब लोकोंके साक्षी (उदासीन होनेसे बोधरूप) ४ हे क्षेत्रज्ञ (जीव) ! ५ हे (शरीर और जीव और ईशसे श्रेष्ठ) पुरुषोत्तम ! ६ हे (देशकाल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य) अनन्त ! ७ हे (व्यष्टिके स्थूल सूक्ष्म कारण,पुरों (शरीरों) को भस्मकरने वाले) पुरुष ! ८ हे (समष्टिके भी स्थूलादि शरीरोंको भस्म करनेवाले) महापुरुष ! ९ हे (अन्नमय आदि पुरुषोंमें उत्तम–सत्य, ज्ञान अनन्त और आनन्द रूप) पुरुषोत्तम ! १० हे (सत्व, रज और तमोगुण

त्रिगुण ११ प्रधाना १२ मृता १३ मृताख्या १४ नन्तारूय १५ व्योम १६ सनातन १७ सदसद्व्यक्ताव्यक्त १८ ऋतधामा १९ न्नादिदेव २० वसुप्रद २१ प्रजापते २२ सुप्रजापते २३ वनस्पते २४ महाप्रजापते २५ ऊर्जस्पते २६ वाचस्पते २७ जगत्पते २८ मनस्पते २९ दिवस्पते ३० मरुत्पते ३१ सलिलपते ३२ पृथिवीपते ३३ दिक्पते ३४ पूर्वनिवास ३५ गुह्य ३६ ब्रह्मपुरोहित ब्रह्मकायिक ३८ महाराजिक ३९ चातुर्महाराजिक ४० भासुर ४१

रूप) त्रिगुण, ११ हे प्रधान ! १२ हे (सुधारूप) अमृत ! १३ हे अमृत (देवता) रूपसे प्रसिद्ध १४ हे अनन्त (शेष) ! १५ हे व्योम ! १६ हे सनातन (अनादि) ! १७ हे सदसद्व्यक्ताव्यक्त (कार्य कारणरूपसे व्यक्त और अव्यक्त) ! १८ हे ऋतधाम (अविकारी प्रकाश वाले) ! १९ हे आदिदेव (नारायण) २० हे वसुप्रद (कर्मफलके दाता) २१ हे प्रजापते (दक्ष आदि) ! २२ हे सुप्रजापते (मोक्षमें मुख्य सनक आदि) ! २३ हे वनस्पते (अश्वत्थ आदि) ! २४ हे महाप्रजापते (ब्रह्मदेव) ! २५ हे ऊर्जस्पते (मच्छ आदि जीवरूप पशुओंके स्वामिन्) ! २६ हे वाचस्पते (बृहस्पति) २७ हे जगत्पते (इन्द्र) ! २८ हे मनस्पते (सूत्रात्मन्) ! २९ हे दिवस्पते (सूर्य) ! ३० हे मरुत्पते (प्राणवायुरूप) ! ३१ हे सलिलपते (वरुण) ! ३२ हे पृथ्वीपते (राजन्) ! ३३ हे दिक्पते (इन्द्र अग्नि, आदि) ३४ हे पूर्वनिवास (महाप्रलयके समय जगत्के आधाररूप) ! ३५ हे गुह्य (अमात्य) ! ३६ हे ब्रह्मपुरोहित (ब्रह्माको वेद देने वाले श्रुतिमें भी कहा है, कि -"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये") ! ३७ हे ब्रह्मकायिक (ब्राह्मणशरीरसे साध्य यज्ञ अध्ययन आदि रूप) ! ३८ हे महाराजिक ! ३९ हे चातुर्महा-

महाभासुर ४२ सप्तमहाभाग४३ याम्य४४ महायाम्य ४५ संज्ञासंज्ञ ४६ तुषित ४७ महातुषित ४८ प्रमर्दन ४९ परिनिर्मिता ५० परिनिर्मित ५१ वशवर्त्ति ५२ न्नपरिनिंदिता ५३ परिमित ५४ वशवर्ति ५५ न्नवशवर्त्तिन् ५६ यज्ञ ५७ महायज्ञ ५८ यज्ञसंभव ५९ यज्ञयोने ६० यज्ञगर्भ ६१ यज्ञहृदय ६२ यज्ञस्तुत, ६३ यज्ञभागहर ६४पञ्चयज्ञ ६५पञ्चकालकर्तृपते ६६ पांचरात्रिक६७ वैकुण्ठ ६८ अपराजित ६९ मानसिक ७० नामनामिक ७१

राजिक ! ४० हे भासुर ! ४१ हे महाभासुर ! (ये चारों देवताओंके नाम हैं) ४२ हे सप्तमहाभाग (गायत्री आदि सात मन्त्रोंसे जिसको सात भाग दिये जाते हैं ऐसे देव) ४३ हे याम्य (हे यमके गणरूप) ! ४४ हे महायाम्य (चित्रगुप्त आदि रूप) ! ४५ हे संज्ञासंज्ञ (यमकी पत्नी संज्ञा नाम वाले)! ४६ हे तुषित ! ४७ हे महातुषित ! (ये दोनों देवविशेष हैं) ४८ हे प्रमर्दन (मृत्यु) ! ४९ हे परिनिर्मित!(मृत्युके सहायक काम आदि दोषोंके निर्माणकर्ता देव) ! हे अपरिनिर्मित (शम आरोग्य आदि) ५१ हे अपरिनिन्दित (शम आदि गुणसंपन्न) ! ५२ हे (कामादिके) वशवर्तिन् ! ५३ हे अपरिमित (अनन्त) ५४ हे अवशवर्तिन् (शास्तारूप) ! ५५ हे यज्ञ ! (अग्निहोत्र) ५७ हे महायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ आदि) ! ५८ हे यज्ञसंभव (ऋत्विक आदि) ! ५९ हे यज्ञयोने (वेद) ! ६० हे यज्ञगर्भ (अग्ने) ! ६१ हे यज्ञहृदय (हे यज्ञाङ्गोपासनारूप) ! ६२ हे यज्ञस्तुत ६३ हे यज्ञभागहर ! ६४ हे पञ्चमहायज्ञरूप ! ६५ हे पञ्चकालकर्तृपते (अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और सम्वत्सररूप कालके स्वामिन्) ! ६६ हे पाञ्चरात्रिक (पञ्चरात्र नामक शास्त्रसे जिनका स्वरूप जाना जाता है)! ६७ हे वैकुण्ठ (किसी से कुण्ठित न होने वाले अथवा विकुण्ठाके पुत्र) ! ६८ हे

परस्वामिन् ७२ सुस्नात ७३ हंस ७४ परमहंस ७५ महाहंस ७६ परमयाज्ञिक ७७ सांख्ययोग ७८ सांख्यमूर्तेऽ ७९ मृतेशय ८० हिरण्येशय ८१ देवेशय ८२ कुशेशय ८३ ब्रह्मेशय ८४ पद्मेशय ८५ विश्वेश्वर ८६ विष्वक्सेन ८७ त्वं जगदन्वय ८८ त्वां जगत्प्रकृति ८९ त्वमग्निरास्यं ९० वडवामुखोऽग्नि ९१ त्वमाहुतिः ९२ सारथि ९३ त्वं वषट्कार ९४ त्वमोंकार ९५ त्वां तप ९६ त्वंमन ९७ त्वं चन्द्रमा ९८ त्वं चक्षुराज्यं ९९ त्वं सूर्य १०० त्वं दिशां गज १०१ त्वं दिग्भानो १०२ विदि-

अपराजित ! ६९ हे मानसिक (मनकी उपाधिरूप) ! ७० हे नामनामिक (जिनमें सब नामोंका समावेश होजाता है) ! ७१ हे परस्वामिन् (ब्रह्माके स्वामिन्) ! ७२ हे सुस्नात (वेदव्रतको समाप्त करनेवाले !) ७३ हे हंस (त्रिदण्डिन्) ! ७४ हे परमहंस (एकदण्डिन्) ! ७५ हे महाहंस(दण्ड आदिसे हीन)७६ हे परमयाज्ञिक !७७हे सांख्य तथा योगरूप ! ७८ हेसांख्यमूर्ते !७९ हे अमृतेशय (जीवमें शयन करने वाले) ! ८० हे हिरण्येशय (हृदयमें शयन करनेवाले) ! ८१ हे देवेशय (इन्द्रियोंमें रहने वाले) ! ८२ हे कुशेशय (समुद्रजलमें शयन करने वाले) ! ८३ हे ब्रह्मेशय (वेदमें रहने वाले) ! ८४ हे पद्मेशय (ब्रह्माण्डमें रहनेवाले) ! ८५ हे विश्वेश्वर ! ८६ हे विश्वक्सेन (भक्तकी रक्षाके लिये चारों ओर सेनाको दौड़ने वाले) ! ८७ आप जगत्में ओतप्रोत हैं ८८ आप जगत्की प्रकृतिरूप हैं ८९ अग्नि आपका मुख है ९० वड़वाके मुखमेंसे उत्पन्न हुए अग्नि आप ही हैं ९१ आप आहुतिरूप हैं ९२ आप अग्नि हैं ९३ आप वषट्कार हैं ९४ आप ओंकार हैं ९५ आप तपोरूप हैं ९६ आप मनोरूप है ९७ आप चन्द्रमा हैं ९८ आप नेत्रों द्वारा परीक्षित यज्ञिय घृत हैं ९९ आप सूर्य हैं १०० आप दिग्गज हैं १०१

रभानो ३ हयशिरः ४ प्रथमत्रिसौपर्णो ५ वर्णधरः ६ पंचाग्ने ७ त्रिणाचिकेत ८ पंडगनिधान ६ प्राग्ज्योतिष १० ज्येष्ठसामग ११ सामिकव्रतधरा १२ अथर्वशिराः १३ पंचमहाकल्प १४ फेनपाचार्य १५ वालखिल्य १६ वैखानसा १७ भग्नयोगा १८ भग्नपरिसंख्यान १६ युगादे २० युगमध्य २१ युगनिधना २२ खंडल २३ प्राचीनगर्भ २४ कौशिक २५ पुरुष्टुत २६ पुरुहूत२७ विश्वकृ २८ द्विश्वरूपा २६ अनंतगते ३० नन्तभोगा ३१ नंता३२

आप दिशाओंको प्रकाशित करने वाले हैं १०२ हे विदिशाओंके प्रकाशित करने वाले ! १०३ हे हयग्रीव ! १०४ हे तैत्तिरीय उपनिषद्के पहले त्रिसुपर्ण मंत्ररूप ! १०५ हे ब्राह्मण आदि वर्णोंको धारण करने वाले ! १०६ हे गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय सभ्य और आवसथ्य नामक पञ्चाग्निस्वरूप ! १०७ हे नाचिकेत नामक अग्निका तीन बार चयन करने वाले ! १०८ हे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष नामक छः अंगोंके भण्डाररूप ! १०६ हे "जातो वाहयामीति" मंत्ररूप प्राग्ज्योतिष ! ११० हे "मूर्धानं दिव" इस ऋचामें गाये जाने वाले ज्येष्ठज्योतिष ! १११ हे सामवेद वालोंके सामिक व्रतको धारण करने वाले ! ११२ हे अथर्वशीर्ष नामक उपनिषद्रूप ! ११३ हे सौर, शाक्त, गाणेश, शैव और वैष्णवशास्त्रोंसे प्रतिपादित पञ्चमहाकल्परूप ! ११४ हे फेनपाचार्य ! ११५ हे वालखिल्य ! ११६ हे वैखानस ! ११७ हे अखण्डयोग ! ११८ हे अखण्ड विचार वाले ! ११६ हे युगके आदिरूप १२० हे युगके मध्यरूप ! १२१ हे युगके अन्तरूप ! १२२ हे इन्द्र ! १२३ हे प्राचीनगर्भमुने ! १२४ हे कौशिक मुने ! १२५ हे बहुतोंसे स्तुत ! १२६ हे पुरुहूतरूप ! १२७ हे विश्वकर्तः ! १२८ हे विश्वरूप ! १२६ हे अनन्तगते ! १३० हे अनन्त शरीर वाले १३१

नादे ३३ अमध्या३४ व्यक्तमध्या३५व्यक्तनिधन ३६व्रतावास३७ समुद्राधिवास ३८ यशोवास ३९ तपोवास ४० दमावास ४१ लक्ष्म्यावास ४२ विद्यावास ४३ कीर्त्यावास४४श्रीवास४५सर्वावास ४६ वासुदेव ४७ सर्वच्छन्दक ४८ हरिहय ४९ हरिमेध५० महायज्ञभागहर ५१ वरप्रद ५२ सुखप्रद ५३ धनप्रद ५४ हरिमेर ५५ यम ५६ नियम ५७ महानियम ५८ कृच्छ्रा ५९ तिकृच्छ्र ६० महाकृच्छ्र ६१ सर्वकृच्छ्र ६२ नियमधर ६३ निवृतभ्रम ६४ प्रवचनगत ६५ पृश्निगर्भप्रवृत्त ६६ प्रवृत्तवेदक्रिया६७ ज ६८ सर्वगते ६९ सर्वदर्शि ७० न्नग्राह्य ७१ चल ७२ महा-

हे अनन्त ! १३२ हे अनादि ! १३३ हे अमध्य ! १३४ हे अस्पष्ट मध्य ! १३५ हे अस्पष्ट अन्त ! १३६ हे व्रतके निवासरूप ! १३७ हे समुद्रमें रहने वाले ! १३८ हे यशके निवासरूप ! १३९ हे तपके आश्रयस्थान ! १४० हे दमके आवासरूप ! १४१ हे लक्ष्मीके निवासरूप ! १४२ हे विद्याके निवासरूप ! १४३ हे कीर्तिके निवासरूप ! १४४ हे शोभाके निवासरूप ! १४५ हे सबके निवासस्थान ! १४६ हे वासुदेव ! १४७ हे सबके मनोरथोंको पूर्ण करने वाले ! १४८ हे (रामावतारमें हरि अर्थात् वानर हय हैं जिनके ऐसे) हरिहय ! १४९ हे अश्वमेधस्वरूप ! १५० हे (योगमें जीवत्वका हरण करने वाले) महायज्ञभागहर ! १५१ हे वरद ! १५२ हे सुख देने वाले ! १५३ हे धन देने वाले ! १५४ हे हरिमेर (भगवद्भक्तरूप) ! १५५ हे यम ! १५६ हे नियम ! १५७ हे महानियम ! १५८ हे कृच्छ्रव्रतरूप ! १५९ हे अतिकृच्छ्र ! १६० हे महाकृच्छ्र ! १६१ हे सर्वकृच्छ्र ! १६२ हे नियमधर ! १६३ हे भ्रमरहित ! १६४ हे (अध्ययनमें तत्पर रहने वाले ब्रह्मचारिन्) प्रवचनगत ! १६५ हे पृश्निगर्भप्रवृत्त ! १६६ हे वेदकी क्रियाओंको प्रवृत्त करने

विभूते ७३ माहात्म्यशरीर ७४ पवित्र ७५ महापवित्र ७६ हिरण्मय ७७ बृहद् ७८ अतर्क्य ७९ विज्ञेय ८० अग्र्याग्र्य ८१ प्रजासर्गकर ८२ प्रजानिधनकर ८३ महामायाधर ८४ चित्रशिखण्डिन् ८५ वरप्रद ८६ पुरोडाशभागहर ८७ गताध्वर ८८ छिन्नतृष्ण ८९ छिन्नसंशय ९० सर्वतोवृत्त ९१ निवृत्तरूप ९२ ब्राह्मणरूप ९३ ब्राह्मणप्रिय ९४ विश्वमूर्ते ९५ महामूर्ते ९६ बान्धव ९७ भक्तवत्सल ९८ ब्रह्मण्यदेव ९९ भक्तोऽहं त्वां दिदृक्षुरेकांतदर्शनाय नमो नमः २०० अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वाले ! १६७ हे अज ! १६८ हे सर्वगते ! १६९ हे सर्वदर्शिन् ! १७० हे अग्राह्य ! १७१ हे अचल ! १७२ हे महदादिरूप विभूति वाले ! १७३ हे माहात्म्य (युक्त विराट्) शरीर वाले ! १७४ हे पवित्र (शुक्रिय आरण्यकरूप) ! १७५ हे महापवित्र (पवमानसूक्तरूप) ! १७६ हे हिरण्मय (मण्डलब्राह्मणरूप) ! १७७ हे बृहत् (वेदस्वरूप ब्रह्म) ! १७८ हे तर्कसे जाननेमें न आ सकने वाले ! १७९ हे (रूपादिरहित होनेसे) अविज्ञेय ! १८० हे अग्र्याग्र्य (कार्य, कारण और महाकारणोंमें श्रेष्ठ महाकारण) ! १८१ हे प्रजाकी उत्पत्ति करने वाले ! १८२ हे प्रजाका संहार करने वाले ! १८३ हे महामायाको धारण करने वाले ! १८४ हे चित्रशिखण्डिन् ! १८५ हे वरद ! १८६ हे पुरोडाशके भाग को ग्रहण करने वाले ! १८७ हे यज्ञके भोक्ता ! १८८ हे तृष्णारहित!८९हे सन्देहरहित!९० हे सब ओर बर्ताव करने वाले!९१ हे निवृत्तस्वरूप ! ९२ हे ब्राह्मणरूप ! ९३ हे ब्राह्मणप्रिय ! ९४ हे विश्वमूर्ते!९५हे महामूर्ते ! ९६ हे बान्धव ! ९७हे भक्तवत्सल! १९८ हे ब्रह्मण्यदेव ! ९९मैं आपका भक्त हूँ,आपके दर्शनकी इच्छा रखता हूँ और एकान्त (मोक्ष) स्वरूप आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥२००॥ तीनसौ अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त ।

भीष्म उवाच । एवं स्तुतः स भगवान् गुह्यैस्तथ्यैश्च नामभिः। तं मुनिं दर्शयामास नारदं विश्वरूपधृत् ॥ १ ॥ किंचिच्चंद्राद्विशुद्धात्मा किंचिच्चन्द्राद्विशेषवान् । कृशानुवर्णः किंचिच्च किंचिद्धिष्ण्याकृतिः प्रभुः ॥ २ ॥ शुकपत्रनिभः किंचित् किंचित्स्फटिकसन्निभः । नीलांजनचयप्रख्यो जातरूपप्रभः क्वचित् ॥ ३ ॥ प्रवालांकुरवर्णश्च श्वेतवर्णस्तथा क्वचित् । क्वचित्सुवर्णवर्णाभो वैदूर्यसदृशः क्वचित् ॥ ४ ॥ नीलवैदूर्यसदृश इन्द्रनीलनिभः क्वचित् । मयूरग्रीववर्णाभो मुक्ताहारनिभः क्वचित् ॥५॥ एतान्बहुविधान् वर्णान् रूपैर्बिभ्रत्सनातनः । सहस्रनयनः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रपात् ॥ ६ ॥ सहस्रोदरबाहुश्च अव्यक्त इति च

भीष्मजीने कहा, कि इस प्रकार नारदजीने नारायण की गुह्य तथा सत्य नामोंसे स्तुतिकी, तब सकल रूपोंको धारण करने वाले नारायणने नारदजीको अपना दर्शन दिया ॥ १ ॥ इस समय नारायणका रूप चन्द्रमासे कुछ अधिक स्वच्छ था, और चन्द्रमासे कुछ अधिक विशेषतावाला था, अग्निसे भी कुछ अधिक तेजस्वी था और धिष्ण्याकी समान आकृति वाला था ॥ २ ॥ वह कुछ २ तोतेके परोंकी समान था और कहीं २ स्फटिकमणि की समान था, कहीं नीलाञ्जनकी समान था और कहीं २ चाँदी कीसी प्रभा वाला था ॥ ३ ॥ उनके शरीर का कुछ भाग मूँगों के अंकुरकी समान (रक्त) वर्ण वाला था, कुछ भाग श्वेत वर्ण का था, कुछ सोनेकासा और वैदूर्यकेसा था ॥ ४ ॥ कहीं पर नील वर्णके वैदूर्यमणिसा था, कहीं पर इन्द्रनीलमणिसा था कहीं पर मयूरके कण्ठके वर्णका था, कहींपर मोतियोंके हारकी समान प्रभा वाला था ॥ ५ ॥ इस प्रकार अनेक रंग रूपोंको सनातन पुरुष धारण कररहे थे, उनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मस्तक, सहस्रों चरण, सहस्रों उदर, सहस्रों हाथ थे, तब भी वे

क्वचित् । ओंकारमुद्गिरन्वक्त्रात् सावित्रीं च तदन्वयाम् ॥ ७ ॥ शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान्गिरन्बहून् । आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी ॥ ८ ॥ वेदिं कमण्डलुं शुभ्रान्मणीनुपानहौ कुशान् । अजिनं दण्डकाष्ठं च ज्वलितं च हुताशनम् ॥ ९ ॥ धारयामास देवेशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा । तं प्रसन्नं प्रसन्नात्मा नारदो द्विजसत्तमः ॥ १० ॥ वाग्यतः प्रणतो भूत्वा ववन्दे परमेश्वरम् । तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ११ ॥ श्रीभगवानुवाच । एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः । इमं देशमनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः ॥ १२ ॥ न च मां ते ददृशिरे न च द्रक्ष्यति कश्चन । ऋते ह्येकान्तिकश्रेष्ठात् त्वं चैवैकान्तिकोत्तम १३ ममैतास्तनवः श्रेष्ठा जाता धर्मगृहे द्विज । तास्त्वं भजस्व सततं

क्वचित् अव्यक्त (इंद्रियोंसे जाननेमें न आसकनेवाले) थे, वे मुखमेंसे ॐकारसहित गायत्री का जप कररहे थे ॥ ६–७ ॥ और दूसरे मुखोंसे जितेन्द्रिय नारायण हरि बहुत से वेदोंका और आरण्यकोंका उच्चारण कर रहे थे ॥ ८ ॥ वे यज्ञपति देवेश वेदिको, कमण्डलुको, श्वेत रंगकी मणियोंको, काष्ठकी पावड़ियोंको, दर्भको, मृगचर्मको, दण्डकाष्ठको तथा प्रज्वलित अग्निको हाथोंमें धारण कर रहे थे, ऐसे प्रसन्न मुख वाले भगवान्को देखकर द्विजसत्तम नारदजी मनमें प्रसन्न हुए ॥ ९–१० ॥ और वाणीको नियममें रख विनीतभावसे परमेश्वरको प्रणाम किया, तब देवादिदेव भगवान् मस्तक झुका कर प्रणाम करते हुए नारदजीसे बोले श्रीभगवान्ने कहा, कि–मेरा दर्शन करनेकी लालसासे महर्षि एकत, द्वित, तथा त्रित यहाँ आये थे ॥ ११-१२ परन्तु उनको मेरा दर्शन नहीं हुआ, तैसेही मेरे अनन्य भक्तके अतिरिक्त और कोई मेरा दर्शन नहीं कर सकता, मेरे अनन्य भक्तोंमें तुम श्रेष्ठ हो ॥ १३ ॥ हे ब्राह्मण ! जो धर्मके गृहमें

साधयस्व यथागतम् ॥ १४ ॥ वृणीष्व च वरं विप्र मत्तस्त्वं यदिहेच्छसि । प्रसन्नोऽहं तवाद्येह विश्वमूर्तिरिहाव्ययः ॥१५॥ नारद उवाच । अद्य मे तपसो देव यमस्य नियमस्य च । सद्यः फलमवाप्तं वै दृष्टो यद्भगवन्मया ॥ १६ ॥ वर एष ममात्यन्तं दृष्टस्त्वं यत्सनातनः । भगवान्विश्वदृक् सिंहः सर्वमूर्तिर्महान्प्रभुः ॥ १७ ॥ भीष्म उवाच । एवं संदर्शयित्वा तु नारदं परमेष्ठिनम् । उवाच वचनं भूयो गच्छ नारद मा चिरम् ॥ १८ ॥ इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ताश्चन्द्रवर्चसः । एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ॥ १९ ॥ सिद्धा ह्येते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन् । तमोरजोभिर्निर्मुक्ता मां प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ २० ॥

उत्पन्न हुए हैं वे मेरे श्रेष्ठ शरीर हैं, उनका तू सदा भजन कर और शास्त्रानुसार साधना कर ॥ १४ ॥ हे ब्राह्मण ! तुम अपनी इच्छानुसार मुझसे वर माँगलो, विश्वरूप तथा विकाररहित मैं आज तुझपर प्रसन्न हूँ ॥ १५ ॥ नारदजीने कहा, कि हे देव ! आज मुझे आपके दर्शन हुए अतः हे भगवन् ! मुझै तप, यम, और नियमका फल शीघ्रही मिल गया ॥ १६ ॥ आप सनातन पुरुषका दर्शन ही मुझै श्रेष्ठ वर मिला है हे भगवन् ! आप विश्वदृक्, सिंहस्वरूप, सर्वस्वरूप महान् तथा प्रभु हैं ॥ १७ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-इस प्रकार ब्रह्माके पुत्र नारदजीको अपना स्वरूप दिखाकर नारायणने कहा, कि-हे नारद ! अब तुम यहाँ से जाओ और विलम्ब न करो ॥ १८ ॥ ये चंद्रमाकी समान कांतिवाले इन्द्रिय और आहाररहित मेरे भक्त हैं,इन सब एकाग्र होकर मेरा भजन करने वालोंके काममें विघ्न न पड़ना चाहिये १९ ये पुरुष महाभाग्यवान् हैं और अभी सिद्ध हुए हैं पहिले ये मेरे अनन्यभक्त थे और अब ये सब रजोगुण और तमोगुणसे रहित हैं, यह निःसन्देह मेरे शरीरमें प्रवेश करेंगे ॥ २० ॥ यह पुरुष

न दृश्यश्चक्षुषा योसौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च। न घ्रेयश्चैव गन्धेन रसेन च विवर्जितः ॥२१॥ सत्वं रजस्तमश्चैव न गुणास्तं भजन्ति वै। यश्च सर्वगतः साक्षी लोकस्यात्मेति कथ्यते २२ भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न विनश्यति। अजो नित्यः शाश्वतश्च निर्गुणो निष्कलस्तथा ॥ २३ ॥ द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः। पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते ॥ २४ ॥ यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः। स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः ॥ २५ ॥ पश्य देवस्य माहात्म्यं महिमानं च नारद। शुभाशुभैः कर्मभिर्यो न लिप्यति कदाचन ॥ २६ ॥ सत्वं रजस्तमश्चेति गुणानेतान्प्रचक्षते। यतो सर्वशरीरेषु तिष्ठंति विचरन्ति च ॥ २७ ॥ एतान्गुणांस्तु क्षेत्रज्ञो

जिसमें प्रवेश करेंगे उसको कोई नेत्रसे देख नहीं सकता, स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्श नहीं कर सकता, घ्राणेन्द्रियसे सूँघ नहीं सकता, रसनेन्द्रियसे चख नहीं सकता २१ उसमें सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण नहीं है, वह सर्वत्र व्याप्त है, सबका साक्षी है, वह सब मनुष्योंका आत्मा कहलाता है ॥ २२ ॥ पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुए इस शरीरके नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता, उसमें जन्मादिक भाव नहीं है, वह नित्य है, शाश्वत है, निर्गुण है (अवयव आदि रहित) निष्कल है ॥२३॥ चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न पचीसवाँ तत्त्वरूप है, पुरुष है, क्रियारहित है, ज्ञानसे देखने योग्य कहलाता है ॥ २४ ॥ श्रेष्ठ द्विज उसमें प्रवेश कर मुक्त होते है, उसको सनातन वासुदेव परमात्मा समझना चाहिये ॥ २५ ॥ हे नारद ! इस देवकी महिमा और माहात्म्य को तो देख, यह देव शुभ और अशुभ कर्मसे कभी लिप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥ सत्त्व, रज और तमको तीन गुण कहते हैं, ये तीनों गुण उसके सारे शरीरमें है और ये गुण उसमें ही

भुंक्ते नैभिः स भुज्यते । निर्गुणो गुणभुक्चैव गुणस्रष्टा गुणाधिकः ॥ २८ ॥ जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ २९ ॥ खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च । मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते ॥ ३० ॥ अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये संप्रलीयते । नास्ति तस्मात्परतरः पुरुषाद्वै सनातनात् ॥ ३१ ॥ नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥ ३२ ॥ सर्वभूतात्मभूतो हि वासुदेवो महाबलः । पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पंचमम् ॥ ३३ ॥ ते समेता महात्मानः शरीरमिति संज्ञितम् । तदा विशति यो ब्रह्मन्नदृश्यो

परिवर्तित होते रहते हैं ॥ २७ ॥ क्षेत्रज्ञ इन गुणोंका उपभोग करता है और ये गुण क्षेत्रज्ञको भोग नहीं सकते, क्षेत्रज्ञ स्वयं निर्गुण है परन्तु गुणोंका उपभोगकर्ता है और गुणोंसे अधिक (श्रेष्ठ) है ॥ २८ ॥ हे देवर्षि नारद ! जगत् जिसमें प्रतिष्ठित है उस पृथ्वीका जलमें लय होजाता है,जलका तेजमें लय होजाता है और तेजका वायुमें लय होजाता है ॥ २९ ॥ वायु आकाशमें लीन होजाता है, आकाशका मनमें लय होजाता है, परमभूतरूप मनका अव्यक्तमें लय होजाता है ॥ ३० ॥ और हे ब्रह्मन् ! अव्यक्त क्रियारहित पुरुषमें लीन होजाता है, इन सनातन पुरुष से श्रेष्ठ और कोई नहीं है ३१ ॥ उन एक सनातन वासुदेव पुरुषके अतिरिक्त जगत्में दूसरा कोई भी स्थावर जंगम प्राणी नित्य (अविनाशी) नहीं है ॥ ३२ ॥ महाबली वासुदेव सब भूतोंके आत्मारूप हैं, पृथ्वी, वायु, जल, आकाश और पाँचवाँ तेज ॥ ३३ ॥ ये पाँच तत्त्व जब इकट्ठे होते हैं तब महान् आत्मा वाला शरीर नामसे पहिचानमें आनेवाला एकरूप उत्पन्न होता है हे ब्रह्मन् ! तदनन्तर शरीरमें जीव अदृश्यरूपसे त्वरासे प्रवेश

लघुविक्रमः ॥ ३४ ॥ उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन्प्रभुः । न विना धातुसंघातं शरीरं भवति क्वचित् ॥ ३५ ॥ न च जीवं विना ब्रह्मन् वायवश्चेष्टयंत्युत । स जीवः परिसंख्यातः शेषः संकर्षणः प्रभुः॥३६॥तस्मात्सनत्कुमारत्वं योऽलभत्स्वेन कर्मणा । यस्मिंश्च सर्वभूतानि प्रलये यान्ति सक्षयम् ॥ ३७ ॥ स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते । तस्मात्प्रसूतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च ॥ ३८ ॥ तस्मात्सर्वं संभवति जगत्स्थावरजंगमम् । सोऽनिरुद्धः स ईशानोव्यक्तः स सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥ यो वासुदेवो भगवान्क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः । ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ ४० ॥ संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स

करता है और उसमें प्रवेश कर शरीरको क्रियावान् करता है तब वह जीव उत्पन्न हुआ कहलाता है,धातुओंके समूहके बिना शरीर कहीं भी उत्पन्न नहीं होता ॥ ३४-३५ ॥ तैसे ही हे ब्रह्मन् ! जीवके बिना वायु अपनी क्रिया नहीं कर सकते, इस प्रकार शरीरमें प्रवेश करने वाला प्रभु जीव शेष और संकर्षण कहलाता है ॥ ३६ ॥ वही जीव ध्यान आदि कर्म करनेसे सनत्कुमारपने (जीवन्मुक्तपन) को प्राप्त होता है और सनत्कुमारत्वमें ही सब प्राणी प्रलयके समय लीन होजाते हैं ३७ वह (सनत्कुमारत्व) ही सब प्राणियोंकी मनोरूप है और उसको प्रद्युम्न कहते हैं उस (प्रद्युम्न) मेंसे (अथवा संकर्षण जीवमेंसे)जो उत्पन्न होता है,वह कर्ता और कार्य तथा कारणरूप है ३८ उस (कार्य)में यह स्थावर जङ्गमरूप सब जगत् उत्पन्न होता है उसको ही अनिरुद्ध और ईशान भी कहते हैं और वह सब कर्मों में व्यक्तरूपसे देखनेमें आता है (क्योंकि वह अहंकारकी मूर्ति है) जो वासुदेव भगवान् हैं वे क्षेत्रज्ञ तथा निर्गुण (सत्त्व, रज तथा तमोगुणसे

उच्यते । प्रद्युम्नाद्योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः ॥ ४१ ॥ मत्तः सर्वं संभवति जगत्स्थावरजंगमम् । अक्षरं च क्षरं चैव सच्चासच्चैव नारद ॥४२॥ मां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता भक्तास्तु ये मम । अहं हि पुरुषो ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥ निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः । एतत्त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते ॥ ४४ ॥ इच्छन्मुहूर्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः । माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ॥४५॥ सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि । मयैतत्कथितं सम्यक्तव मूर्तिचतुष्टयम् ॥ ४६ ॥ अहं हि जीवसंज्ञातो मयि जीवः समाहितः । नैवं ते बुद्धिरत्राभूद् दृष्टो जीवो मयेति वै ॥ ४७ ॥ अहं सर्वत्रगो

जानना चाहिये ॥ ४० ॥ संकर्षणमेंसे प्रद्युम्न उत्पन्न होते हैं, उनको मनोभूत (मनमेंसे उत्पन्न हुए) कहते हैं, प्रद्युम्नमेंसे अनिरुद्ध उत्पन्न होते हैं, वह ईश्वर (सब कर्म करनेमें समर्थ) अहंकारकी मूर्ति हैं ॥४१॥ हे नारद ! इस प्रकार स्थावर तथा जंगमरूप सब जगत् तथा अक्षर (जीव) और क्षर (प्रकृति अहंकार आदि) तथा सत् और असत् ये सब मुझमेंसे उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥ जो मेरे भक्त है, वे मुझमें प्रवेश करके मुक्त होते है, क्योंकि-मैं क्रियासे रहित पच्चीसवाँ पुरुष हूँ ॥ ४३ ॥ मैं निर्गुण, निष्कल, सुखदुःखरहित और परिग्रहरहित हूँ, यह सब तेरी समझमें नहीं आवेगा, क्योंकि-अभी मैं) रूपवान दीख रहा हूँ ॥ ४४ ॥ मैं इच्छा करूँ तो एक मुहूर्तमें अदृश्य होजाऊँ, मैं ईश्वर और जगत्का गुरु हूँ, हे नारद ! मैंने इस मायाको रचा है, कि जिससे तू मेरा दर्शन कर रहा है ॥४५॥ मैं सब प्राणियोंके गुणोंसे युक्त हूँ अतः तू मुझे इस प्रकार नहीं देख सकता, मैंने तुझसे अपनी चार मूर्तियोंके सम्बन्धमें भली प्रकार कहा, मैं ही कर्ता हूँ, मैं ही कारण और कार्य हूँ ॥ ४६ ॥

ब्रह्मन्भूतग्रामान्तरात्मकः । भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न नशाम्यहम् ॥ ४८ ॥ सिद्धा हि ते महाभागा नरा ह्येकान्तिनोऽभवन् । तमोरजोभ्यां निर्मुक्ताः प्रवेक्ष्यन्ति च मां मुने ॥ ४९ ॥ हिरण्यगर्भो लोकादिश्चतुर्वक्त्रो निरुक्तगः। ब्रह्मा सनातनो देवो मम बह्वर्थचिंतकः ॥५०॥ ललाटाच्चैव मे रुद्रो देवः क्रोधाद्विनिःसृतः । पश्यैकादश मे रुद्रान्दक्षिणं पार्श्वमास्थितान् ॥ ५१ ॥ द्वादशैव तथादित्यान्वामपार्श्वे समास्थितान् । अग्रतश्चैव मे पश्य वसूनष्टौ सुरोत्तमान् ॥ ५२ ॥ नासत्यं चैव दस्रं च भिषजौ पश्य पृष्ठतः । सर्वान्प्रजापतीन्पश्य पश्य सप्त ऋषींस्तथा ॥ ५३ ॥ वेदान्यज्ञांश्च शतशः पश्यामृतमथौषधीः। तपांसि नियमाश्चैव

मैं सब जीवोंका समुदाय हूँ और मुझमें जीव रहते हैं, परन्तु इससे तू यह न समझना, कि-तूने जीवको देखा है (क्यों कि-) ॥ ४७ ॥ हे ब्रह्मन् ! मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ, प्राणियोंके समुदायका अन्तरात्मारूप हूँ, परन्तु प्राणियोंके समुदायके नष्ट होने पर भी मैं नष्ट नहीं होता हूँ ॥ ४८ ॥ हे मुने ! वे महाभाग्यवान् पुरुष ही वास्तवमें सिद्ध हैं, जो एक परमात्माको ही लक्ष्य मान कर रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर मेरे स्वरूपमें प्रवेश करते है ॥४९॥ लोकोंके आदिदेवरूप, चार मुख वाले, हिरण्यगर्भ नाम वाले, निरुक्तमें जिनकी स्तुतिकी है, ऐसे और बहुतसे अर्थोंका विचार करने वाले सनातनदेव ब्रह्मा मेरे ललाटमेंसे और रुद्रदेव मेरे क्रोधमेंसे उत्पन्न हुए हैं, मेरी दाहिनी पसलीमें ये ग्यारह रुद्र खड़े हैं, इनको तू देख ॥ ५०-५१ ॥ तथा मेरी बाईं पसलीमें बारह आदित्य खड़े हैं और मेरे आगे देवताओंमें उत्तम आठ वसु खड़े हैं इनको तू देख५२मेरे पीछे नासत्य और दस्र नामक दो वैद्योंको तू बैठे हुए देख, सब प्रजापतियोंको और सप्त ऋषियोंको भी तू देख ॥ ५३ ॥ वेद, सैंकड़ों यज्ञ, अमृत,

यमानपि पृथग्विधान् ॥५४॥ तथाष्टगुणमैश्वर्यमेकस्थं पश्य मूर्ति-मत् । श्रियं लक्ष्मीं च कीर्तिं च पृथिवीं च ककुद्मिनीम् ॥५५॥ वेदानां मातरं पश्य मत्स्थां देवीं सरस्वतीम् ध्रुवं च ज्योतिषां श्रेष्ठं पश्य नारद खेचरम् ॥ ५६ ॥ अम्भोधरान्समुद्रांश्च सरांसि सरितस्तथा । मूर्तिमन्तः पितृगणांश्चतुरः पश्य सत्तम ॥ ५७ ॥ त्रींश्चैवेमान्गुणान्पश्य मत्स्थान् मूर्तिविवर्जितान् । देवकार्यादपि मुने पितृकार्यं विशिष्यते ॥ ५८ ॥ देवानां च पितॄणां च पिता ह्येकोऽहमादितः । अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे ॥५९॥ पिबामि सुहुतं हव्यं कव्यं च श्रद्धयान्वितम् । मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मां यज्ञमयजत्स्वयम् ॥ ६० ॥ ततस्तस्मिन्वरान्प्रीतो दत्त-वानस्म्यनुत्तमान् । मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च ६१

औषध, तप, नियम और भिन्न २ यमोंको भी तू देख ॥५४॥ तथा इकट्ठे होकर बैठे हुए आठ गुण वाले मूर्तिमान् ऐश्वर्य,श्री, लक्ष्मी, कीर्ति, पर्वतोंसे उन्नत भूमि वाली पृथ्वी तथा वेदमाता सरस्वतीको भी तू मुझमें रहती हुई देख, तथा आकाशचारी नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ ध्रुवको भी हे नारद ! तू (मुझमें) देख ५५-५६ मेघ, समुद्र, सरोवर, नदियें, तथा चार पितरोंके मूर्तिमान् गणों को भी हे श्रेष्ठ तू (मुझमें) देख ॥ ५७ ॥ और मुझमें वास करके रहने वाले तीनों निराकार गुणोंको भी तू देख, हे मुने ! देवकार्यसे भी पितृकार्य विशेष उत्तम है ॥५८॥ मैं देवता और पितरोंका आदि पिता हूँ,मैं हयग्रीवका रूप धारण करके समुद्रके वायव्यकोणमें रहता हूँ ॥ ५९ ॥ और श्रद्धासे होमे हुए हव्य (घृत आदि) और कव्य (नारियल) आदिको ग्रहण करता हूँ, मैंने पहिले ब्रह्माको उत्पन्न किया था और उन्होंने मुझ यज्ञस्वरूपका यजन किया था ॥ ६० ॥ तब मैंने भी प्रसन्न होकर उनको उत्तमोत्तम वर दिये थे और यह भी वर दिया था

अहंकारकृतं चैव नाम पर्यायवाचकम् । त्वया कृतां च मर्यादां नातिक्रंस्यति कश्चन ॥ ६२ ॥ त्वं चैव वरदो ब्रह्मन्वरेप्सूनां भविष्यसि । सुरासुरगणानां च ऋषीनां च तपोधन ॥ ६३ ॥ पितृणां च महाभाग सततं संशितव्रत । विविधानां च भूतानां त्वमुपास्यो भविष्यसि ॥ ६४ ॥ प्रादुर्भावगतश्चाहं सुरकार्येषु नित्यदा । अनुशास्यस्त्वया ब्रह्मन्नियोज्यश्च सुतो यथा ॥६५॥ एतांश्चान्यांश्च रुचिरान्ब्रह्मणेऽमिततेजसे । अहं दत्वा वरान्प्रीतो निवृत्तिपरमोऽभवम् ॥ ६६ ॥ निर्वाणं सर्वधर्माणां निवृत्तिः परमा स्मृता । तस्मान्निवृत्तिमापन्नश्चरेत्सर्वांगनिवृतः ॥ ६७ ॥ विद्यासहायवन्तं च आदित्यस्थं समाहितम् । कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ ६८ ॥ हिरण्यगर्भो भगवा-

कि-"तू कल्पके आरम्भमें मेरा पुत्र होगा तथा लोकोंका अध्यक्ष होगा, तुम्हारा पर्यायवाचक नाम अहंकार होगा, तुम्हारी बाँधी हुई मर्यादाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकेगा ॥ ६२ ॥ और हे ब्रह्मन् ! जो वरकी इच्छा करेंगे उनको तुम वर देसकोगे तथा हे तपोधन ! देवता, असुर, ऋषि, पितर तथा भाँति २ के प्राणियोंमें तुम उपासनाके पात्र होजाओगे ॥ ६३-६४ ॥ तथा मैं देवताओंका काम करनेके लिये वारम्वार जन्म धारण करूँगा, उस समय हे ब्रह्मन् ! तुम मुझे पुत्रकी समान मान कर उपदेश देना तथा काम करनेमें लगाना" ॥ ६५ ॥ यह तथा दूसरे बहुतसे उत्तम वर अमिततेजस्वी ब्रह्माजीको प्रीतिपूर्वक देकर मैं निवृत्ति परायण हुआ ॥ ६६ ॥ सब धर्मविषयोंमें से निवृत्त होनेको परम निवृत्ति समझना चाहिये, इसकारण निवृत्ति धारण कर सर्वाङ्गसे निवृत्त हो धर्माचरण करना चाहिये ॥ ६७ ॥ सांख्यशास्त्रका निश्चय करनेवाले आचार्य कहते हैं, कि-विद्याकी सहायतासे समाधि चढ़ाकर सूर्यमण्डलमें रहनेवाला कपिल मैं हूँ ॥६८॥ मुझे

नेष छन्दसि सुष्टुतः सोऽहं योगरतिर्ब्रह्मन्योगशास्त्रेषु शब्दितः६९
एषोऽहं व्यक्तिमागत्य तिष्ठामि दिवि शाश्वतः । ततो युगसहस्रान्ते संहरिष्ये जगत्पुनः ॥ ७० ॥ कृत्वात्मस्थानि भूतानि स्थावराणि चराणि च । एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये जगत्पुनः७१
ततो भूयो जगत्सर्वं करिष्यामीह विद्यया । अस्मिन्मूर्तिश्चतुर्थी या साऽसृजच्छेषमव्ययम् ॥ ७२ ॥ स हि संकर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोप्यजीजनत् । प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ॥७३॥
अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः । ब्रह्मणः सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च ॥ ७४ ॥ एतां सृष्टिं विजानीह कल्पादिषु पुनः पुनः । यथा सूर्यस्य गगनादुदयास्तमने इह ॥ ७५ ॥

हिरण्यगर्भ भगवान्की ही वेदमें स्तुतिकी गई है और हे ब्रह्मन्! योग शास्त्रोंमें जिस योगरतिकी स्तुति की गई है वह भी मैं ही हूँ ।६९॥ मैं शाश्वत होने पर भी व्यक्त होकर आकाशमें स्थिति करता हूँ और एक सहस्र युग बीत जाने पर मैं फिर इस जगत्का संहार करूँगा ॥ ७० ॥ तथा स्थावरजंगमात्मक सब प्राणियोंको अपने में लीन कर लूँगा और विद्याके साथ अकेला जगत्में पुनः विहार करूँगा ॥ ७१ ॥ फिर विद्यासे सब जगत्को उत्पन्न करूँगा, मेरी चार मूर्तियों में जो अनिरुद्ध नामक मूर्ति है, वह अविनाशी शेष (जीव)-को उत्पन्न करेगी ॥ ७२ ॥ इस शेषको संकर्षण कहते हैं, संकर्षण प्रद्युम्नको उत्पन्न करता है, प्रद्युम्नसे मैं अनिरुद्धरूपसे उत्पन्न होता हूँ, इस प्रकार मेरी बारम्बार उत्पत्ति हुआ करती है ॥ ७३ ॥ अनिरुद्धमें से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, यह ब्रह्मा उसके नाभिकमलमें से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माजीसे स्थावर जंगमरूप सब प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥ ७४ ॥ कल्पके आरंभमें बारंबार इस प्रकार सृष्टि होती है (और कल्पके अन्तमें उस सृष्टि का फिर नाश होता है) जैसे आकाशमें सूर्य तथा चन्द्रमाका उदय

नष्टे पुनर्वशात्काल आनयत्यमितद्युतिः । तथा बलादहं पृथिवीं सर्वभूतहिताय वै ॥ ७६ ॥ सत्त्वैराक्रांतसर्वांगां नष्टां सागरमेखलाम् । आनयिष्यामि स्वस्थानं वाराहं रूपमास्थितम् ॥ ७७ ॥ हिरण्याक्षं वधिष्यामि दैतेयं बलगर्वितम् । नारसिंहं वपुः कृत्वा हिरण्यकशिपुं पुनः ॥ ७८ ॥ सुरकार्ये हनिष्यामि यज्ञघ्नं दितिनन्दनम् । विरोचनस्य बलवान्बलिः पुत्रो महासुरः ॥ ७९ ॥ अवध्यः सर्वलोकानां सदेवासुररक्षसाम् । भविष्यति स शक्रं च स्वराज्याच्च्यावयिष्यति ॥ ८० ॥ त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शचीपतौ । आदित्यां द्वादशादित्यः संभविष्यामि कश्यपात् ८१ ततो राज्यं प्रदास्यामि शक्रायामिततेजसे । देवताः स्थापयि-

---

तथा अस्त होता है (तैसे ही उत्पत्ति और लयका क्रम चलता रहता है) ॥ ७५ ॥ सूर्यके अस्त होनेपर अपार कांतिवाला काल फिर सूर्यको आकाशमें लाकर उसका उदय करता है तैसे ही समुद्र जिसकी मेखला है, जिसके सब अंग प्राणियों से भरपूर होरहे हैं, ऐसी पृथ्वीका नाश होने पर उस पृथ्वीको, सब प्राणियोंका हित करनेके लिये मैं वराहका रूप धारण करके जलमेंसे बलपूर्वक उसके स्थान पर लाऊँगा ॥७६-७७॥ तथा मैं बलसे गर्वित हुए दितिके पुत्र हिरण्याक्षका नाश करूँगा और यज्ञका नाश करनेके लिये नृसिंहका स्वरूप धारण करके वध करूँगा, महाबली और महादैत्य विरोचनका पुत्र बलि सब लोकोंसे तथा देवता, असुर, और राक्षसोंसे अवध्य होगा, वह इन्द्रको उसके राज्य परसे भ्रष्ट कर डालेगा और स्वयं इन्द्र बन जावेगा ॥ ७८-८० ॥ राजा बलि इन्द्रसे तीनों लोकोंको छीन लेगा और इन्द्रको राज्यभ्रष्ट कर देगा, तब मैं कश्यपसे अदितिमें बारह आदित्यरूपसे उत्पन्न होऊँगा ॥ ८१ ॥ तथा हे नारद ! अपार तेज वाले इन्द्रको उसका राज्य लौटा दूँगा और देवताओं

ष्यामि स्वस्वस्थानेषु नारद ॥ ८२ ॥ बलिं चैव करिष्यामि पातालतलवासिनम् दानवं च बलिश्रेष्ठमवध्यं सर्वदैवतैः ॥८३॥ त्रेतायुगे भविष्यामि रामो भृगुकुलोद्वहः । क्षत्रं चो सादयिष्यामि समृद्धबलवाहनम् ॥ ८४ ॥ संध्यांशे समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च । अहं दाशरथी रामो भविष्यामि जगत्पतिः ८५॥ त्रितोपघाताद्वैरूप्यमेकतोऽथ द्वितस्तथा । प्राप्स्येते वानरत्वं हि प्रजापतिसुतावृपी ॥ ८६ ॥ तयोर्ये त्व वे जाता भविष्यन्ति वनौकसः। महाबला महावीर्याः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥८७॥ ते सहाया भविष्यन्ति सुरकार्ये मम द्विज । ततो रक्षःपतिं घोरं पुलस्त्यकुलपांसनम् ॥ ८ ॥ हरिष्ये रावणं रौद्रं सगणं लोककंटकम् । द्वापरस्य कलेश्चैव संधौ पार्यवसानिके ॥ ८९ ॥ प्रादुर्भावः कंसहे-

को उनके पद पर स्थापित करूँगा ॥८२॥ और सब देवताओंसे अवध्य बलवानोंमें श्रेष्ठ बलि दानवको पातालमें भेज दूँगा ८३ तदनन्तर त्रेतायुगमें भृगुकुलका उद्धार करने वाले परशुरामजीके रूपसे अवतार लूँगा और सेना तथा वाहनोंकी समृद्धि वाले क्षत्रियोंका संहार करूँगा ॥८४॥ तदनन्तर त्रेतायुग और द्वापरयुगकी सन्धिका अन्त आने पर राजा दशरथके यहाँ उनका पुत्र बन कर जगत्पति राम होकर अवतार लूँगा ॥ ८५ ॥ उस समय ब्रह्माजीके पुत्र और त्रित नामक ऋषि (अपने भाई) त्रितको मारनेके दोषसे विरूप वानर होकर अवतार लेंगे ॥८६॥ उन दोनोंके वंशमें जो वनमें रहनेवाले उत्पन्न होंगे वे महाबली और महा-उत्साही होंगे और उनका पराक्रम इन्द्रकी समान होगा ॥ ८७ ॥ और हे नारद ! वे देवताओंका कार्य करते समय मेरे सहायक बनेंगे, फिर पुलस्त्यके कुलको कलंक लगाने वाले, राक्षसोंके स्वामी, भयंकर ॥ ८८ ॥ निर्दय और जगत् को काँटे की समान हुए रावणका उसके मण्डल सहित नाश करूँगा,

लोमे मथुरायां भविष्यति । तत्राहं दानवान्हत्वा सुबहून् देवकण्टकान् ॥ ९० ॥ कुशस्थलीं करिष्यामि निवेशं द्वारकां पुरीम् । वसानस्तत्र वै पुर्यामदितेर्विप्रियंकरम् ॥ ९१ ॥ हनिष्ये नरकं भौमं मुरं पीठं च दानवम् । प्राग्ज्योतिषं पुरं रम्यं नानाधनसमन्वितम् ॥ ९२ ॥ कुशस्थलीं नयिष्यामि हत्वा वै दानवोत्तमम् । महेश्वरमहासेनौ वाणप्रियहितैषिणौ ॥ ९३ ॥ पराजेष्याम्यथोद्युक्तौ देवौ लोकनमस्कृतौ । ततः सुतं बलेर्जित्वा वाणं बाहुसहस्रिणम् ॥ ९४ ॥ विनाशयिष्यामि ततः सर्वान्सौभनिवासिनः । यः कालयवनः ख्यातो गर्गतेजोभिसंवृतः ॥ ९५ ॥ भविष्यति वधस्तस्य मत्त एव द्विजोत्तम । जरासन्धश्च बलवा-

तदनन्तर द्वापरयुगके अन्तमें और कलियुगके पहिले सन्धिसमय में ॥ ८९ ॥ कंसको मारनेके लिये मैं मथुरामें अवतार लूँगा और तहाँ देवताओंको काँटेकी समान दुःख देने वाले अनेक दानवों का नाश करनेके पीछे ॥ ९० ॥ कुशस्थली नामसे प्रसिद्ध द्वारिकापुरीमें निवास करूँगा और तहाँ रह कर अदितिका अप्रिय करने वाले ॥ ९१ ॥ नरकासुर, भौमासुर, मुर तथा पीठ नामक दानवको मारूँगा फिर मैं बहुत धनसे भरा हुआ उनका प्राग्ज्योतिष नामक नगर ॥ ९२ ॥ महादानवोंको मारकर कुशस्थलीमें लाऊँगा तदनन्तर राजा बाणका प्रिय करने वाले तथा हित चाहने वाले महेश्वर तथा महासेन (कार्तिकेय) नामक सर्व लोकोंसे नमस्कृत दो देवताओंका अपने साथ युद्ध करनेको तत्पर होने पर पराजय करूँगा तथा बलिके पुत्र सहस्र हाथ वाले बाणासुरको जीत कर ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ सौभ देशके रहने वाले सब दानवोंका मैं नाश करूँगा, फिर गर्गके तेजसे बढ़े हुए कालयवन नामक पुरुषका हे द्विजोत्तम ! मैं अपने हाथसे वध करूँगा, फिर सब राजाओंसे विरोध करने वाला जरासन्ध नामक बली असुर गिरि-

न्सर्वराजविरोधनः ॥ ९६ ॥ भविष्यत्यसुरः स्फीतो भूमिपालो गिरिव्रजे । मम बुद्धिपरिस्पन्दाद्वधस्तस्य भविष्यति ॥ ९७ ॥ शिशुपालं वधिष्यामि यज्ञे धर्मसुतस्य वै । समागतेषु वलिषु पृथिव्यां सर्वराजसु ॥ ९८ ॥ वासविः सुसहायो वै मम ह्येको भविष्यति । युधिष्ठिरं स्थापयिष्ये स्वराज्ये भ्रातृभिः सह ॥ ९९ ॥ एवं लोका वदिष्यन्ति नरनारायणावृषी । उद्युक्तौ दहतः क्षत्रं लोककार्यार्थमीश्वरौ ॥१००॥ कृत्वा भारावतरणं वसुधाया यथेप्सितम् । सर्वसात्वतमुख्यानां द्वारकायाश्च सत्तम ॥ १०१ ॥ करिष्ये प्रलयं घोरमात्मज्ञानाभिसंहितः । कर्माण्यपरिमेयानि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् ॥ १॥ कृत्वा लोकान्गमिष्यामि स्वानहं ब्रह्मसत्कृतान् । हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावाद् द्विजोत्तम ॥ २ ॥

व्रजमें अभिमानी राजारूपसे उत्पन्न होगा उसका भी मैं अपने बुद्धिवलसे नाश करूंगा ॥ ९५ ॥ ९७ ॥ और धर्मके पुत्र राजा युधिष्ठिरके यज्ञमें पृथ्वीके सर्व वली राजे भेंट लेकर आवेंगे, उस समय मैं शिशुपालको मार डालूँगा ॥ ९८ ॥ इन्द्रका पुत्र एक अर्जुन ही मेरी सहायता करेगा फिर राजा युधिष्ठिरको मैं उसके भाइयों सहित उसके राज्य पर बैठालूँगा ॥ ९९ ॥ उस समय मनुष्य कहेंगे कि—वे नर तथा नारायण नामक ऋषि लोकोंका कार्य करनेके लिये क्षत्रियोंका संहार कर रहे हैं ॥ १०० ॥ इस प्रकार इच्छानुसार पृथिवीका भार उतारनेके पीछे मुख्य २ सात्वत (यादवों) को तथा द्वारकाका हे द्विजसत्तम ! मैं भयंकर संहार करूंगा, आत्मज्ञानसे परिपूर्ण होने पर मेरे कर्मोंका पार नहीं रहता, मैं सब करूँगा मैं (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) चार मूर्तियोंको धारण करने वाला हूँ ॥१०१-१०२ हे ब्रह्मन् ! तदनन्तर मैं अपने उत्पन्न किये हुए और ब्रह्माजीसे सत्कृत लोकोंमें जाऊँगा, हे उत्तम ब्राह्मण ! नारद, हंस,

वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च । रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥ ४ ॥ यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः । सवेदाः सश्रुतीकाश्च कृताः पूर्वं कृते युगे ॥ ५ ॥ अतिक्रांताः पुराणेषु श्रुतास्ते यदि वा क्वचित् । अतिक्रांताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः ॥ ६ ॥ लोककार्याणि कृत्वा च पुनः स्वां प्रकृतिं गताः । न ह्येतद्ब्रह्मणा प्राप्तमीदृशं मम दर्शनम् ॥ १०७ ॥ यत्त्वया प्राप्तमद्येह एकान्तगतबुद्धिना । एतत्ते सर्वमाख्यातं ब्रह्मन्भक्तिमतो मया ॥८॥ पुराणं च भविष्यं च सरहस्यं च सत्तम । भीष्म उवाच । एवं स भगवान्देवो विश्वमूर्तिधरोऽव्ययः ॥९॥ एतावदुक्त्वा वचनं तत्रैवांतर्दधे पुनः॥ नारदोऽपि महातेजाः प्राप्यानुग्रहमीप्सितम् ॥११०॥ नरनारायणौ द्रष्टुं बदर्याश्रममाद्रवत् ।

कूर्म, मत्स्य, वाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, दशरथपुत्र राम, कृष्ण और कल्कि ये सब मेरे अवतार हैं ॥ १०३-१०४ ॥ पहिले वेदकी श्रुतियोंके नष्ट होने पर मैं उनको फिर लाया था तथा पहिले सत्ययुगमें मैंने वेदकी श्रुतियोंका दोहन किया था १०५ पहिले मेरे जो अवतार होगए हैं, उनके सम्बन्धमें तूने पुराणोंमें सुना होगा, उससे तुझे प्रतीत होगा,- कि-पहिले मेरे अनेक उत्तम अवतार होगए हैं ॥ १०६ ॥ लोकोंका कार्य करके मेरे अवतार (अंश) अपनी मूलप्रकृतिको प्राप्त होगए हैं, स्वतः ब्रह्माजीने भी मेरा जैसा दर्शन नहीं किया है ॥१०७॥ (तैसा) दर्शन तूने मुझमें अपने एकाग्रभावके कारण पाया है हे ब्राह्मण ! तेरी भक्तिको देखकर मैंने तुझे भूत और भविष्यत्की सब बात रहस्यसहित सुना दी है भीष्मजीने कहा, कि-विश्वमूर्तिको धारण करने वाले अविकारी देवता भगवान् ॥ १०८-१०९ ॥ नारदजीसे इतनी बात कह कर तहाँ ही अन्तर्धान होगए तदनन्तर महातेजस्वी नारद भी अपने मनोऽभिलषित अनुग्रहको पाकर ११०

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥ ११ ॥ सांख्ययोगकृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् । नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत्पुनः १२ ब्रह्मणः सदने तात यथा दृष्टं यथाश्रुतम् । युधिष्ठिर उवाच । एतदाश्चर्यभूतं हि माहात्म्यं तस्य धीमतः १२ ॥ किं वै ब्रह्मा न जानीते यतः शुश्राव नारदात् । पितामहोऽपि भगवांस्तस्माद्देवादनन्तरः ॥ १३ ॥ कथं स न विजानीयात्प्रभावममितौजसः । भीष्म उवाच । महाकल्पसहस्राणि महाकल्पशतानि च ॥ १४ ॥ समतीतानि राजेंद्र सर्गाश्च प्रलयाश्च ह । सर्गस्यादौ स्मृतो ब्रह्मा प्रजासर्गकरः प्रभुः ॥ १५ ॥ जानाति देवप्रवरं भूयश्चातोऽधिकं नृप । परमात्मानमीशानमात्मनः प्रभवं तथा ॥ १६ ॥ ये त्वन्ये

फिर नर नारायणका दर्शन करनेके लिये बदरिकाश्रमकी ओर गए, चारों वेदोंसे पूर्ण यह महोपनिषद् ॥ १११ ॥ जिसमें सांख्य और योगका वर्णन है और जो पञ्चरात्र नामसे प्रसिद्ध है और जिसका भगवान् नारायणने प्रथम उच्चारण किया है । ११२ ॥ उसको नारदजीने जिस प्रकार देखा था और सुना था उसी प्रकार ब्रह्माजीके मन्दिरमें फिर सुनाया था; युधिष्ठिरने बूझा, कि–उन धीमान् (नारायण) का माहात्म्य वास्तवमें आश्चर्यमें डालने वाला है ॥ ११३ ॥ परन्तु ब्रह्माजी क्या इसको नहीं जानते थे, कि–जो उन्होंने नारदसे सुना, इन देवसे भगवान् ब्रह्माजी दूर नहीं हैं (नारायणके पीछे ही ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं) ॥ ११४ ॥ वे अतुल तेजस्वी उनके प्रभावको क्यों नहीं जानते थे ? भीष्मजीने कहा, कि हे राजेन्द्र ! सैंकड़ों और सहस्रों महाकल्प बीत गए हैं और सहस्रों बार सृष्टि उत्पन्न हुई है तथा नष्ट हुई है, जब सृष्टिकी उत्पत्तिका समय आता है तब प्रजाको उत्पन्न करने वाले प्रभु ब्रह्मदेवका स्मरण किया जाता है ॥ ११५-११६ ॥ हे नृप !

ब्रह्मसदने सिद्धसंघाः समागताः । तेभ्यस्तच्छ्रावयामास पुराणं वेदसंमितम् ॥ १७ ॥ तेषां सकाशात्सूर्यस्तु श्रुत्वा वै भावितात्मनाम् । आत्मानुगामिनां राजञ्छ्रावयामास वै ततः ॥ १८ ॥ षट्षष्टिर्हि सहस्राणि ऋषीणां भावितात्मनाम् । सूर्यस्य तपतो लोकान्निर्मिता ये पुरःसराः ॥ १९ ॥ तेषामकथयत्सूर्यः सर्वेषां भावितात्मनाम् । सूर्यानुगामिभिस्तात ऋषिभिस्तैर्महात्मभिः १२० मेरौ समागता देवाः श्रावितश्चेदमुत्तमम् । देवानां तु सकाशाद्वै ततः श्रुत्वासितो द्विजः ॥ २१ ॥ श्रावयामास राजेंद्र पितॄणां मुनिसत्तमः । मम चापि पिता तात कथयामास शान्तनुः २२ ततो मयापि श्रुत्वा च कीर्तितं तव भारत । सुरैर्वा मुनिभिर्वापि पुराणं यैरिदं श्रुतम् ॥ २३ ॥ सर्वे ते परमात्मानं पूजयन्ते समं-

ब्रह्माजी जानते है, कि-वह देवताओंमें श्रेष्ठ है और मुझसे भी अधिक हैं, परमात्मा हैं, ईश्वर हैं तथा मुझे उत्पन्न करने वाले हैं ॥ ११७ ॥ ब्रह्मलोकमें एकत्रित हुए सिद्ध पुरुषोंके समुदायको नारदजीने वेदके अनुकूल यह (पंचरात्र) पुराण सुनाया था ॥ ११८ ॥ उनसे यह पुराण सूर्यने सुना, हे राजन् ! सूर्यने अपने अनुयायी भक्त-जनोंको यह पुराण सुनाया था ॥११९॥ इनकी संख्या छियासठ हजार थीं लोकोंको तपाने वाले सूर्यके रथके आगे और पीछे चलने वाले जो महात्मा हैं ॥१२०॥ उन सबको भी सूर्यने यह शास्त्र सुनाया था, फिर हे तात ! सूर्यके पीछे चलने वाले उन महात्मा ऋषियोंने मेरुपर्वतके शिखर पर इकट्ठे होकर देवताओंको यह उत्तम शास्त्र सुनाया था, देवताओं से असित नामक ब्राह्मणने यह शास्त्र सुना था ॥ १२२ ॥ और मुनियोंमें श्रेष्ठ असित-मुनिने हे राजेन्द्र ! सब पितरोंको यह शास्त्र सुनाया और हे तात ! मेरे पिता शान्तनुने यह शास्त्र मुझे सुनाया था ॥ १२३ ॥ और हे भरतवंशी राजन् ! मैंने भी जो

सतः ॥ इदमाख्यानमार्षेयं पारंपर्यागतं नृप ॥ २४ ॥ नावासु-देवभक्ताय त्वया देयं कथञ्चन । मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नु-पाख्यानशतानि वै ॥ २५ ॥ यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारो-ऽयमुद्धृतः । सुरासुरैर्यथा राजन्निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥ २६ ॥ एवमेतत् पुरा विप्रैः कथामृतमिहोद्धृतम् । यश्चेदं पठते नित्यं यश्चेदं शृणुयान्नरः ॥ २७ ॥ एकांतभावोपगत एकान्तेषु समाहितः । प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं भूत्वा चन्द्रप्रभो नरः ॥ २८ ॥ स सहस्रा-र्चिषं देवं प्रविशेन्नात्र संशयः । मुच्येदार्तस्तथा रोगाच्छ्रुत्वेमामा-दितः कथाम् ॥ २९ ॥ जिज्ञासुर्लभते कामान्भक्तो भक्तगतिं भजेत् । त्वयापि सततं राजन्नभ्यर्च्यः पुरुषोत्तमः ॥ १३० ॥ स हि माता

कुछ सुना था, वह तुझे सुना दिया देवता अथवा मुनि जिन्होंने भी यह पुराण सुना है ॥ १२४ ॥ वे सब परमात्माकी सम्पूर्ण-भावसे पूजा करते हैं हे राजन् ! यह आख्यान ऋषियोंका कहा हुआ है और परंपरासे चला आरहा है ॥ १२५ ॥ जो भगवान्का भक्त न हो उससे तू यह आख्यान कभी न कहना, तूने मुझसे और भी सैकड़ों आख्यान सुने हैं, परन्तु यह उन सबका सार-रूप है यह देवता और दैत्योंके समुद्रको मथकर निकाले हुए अमृत की समान है ॥ १२६ ॥ पहिले ब्राह्मणोंने आख्यानोंका मथन करके इस कथारूपी अमृतको निकाला है, जो मनुष्य सदा इस का पाठ करता है और सदा इसको सुनता है वह मनुष्य एकान्त भावसे उनको प्राप्त कर अर्थात् भगवद्भक्तिमें परायण होकर और मनको नियममें रख कर श्वेत नामक महाद्वीपमें जाता है और तहाँ चन्द्रमाकी समान कान्तिमय होकर ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ सहस्र किरणों वाले परमात्माके शरीरमें प्रवेश करता है, यह निःसन्देह है, रोगार्त पुरुष इस कथाको आरंभसे सुनकर रोगसे छूट जाता है १३० कामनाकी इच्छा वाला अपनी कामनाको पाता है, भक्त

पिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः । ब्रह्मण्यदेवो भगवान्प्रीयतां ते सनातनः ॥ ३१ ॥ युधिष्ठिर महाबाहो महाबुद्धिर्जनार्दनः । वैशम्पायन उवाच । श्रु.वै.दारल्या.वरं धर्मराड् जनमेजय ३२ भ्रातरश्चास्य ते सर्वे नारायणपराभवन् । जितं भगवता तेन पुरुषेणेति भारत ३३ नित्यं जप्यपरा भूत्वा सरस्वतीमुदीरयन् । यो ह्यस्माकं गुरुः श्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥३४॥ जगौ परमकं जप्यं नारायणमुदीरयन् । गत्वांतरिक्षात्सततं क्षीरोदममृताशयम् ३५ पूजयित्वा च देवेशं पुनरायात्स्वमाश्रमम् । भीष्म उवाच । एतत्ते सर्वमाख्यातं नारदोक्तं मयेरितम् ॥ ३६ ॥ पारंपर्यागतं ह्येतत्पित्रा मे कथितं पुरा । सौतिरुवाच । एतत्ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायन कीर्तितम् ॥ ३७ ॥ जनमेजयेन तच्छ्रुत्वा कृतं सम्य-

भक्तकी गतिको पाता है, हे राजन् ! तुझे भी इन पुरुषोत्तम भगवान्‌की सदा पूजा करनी चाहिये १३१ क्योंकि यह पुरुषोत्तम सब जगत्‌के माता, पिता और गुरु हैं, हे महाभुज युधिष्ठिर ! महाबुद्धिमान् जनार्दन, ब्राह्मणोंकी रक्षा करने वाले सनातन भगवान् तेरे ऊपर प्रसन्न हों ! वैशम्पायन कहते हैं, कि हे जनमेजय ! इस उत्तम आख्यानको सुनकर १३२–१३३ राजा युधिष्ठिर और उनके सब भाई नारायणकी भक्तिमें तन्मय होगए, हे भरत वंशी राजन् ! " भगवान् पुरुषोत्तमकी जय ,, १३४ इस प्रकार वे सदा जप करने लगे और मुखसे बोलते थे हमारे गुरु श्रेष्ठ कृष्ण द्वैपायन मुनि भी १३५ नारायण नामका शब्द उच्चारण करके उत्तम जप करते थे, तथा वे अन्तरिक्षमार्गसे नित्य अमृतके स्थान रूप क्षीरसमुद्रपर जाते थे १३६ और वहाँ देवदेव परमात्माकी पूजा करके फिर अपने आश्रममें आते थे, भीष्मजीने कहा ! कि नारदजीका कहा हुआ यह आख्यान मैंने तुझे सुना दिया १३७ यह परम्परासे मेरे पिताके सुननेमें आया था और मेरे पिताने

ग्यथाविधि । यूयं हि वन्नतपसः सर्वे च चरितव्रताः ॥१३८॥ सर्वे-वेदविदो मुख्या नैमिषारण्यवासिनः । शौनकस्य महासत्रं माप्ताः सर्वे द्विजोत्तमाः ॥१३९॥ यजध्वं सुहुतैर्यज्ञैः शाश्वतं परमेश्वरम् । पारंपर्यागतं ह्येतत्पित्रा मे कथितं पुरा ॥ १४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ऊन-चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३३९॥

शौनक उवाच । कथं स भगवान्देवो यज्ञेष्वग्रहरः प्रभुः । यज्ञधारी च सततं वेदवेदांगवित्तथा ॥ १ ॥ निवृत्तं चास्थितो धर्मं क्षमी भागवतः प्रभुः । निवृत्तिधर्मान्विदधे स एव भगवान्प्रभुः २ कथं प्रवृत्तिधर्मेषु भागार्हा देवताः कृताः । कथं निवृत्तिधर्माश्च

मुझसे पहिले कहा था सूतने कहा, कि-हे शौनक ! वैशम्पायन का कहा हुआ यह सब आख्यान मैंने तुमसे कहा १३८तथा जनमे-जयने भी इस आख्यानको सुनकर विधिविधान से इसका पालन किया था, हे उत्तम ब्राह्मणो ! तुम सब तपस्वी हो, उत्तम व्रतों को पालने वाले हो१३९वेदके ज्ञाता और ऋषियोंमें मुख्य हो, नैमिषारण्यमें रहते हो और शौनकके महायज्ञमें आये हो १४० अतः तुम यज्ञोंमें उत्तम प्रकारका होम करके सनातन परमेश्वर की पूजाकरो, इस परम्परागत आख्यानको मेरे पिताने मुझसे पहिले कहा था-१४१ तीनसौउन्तालीसवाँ अध्याय समाप्त ३३९

शौनकने बूझा, कि-वह प्रभु भगवान् (नारायण) देव यज्ञमें सबसे पहिले भाग किस लिये लेते हैं और वेद तथा वेदांगोंको धारण करने तथा जानने वाले उनको सदा यज्ञ क्यों करने पड़ते हैं? यह मुझसे कहिये॥१॥और क्षमावान् भक्तों पर (कृपा) भाव रखनेवाले यह भगवान् स्वयं निवृत्तिधर्मका पालन करते हैं, और इन्हीं भगवानने निवृत्तिधर्मको रचा है ॥ २ ॥ तब भी इन भगवानने ही प्रवृत्तिके धर्मों (यज्ञों) में देवताओंको यज्ञका

कृता व्यावृत्तबुद्धयः ॥३॥ एतं नः संशयं सौते छिन्धि गुह्यं सनातनम् । त्वया नारायणकथाः श्रुता वै धर्मसंहिताः ॥ ४ ॥ सौतिरुवाच । जनमेजयेन यत्पृष्टः शिष्यो व्यासस्य धीमतः । तत्तेऽहं कथयिष्यामि पौराणं शौनकोत्तम ॥ ५ ॥ श्रुत्वा माहात्म्यमेतस्य देहिनां परमात्मनः । जनमेजयो महाप्राज्ञो वैशम्पायनमब्रवीत् ६ जनमेजय उवाच । इमे सब्रह्मका लोकाः ससुरासुरमानवाः । क्रियास्वभ्युदयोक्तासु सक्ता दृश्यन्ति सर्वशः ॥७॥ मोक्षश्चोक्तस्त्वया ब्रह्मन्निर्वाणं परमं सुखम् । ये तु मुक्ता भवन्तीह पुण्यपापविवर्जिताः ॥ ८ ॥ ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्तीह शुश्रुम । अयं हि दुरनुष्ठेयो मोक्षधर्मः सनातनः ॥ ९ ॥ यं हित्वा देवताः

भाग लेने वाला क्यों किया है, और जिनकी बुद्धि (विपर्यासे) उलट गई है उनको निवृत्तिधर्ममें परायण क्यों किया है ? ॥३॥ हे सूतपुत्र ! इस हमारे गुप्त और चिरकालके सन्देहको दूर करिये क्योंकि–आपने तो नारायणकी कथाएँ और धर्म सुने हैं ॥ ४ ॥ सौति कहते हैं, कि–हे शौनकोत्तम ! बुद्धिमान् व्यासजीके शिष्य वैशम्पायनजीसे जनमेजयने जो प्रश्न किया था, उस पूर्वकालके प्रश्नका उत्तर मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ५ ॥ देहधारियोंके अन्तर्यामीरूप परमात्माके माहात्म्यको सुनकर महाबुद्धिमान् जनमेजयने वैशम्पायनजीसे बूझा, ॥ ६ ॥ जनमेजयने प्रश्न किया, कि–ये ब्रह्मा, देवता, असुर तथा मनुष्योंसहित सब देवता आभ्युदयिक कर्ममें प्रीति रखते हुए दीखते है ॥७॥ और हे ब्राह्मण ! आपने मोक्षको परमनिर्वाणरूप तथा परमसुखरूप कहा है, जो मनुष्य पुण्य तथा पापसे रहित होकर मुक्त होजाता है ॥ ८ ॥ वह पुरुष सहस्र किरणों वाले सूर्यमण्डलमें स्थित परमात्मामें प्रवेश करता है, ऐसा हमने श्रुतिमें सुना है, इस मोक्षरूपी सनातनधर्मका पालन बड़ा कठिन है ॥ ९ ॥ सब देवता उस मो क्ष

सर्वा हव्यकव्यभुजोऽभवन् । किं च ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्च वल-भित्प्रभुः॥१०॥ सूर्यस्ताराधिपो वायुरग्निर्वरुण एव च । आकाशं जगतीं चैव ये च शेषा दिवौकसः ॥ ११ ॥ प्रलयं न विजानन्ति आत्मनः परिनिर्मितम् । ततस्तेनास्थिता मार्गं ध्रुवमक्षरमव्ययम्॥१२ स्मृतिकालपरीमाणं प्रवृत्तिं ये समास्थिताः । दोषः कालपरी-माणे महानेष क्रियावताम् ॥ १३ ॥ एतन्मे संशयं विप्र हृदि शल्यमिवार्पितम् । छिंधीतिहासकथनात्परं कौतूहलं हि मे १४ कथं भागहराः प्रोक्ता देवताः क्रतुषु द्विज । किमर्थं चाध्वरे ब्रह्म-न्निज्यन्ते त्रिदिवौकसः ॥१५॥ ये च भागं प्रगृह्णंति यज्ञेषु द्विज-सत्तम । ते यजंतो महायज्ञैः कस्य भागं ददन्ति वै ॥१६॥ वैशं-

धर्मको त्यागनेसे हव्य तथा कव्यके भोक्ता हुए हैं,इतना ही नहीं परन्तु ब्रह्मा, रुद्र, वल दैत्यका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र ॥१०॥ सूर्य, ताराधिपति (चन्द्र), वायु अग्नि, वरुण, आकाश, पृथ्वी तथा दूसरे जो देवता हैं वह ॥११॥ अपने कर्मोंसे उत्पन्न होते हुए अहंभावका नाश करना नहीं जानते, इससे वे अविकारी ध्रुव (निश्चित) मार्गमें नहीं हैं ॥१२॥ जो स्मृति और कालके परिमाण वाले प्रवृत्तिमार्गको ग्रहण करते हैं, उन कर्म (प्रवृत्ति मार्ग ग्रहण) करने वालोंका यही बड़ा दोष है उनको कालका बाध लगता है ॥१३॥ हे ब्रह्मन् ! मेरे हृदयमें यह सन्देह काँटेकी समान खटकता है,अतः आप इसका इतिहास कहकर मेरे सन्देह को दूर करिये क्योंकि-मुझे इसका बड़ा आश्चर्य है१४हे ब्राह्मण! यज्ञोंमें देवताओंने भागहर अर्थात् बलि लेने वाला किस लिये कहा है और यज्ञोंमें देवताओंका यजन किस लिये किया जाता है ? १५ हे उत्तम ब्राह्मणों ! जो यज्ञमें भाग ग्रहण करते हैं, वेही महायज्ञोंसे यजन करते हैं, तब वे किसको भाग देते हैं ? ॥१६॥ वैशम्पायनने कहा, कि-हे जनेश्वर ओहो हो ! ! !

पायन उवाच। अहो गूढतमः प्रश्नस्त्वया पृष्टो जनेश्वर। नातस-तपसा ह्येष नावेदविदुषा तथा ॥ १७ ॥ नापुराणविदा चैव शक्यो व्याहर्तुमञ्जसा। हन्त ते कथयिष्यामि यन्मे पृष्टः पुरा गुरुः ॥ १८ ॥ कृष्णद्वैपायनो व्यासो वेदव्यासो महानृषिः। समन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः ॥१९॥ अहं चतुर्थः शिष्यो वै पञ्चमश्च शुकः स्मृतः। एतान्समागतान्सर्वान्पञ्चशिष्यान्दमान्वितान् ॥ २० ॥ शौचाचारसमायुक्ताञ्जितक्रोधान् जितेंद्रियान्। वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमान् ॥२१॥ मेरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते। तेषामभ्यस्यतां वेदान्कदाचित्संशयोऽभवत् ॥ २२ ॥ एष वै यस्त्वया पृष्टस्तेन तेषां प्रकीर्तितः।

तुमने बड़ा ही गूढ़ प्रश्न बूझा है, जिसने तप न किया हो तथा जो वेद न पढ़ा हो ॥ १७ ॥ तैसेही जो पुरुष पुराण न जानता हो, वह पुरुष इस प्रश्नका उत्तर तुरत नहीं देसकता, तबभी इस प्रश्नका उत्तर मैं तुमको हर्षसे दूँगा, पहिले मैंने यह प्रश्न अपने गुरु ॥ १८ ॥ महर्षि कृष्णद्वैपायनसे बूझा था, सुमन्तु, जैमिनि और अत्यन्त दृढ़ व्रत पालन वाले पैल ॥ १९ ॥ और मैं (वैशम्पायन) चौथा शिष्य तथा पाँचवाँ शिष्य शुक इन पाँच शिष्योंने दमको पाला था ॥ २० ॥ वे शौच का पालन करते थे, क्रोधको जीतने वाले थे, इन्द्रियोंको जीतने वाले थे और (मेरुपर्वत पर) इकट्ठे हुए थे और उनको (व्यासजी) वेद और पाँचवें महाभारतको पढ़ाते थे ॥ २१ ॥ सिद्ध और चारणोंसे सेवित, रम्य और पर्वतोंमें श्रेष्ठ मेरुपर्वत पर (हम) वेदोंका अभ्यास करते थे तब हमें एक सन्देह उत्पन्न हुआ था ॥ २२ ॥ वह सन्देह यही है, कि जो तूने हमसे प्रश्न किया है और वेदव्यासने (हमें) इस प्रश्नका उत्तर दिया था, हे भरतवंशी राजन ! उस समय मैंने भी वह उत्तर सुना था,

ततः श्रुतो मया चापि तवाख्येयोऽद्य भारत ॥ २३ ॥ शिष्याणां वचनं श्रुत्वा सर्वाज्ञानतमोनुदः। पराशरसुतः श्रीमान्व्यासो वाक्यमथाब्रवीत् ॥२४॥ मया हि सुमहत्तप्तं तपः परमदारुणम् । भूतं भव्यं भविष्यं च जानीयामिति सत्तमाः ॥२५॥ तस्य मे तप्ततपसो निगृहीतेन्द्रियस्य च । नारायणप्रसादेन क्षीरोदस्यानुकूलतः २६ त्रैकालिकमिदं ज्ञानं प्रादुर्भूतं यथेप्सितम् । तच्छृणुध्वं यथान्यायं वक्ष्ये संशयमुत्तमम् ॥ २७ ॥ यथावृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञानचक्षुषा । परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः ॥ २८ ॥ महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा।तस्मात्प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः ॥२९॥ अव्यक्ताद्व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् । अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते ॥३०॥ योऽसौ व्यक्त-

---

वह मैं अब तुमसे कहता हूँ ॥ २३ ॥ शिष्योंका प्रश्न सुन कर सम्पूर्ण अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करने वाले पराशरके पुत्र श्रीमान् व्यासजी इस प्रकार कहने लगे ॥२४॥ हे श्रेष्ठ पुरुषों ! मैंने बड़ा भारी परमदारुण तप किया है और मैं भूत भविष्यत् तथा वर्तमान कालको जानता हूँ ॥२५॥ मैंने क्षीर समुद्रके तट पर इन्द्रियोंका निग्रह करके तप किया है और श्रीनारायणकी कृपासे ॥ २६ ॥ मुझे अपनी इच्छानुसार तीनों कालका ज्ञान प्राप्त हुआ है, अतः मैं न्यायानुसार तुम्हारे संशयका उत्तमरीति से निर्णय करूँगा, उसको तुम सुनो ॥ २७ ॥ पहिले कल्पके आरम्भकालमें जो घटना घटी थी उसको मैंने अपने ज्ञानरूपी नेत्रसे देखा है, सांख्यशास्त्र और योगशास्त्रको जानने वाले पुरुष जिनको परमात्मा कहते हैं ॥ २८ ॥ उस पुरुषने अपने आप अपने कर्मसे महापुरुष नाम पाया है, उससे अव्यक्त उत्पन्न होता है, विद्वान् उसको प्रधान कहते हैं ॥२९॥ अव्यक्त ईश्वरसे प्रजाकी सृष्टिके लिये व्यक्त उत्पन्न हुआ है उसको लोकोंमें

त्वमापन्नो निर्ममे च पितामहन् । सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ३१ ॥ पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पंचमम् । अहंकारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्चधा ॥ ३२ ॥ महाभूतानि सृष्ट्वैव तान्गुणान्निर्ममे पुनः । भूतेभ्यश्चैव निष्पन्ना मूर्तिमंतश्च तान् शृणु ॥३३॥ मरीचिरंगिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायंभुवस्तथा ॥ ३४ ॥ ज्ञेयाः प्रकृतयोष्टौ ता यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः । वेदवेदांगसंयुक्तान्यज्ञयज्ञांगसंयुतान् ॥३५॥ निर्ममे लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्मा लोकपितामहः । अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत् ॥ ३६ ॥ रुद्रो रोषात्मको जातो दशान्यान्सोऽसृजत्स्वयम् । एकादशैते रुद्रास्तु विकारपुरुषाः स्मृताः ॥ ३७ ॥ ते रुद्राः प्रकृतिश्चैव सर्वे

अनिरुद्ध कहते हैं और कोई महात्मा कहते हैं ॥ ३० ॥ व्यक्तित्व को प्राप्त हुए महान् आत्माने पितामह (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया है वे अहंकार कहलाते हैं, क्यों कि-सब तेजोंके भण्डार हैं, सर्वतेजोमय उस अहंकारसे पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पांचवाँ तेज ये पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए हैं ॥ ३१-३२ ॥ इन पञ्चमहाभूतोंको उत्पन्न करनेके साथ २ गुणोंको भी (अहङ्कारने) उत्पन्न किया है, अब इन पञ्चमहाभूतोंमेंसे जो उत्पन्न हुए हैं उनके सम्बन्धमें तू सुन ॥ ३३ ॥ मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, महात्मा वशिष्ठ और स्वायंभुव मनु ॥ ३४ ॥ इनको आठ प्रकृतियें जाननी चाहियें, इन आठ प्रकृतियोंमें सब लोक रहते है, वेदांग सहित वेदोंको और यज्ञांगोंसहित यज्ञोंको, लोकोंका लाभ करनेके लिये, सब लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने उत्पन्न किया है, तथा इन आठ प्रकृतियोंमेंसे सब जगत् उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥३६॥ रोषमेंसे रुद्र उत्पन्न हुए हैं और उन्होंने दूसरे दश रुद्रोंको उत्पन्न किया है ये ग्यारह रुद्र विकार पुरुष कह-

चैव सुरर्षयः । उत्पन्ना लोकसिद्धयर्थं ब्रह्माणं समुपस्थिताः ३८
वयं सृष्टा हि भगवंस्त्वया च प्रभविष्णुना । येन यस्मिन्नधीकारे
वर्तितव्यं पितामह ॥३९॥ योऽसौ त्वयाभिनिर्दिष्टो ह्यधिकारोऽर्थ-
चिंतकः । परिपाल्यः कथं तेन साहंकारेण कर्तृणा ॥ ४० ॥
प्रदिशस्व बलं तस्य योधिकारार्थचिंतकः । एवमुक्तो महादेवो
देवांस्तानिदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥ ब्रह्मोवाच । साध्वहं ज्ञापितो देवा
युष्माभिर्भद्रमस्तु वः । ममाप्येषा समुत्पन्ना चिंता या भवतां
मता ॥ ४२ ॥ लोकत्रयस्य कृत्स्नस्य कथं कार्यः परिग्रहः । कथं
बलक्षयो न स्याद्युष्माकं ह्यात्मनश्च मे ॥ ४३ ॥ इतः सर्वेऽपि
गच्छामः शरणं लोकसाक्षिणम् । महापुरुषमव्यक्तं स नो वक्ष्यति

जाते हैं ॥ ३७ ॥ ये (ग्यारह) रुद्र (आठ) प्रकृति और सब देवर्षि उत्पन्न होने पर लोकसिद्धिके लिये ब्रह्माजीके पास गए ॥ ३८ ॥ (और कहने लगे, कि-) हे भगवन् ! महासमर्थ आपने हमको उत्पन्न किया है, परन्तु हे पितामह ! हममेंसे अब किसको किस २ अधिकार पर काम करना चाहिये, यह बताइये ॥ ३९ ॥ आपने हमारे लिये अर्थ (हेतु) का विचार करके जो अधिकार विचारा है, उस कर्तापनके अहंकारको हम किसप्रकार पालें, यह हमें बताइये ॥४०॥ हमारा जो कुछ कर्तव्य है उसको पूर्ण करनेका बल हमें दीजिये, इसप्रकार महादेव ब्रह्माजीसे कहा, तब वे उनसे कहने लगे, ॥ ४१ ॥ ब्रह्माजीने कहा, कि-हे देवताओं !तुमने मुझसे विनती करके ठीक किया, तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हें जिस बातकी चिन्ता हुई है उसकी ही चिंता मुझे हुई है॥४२॥इन तीनों लोकोंका परिग्रह (निर्माव) कैसे हो और इसको किसप्रकार चालू रक्खा जाय, तथा तुम्हारे और मेरे बलका क्षय किस प्रकार न हो (इसका विचार करनेकी आवश्यकता है ॥४३॥ हम सब यहाँसे लोकोंके साक्षी-

यद्धितम् ॥ ४४ ॥ ततस्ते ब्रह्मणा सार्धमृषयो विबुधास्तथा । क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जग्मुर्लोकहितार्थिनः ॥ ४५ ॥ ते तपः समुपातिष्ठन्ब्रह्मोक्तं वेदकल्पितम् । स महानियमोनाम तपश्चर्यासु दारुणः ॥४६॥ ऊर्ध्वा दृष्टिर्बाहवश्च एकाग्रं च मनोभवत् । एकपादाः स्थिताः सर्वे काष्ठभूताः समाहिताः ॥ ४७ ॥ दिव्यं वर्षसहस्रं ते तपस्तप्त्वा सुदारुणम् । शुश्रुवुर्मधुरां वाणीं वेदवेदांगभूषिताम् ॥ ४८ ॥ श्रीभगवानुवाच । भो भोः सब्रह्मका देवा ऋषयश्च तपोधनाः । स्वागतेनार्च्य वः सर्वान् श्रावये वाक्यमुत्तमम्॥४६॥ विज्ञातं वो मया कार्यं तच्च लोकहितं महत् । प्रवृत्तियुक्तं कर्तव्यं युष्मत्प्राणोपबृंहणम् ॥ ५० ॥ सुतप्तं च तपो देवा ममाराधनकाम्यया । भोक्ष्यथास्य महासत्वास्तपसः फल-

---

भूत, शरणरूप और अव्यक्त महापुरुषके पास चलते है वह हमारी हितकारी बात कहेंगे ॥ ४४ ॥ तदनन्तर लोकोंका हित करनेकी इच्छावाले ऋषि और देवता ब्रह्माजीके साथ क्षीरसमुद्रके उत्तर तट पर गए ॥४५॥ और तहाँ ब्रह्माजीके कथनानुसार वेदोक्त तप करनेलगे, उस तपस्याओंमें परमदारुण तपका नाम महानियम है ॥ ४६ ॥ वे सब अपने मनको नियममें रख कर ऊर्ध्वदृष्टि हो ऊपरको भुजा उठा मनको एकाग्र कर काठकी समान एक पैरसे खड़े रहे ॥ ४७ ॥ उन्होंने देवताओंके एक सहस्र वर्षतक महादारुण तप किया, तदनन्तर उन्होंने वेद तथा वेदांगोंसे शोभायमान मधुर वाणी सुनी ॥४८॥ भगवान्‌ने कहा कि-हे ब्रह्मासहित देवताओं ! और तपको धन माननेवाले ऋषियों ! मैं तुम सबोंका स्वागतसे पूजन कर उत्तम बात कहता हूँ, कि–॥ ४६ ॥ तुम्हारे मनकी बातको मैंने जान लिया है, यह बात संसारका परमहित करने वाली है, यह कार्य प्रवृत्तिमय है तथा तुम्हें पुष्टि देनेवाला है ॥ ५० ॥ हे देवताओं ! मेरी आरा-

मुत्तमम् ॥ ५१ ॥ एष ब्रह्मा लोकगुरुर्महान् लोकपितामहः । यूयं च विबुधश्रेष्ठा मां यजध्वं समाहिताः ॥ ५२ ॥ सर्वे भागान्कल्पयध्वं यज्ञेषु मम नित्यशः । तथा श्रेयोऽभिधास्यामि यथाधीकारमीश्वरः ॥ ५३ ॥ वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वैतद्देवदेवस्य वाक्यं हृष्टतनूरुहाः । ततस्ते विबुधाः सर्वे ब्रह्मा ते च महर्षयः ॥५४॥ वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं क्रतुमाहरन् । तस्मिन्सत्रे सदा ब्रह्मा स्वयं भागमकल्पयत् ॥ ५५ ॥ देवा देवर्षयश्चैव स्वं स्वं भागमकल्पयन् । ते कार्तयुगधर्माणो भागाः परमसत्कृताः ॥ ५६ ॥ प्राहुरादित्यवर्णं तं पुरुषं तमसः परम् । बृहन्तं सर्वगं देवमीशानं वरदं प्रभुम् ॥ ५७ ॥ ततोऽथ वरदो देवस्तान्सर्वानमरा-

धना करनेकी इच्छासे तुमने तप किया है, हे महासत्त्व पुरुषों ! तुम अपने तपके उत्तम फलको भोगो ॥ ५१ ॥ यह ब्रह्माजी लोकोंके महागुरु हैं, लोकोंके पितामह हैं और तुम भी देवताओं में श्रेष्ठ हो, तुम सावधान होकर मेरा यजन करो ॥ ५२ ॥ हे ईश्वरों ! तुम सब यज्ञोंमें सदा मुझे भाग देना और मैं भी तुम्हारा कल्याण करूँगा ॥५३॥ वैशम्पायनने कहा, कि-देवदेव भगवान्की बात सुनकर देवता,महर्षि और ब्रह्माजीके रोम हर्षके कारण खड़े होगए ॥ ५४ ॥ और उन्होंने वेदोक्तविधिसे विष्णुयाग किया,उस यागमें ब्रह्माजीने स्वयं विष्णुको भाग दिया ५५ देवता और देवर्षियोंने भी अपनी २ ओरसे (विष्णुके लिये) भाग निकाला, यह सत्ययुगके (समयके) भाग थे और परमसत्कारपूर्वक दिये गए थे ॥ ५६ ॥ फिर उन्होंने (देवताओंने) स्तुति की कि -"आदित्यकी समान कान्तिवाले पुरुष तमसे पर हैं, महान् हैं, सर्वत्र गतिमान् हैं, देव हैं, ईशान और समर्थ हैं, वर देने वाले और प्रभु हैं" ॥ ५७ ॥ तदनन्तर वरदान देने वाले अशरीरी, आकाशमें खड़े हुए महेश्वरने सब देवताओंसे

न्स्थितान् । अशरीरो बभाषेदं वाक्यं खस्थो महेश्वरः ॥ ५८ ॥ येन यः कल्पितो भागः स तथा मामुपागतः । प्रीतोऽहं प्रदिशाम्यत्र फलमावृत्तिलक्षणम् ॥ ५९॥ एतद्वो लक्षणं देवा मत्प्रसादसमुद्भवम् । स्वयं यज्ञैर्यजमानाः समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ६० ॥ युगे युगे भविष्यध्वं प्रवृत्तिफलभागिनः । यज्ञैर्ये चापि यक्ष्यन्ति सर्वलोकेषु वै सुराः ॥ ६१ ॥ कल्पयिष्यन्ति वो भागांस्ते नरा वेदकल्पितान् । यो मे यथा कल्पितवान्भागमस्मिन्महाक्रतौ ॥६२॥ स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मया कृतः । यूयं लोकान्भावयध्वं यज्ञभागफलोचिताः ॥ ६३ ॥ सर्वार्थचिंतका लोके यथाधीकारनिर्मिताः । याः क्रियाः प्रचरिष्यन्ति प्रवृत्तिफलसत्कृताः ॥६४॥

कहा, कि-॥५८॥ जिस देवताने मुझे जिस प्रकार भाग अर्पण किया है, उसका वह भाग मुझे उसी प्रकार प्राप्त हुआ है, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ और प्यारे तुमको आवृत्तिरूप फल देता हूँ ॥५९॥ हे देवताओं ! तुम्हारे ऊपर मेरे प्रसन्न होनेका लक्षण यह है, कि-तुम्हारे इस श्रेष्ठ दक्षिणावाले यज्ञके समाप्त होने पर तुम्हारा यज्ञोंसे यजन होगा ॥ ६० ॥ और तुम प्रत्येक युगमें प्रवृत्तिके फलको भोगने वाले होगे, और सब लोकोंमें जो मनुष्य यज्ञ करेंगे, वे मनुष्य वेदमें निश्चित किये हुए यज्ञके भाग तुमको देंगे, इस त्रिगुणयाग नामक महायज्ञमें जिसने मुझको जिस प्रकार भाग दिया है ॥ ६२ ॥ उसको मैंने वेदके सूत्रोंमें (कल्पसूत्रोंमें) उसी प्रकार यज्ञका भाग ग्रहण करने वाला ठहराया है, यज्ञमें (मुझे) दिये हुए भागके (तुमको मिलेहुए) फलके अनुसार तुम सब लोकोंको चलाओगे ॥६३॥ तुम जगत्के सब कामोंका निर्णय करने वाले हो, तुमको जगत्में अधिकारानुसार निर्मित किया गया है, प्रवृत्तिका फल देने वाली जो २ क्रियाएँ की जावेंगी ॥ ६४ ॥ उन २ क्रियाओंसे तुम्हारा

आभिराप्यायितबला लोकान्वै धारयिष्यथ । यूयं हि भाविता यज्ञैः सर्वयज्ञेषु मानवैः ॥६५॥ मां ततो भावयिष्यध्वमेषा वो भावना मम । इत्यर्थं निर्मिता वेदा यज्ञाश्चौषधिभिः सह ॥ ६६ ॥ एभिः सम्यक्प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवताः क्षितौ । निर्माणमेतद्युष्माकं प्रवृत्ति-गुणकल्पितम् ॥ ६७ ॥ मया कृतं सुरश्रेष्ठा यावत्कल्पक्षयादिह । चिंतयध्वं लोकहितं यथाधीकारमीश्वराः ॥६८॥ मरीचिरंगिरा-श्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥ ६६ ॥ एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः । प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥ ७० ॥ अयं क्रिया-वतां पन्था व्यक्तीभूतः सनातनः । अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोक-सर्गकरः प्रभुः ॥७१ ॥ सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनंदनः ।

बल बढेगा और उनसे तुम समस्त लोकोंको चलता रख सकोगे; सब लोकोंमें मनुष्य यज्ञ करके तुम्हारी पूजा करेंगे ॥ ६५ ॥ और उससे तुम मेरी पूजा करोगे, यह मेरी इच्छा है, इसी लिये मैंने वेद, यज्ञ और ओषधियोंको उत्पन्न किया है ॥ ६६ ॥ ये यज्ञ आदि पृथ्वीमें अच्छी प्रकार किये जाँय तो देवता प्रसन्न होते हैं, प्रवृत्तिके गुणोंसे कल्पित यह कार्य तुम्हारे ही लिये है६७ हे श्रेष्ठ देवताओं ! इस कल्पके अन्त तकके लिये मैंने यह कार्य तुम्हारे लिये रचा है, अतः हे ईश्वरों ! तुम अपने अधिकारके अनुसार जगत्के हितका विचार करो ॥ ६८ ॥ मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ इन सातको मैंने अपने मनसे उत्पन्न किया है ६६ ये सातों वेदोंको जानने वाले हैं मैंने इनको मुख्य वेदाचार्य बनाया है ये प्रवृत्तिमार्गको चलानेवाले हैं और प्रजाकी उत्पत्तिके लिये बनाये गये हैं ७० क्रिया करने वालोंका यह सनातन–मार्ग प्रसिद्ध है जिनको अनिरुद्ध कहते हैं, वह प्रभु सब जगत्को उत्पन्न करने वाले हैं ॥ ७१ ॥ सन, सनत्सुजात,

सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ॥ ७२ ॥ सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः । स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः ॥ ७३ ॥ एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः । आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥ ७४ ॥ यतोऽहं प्रसृतः पूर्वमव्यक्तात्त्रिगुणो महान् । तस्मात्परतरो योऽसौ क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः ॥७५॥ सोऽहं क्रियावतां पन्थाः पुनरावृत्तिदुर्लभः । यो यथा निर्मितो जंतुर्यस्मिन् यस्मिंश्च कर्मणि॥७६॥ प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा तत्फलं सोऽश्नुते महत् । एष लोकगुरुर्ब्रह्मा जगदादिकरः प्रभुः ॥७७॥ एष माता पिता चैव युष्माकं च पितामहः । मयानुशिष्टो भविता सर्वभूतवरप्रदः ॥ ७८ ॥ अस्य चैवात्मजो रुद्रो

सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सातवें सनातन ।७२। इन सात ऋषियोंको ब्रह्माके मानसिक पुत्र कहा है, इनको अपने आप ज्ञान उत्पन्न होगया है, ये निवृत्तिधर्मका पालन करते हैं ७३ ये सात ऋषि योगशास्त्रवेत्ताओंमें मुख्य हैं, तथा सांख्यशास्त्रवेत्ताओंमें उत्तम हैं, धर्मशास्त्रवेत्ताओंमें भी आचार्य हैं और मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करने वाले हैं ॥ ७४ ॥ पहिले अव्यक्तमेंसे तीन गुणों वाला महतत्त्वरूप अहंकार उत्पन्न होता है, उससे जो पर है वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ ७५ ॥ और वह क्षेत्रज्ञरूप मैं हूँ, जो पुरुष कर्मकाण्डमें लगे रहते हैं वे पुनरावृत्ति वाले हैं, निवृत्तिमार्गसे प्राप्त होने वाला मैं उनको दुर्लभ हूँ, जिस २ कर्मके लिये जिस २ प्राणीको उत्पन्न किया है ॥७६॥ वह २ प्राणी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिके कर्मोंको करता है और उनके महाफलका भोक्ता होता है, यह ब्रह्मा सब लोकोंके गुरु हैं जगत्के आदि कर्ता हैं प्रभु हैं ॥७७॥ और वे तुम्हारे माता पिता और पितामह हैं और मेरी आज्ञासे सब प्राणियोंको वरदान देते हैं ॥ ७८ ॥ उनके पुत्र रुद्र ललाटमेंसे उत्पन्न हुए हैं, वे ब्रह्माकी आज्ञासे

ललाटाग्रः समुत्थितः । ब्रह्मानुशिष्टो भविता सर्वभूतधरः प्रभुः ७६
गच्छध्वं स्वानधीकारांश्चिंतयध्वं यथाविधि । प्रवर्ततां क्रियाः
सर्वाः सर्वलोकेषु मा चिरम् ॥ ८० ॥ प्रदिश्यंतां च कर्माणि
प्राणिनां गतयस्तथा । परिनिष्ठितकालानि आयूंषीह सुरोत्तमाः ८१
इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः । अहिंस्या यज्ञपशवो युगे-
स्मिन्न तदन्यथा ॥८२॥ चतुष्पात्सकलो धर्मो भविष्यत्र वै सुराः ।
ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति ॥ ८३ ॥ प्रोक्षिता यत्र
पशवो वध प्राप्स्यन्ति वै मखे । यत्र पादश्चतुर्थो वै धर्मस्य न
भविष्यति ॥८४॥ ततो वै द्वापरं नाम मिश्रः कालो भविष्यति ।
द्विपादहीनो धर्मश्च युगे तस्मिन् भविष्यति ॥८५॥ ततस्तिष्येऽथ
संप्राप्ते युगे कलिपुरस्कृते । एकपादस्थितो धर्मो यत्र तत्र भवि-

सब प्राणियोंका पोषण करेंगे ॥ ७६ ॥ हे देवताओं ! अब तुम
अपने अधिकाररूप स्थान पर जाओ और अपने अधिकारों पर
शास्त्रानुसार काम करो और जगत्में (यज्ञ आदिकी) सब क्रियाओं
को प्रवृत्त होने दो, विलम्ब न करो ॥ ८० ॥ प्राणियोंको कर्म
का और तदनुसार गतिका उपदेश दो, हे देवताओं ! इस युगमें
मनुष्योंकी आयुका परिमाण होता है ॥८१॥ आज कल कृतयुग
नामक श्रेष्ठ समय चल रहा है, इस युगमें यज्ञके पशुओंकी हिंसा
कभी न करना चाहिये ॥ ८२ ॥ हे देवताओं ! इस युगमें धर्मके
चार चरण रहेंगे और वे कलाओंसे पूर्ण रहेंगे तदनन्तर त्रेता-
युगका आरम्भ होगा, उसमें तीन वेदोंकी प्रवृत्ति होगी । ८३॥
तब यज्ञमें वेदमंत्रोंसे प्रोक्षण करे हुए पशुओंका वध किया जावेगा
और धर्मका एक चरण कम होजावेगा ८४ तदनन्तर द्वापर नामक
मिश्रयुगका आरम्भ होगा, इससमय धर्मके दो चरण कम होजावेंगे
तदनन्तर कलिको आगे करके तिष्य नामक युगका आरंभ होगा
उस समय सर्वत्र धर्मका एक ही चरण रहेगा ॥८६॥ इस प्रकार

ष्यति ॥८६॥ देवा देवर्षयश्चोचुस्तमेवं वादिनं गुरुम् । एकपाद-स्थिते धर्मे यत्र क्वचन गामिनि ॥ ८७ ॥ कथं कर्तव्यमस्माभिर्भगवंस्तद्वदस्व नः । श्रीभगवानुवाच । यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा ॥८८॥ अहिंसा धर्मसंयुक्ता प्रचरेयुः सुरोत्तमाः । स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत् ॥८९॥ व्यास उवाच । तेऽनुशिष्टा भगवता देवाः सर्षिगणास्तथा । नमस्कृत्वा भगवते जग्मुर्देशान्यथेप्सितान् ॥९०॥ गतेषु त्रिदिवौकःसु ब्रह्मैकः पर्यवस्थितः । दिदृक्षुर्भगवन्तं तमनिरुद्धतनौ स्थितम् ॥ ९१ ॥ तं देवो दर्शयामास कृत्वा हयशिरो महत् । सांगानावर्तयन्वेदा-न्कमण्डलुस्त्रिदण्डभृत् ॥९२॥ ततोऽश्वशिरसं दृष्ट्वा तं देवममितौ-

---

बातें करने वाले भगवान्से देवता तथा देवर्षियोंने कहा, कि-"धर्म एक चरण वाला होगा और जने कहाँ जाकर रहेगा, उस समय । ८७ ॥ हे भगवान् ! हमें किस प्रकारका वर्ताव करना चाहिये, वह हमसे कहिये " श्रीभगवान्ने कहा, कि-जहां वेद यज्ञ, तप, सत्य दम, ॥ ८८ ॥ और धर्ममयी अहिंसा वास करके रहे तहाँ हे उत्तम देवताओं ! तुम रहना, ऐसे देशमें रहनेसे अधर्म तुम्हारा चरणसे स्पर्श नकर सकेगा ८९ व्यासजीनें कहा, कि-इस प्रकार भगवान्ने देवता और ऋषियोंको आज्ञा दी,तब वे भगवान्को नमस्कार करके अपने अभिलषित देशोंको चले गए९०सब देवताओंके चले जानेपर भी ब्रह्माजी अनिरुद्धके शरीरमें स्थित भगवान्का दर्शन करनेकी इच्छासे तहाँ खड़ेरहे९१ तदनन्तर भगवान्ने बड़े भारी हयशिरके स्वरूपको धारण करके ब्रह्माजीको दर्शन दिये; उस स्वरूपमें वह देवता वह अंगों सहित वेदोंका उच्चारण कर रहे थे और हाथमें कमण्डलु और त्रि-दण्डको धारण कर रहे थे ॥९२॥ अपार सामर्थ्यवाले भगवान् हयशिरके दर्शन करके जगत्के कर्ता प्रभु ब्रह्मा जगत्का हित

जसम् । लोककर्ता प्रभुर्ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥६३॥ मूर्ध्ना प्रणम्य वरदं तस्थौ प्रांजलिरग्रतः । स परिष्वज्य देवेन वचनं श्रावितस्तदा ॥ ६४ ॥ भगवानुवाच । लोककार्यगतीः सर्वास्त्वं चिंतय यथाविधि । धाता त्वं सर्वभूतानां त्वं प्रभुर्जगतो गुरुः ६५ त्वय्यावेशितभारोऽहं धृतिं प्राप्स्याम्यथांजसा । यदा च सुरकार्यन्ते अविषह्यं भविष्यति ॥ ६६ ॥ प्रादुर्भावं गमिष्यामि तदात्मज्ञानदैशिकम् । एवमुक्त्वा हयशिरास्तत्रैवांतरधीयत ॥ ६७ ॥ तेनानुशिष्टो ब्रह्मापि स्वं लोकमचिराद्गतः । एवमेष महाभाग पद्मनाभः सनातनः ॥ ६८ ॥ यज्ञेष्वग्रहरः प्रोक्तो यज्ञधारी च नित्यदा । निवृत्तिं चास्थितो धर्मं गतिमक्षयधर्मिणाम् । प्रवृत्तिधर्मान्विदधे

करनेकी इच्छासे ॥६३॥ वरदान देने वाले परमात्माको मस्तकसे प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर खड़े होगए, उस समय भगवान्ने ब्रह्माजीसे आलिंगन करके कहा ॥ ६४ ॥ श्रीभगवान्ने कहा, कि–तुम प्राणिमात्रके सब कर्मोंका और उनकी गतियोंका शास्त्रानुसार विचार करना, तुम सब प्राणियोंके धाता (धारण करने वाले) हो तथा जगत्के प्रभु और गुरु भी हो ॥ ६५ ॥ अब इस जगत्के सारे कामोंका भार तुम्हारे ऊपर छोड़ कर मैं विश्राम लूँगा और जब देवताओंका काम तुमसे होना कठिन पड़ेगा ॥६६॥ तब मैं आत्मज्ञानकी दिशा दिखाने वालेके रूपमें प्रकट होऊँगा, इस प्रकार कह कर हयशिर भगवान् तहाँ ही अन्तर्धान होगए ॥ ६७ ॥ ब्रह्माजी भी भगवान्की आज्ञा लेकर उसी समय अपने लोकको चले गए, इस प्रकार हे महाभाग्यवान् मुने ! जिनकी नाभिमें पद्म है जो सनातन हैं ॥६८॥ वह भगवान् यज्ञमें नित्य मुख्य भाग ग्रहण करने वाले बने हैं तथा यज्ञको धारण कर रहे हैं, वे मोक्षधर्मको पालने वालोंकी गति रूप निवृत्तिधर्मको धारण करने वाले हैं और विश्वकी विचित्रता

कृत्वा लोकस्य चित्रताम् ॥ ९९ ॥ स आदिः स मध्यः स चांतः प्रजानां स धाता स धेयं स कर्ता स कार्यम् । युगान्ते प्रसुप्तः सुसंक्षिप्य लोकान् युगादौ प्रबुद्धो जगद्ध्युत्ससर्जः ॥ १०० ॥ तस्मै नमध्वं देवाय निर्गुणाय महात्मने । अजाय विश्वरूपाय धाम्ने सर्वदिवौकसाम् ॥ १०१ ॥ महाभूताधिपतये रुद्राणां पतये तथा । आदित्यपतये चैव वसूनां पतये तथा ॥१०२॥ अश्विभ्यां पतये चैव मरुतां पतये तथा । वेदयज्ञाधिपतये वेदांगपतयेऽपि च॥३ समुद्रवासिने नित्यं हरये मुञ्जकेशिने । शांताय सर्वभूतानां मोक्षधर्मानुभाषिणे ॥ ४ ॥ तपसां तेजसां चैव पतये यशसामपि । वचसां पतये नित्यं सरितां पतये तथा ॥ ५ ॥ कपर्दिने वराहाय एकशृङ्गाय धीमते । विवस्वतेऽश्वशिरसे चतुर्मूर्तिधृते सदा ॥ ६ ॥

दिखानेके लिये उन्होंने प्रवृत्तिधर्मोंका भी पालन किया है॥९९॥ यही सब जगत्के आदिकारण हैं यही उसके मध्यरूप हैं और यही उसके अन्तरूप हैं,धातारूप हैं ध्येयरूप हैं कर्तारूप हैं, कार्यरूप हैं,वह प्रलयके समय सब लोकोंका संहार करके शयन करते हैं और युगके आरंभमें जागृत होकर फिर जगत्को रचते हैं१०० इन निर्गुण महात्मा, अजन्मा, विश्वरूप और सब देवताओंके धामरूप परमात्माको नमस्कार करो ॥ १०१ ॥ इन महाभूतोंके अधिपति और रुद्रोंके पति,आदित्योंके पति, वसुओंके पति १०२ अश्विनीकुमारोंके पति, मरुतोंके पति, वेदोंके तथा यज्ञके अधिपति और वेदांगोंके अधिपति देवको प्रणाम करो ॥ १०३ ॥ हरि नित्य समुद्रमें वसने वाले हैं, मुञ्जकेशी हैं, शान्त हैं, और सब प्राणियोंको मोक्षका उपदेश देने वाले हैं ॥ १०४ ॥ तपके, तेजके और यशके भी पति हैं, वाणियोंके पति और नदियोंके पति हैं,उनको प्रणाम करो ॥१०५॥ कपर्दी (जटाधारी) वराह रूप, एक शृङ्गधारी, बुद्धिमान्, विवस्वान् (सूर्य) रूप, अश्व

गुह्याय-ज्ञानदृश्याय अक्षराय क्षराय च । एष देवः संचरति सर्वत्रगतिरव्ययः ॥ ७ ॥ एष चैतत्परं ब्रह्म ज्ञेयो विज्ञानचक्षुषा । एवमेतत्पुरा दृष्टं मया वै ज्ञानचक्षुषा ॥ ८ ॥ कथितं तच्च वै सर्वं मया पृष्टेन तत्त्वतः । क्रियतां मद्वचः शिष्याः सेव्यतां हरिरीश्वरः । गीयतां वेदशब्दैश्च पूज्यतां च यथाविधि ॥९॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तास्तु वयं तेन वेदव्यासेन धीमता । सर्वे शिष्याः सुतश्चास्य शुकः परमधर्मवित् ॥११०॥ स चास्माकमुपाध्यायः सहास्माभिर्विशांपते । चतुर्वेदोद्गताभिस्तमृग्भिः समभितुष्टुवे ॥ ११ ॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि । एवं मेऽकथयद्राजन्पुरा द्वैपायनो गुरुः ॥ १२ ॥ यश्चेदं शृणुया-

की समान मस्तक वाले और सदा ही चार प्रकारकी मूर्तिको धारण करने वाले हैं ॥ १०६ ॥ गुह्यरूप ज्ञानसे दीखने वाले, अक्षरस्वरूप और क्षरस्वरूप इन देवताको प्रणाम करो, यह देव सर्वत्र गति वाले और अविनाशी हैं ॥ १०७ ॥ और यह परब्रह्मरूप हैं तथा ज्ञानदृष्टिसे जानने योग्य हैं, मैने पहिले ज्ञानदृष्टि से इसी प्रकार देखा था ॥ १०८ ॥ और हमारे प्रश्न करने पर वेदव्यासजीने भी यही बात कही थी, कि–हे शिष्यो ! तुम मेरा कहना करना ईश्वर हरिकी सेवा करना, वेदमंत्रोंसे श्रीहरिकी स्तुति करना और शास्त्रोक्तविधिसे श्रीहरिका पूजन करना १०९ वैशम्पायन कहते हैं, कि–इसप्रकार बुद्धिमान् वेदव्यासजीने पहिले हम सब शिष्योंसे तथा परमधर्मको जानने वाले पुत्र शुक से कहा था । ११० ॥ तदनन्तर हमारे उपाध्याय वेदव्यासजीने हमारे साथ हे राजन् ! चारों वेदोंकी ऋचासे परमात्माकी स्तुति की थी ॥१११॥ हे राजन् ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उस सबका उत्तर मैंने तुमको देदिया, पहिले गुरु कृष्णद्वैपायनने मुझसे यह बात कही थी ॥ ११२ ॥ जो पुरुष "नमो

न्नित्यं यश्चैनं परिकीर्तयेत् । नमो भगवते कृत्वा समाहितमति-र्नरः ॥ १३ ॥ भवत्यरोगो मतिमान्बलरूपसमन्वितः । आतुरो मुच्यते रोगाद्बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥१४॥ कामान्कामी लभेत्कामं दीर्घं चायुरवाप्नुयात् । ब्राह्मणः सर्ववेदी स्यात्क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥ १५ ॥ वैश्यो विपुललाभः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् । अपुत्रो लभते पुत्रं कन्या चैवेप्सितं पतिम् ॥ १६ ॥ लग्नगर्भा विमुच्येत गर्भिणी जनयेत्सुतम् । वन्ध्या प्रसवमाप्नोति पुत्र-पौत्रसमृद्धिमत् ॥ १७ ॥ क्षेमेण गच्छेदध्वानमिदं यः पठते पथि । योऽयं कामं कामयते स तमाप्नोति च ध्रुवम् ॥ १८ ॥ इदं महर्षे-

---

भगवते नित्यम्" कहकर अपनी मतिको नियममें रख इस आख्यानको नित्य सुनता है तथा नित्य दूसरोंको सुनाता है॥ ११३ ॥ वह रोगसे छूट जाता है और बुद्धिमान् बल-वान् और रूपवान् होता है (इसको सुन कर) रोगी रोगसे छूट जाता है और (बद्ध जीव) कैदी (मायारूपी) कैदसे छूट जाता है ॥ ११४ ॥ कामना वाला संपूर्णरीतिसे कामनाको और दीर्घायुको पाता है, ब्राह्मण सब वेदोंका ज्ञान पाता है और क्षत्रिय विजय पाता है ११५ वैश्यको बहुतसा लाभ होता है, शूद्र सुख पाता है, पुत्रहीन पुत्र पाता है, और कन्या अपने मन चाहे वरको पाती है, ११६ और गर्भवती स्त्री सन्तान उत्पन्न होनेमें रुकावट पड़ने पर इसको सुनती है तो सुखसे संतानको उत्पन्न करती है,गर्भिणी स्त्री पुत्रको उत्पन्न करती है, वंध्या स्त्रीके गर्भ रह जाता है और समृद्धिवाला पुत्र पौत्रको पाता है ॥११७॥ जो बटोही मार्गमें इस आख्यानका पाठ करता है, वह पुरुष सुखसे मार्गके पार पहुँच जाता है, (इस आख्यान को पढ़नेसे) पुरुष जिस २ वस्तुको चाहता है उसको वह वस्तु अवश्य मिल जाती है ॥ ११८ ॥ ब्रह्मर्षि वेदव्यासका यह वचन

वचनं विनिश्चितं महात्मनः पुरुषवरस्य कीर्तितम् । समागमं चर्षि-दिवौकसामिमं निशम्य भक्ताः सुसुखं लभन्ते ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४० ॥

जनमेजय उवाच । अस्तौषीद्यैरिमं व्यासः सशिष्यो मधुसूदनम् । नामभिर्विविधैरेषां निरुक्तं भगवन्मम ॥ १ ॥ वक्तुमर्हसि शुश्रूषोः प्रजापतिपतेर्हरेः । श्रुत्वा भवेयं यत्पूतः शरच्चन्द्र इवामलः ॥ २ ॥ वैशम्पायन उवाच । शृणु राजन्यथाचष्ट फाल्गुनस्य हरिः प्रभुः । प्रसन्नात्मात्मनो नाम्नां निरुक्तं गुणकर्मजम् ३ नामभिः कीर्तितैस्तस्य केशवस्य महात्मनः । पृष्टवान्केशवं राजन्

निश्रेयससे भरा हुआ है, पुरुषश्रेष्ठ महात्माकी कीर्ति इसमें गाई गई है तथा ऋषि और देवर्षियोंके परमात्माके साथ समागमकी कथा इसमें है, इसको सुन कर परमात्माके भक्त बड़ा सुख पाते हैं ॥ ११९ ॥ तीनसौ चालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४० ॥

जनमेजयने कहा, कि हे भगवन् ! शिष्यों सहित भगवान् व्यासजीने जिन नानाप्रकारके नामोंसे भगवान्की स्तुति की थी उन सब नामोंका निर्वचन मुझसे कहिये ॥ १ ॥ प्रजापति (ब्रह्मा) के भी पति श्रीहरिके नामोंको सुनना चाहने वाले मुझे, आपको वे सुनाने चाहियें, श्रीहरिके नामोंको सुन कर मैं शरद् ऋतुके निर्मल चन्द्रमाकी समान पवित्र होजाऊँगा ॥ २ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि—हे राजन् ! समर्थ श्रीहरिने मनमें प्रसन्न होकर अपने (सर्वज्ञत्व आदि) गुणोंसे तथा (जगत्को उत्पन्न करने वाले अपने) कर्मोंसे उत्पन्न हुए अपने नामोंका निर्वचन जिस प्रकार अर्जुनसे कहा था, तिसी प्रकार मैं तुमसे कहता हूँ सुन ॥ ३ ॥ हे राजन् ! शत्रुओंके वीरोंका संहार करने वाले अर्जुनने महात्मा केशवकी जिन नामोंकी स्तुति गाई जाती है,

फाल्गुनः परवीरहा ॥ ४ ॥ अर्जुन उवाच । भगवन्भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय । लोकधाम् जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥ ५ ॥ यानि नामानि ते देव कीर्तितानि महर्षिभिः । वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः ॥ ६ ॥ तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव । न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो॥७ श्रीभगवानुवाच । ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु । पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्योतिषेऽर्जुन ॥ ८ ॥ सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च । बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ९ गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित् । निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ ॥ १० ॥ कथ्यमानं मया तात त्वं

उनके सम्बन्धमें श्रीकेशवसे प्रश्न किया था ॥ ४ ॥ अर्जुनने बूझा, कि-हे भगवन् ! हे भूत और भविष्यत्के ईश्वर ! हे सब प्राणियोंके रचने वाले ! हे अव्यय ! हे सब लोकोंके धामरूप ! हे जगत्के नाथ ! हे सब लोकोंको अभय देने वाले ! ॥ ५ ॥ हे देव ! वेदोंमें और पुराणोंमें आपके जो २ नाम महर्षियोंने कहे हैं तथा आपके जो नाम कर्मोंसे गुप्त हैं ॥ ६ ॥ हे केशव ! उन सब नामोंका निर्वचन मैं आपसे सुनना चाहता हूँ, हे प्रभो ! आपके अतिरिक्त और कोई भी आपके नामोंका निर्वचन नहीं कर सकेगा ॥ ७ ॥ श्रीभगवान्ने कहा, कि—हे अर्जुन ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पुराण, उपनिषद्, ज्योतिषशास्त्र, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्रमें महर्षियोंने मेरे बहुतसे नाम कहे हैं ॥ ८-९ ॥ उनमेंसे बहुतसे नाम गुणोंसे उत्पन्न हुए हैं और बहुतसे नाम कर्मोंसे उत्पन्न हुए हैं, हे निर्दोष अर्जुन ! उनमें तू मेरे कर्मोंसे उत्पन्न हुए नामोंके निर्वचनको सावधान होकर सुन ॥ १० ॥ क्योंकि-हे तात ! मैंने तुझसे पहिले कहा है, कि-तू पहिले मेरा आधा भाग था (शास्त्रोंमें

हि मेऽद्य स्मृतः पुरा । नमोऽस्त्वियशसे तस्मै देहिनां परमात्मने ११ नारायणाय विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने। यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसंभवः ॥ १२ ॥ योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च । अष्टादश गुणं यत्तत्सत्वं सत्ववतां वर ॥ १३ ॥ प्रकृतिः सा परा मह्यं रोदसी योगधारिणी । ऋता सत्यामराजय्या लोकानामात्मसंज्ञिता ॥ १४ ॥ तस्मात्सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः । तपोयज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट् १५ अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः । ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः ॥१६॥ प्रसादात् प्रादुरभवत्पद्म पद्मनिभेक्षण ।

कहा है, कि) प्राणियोंके उत्तम यशोरूप परमात्माको प्रणाम है ॥११॥ नारायण, विश्वरूप परमात्माको नमस्कार है, जिनके प्रसादसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं और जिनके क्रोधमेंसे रुद्र उत्पन्न हुए हैं ॥१२॥ जो परमात्मा सब स्थावर जंगमोंकी योनिरूप हैं और हे सत्त्ववालोंमें श्रेष्ठ ! अठारह (प्रीति, प्रकाश, वृद्धि, लघुता, सुख, अदीनता, असंरंभ, सन्तोष, श्रद्धालुता, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य और अनसूया) प्रकारका सत्त्वगुण है ॥ १३ ॥ वही मेरी परा प्रकृति है, वह स्वर्ग और पृथ्वीकी आत्मारूप है और योगसे सब लोकोंको धारण करने वाली है तथा कर्मोंका फल देने वाली है, सत्यरूप है, अमर और अजित है, सब लोकोंकी आत्मारूप हैं (उसको नमस्कार है) ॥ १४ ॥ जिन परमात्मासे जगत्की उत्पत्ति तथा प्रलय आदि सब विकारोंकी प्रवृत्ति होती है, जो तपोरूप, यज्ञरूप, यजमानरूप, पुराणपुरुष तथा विराटरूप है उनको नमस्कार है ॥ १५ ॥ उनको ही अनिरुद्ध कहते हैं और वह लोकोंकी उत्पत्ति तथा प्रलय करने वाले हैं, जब ब्रह्माजीकी रात्रि पूर्ण होती है, तब हे कमलकी समान नेत्र वाले ! अपार तेज वाले

ततो ब्रह्मा समभवत्स तस्यैव प्रसादजः॥१७॥ अह्नः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तथा। क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः ॥१८॥ एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजावुभौ ॥ तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ १९ । निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ । कपर्दी जटिलो मुण्डः श्मशानगृहसेवकः २० उग्रव्रतचरो रुद्रो योगी परमदारुणः । दक्षक्रतुहरश्चैव भगनेत्रहरस्तथा ॥२१॥ नारायणात्मको ज्ञेयः पांडवेय युगे युगे । तस्मिन्हि पूज्यमाने वै देवदेवे महेश्वरे ॥ २२ ॥ संपूजितो भवेत्पार्थो देवो नारायणः प्रभुः। अहमात्मा हि लोकानां विश्वेषां पांडुनंदन।२३ तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं संपूजयाम्यहम्।यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं

परमात्माके प्रसादसे एक कमल उत्पन्न होता है और कमलसे ही उनकी कृपासे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं ॥१६-१७॥ ब्रह्माजीका दिन पूर्ण होने पर परमात्मा क्रोधमें भर जाते हैं तब उनके ललाटमेंसे रुद्र नामक एक पुत्र उत्पन्न होता है और वह जगत् के संहारका काम करता है ॥ १८ । प्रसादसे और क्रोधसे उत्पन्न हुए ये दोनों देवता सब देवताओंसे श्रेष्ठ माने जाते हैं, दोनों परमात्माके बताये मार्ग पर चलकर जगत्की उत्पत्ति और संहार करते हैं ॥१९॥ सब प्राणियोंको वरदान देनेवाले ये दोनों देवता उत्पत्ति और प्रलयके निमित्तमात्र हैं,इनमें प्रलय करने-वाले देवके कपर्दी (जटाधारी) जटिल, मुण्ड, श्मशानवासी,उग्र व्रतका आचरण करने वाले,रुद्र, योगी;परमदारुण,दक्षके यज्ञका विध्वंस करनेवाले और भगके नेत्रोंको फाड़ने वाले आदि नाम हैं २०-२१ हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! इन देवको प्रत्येक युगमें नारायणस्वरूप समझना चाहिये इन देवदेव महेश्वर देवताकी पूजा करने से२२ भगवान् नारायणकी पूजा करना माना जाता है क्योंकि-हेपाण्डुपुत्र ! मैं सब लोकोंका आत्मा हूँ ॥२३॥ अत एव मैं अपने आत्मा

वरदं शिवम् ॥ २४ ॥ आत्मानं नार्चयेत्कश्चिदिति मे भाविता-त्मनः । मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥ २५ ॥ प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम् । यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ॥ २६ ॥ रुद्रो नारायणश्चैव सत्वमेकं द्विधाकृतम् । लोके चरति कौंतेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु ॥ २७ ॥ न हि मे केन चिद्देयो वरः पांडवनन्दन । इति संचिंत्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरम् ॥ २८ ॥ पुत्रार्थमाराधितवानहमात्मानमा-त्मना । न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद्विबुधाय च ॥२९॥ ऋते आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम् । सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेंद्रा देवाः सहर्षिभिः ॥३०॥ अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् । भविष्यतां वर्ततां च भूतानां चैव भारत ॥ ३१ ॥ सर्वेषामग्रणी-

---

रूप रुद्रका प्रथम पूजन करताहूँ, मैं यदि ईशान' वरदेने वाले और शिवस्वरूप शंकरका पहिले पूजन न करूँ तो ॥२४॥ आत्माकी और कोई पूजा नहीं करेगा, ऐसा मेरा विचार है, क्योंकि मैं जिस प्रकार करता हूँ, संसार भी वैसेही करता है ॥ २५ ॥ प्रमाण पूज्यरूप होते हैं, अतः मैं रुद्रकी पूजा करता हूँ. जो रुद्रको जानते हैं वे मुझे जानते हैं और जा मुझे जानते हैं वे उन्हें जानते हैं२६ रुद्र ही नारायण हैं, ये एकही सत्त्व हैं, उसके दोभाग किये है,हे कौन्तेय ! यह सत्त्व जगत्के सब प्राणियोंमें रहकर कर्मव्यवहार करता है ॥ २७॥ हे पाण्डुनन्दन ! मुझे वर देने वाला कोई नहीं है, यह अपने मनमें विचार करके मैंने पुराण और शक्तिमान् रुद्र की पुत्रप्राप्तिके लिये आराधनाकी थी ऐसा करके आत्माने आत्मा की ही आराधना की थी क्योंकि विष्णु और किसी देवताको प्रणाम नहीं करता है ॥ २८ ॥ केवल आत्मासे ही नमता है, इससे मैं रुद्रका भजन करता हूँ, ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, देवता तथा ऋषि ॥ ३० ॥ देव श्रेष्ठ नारायण श्रीहरिका पूजन करते हैं,

विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः । नमस्व हव्यदं विष्णुं तथा शरणदं नमः ॥३२॥ वरदं नमस्व कौन्तेय हव्यकव्यभुजं नमः । चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम् ॥३३॥ तेषामेकांतिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः । अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ॥ ३४ ॥ ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः । सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ॥३५॥ ब्रह्म गां शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः । प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥ ३६ ॥ भक्तं प्रतिविशेषस्ते एष पार्थानुकीर्तितः । त्वं चैवाहं च कौंतेय नरनारायणौ स्मृतौ ॥३७॥ भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम् । जानाम्यध्यात्मयोगांश्च

हे भरतश्रेष्ठ राजन् ! भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके ॥३१॥ सब देवताओंमें विष्णु अग्रणी, सेव्य तथा नित्य पूज्य हैं, हव्यको ग्रहण करनेवाले विष्णुको नमस्कार कर, शरण देनेवाले विष्णुको नमस्कार कर ॥३२॥ हे कुन्तीपुत्र ! उन वर देनेवालेको नमस्कार कर, हव्य तथा कव्यका भोजन करनेवालेको नमस्कार कर हे अर्जुन ! मेरे चार प्रकारके भक्त हैं, यह तूने मुझसे सुना है ३३ इनमें जो अनन्य-भक्त होते है, वे आत्माके अतिरिक्त दूसरे देवता का भजन नहीं करते है, वेही श्रेष्ठ हैं और मैं उनकी गति हूँ वे कर्म करके कर्मफलकी अपेक्षा नहीं रखते ३४ बाकी तीनोंको मैं फल की कामनावाले समझता हूँ वे (ऊपर चढ़ने पर भी) नीचे गिरनेके धर्म वाले हैं, इनमें जागृत (ज्ञानी) पुरुष उत्तमफलको पाता है ॥ ३५ ॥ ज्ञानीकी चर्यासे जीवन बिताने वाले पुरुष ब्रह्मा शंकर तथा दूसरे देवताओंकी सेवा करने परभी अन्तमें मुझे ही पाते हैं ॥ ३६ ॥ हे पार्थ ! भक्तमें जो विशेषता थी वह तुझसे मैंने कहदी, हे कुन्तीके पुत्र ! तू और मैं ये दोनों नर और नारायणरूप हैं, और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये हमने मनुष्यशरीरमें

योऽहं यस्माच्च भारत ॥ ३८ ॥ निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाभ्युदयिकोऽपि च । नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः ॥३९॥ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।अयनं मम तत्पूर्वमतो नारायणो ह्यहम् ॥ ४०॥ छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः । सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥४१॥ गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत । व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कांतिश्चाभ्यधिका मम ॥४२॥ अधिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत । क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥४३॥ दमात्सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह । दिवं चोर्वीं च मध्यं च तस्माद्दामोदरो ह्यहम् ॥ ४४ ॥ पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं

प्रवेश किया है हे भरतवंशी राजन्! मैं अध्यात्मयोगको तथा मैं कौन हूँ और किससे उत्पन्न हुआ हूँ यह जानता हूँ ३७-३८ तथा निवृत्तिरूप धर्मको और अभ्युदयरूप धर्मको भी मैं जानता हूँ, और मैं सनातन पुरुष नरों (जीवों) का अयन-आश्रयस्थान हूँ ॥ ३९ ॥ जलोंको नार कहते हैं और वे मनुष्यों को उत्पन्न करनेवाले हैं, और वही जल पहिले मेरा अयन था, अतः मैं नारायण कहलाता हूँ ॥ ४० ॥ सूर्यरूपसे किरणोंके द्वारा मैं जगत्को आच्छादित करता हूँ, तथा सब भूतोंमें मेरा अधिवास है, इससे मैं वासुदेव कहलाता हूँ ॥४१॥ हे भरतवंशी राजन् ! मैं सब प्राणियोंकी गतिरूप हूँ, सब प्राणियोंका उत्पत्तिस्थान हूँ, हे पृथाके पुत्र ! मैं स्वर्ग और पृथ्वीमें व्याप्त होरहा हूँ, मेरी कान्ति सबसे अधिक है ॥ ४२ ॥ और हे भरतवंशी राजन् ! अन्तमें सब प्राणी जिसकी इच्छा करते हैं वह मैंही हूँ, मैं सब प्राणियोंके हृदयमें प्रवेश करता हूँ; इससे हे पृथाके पुत्र ! लोक मुझे विष्णु नामसे पुकारते हैं ॥ ४३ ॥ इन्द्रियोंका दमन करके सिद्धि पाना चाहने वाले पुरुष स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षरूप मेरी

तथा । ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥४५॥ ऋषयः प्राहुरेवं मां त्रितं कूपनिपातितम् । पृश्निगर्भ त्रितं पाहीत्येकतद्वितपातितम् ॥४६॥ ततः स ब्रह्मणः पुत्र आद्यो ह्यृषिवरस्त्रितः । उत्ततारोदपानाद्वै पृश्निगर्भानुकीर्तनात् ॥ ४७ ॥ सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत । अंशवो यत्प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ॥ ४८ ॥ सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः । स्वपत्न्यामाहितो गर्भ उतथ्येन महात्मना ॥४९॥ उतथ्येऽन्तर्हिते चैव कदाचिद्देवमायया । बृहस्पतिरथाविन्दत्पत्नीं तस्य महात्मनः॥५०॥ ततो वै तमृषिश्रेष्ठं मैथुनोपगतं तथा । उवाच गर्भः कौन्तेय पंचभूतसमन्वितः ॥ ५१ ॥ पूर्वागतोऽहं वरद नार्हस्यंबां प्रबाधितुम् ।

ही इच्छा करते हैं, इससे मैं दामोदर कहलाता हूँ ४४ अन्न वेद जल और अमृतका नाम पृश्नि है, ये सब मुझमें हैं, अतः मैं पृश्निगर्भ कहलाता हूँ ॥ ४५ ॥ (एकसमय) ऋषि मुझसे कहने लगे, कि—एकत तथा द्वित मुनिने अपने भाई त्रितको कुएँमें डाल दिया है, उस कूपमें पड़े हुए त्रितको हे पृश्निगर्भ! तुम बचाओ ४६ ये ऋषिश्रेष्ठ ब्रह्माके प्रथम पुत्र पृश्निगर्भका कीर्तन करनेसे जल से छूट गए थे ॥ ४७ ॥ जगत्को ताप देने वाले सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके जो अंश प्रकाशित होते हैं वे मेरे केश कहलाते हैं ४८ इस लिये सर्वज्ञ और श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझे केशव कहते हैं, महात्मा उतथ्य मुनिने एक समय अपनी स्त्रीमें गर्भ धारण किया था ॥ ४९ ॥ फिर देवमायासे उतथ्यके अन्तर्हित (लापता) हो जानेसे बृहस्पति उन महात्माकी पत्नीके पास आये ॥ ५० ॥ उन मैथुनके लिये आये हुए श्रेष्ठ ऋषिसे पञ्चभूतोंसे युक्त गर्भने कहा, कि—॥ ५१ ॥ हे वरदान देने वाले ऋषे ! मैं पहिलेसे ही इस (उदरमें) आगया हूं, अतः आपको मेरी माताको कष्ट न देना चाहिये, यह बात सुन कर बृहस्पतिको क्रोध आगया और

एतद्वृ बृहस्पतिः श्रुत्वा चुक्रोध च शशाप च ॥ ५२ ॥ मैथुनायागतो यस्मात्त्वयाहं विनिवारितः । तस्मादंधो यास्यसि त्वं मच्छापान्नात्र संशयः ॥ ५३ ॥ स शापादृषिमुख्यस्य दीर्घं तम उपेयिवान् । स हि दीर्घतमा नाम नाम्ना ह्यासीदृषिः पुरा ॥ ५४ ॥ वेदानवाप्य चतुरः सांगोपांगान्सनातनान् । प्रयोजयामास तदा नाम गुह्यमिदं मम ॥ ५५ ॥ आनुपूर्व्येण विधिना केशवेति पुनः पुनः । स चक्षुष्मान्समभवद्गोतमश्चाभवत्पुनः ॥ ५६ ॥ एवं हि वरद नाम केशवेति ममार्जुन । देवानामथ सर्वेषामृषीणां च महात्मनाम् ॥५७॥ अग्निः सोमेन संयुक्त एकयोनित्वमागतः । अग्नीषोममयं तस्माज्जगत्कृत्स्नं चराचरम् ॥ ५८ ॥ अपि हि पुराणे

उन्होंने शाप दिया, कि-॥५२॥ मैं मैथुनकी इच्छासे यहाँ आया था और तूने मुझको रोक दिया, अतः तू मेरे शापसे अन्धा होजायगा ॥ ५३ ॥ तव वह उन मुख्य ऋषिके शापसे दीर्घ (बड़े) तम (अन्धकार) को प्राप्त होगया (अन्धा होगया) इससे उन ऋषिका नाम पहिले दीर्घतमा पड़ा था ॥ ५४ ॥ इन दीर्घतमा ऋषिने अंग और उपांगों सहित सनातन चारों वेदोंका अध्ययन कर मेरे इस गुह्य "केशव" नामका निर्माण किया ॥५५॥ और बारम्बार केशव ! केशव !! कह कर पुकारने लगे, इससे उनको नेत्र मिले, फिर वह गौतम नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ५६ ॥ हे अर्जुन ! इस प्रकार देवता और महात्मा ऋषियोंको वरदान देने वाला केशव नाम उत्पन्न हुआ है ॥५७॥ अग्नि (जठराग्नि) और सोम (अन्न) एकत्रित होने पर (उदररूप) एक योनिको प्राप्त होने हैं इस लिये यह सब जगत् अग्नीषोममय कहलाता है ॥ ५८ ॥ और पुराणमें भी कहा है, कि-अग्नि और सोम एक योनिसे उत्पन्न हुए है, इस लिये देवता अग्निमुख कहलाते है अग्नि और सोम दोनों एक योनिसे उत्पन्न हुए हैं, इससे

भवति एकयोन्यात्मकावग्नीषोमौ देवाश्चाग्निमुखा इति । एकयोनित्वाच्च परस्परमर्हतो लोकान्धारयं इति ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४१ ॥

अर्जुन उवाच । अग्नीषोमौ कथं पूर्वमेकयोनी प्रवर्तितौ । एष मे संशयो जातस्तं छिंधि मधुसूदन ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । हन्त ते वर्तयिष्यामि पुराणं पाण्डुनन्दन । आत्मतेजोद्भवं पार्थ शृणुष्वैकमना मम ॥ २ ॥ संप्रक्षालनकालेतिक्रांते चतुर्युगसहस्रांते । अव्यक्ते सर्वभूतप्रलये सर्वभूतस्थावरजंगमे । ज्योतिर्धरणिवायुरहिते अन्धे तमसि जलैकार्णवे लोके ॥ ३ ॥ आप इत्येवं ब्रह्मभूतसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते ॥ ४ ॥ न वै राज्यां न दिवसे न सति नासति न व्यक्ते न चाप्यव्यक्ते व्यवस्थिते॥५॥एतस्यां व्यव

परस्पर योग्यता वाले है और लोकोंको धारण कर रहे हैं ॥५६॥ तीनसौ इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४१ ॥ छ ॥

अर्जुनने कहा कि हे मधुसूदन ! अग्नि तथा सोम पहिले एक पुरुषसे किस प्रकार उत्पन्न हुए थे, इस विषयमें मुझे सन्देह हुआ है, उसको आप दूर करिये ॥ १ ॥ श्रीभगवान्ने कहा, कि-हे पाण्डुपुत्र ! हे कुन्तीपुत्र ! मेरे तेजमेंसे एक पुराण उत्पन्न हुआ है, उसको मैं तुमसे कहूँगा, तू एकाग्र होकर सुन ॥ २ ॥ देवताओंके चार हजार युग बीत जाने पर प्रलयका समय आया तब स्थावर और जंगमरूप सब जगत्का अव्यक्तमें लय होगया, तेज पृथ्वी और वायुका नाश होगया, चारों ओर अन्धकार छागया और संपूर्ण जगत् जलमय होगया ॥ ३ ॥ अद्वितीय ब्रह्मरूप जल चारों ओर फैल गया ॥ ४ ॥ न रात्रि रही, न दिन रहा, न सत् रहा न असत् रहा, न व्यक्त रहा न अव्यक्त रहा ॥ ५ ॥ जगत्की ऐसी व्यवस्थाको देखकर उस समय भूत,

स्थायां नारायणगुणाश्रयादजरादमरादनिंद्रियादग्राह्यादसंभवात्स-त्यादहिंस्राल्ललामाद्विविधप्रवृत्तिविशेषाद्वैरादक्षयादमरादजराद-मूर्तितः सर्वव्यापिनः सर्वकर्तुः शाश्वतस्तमसः पुरुषः प्रादुर्भूतो हरिरव्ययः॥६॥निदर्शनमपि ह्यत्र भवति॥७॥ नासीदहो न रात्रिरासीन्न सदासीन्नासदासीत्तम एव पुरस्तादभवद्विश्वरूपम् । सा विश्वरूपस्य जननी हि एवमस्यार्थोऽनुभाष्यः ॥ ८ ॥ तस्येदानीं तमसः संभवस्य पुरुषस्य ब्रह्मयोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे स पुरुषः प्रजाः सिसृक्षमाणो नेत्राभ्यामग्नीषोमौ ससर्ज । ततो भूतसर्गेषु सृष्टेषु प्रजा क्रमवशाद् ब्रह्मक्षत्रमुपातिष्ठत् । यः सोमस्तद् ब्रह्म यद् ब्रह्म ते ब्राह्मणा योऽग्निस्तत्क्षत्रं क्षत्राद् ब्रह्म बलवत्तरम् ।

अजर और अमर, इन्द्रियरहित, इन्द्रिय आदिसे जाननेमें न आने वाले, असम्भव, दयामय, चिन्तामणि रत्नरूप अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियोंके हेतुभूत, वैररहित अक्षय, अमर, अमूर्त, सर्वव्यापी,सर्वकर्ता और सनातन अन्धकाररूप नारायणका आश्रय करके रहनेवाले गुणोंमेंसे निर्विकार अविनाशी भगवान् हरि प्रकट हुए अर्थात् आत्मा अहंप्रत्ययको प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥ इस विषयमें श्रुतिका प्रमाण इस प्रकार है ॥ ७ ॥ न दिवस था, न रात्रि थी, न सत् था, न असत् था, परन्तु सर्वत्र विश्वमें अन्धकार ही पहिले फैला हुआ था, यह विश्वरूप (नारायण) की रात्रि थी, ऐसा इसका भाषामें अर्थ होता है ॥ ८ ॥ तममेंसे जो पुरुष उत्पन्न हुआ है, वह ब्रह्माका कर्ता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, तदनन्तर उस पुरुषको प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई तब उसने अपने नेत्रोंमेंसे अग्नि और सोमको उत्पन्न किया,तदनन्तर पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि करनेके पीछे प्रजाको उत्पन्न करते समय क्रमानुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय जातिको उत्पन्न किया, जो सोम है वह ही ब्रह्मका स्वरूप है और जो ब्रह्म है उसको ब्राह्मण

कस्मादिति लोकप्रत्यक्षगुणमेतच्चयथा । ब्राह्मणेभ्यः परं भूतं नोत्पन्नपूर्वं दीप्यमानेऽग्नौ जुहोति यो ब्राह्मणमुखे जुहोतीति कृत्वा ब्रवीमि भूतसर्गः कृतो ब्रह्मणा भूतानि च प्रतिष्ठाप्य त्रैलोक्यं धार्यत इति मन्त्रवादोऽपि हि भवति ॥ ९ ॥ त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितो देवानां मानुषाणां च जगत् इति ॥ १० ॥ निदर्शनं चात्र भवति विश्वेषामग्ने यज्ञानां त्वं होतेति त्वं हितो देवैर्मनुष्यैर्जगत् इति ॥११॥ अग्निर्हि यज्ञानां होता कर्ता स चाग्निर्ब्रह्म ॥ १२ ॥ न ह्यृते मन्त्राणां हवनमस्ति न विना पुरुषं तपः संभवति । हविर्मन्त्राणां संपूजा विद्यते देव मानुषऋषीणामनेन

जानना चाहिये और जो अग्नि है उसको क्षत्र (क्षत्रिय) समझना चाहिये, क्षत्रियोंसे ब्राह्मण विशेष बलवान् हैं (तू प्रश्न करेगा कि—) किस लिये ? तो इस प्रश्नका उत्तर यह है, कि—ब्राह्मणोंके गुण क्षत्रियोंसे अधिक हैं, यह बात लोकोंमें प्रत्यक्ष है, क्योंकि-ब्राह्मणोंसे उत्तम प्राणी पहिले उत्पन्न नहीं हुआ है, जो ब्राह्मणके मुखमें होम करता है, वह प्रज्वलित अग्निमें होम करता है, ऐसा शास्त्रमें कहा है, इससे मैं कहता हूँ, कि—ब्रह्माने प्राणियोंको उत्पन्न कर उनकी पालन आदिके द्वारा स्थिति करदी तथा तीनों लोकोंको धारण किया, इस विषयमें वेदके मंत्र भी इस प्रकार कहते हैं, कि ॥ ९ ॥ हे अग्ने ! तुम सब यज्ञोंके होता हो तथा सब देवताओंके, मनुष्योंके और जगत्के भी हितकर्ता हो ॥ १० ॥ इस विषयका प्रमाण इस प्रकार है "विश्वेषामग्ने यज्ञानां त्वं होतेति" हे अग्ने ! तुम सब यज्ञोंके होता हो, तथा तुम देवताओंके, मनुष्योंके तथा जगत्के हितकर्ता हो ॥ ११ ॥ क्योंकि-अग्नि यज्ञोंका होता तथा कर्ता (यजमान) है और वह अग्नि ब्राह्मणस्वरूप है ॥१२॥ मंत्रके विना हवन नहीं होता है और पुरुषके विना तप होना सम्भव नहीं है, देवता, मनुष्य

त्वं होतेति नियुक्तः । ये च मानुषहोत्राधिकारास्ते च ब्राह्मणस्य हि याजनं विधीयते । न क्षत्रवैश्ययोर्द्विजात्योस्तस्माद्ब्राह्मणा ह्यग्निभूता यज्ञानुद्वहन्ति । यज्ञास्ते देवांस्तर्पयन्ति देवाः पृथिवीं भावयन्ति शतपथेऽपि हि ब्राह्मणमुखे भवति ॥ १३ ॥ अग्नौ समिद्धे स जुहोति यो विद्वान् ब्राह्मणमुखेनाहुतिं जुहोति ॥ १४ ॥ एवमप्यग्निभूता ब्राह्मणा विद्वांसोऽग्निं भावयन्ति अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान्धारयन्ति ॥१५॥ अपि चात्र सनत्कुमारगीताः श्लोका भवन्ति । ब्रह्मा विश्वं सृजत्पूर्वं सर्वादिर्निरवस्करम् । ब्रह्मघोषैर्दिवं गच्छन्त्यमरा ब्रह्मयोनयः ॥१६॥ ब्राह्म-

---

और ऋषियोंकी पूजा मंत्रसहित हविषसे ही होती है, इस लिये हे अग्ने ! आपको होताके रूपमें नियत किया गया है, मनुष्योंमें होताका जो अधिकार है, वह ब्राह्मणोंका है, इससे दूसरोंको यज्ञ करानेका अधिकार भी ब्राह्मणजातिको है परन्तु द्विज क्षत्रिय अथवा वैश्य जातिको यज्ञ करानेका अधिकार नहीं है, इसलिये ब्राह्मण अग्निस्वरूप कहलाते हैं, वे यज्ञ करते हैं और वे यज्ञ देवताओंको तृप्त करते हैं और देवता पृथ्वीको धन धान्य वाली करते हैं, शतपथ ब्राह्मणमें भी कहा है, कि-ब्राह्मणके मुखमें होमनेसे देवता तृप्त होते हैं ॥१३॥ जो वेदवेत्ता पुरुष ब्राह्मणके मुखमें आहुति होमता है वह प्रज्वलित अग्निमें होम करता है१४ इस प्रकार विद्वान् ब्राह्मण अग्निरूप हैं और अग्नि उनका पालन करता है, अग्नि विष्णुका स्वरूप है और वह सब प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उनके प्राणोंको धारण करता है ॥ १५ ॥ इस विषयमें सनत्कुमारने नीचे लिखे श्लोक गाए हैं, कि-"ब्रह्मा ने विश्वको रचनेसे पहिले सबसे प्रथम परमपवित्र ब्राह्मणको उत्पन्न किया है और वे ब्राह्मण वेदका अध्यन कर अमर हो स्वर्गमें जाते हैं ॥ १६ ॥ जैसे एक स्त्रीका गौके दुग्धको धारण

णानां मन्त्रिवाक्यं कर्म श्रद्धा तपांसि च। धारयन्ति महीं द्यां च शैक्यो त्रागमृतं तथा ॥ १७ ॥ नास्ति सत्यात्परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः। ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतये १८ नैषामुक्षा वहति नोत वाहा न गर्गरो मथ्यति सम्प्रदाने। अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति येषां राष्ट्रे ब्राह्मणा वृत्तिहीनाः ॥१६॥ वेदपुराणेतिहासप्रामाण्यान्नारायणमुखोद्गताः। सर्वात्मानः सर्वकर्तारः सर्वभावाश्च ब्राह्मणाश्च ॥ २० ॥ वाक्संयमकाले हि तस्य वरप्रदस्य देवदेवस्य ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूता ब्राह्मणेभ्यश्च शेषवर्णाः प्रादुर्भूताः ॥ २१ ॥ इत्थं च सुरासुरविशिष्टा ब्राह्मणा य एव मया ब्रह्मभूतेन पुरा स्वयमेवोत्पादिताः सुरा-

करता है, तैसे ही ब्राह्मणोंकी बुद्धि, उनका वाक्य, कर्म, श्रद्धा और तप पृथ्वी तथा स्वर्गको धारण करते हैं ॥ १७ ॥ सत्यसे श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है, माताकी समान कोई गुरु नही है, मनुष्यका इस लोकमें तथा परलोकमें कल्याण करने वाला ब्राह्मणसे अधिक और कोई नहीं है ॥१८॥ जिस राज्यमें ब्राह्मण आजीविकारहित होते है, उस देशमें बैल हल नहीं चलाते हैं और गाड़ियोंको नहीं खेंचते और (घी) देने वाले पात्रमें रईसे नही बिलोया जाता और वे राजे निर्धन होकर डॉकूपन करने लगते हैं ॥ १६ ॥ वेद, पुराण और इतिहासके प्रमाणसे मालूम होता है, कि-सबके आत्मारूप, सबके कर्तारूप तथा सब पदार्थोंके भावरूप ब्राह्मण नारायणके मुखमेंसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २० ॥ वरदान देने वाले देवदेव जिस समय मौन हुए; उस समय प्रथम ब्राह्मण उत्पन्न हुए और ब्राह्मणोसे शेप वर्ण (क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र) उत्पन्न हुए हैं ॥ २१ ॥ इस प्रकार देवता और असुरोंसे ब्राह्मण श्रेष्ठ है, क्योंकि-मुझ ब्रह्मरूपने; उनको प्रथम उत्पन्न किया था और देवता, असुर तथा महर्षि आदि भूत-

सुरमहर्षयो भूतविशेषाः स्थापिता निगृहीताश्च ॥२२॥ अहल्याधर्षणनिमित्तं हि गौतमाद्धरिश्मश्रुतामिंद्रः प्राप्तः । कौशिकनिमित्तं चेन्द्रो मुष्कवियोगं मेषवृषणत्वं चावाप ॥ २३ ॥ अश्विनोर्ग्रहप्रतिषेधोद्यतवज्रस्य पुरंदरस्य च्यवनेन स्तंभितौ बाहू ॥ २४ ॥ क्रतुवधप्राप्तमन्युना च दक्षेण भूयस्तपसा चात्मानं संयोज्य नेत्राकृतिरन्या ललाटे रुद्रस्योत्पादिता ॥२५॥ त्रिपुरवधार्थं दीक्षामुपगतस्य रुद्रस्य उशनसा जटाः शिरस उत्कृत्य प्रयुक्तास्ततः प्रादुर्भूता भुजगास्तैरस्य भुजगैः पीड्यमानः कंठो नीलतामुपगतः । पूर्वे च मन्वंतरे स्वायंभुवे नारायणहस्तग्रहणान्नीलकण्ठत्वमेव च ॥२६॥ अमृतोत्पादनपुरश्चरणतामुपगतस्यांगिरसो बृहस्पतेरुपस्पृशतो न

विशेषोंको उसके अधिकार पर नियत किया था और उनको शिक्षा भी दी थी ॥ २२ ॥ अहल्याके साथ संघर्षण करनेसे गौतमने इन्द्रको शाप देकर हरी मूछों वाला बना दिया था और कौशिकके शापसे उसके अण्डकोष जाते रहे थे और उसके मेषके अण्डकोश लगगए थे ॥ २३ ॥ अपना यज्ञका भाग लेनेको तयार हुए अश्विनीकुमारोंके ऊपर वज्र उठानेवाले इन्द्र के दोनों हाथोंको च्यवनने स्तंभित करदिया था ॥ २४ ॥ अपने यज्ञका नाश होनेसे क्रोधमें भर कर दक्षके तप करने लगने पर रुद्रके मस्तकमेंसे तीसरा नेत्र उत्पन्न हुआ था ॥ २५ ॥ त्रिपुरासुरका वध करनेकी दीक्षा लेनेपर रुद्रके सामने शुक्राचार्यने अपने मस्तक परसे जटा उखाड़कर फैंकी थी,उनसे सर्प उत्पन्न होगए थे उन-सर्पोंके पीड़ा देनेपर रुद्रका कण्ठ नीला पड़गया था तथा पहिले स्वायंभुव-नामक मन्वन्तरमें नारायणने रुद्रके कण्ठको अपने हाथसे पकड़ा था, इससे उनका कण्ठ नीले वर्णका होगया है २६ अमृत उत्पन्न करनेके लिये पुरश्चरण करनेको बैठे हुए बृहस्पतिके (आचमनके लिये) स्पर्श करने परभी जल निर्मल नहीं हुआ,

प्रसादं गतवत्यः किलापः । अथ बृहस्पतिरपां चुक्रोध, यस्मान्म-
मोपस्पृशतः कलुषीभूता न च प्रसादमुपगतास्तस्मादद्य प्रभृति
झषमकरकच्छपजन्तुभिः कलुषीभवितेति । तदा प्रभृत्यापो या-
दोभिः संकीर्णाः संप्रवृत्ताः ॥ २७ ॥ विश्वरूपो हि वै त्वाष्ट्रः
पुरोहितो देवानामासीत् । स्वस्रीयोऽसुराणां स प्रत्यक्षं देवेभ्यो
भागमदात्परोक्षमसुरेभ्यः ॥२८॥ अथ हिरण्यकशिपुं पुरस्कृत्य
विश्वरूपमातरं स्वसारमसुरा वरमयाचंत हे स्वसरयं ते पुत्रस्त्वाष्ट्रो
विश्वरूपस्त्रिशिरा देवानां पुरोहितः प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात्
परोक्षमस्माकं ततो देवा वर्धन्ते वयं क्षीयामस्तदेनं त्वं वारयितु-
मर्हसि तथा यथास्मान्भजेदिति ॥ २९ ॥ अथ विश्वं नन्दनवन-

तब बृहस्पतिने जलपर क्रोध किया और कहने लगे, कि–मैं
आचमन करनेको था, तबभी तू निर्मल नहीं हुआ परन्तु मलिन
ही,रहा, अतः आजसे मछली, मगर, मच्छ और कछुए आदि
प्राणियोंसे तू मलिन रहा करेगा, उस दिनसे जल जलचरोंसे भरा
हुआ रहने लगा२७त्वष्टाका पुत्र विश्वरूप देवताओंका पुरोहित
था, वह असुरोंका भानजा लगता था, अतः एव वह यज्ञमें
देवताओंको प्रत्यक्षरीतिसे भाग देता था और असुरोंको गुप्तरीति
से भाग देता था, ॥ २८ ॥ इसके पीछे हिरण्यकशिपुको आगे
करके विश्वरूपकी माता अर्थात् अपनी बहिनके पास असुर गए
और उससे वर माँगा, कि–हे बहिन ! तीन सिर वाला तेरा और
त्वष्टाका पुत्र विश्वरूप देवताओंका पुरोहित है, वह देवताओंको
प्रत्यक्षरीतिसे भागदेता है और हमको परोक्षरीतिसे (छिपकाकर)
भागदेता है इससे देवताओंकी वृद्धि होती है और हमारा क्षय
होता है अतः उसको ऐसा करनेसे रोकना चाहिये और वह जिस
प्रकार हमारा भजन करे वैसा करना चाहिये" ॥ २९ ॥ इसके
अनन्तर विश्वरूप जब नन्दनवनमें था, उससमय उसकी माताने

मुपगतं मातोवाच पुत्र किं परपक्षवर्धनस्त्वं मातुलपक्षं नाशयसि। नार्हस्येवं कर्तुमिति स विश्वरूपो मातुर्वाक्यमनतिक्रमणीयमिति मत्वा संपूज्य हिरण्यकशिपुमगात् ॥३०॥ हैरण्यगर्भाच्च वसिष्ठा-द्धिरण्यकशिपुः शापं प्राप्तवान् यस्मात्त्वयाऽन्यो वृतो होता तस्मा-दसमाप्तयज्ञस्त्वमपूर्वात् सत्त्वजाताद्वधं प्राप्स्यसीति तच्छापदाना-द्धिरण्यकशिपुः प्राप्तवान् वधम् ॥ ३१ ॥ अथ विश्वरूपो मातृ-पक्षवर्धनोऽत्यर्थं तपस्यभवत् तस्य व्रतभंगार्थमिन्द्रो बह्वीः श्री-मत्योऽप्सरसो नियुयोज ताश्च दृष्ट्वा मनः क्षुभितं तस्याभवत् तासु चाप्सरःसु न चिरादेव सक्तोऽभवत् सक्तं चैनं ज्ञात्वा अप्सरस ऊचुर्गच्छामहे वयं यथागतमिति ॥ ३२ ॥ तास्त्वाष्ट्र उवाच। क्क

उससे कहा कि–हे पुत्र ! तू शत्रुपक्षकी वृद्धि और मामाके पक्षका नाश क्यों करता है ? ऐसा करना तुझे उचित नहीं है, तब वह विश्वरूप माताके वचनको मानकर हिरण्यकशिपुके पास गया ३० इससे हिरण्यगर्भके पुत्र वशिष्ठजीने हिरण्यकशिपुको शाप दिया, कि–"तूने यज्ञमें दूसरेको होता बनाया है,इससे तेरा यज्ञ पूर्ण नहीं होगा और कोई अपूर्व प्राणी तेरा नाश करेगा" इस कारण हिरण्यकशिपुका (नरसिंहसे) नाश हुआ ॥ ३१ ॥ इधर विश्वरूप माताके पक्षको बढ़ानेके लिए महातप करनेलगा, इससे इन्द्रने उसके व्रतको तोड़नेके लिये बहुतसी सुन्दर अप्सराएँ उसके पास भेजीं,उनअप्सराओंको देखकर उसके मनमें क्षोभ हुआ और थोड़े ही समयमें विश्वरूप उन अप्सराओं पर आसक्त होगया, विश्वरूपको आसक्त हुआ जान कर अप्सराएँ बोली, हम जैसे आई हैं, तैसे ही अब लौट चलें ॥ ३२ ॥ विश्वरूपने उनसे बूझा, कि–"कहाँ जाओगी ? मेरे पास बैठो, तुम्हारा कल्याण होगा" अप्सराओंने उत्तर दिया, कि–हम देवाङ्गना अप्सराएँ हैं और पहिले महाप्रभाव वाले इन्द्रको हमने

गमिष्यथास्यतां तावन्मया सह श्रेयो भविष्यतीति तास्तमब्रुवन् वयं देवस्त्रियोऽप्सरस इन्द्रं देवं वरदं पुरा प्रभविष्णुं वृणीमह इति ॥ ३३ ॥ अथ ता विश्वरूपोऽब्रवीदद्यैव सेन्द्रा देवा न भविष्यन्तीति ततो मंत्रान् जजाप तैर्मंत्रैरवर्धत त्रिशिरा एकेनास्येन सर्वलोकेषु यथावद् द्विजैः क्रियावद्भिर्यज्ञेषु सुहुतं सोमं पपावेकेनान्नमेकेन सेन्द्रान्देवानथेन्द्रस्तं विवर्धमानं सोमपानाप्यायितसर्वगात्रं दृष्ट्वा चिन्तामापेदे सह देवैः ॥ ३४ ॥ ते देवाः सेन्द्रा ब्रह्माणमभिजग्मुस्त ऊचुर्विश्वरूपेण सर्वयज्ञेषु सुहुतः सोमः पीयते वयमभागाः संवृत्ता असुरपक्षो वर्धते वयं क्षीयामस्तदर्हसि नो विधातुं श्रेयोऽनंतरमिति ॥ ३५ ॥ तान् ब्रह्मोवाच ऋषिर्भार्गव-

---

वर लिया है ॥ ३३ ॥ तब विश्वरूपने उन अप्सराओंसे कहा, कि–"आज ही इन्द्रसहित देवता न रहेंगे" ऐसा कह कर विश्वरूप मंत्रोंका जप करने लगा, और उन मंत्रोंके बलसे त्रिशिरा (विश्वरूप) बढ़ने लगा और कर्म करने वाले ब्राह्मणोंके हाथ से सब लोकोंके यज्ञोंमें अच्छी प्रकार होमे हुए सोमका एक मुखसे पान करने लगा और दूसरे मुखसे यज्ञमें होमे हुए अन्न का भक्षण करने लगा और तीसरे मुखसे इन्द्रसहित सब देवताओंका भक्षण करनेको उद्यत होगया इन्द्र और देवता विश्वरूपको नित्य बढ़ता हुआ और सोमपान करनेसे उसके सब शरीरको हृष्टपुष्ट हुआ देख कर चिन्ता करने लगे ॥ ३४ ॥ फिर देवता इन्द्रको साथमें लेकर ब्रह्माजीके पास गए और कहने लगे, कि–"यज्ञमें होमे हुए सोमको विश्वरूप पिये जाता है और हम भाग्यहीन होगए हैं तथा असुरपक्ष बढ़ता जाता है और हमारा क्षय होता जाता है, अतः आपको हमारा बिना विलम्ब कल्याण करना चाहिये" ॥ ३५ ॥ ब्रह्माजीने कहा, कि–भृगुके वंशके दधीचि ऋषि तप कर रहे हैं, उनसे तुम वर

स्तपस्तप्यते दधीचः स याच्यतां वरं स यथा कलेवरं जह्यात् तथा विधीयतां तस्यास्थिभिर्वज्रं क्रियतामिति ॥ ३६ ॥ ततो देवास्तत्रागच्छन् यत्र दधीचो भगवानृषिस्तपस्तेपे सेन्द्रा देवास्तं तथाभिगम्योचुर्भगवंस्तपः सुकुशलमभिन्नं चेति ॥ ३७ ॥ तान् दधीच उवाच। स्वागतं भवद्भ्य उच्यतां क्रियतामिति यद्वक्ष्यथ तत्करिष्यामि ॥ ३८ ॥ ते तमब्रुवन् शरीरपरित्यागं लोकहितार्थं भगवान्कर्तुमर्हतीति ॥३९॥ अथ दधीचस्तथैवाविमनाः सुखदुःख-समो महायोगी आत्मानं समाधाय शरीरपरित्यागं चकार ४० तस्य परमात्मन्यपसृते तान्यस्थीनि धाता संगृह्य वज्रमकरोत् न वज्रेणाभेद्येनाप्रधृष्येण ब्रह्मास्थिसंभूतेन विष्णुप्रविष्टेनेंद्रो विश्व-

माँगो और वह जिस प्रकार अपने शरीरको त्याग दें, ऐसा उपाय करो, फिर तुम उनकी हड्डोसे वज्र बनाना ॥ ३६ ॥ तब देवता जहाँ पर भगवान् दधीचि ऋषि तप करते थे तहाँ गए फिर इन्द्रसहित देवताओंने ऋषिके पास जाकर उनसे बूझा, कि-हे भगवन् ! आपका तप निर्विघ्न तथा अविच्छिन्न रीतिसे चलता है क्या ? ॥ ३७ ॥ दधीचि ऋषिने उनसे कहा, कि-"तुम भले आये, मैं तुम्हारा क्या काम करूँ? तुम जो कुछ कहोगे वह मैं करूँगा" ॥ ३८ ॥ देवताओंने उनसे कहा, कि-आपको लोकोंका हित करनेके लिये अपने शरीरको त्याग देना चाहिये ३९ तदनन्तर दधीचि ऋषि कि-जो सुख और दुःखको समान मानने वाले थे और महायोगी थे, वे मनमें खिन्न न हुए, उन्होंने अपने मनको परमात्मामें लगाकर अपने शरीरको त्याग दिया।४० दधीचि ऋषिके परमात्मामें लीन होने पर ब्रह्माने उनकी अस्थि-योंमेंसे एक वज्र बनाया, वह ब्राह्मणकी अस्थियोंमेंसे तयार किया हुआ वज्र अभेद्य और अप्रधृष्य था, उस वज्रमें विष्णुने प्रवेश किया और उससे इन्द्रने विश्वरूपको मारा, इन्द्रने विश्व-

रूपं जघान शिरसां चास्यच्छेदनमकरोत् तस्मादनंतरं विश्वरूप-गात्रमथनसंभवं त्वाष्ट्रोत्पादितमेवारिं वृत्रमिंद्रो जघान ॥ ४१ ॥ तस्यां द्वैधीभूतायां ब्रह्मवध्यायां भयादिंद्रो देवराज्यं पर्यत्यजदप्सु संभवां च शीतलां मानससरोगतां नलिनीं प्रतिपेदे तत्र चैश्वर्ययोगादणुमात्रो भूत्वा बिसग्रन्थिं प्रविवेश ॥ ४२ ॥ अथ ब्रह्मवध्याभयप्रनष्टे त्रैलोक्यनाथे शचीपतौ जगदनीश्वरं बभूव देवान् रजस्तमश्चाविवेश मन्त्रा न प्रावर्तन्त महर्षीणां रक्षांसि प्रादुरभवन् ब्रह्म चोत्सादनं जगामानिंद्राश्चाबला लोकाः सुप्रधृष्या बभूवुः ॥ ४३ ॥ अथ देवा ऋषयश्चायुषः पुत्रं नहुषं नाम देवदेवराज्येऽभिषिषिचुर्नहुषः पञ्चभिः शतैर्ज्योतिषां ललाटे ज्वलद्भिः सर्वतेजोहरैस्त्रिविष्टपं पालयांबभूव ॥ ४४ ॥ अथ लोकाः प्रकृति-

---

रूपका मस्तक काटडाला, फिर त्वष्टाने उसके शरीरको मथ कर उसमेंसे इन्द्रके शत्रुरूप वृत्रको उत्पन्न किया, उसको भी इन्द्रने मार डाला ॥ ४१ ॥ इस प्रकार दुगनी ब्रह्महत्या होनेके भयसे इन्द्र स्वर्गके राज्यको छोड कर मानसरोवरके जलमें उत्पन्न हुए शीतल कमलकी नालके पास गया और तहाँ अपने ऐश्वर्यसे अणुकी समान होकर कमलकी नालकी गाँठमें घुस गया ॥४२॥ ब्रह्महत्याके भयसे इन्द्राणीका पति और तीनों लोकोंका राजा इन्द्र भाग गया तब जगत् राजारहित होगया, राजसिक और तामसिक गुणोंने देवताओंमें प्रवेश किया, महर्षियोंके मंत्र अपना काम करनेमें अशक्त होगए, राक्षस उत्पन्न होगए, ब्रह्मविद्या नाश होनेकी अनीपर आलगी, लोक इन्द्ररहित होनेसे निर्बल होगए और भली प्रकार पराजय पाने योग्य हो गए ॥ ४३ ॥ तब देवताओंने और ऋषियोंने आयुषके पुत्र नहुषका देवताओंके राज्यासन पर अभिषेक किया, जिसके मस्तकपर सबका तेज हरनेवाले दमकते हुए पाँचसौ रत्न थे, वह राजा नहुष स्वर्गका

मापेदिरे स्वस्थाश्च हृष्टाश्च बभूवुः ॥ ४५ ॥ अथोवाच नहुषः सर्वं मां शक्रोपभुक्तमुपस्थितमृते शचीमिति स एवमुक्त्वा शचीसमीपमगमदुवाचैनां सुभगेऽहमिंद्रो देवानां भजस्व मामिति तं शची प्रत्युवाच प्रकृत्या त्वं धर्मवत्सलः सोमवंशोद्भवश्च नार्हसि परपत्नीधर्षणं कर्तुमिति ॥४६॥ तामथोवाच नहुष ऐन्द्रं पदमध्यास्यते मयाऽहमिंद्रस्य राज्यरत्नहरो नात्राधर्मः कश्चित्त्वमिंद्रोपभुक्तेति सा तमुवाचास्ति मम किंचिद्व्रतमपर्यवसितं तस्यावभृथे त्वामुपगमिष्यामि कैश्च देवाहोभिरिति स शच्यैवमभिहितो जगाम ॥४७॥ अथ शची दुःखशोकार्ता भर्तृदर्शनलालसा नहुषभयगृहीता बृहस्पतिमुपागच्छत् स च तामत्युद्विग्नां दृष्ट्वैव ध्यानं

पालन करने लगा४४तब प्रजा अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुई, स्वस्थ हुई और हर्षित हुई ॥ ४५ ॥ तदनन्तर नहुष बोला, कि-"(इन्द्रकी स्त्री) शचीके अतिरिक्त और इंद्रके उपभोगकी सब वस्तुएँ मुझे मिली हैं, यह कहकर वह शचीके पास गया और उससे कहा, कि-हे सुभगे ! मैं देवताओंका इन्द्र हूँ अतः तू मेरी सेवा कर" शचीने उत्तर दिया, कि-"तुम स्वभावसे ही धर्मवत्सल हो और चन्द्रवंशमें उत्पन्न हुएहो अतः परस्त्रीका धर्षण करना तुम्हें उचित नहीं है" ॥ ४६ ॥ तब नहुषने उस स्त्रीसे, कि-मैं अब इन्द्रकी पदवी पर बैठा हूँ. इन्द्रके राज्य और रत्नोंका लेने वाला हूँ अतः इस विषयमें किसी प्रकारका भी अधर्म नहीं है क्योंकि-तूभी इन्द्रकी भोगसमग्रीमें की एक है ,, यह सुनकर शची ने नहुषसे कहा, कि"मेरा एक व्रत अपूर्ण रहा है उस व्रतका अवभृथ स्नान करके थोड़े दिनमें तेरे पास आऊँगी "शचीके इस वचनको सुनकर नहुष तहाँसें चलागया ॥ ४७ ॥ तदनन्तर दुःख और शोकसे पीड़ा पाती हुई, अपने भर्ताके दर्शनकी लालसावाली और नहुषके भयसे व्याकुल हुई शची बृहस्पति

प्रविश्य भर्तृकार्यतत्परां ज्ञात्वा बृहस्पतिरुवाचानेनैव व्रतेन तपसा चान्विता देवीं वरदामुपश्रुतिमाह्वय तदा सा ते इन्द्रं दर्शयिष्यतीति साथ महानियमस्थिता देवीं वरदामुपश्रुतिं मन्त्रैराह्वयति सोपश्रुतिः शची समीपमगादुवाच चैनामियमस्मीति त्वयाहूतोपस्थिता किं ते प्रियं करवाणीति तां मूर्ध्ना प्रणम्योवाच शची भगवत्यर्हसि मे भर्तारं दर्शयितुं त्वं सत्या ऋता चेति सैनां मानसं सरोऽनयत्तत्रेंद्रं बिसग्रन्थिगतमदर्शयत् ॥ ४८ ॥ तामथ पत्नीं कृशां ग्लानां चेन्द्रो दृष्ट्वा चिंतयांबभूव अहो मम दुःखमिदमुपगतं नष्टं हि मामियमन्विष्य यत्पत्न्यभ्यगमद्द दुःखार्तेति तामिंद्र उवाच । कथं वर्त-

के पास गई, बृहस्पतिने इन्द्राणीको अत्यंत उद्विग्न देखकर ध्यान धरा तो उनको प्रतीत हुआ, कि-अपने पतिका कार्य सुधारने में वह तत्पर है, यह समझकर बृहस्पतिने इन्द्राणीसे कहा कि-आजकल तू जिस व्रतका पालन कररही है,उस व्रत और तपसे युक्त होकर, वरदान देने वाली उपश्रुति नामकी देवीका आह्वान कर, वह तुझे इन्द्रका दर्शन करावेगी यह सुनकर शचीने महानियमको धारण किया और मन्त्रोंसे वरदान देने वाली देवी उपश्रुतिका आह्वान किया तब उपश्रुतिदेवी शचीके पास आकर कहने लगी, कि-"तेरे बुलानेसे मैं तेरे पास आई हूं, मैं तेरा क्या प्रिय कार्य करूं" शचीने उस देवीको मस्तक झुकाकर प्रणाम करके कहा, कि-हे भगवति ! तुम सत्य हो ! तुम ऋत हो ! अतः तुम्हें मेरे स्वामीका मुझे दर्शन कराना उचित है, तब उपश्रुति शचीको मानसरोवर पर लेगई और वहाँ इन्द्र कमलकी नालमें बैठा हुआ था, उसको दिखाया ॥ ४८ ॥ इन्द्र अपनी पत्नी इन्द्राणीको कृश हुई और खिन्न हुई देख कर विचारने लगा, कि-' अरेरे ! मेरा दुःख इसको इतना अखरा, कि-दुःखसे पीड़ा पातीर, मुझ लापतेको यह ढूंढती २ यहाँ आपहुंची

यसीति सा तमुवाच नहुषो मामाह्वयति पत्नीं कर्तुं कालश्चास्य मया कृत इति तामिंद्र उवाच गच्छ नहुषस्त्वया वाच्योऽपूर्वेण मायृषियुक्तेन त्वमधिरूढ उद्वहस्वेति इन्द्रस्य महांति वाहनानि संति मनःप्रियाण्यधिरूढानि मया त्वमन्येनोपयातुमर्हसीति सैव-मुक्ता हृष्टा जगामेंद्रोऽपि बिसग्रन्थिमेवाविवेश भूयः ॥४९॥ अथें-द्राणीमभ्यागतां दृष्ट्वा तामुवाच नहुषः पूर्णः स काल इति तं शच्य-ब्रवीच्छक्रेण यथोक्तं स महर्षियुक्तं वाहनमधिरूढः शचीसमीपमुपा-गच्छत्॥५०॥अथ मैत्रावरुणिः कुम्भयोनिरगस्त्य ऋषिवरो महर्षीन् विक्रियमाणांस्तान्नहुषेणापश्यत पद्भ्यां च तमस्पृशत् ततः स नहुषमब्रवीदकार्यप्रवृत्त पाप पतस्व महीं सर्पो भव यावद्भूमिर्गिर-यश्च तिष्ठेयुस्तावदिति स महर्षिवाक्यसमकालमेव तस्माद्यानादवाप-

---

है' यह विचार कर इन्द्रने इन्द्राणीसे कहा, कि-'तू किस प्रकार अपना जीवन विताती है' इन्द्राणीने कहा,कि-नहुष मुझे अपनी पत्नी बनानेके लिये बुलाता है और मैंने उससे समय माँग लिया है,' तदनन्तर इन्द्रने इन्द्राणीसे कहा, कि-'तू जा और नहुषसे कह' कि-तू ऋषियोंके उठाये हुए अपूर्व यानमें बैठकर मुझे विवाहनेके लिये आ, इन्द्रके बड़े-२ वाहन हैं उनमें तो मैं बैठी हूँ; अतः अब तुम्हें किसी नये ही वाहनमें बैठकर आना उचित है इस प्रकार इन्द्रने कहा, तब इन्द्राणी प्रसन्न होकर स्वर्गमें गई और फिर इन्द्र भी कमलकी गाँठमें बैठ गया ॥ ४९ ॥ इन्द्राणी को स्वर्गमें लौटती हुई देखकर नहुषने उससे कहा, कि-'तेरा कहा हुआ समय पूरा होगया है' तब इन्द्राणीने इन्द्रके कहनेके अनुसार कहा, तब नहुष महर्षियोंसे जुते हुए विमानमें बैठकर शचीके पासको चला ॥ ५० ॥ इसके पीछे मित्रावरुणके पुत्र और कुम्भमेंसे उत्पन्न हुए ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्यने नहुषको महर्षियों को धिक्कार देतेहुए देखा इसी समय नहुषने अपने दोनों चरणों

तत् ५१ अथानिन्द्रं पुनस्त्रैलोक्यमभवत् ततो देवा ऋषयश्च भगवन्तं विष्णुं शरणमिन्द्रार्थेऽभिजग्मुरूचुश्चैनं भगवन्निन्द्रं ब्रह्महत्याभिभूतं त्रातुमर्हसीति ततः स वरदस्तानब्रवीदश्वमेधं यज्ञं वैष्णवं शक्रोऽभियजतां ततः स्वस्थानं प्राप्स्यतीति ततो देवा ऋषयश्चेन्द्रं नापश्यन् यदा तदा शचीमूचुर्गच्छ सुभगे इन्द्रमानयस्वेति सा पुनस्तत्सरः समभ्यगच्छदिन्द्रश्च तस्मात्सरसः प्रत्युत्थाय बृहस्पतिमभिजगाम बृहस्पतिश्चाश्वमेधं महाक्रतुं शक्रायाहरत् तत्र कृष्णसारंगं मेध्यमश्वमुत्सृज्य वाहनं तमेव कृत्वा इन्द्रं मरुत्पतिं बृहस्पतिः स्वं स्थानं प्रापयामास ॥ ५२ ॥ ततः स देवराट् देवैर्ऋषिभिः स्तूयमान-

से अगस्त्यका स्पर्श किया, इससे अगस्त्यने कहा, कि–हे अकार्य करनेमें प्रवृत्त हुए पापिन् ! जा पृथ्वी पर गिर जा और जब तक पृथ्वी और पर्वत रहें तब तक तू सर्पकी योनिमें रह महर्षि के ऐसा कहते ही नहुष वाहनमेंसे नीचे गिर पड़ा ॥ ५१ ॥ तब फिर तीनों लोक इन्द्ररहित होगये, तब देवता और ऋषि इन्द्रके लिये भगवान्की शरणमें गये और उनसे कहने लगे, कि–'ब्रह्महत्यासे दुःखी हुए इन्द्रकी आपको रक्षा करनी चाहिये'. यह सुनकर वरदान देनेवाले भगवान्ने ऋषि और देवताओंसे कहा, कि–'इन्द्र विष्णुके निमित्त अश्वमेध नामक यज्ञको करे, तब उसको उसका स्थान मिलेगा' तदनन्तर देवताओंने और ऋषियोंने इन्द्रका पता लगाया तब भी वह उनके देखनेमें नहीं आया, तब उन्होंने इन्द्राणीसे कहा, कि–हे इन्द्राणि ! तू इन्द्रको बुला ला तब वह मानसरोवर पर गई और इन्द्र सरोवरमेंसे बाहर निकल कर बृहस्पतिजीके पास गया बृहस्पतिने इन्द्रसे अश्वमेध नामक महायज्ञ कराया और उस यज्ञमें कृष्णसारंग जातिके अश्वको छोड़कर उसकोही (इन्द्रका) वाहन बनाया और मरुत्पति इन्द्रको उसके पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ ५२ ॥ तदनन्तर पापरहित हुए इन्द्र

त्रिविष्टपस्थो निष्कल्मषो बभूव ह ब्रह्मवध्यां चतुर्षु स्थानेषु वनिताग्निवनस्पतिगोषु व्यभजदेवमिन्द्रो ब्रह्मतेजःप्रभावोपबृंहितः शत्रुवधं कृत्वा स्वं स्थानं प्रापितः ॥ ५३ ॥ आकाशगंगागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिरुपास्पृशत्त्रीन् क्रमान् क्रमता विष्णुनाभ्यासादितः स भरद्वाजेन ससलिलेन पाणिनोरसि ताडितः सलक्षणोरस्कः संवृत्तः ॥ ५४ ॥ भृगुणा महर्षिणा शप्तोग्निः सर्वभक्षत्वमुपानीतः ॥ ५५ ॥ अदितिर्वै देवानामन्नमपचदेतद्भुक्त्वाऽसुरान् हनिष्यन्तीति तत्र बुधो व्रतचर्यासमाप्तावागच्छददितिं चावोचद्भिक्षां देहीति तत्र देवैः पूर्वमेतत्प्राश्यं नान्येनेत्यदितिर्भिक्षां नाददथ भिक्षाप्रत्याख्यानरुषितेन बुधेन ब्रह्मभूतेनादितिः शप्ता

की देवता और ऋषि स्तुति करने लगे और वह स्वर्गमें रहने लगा और अपनी ब्रह्महत्याको स्त्री, अग्नि, वनस्पति और गौओं में बाँटदिया, इसप्रकार इन्द्र ब्राह्मणके तेजके प्रभावसे वृद्धि पाकर और शत्रुओंका नाशकरके अपनी राजधानीमें गया ॥ ५३ ॥ पहिले महर्षि भरद्वाज आकाशगंगामें स्नान कररहे थे उस समय तीन पैर धरने वाले विष्णुने उनको पकड़लिया तब भरद्वाजने हाथमें जल लेकर विष्णुके हृदयपर प्रहार किया, इससे विष्णुके हृदयमें एक चिन्ह होगया ॥ ५४ ॥ महर्षि भृगुके शाप देनेसे अग्नि सर्वभक्षीपनेको प्राप्त हुआ था ॥ ५५ ॥ मेरे पुत्र (देवता) भोजन करके असुरोंको मारेंगे इस लिये अदिति भोजन बना रही थी, इतनेमें ही बुध अपना व्रत समाप्त करके तहाँ आये और अदितिसे कहा कि-"मुझे भिक्षा दो" परन्तु यह अन्न पहिले देवताओंके खानेका है, दूसरेके खानेका नहीं है, यह कहकर अदितिने बुधको भिक्षा नहीं दी, भिक्षा न देने पर ब्रह्मभूत हुए बुधको क्रोध आगया और उन्होंने अदितिको शाप दिआ, कि-विवस्वान्के दूसरे जन्ममें अदितिके उदरमें पीड़ा होगी, अरह जिनकी संज्ञा

अदितेरुदरे भविष्यति व्यथा विवस्वतो द्वितीयजन्मन्यंडसंज्ञितस्य अंडं मातुरदित्या मारितं स मार्तंडो विवस्वानभवच्छ्राद्धदेवः॥५६॥ दक्षस्य या वै दुहितरः षष्टिरासंस्ताभ्यः कश्यपाय त्रयोदश प्रादाद्दश धर्माय दश मनवे सप्तविंशतिमिंदवे तासु तुल्यासु नक्षत्राख्यां गतासु सोमो रोहिण्यामभ्यधिकं प्रीतिमानभूत् ततस्ताः शिष्टाः पत्न्य ईर्ष्यावत्यः पितुः समीपं गत्वेममर्थ शशंसुर्भगवन्न-स्मासु तुल्यप्रभावासु सोमो रोहिणीं प्रत्यधिकं भजतीति सोऽब्र-वीद्यक्ष्मैनमाविश्यतेति दक्षशापात्सोमं राजानं यक्ष्मा विवेश स यक्ष्मणाविष्टो दक्षमगाद्दक्षश्चैनमब्रवीन्न समं वर्तयसीति तत्रर्षयः सोममब्रुवन् क्षीयसे यक्ष्मणा पश्चिमायां दिशि समुद्रे हिरण्य-

है, ऐसे उनके अण्डको अदिति (माता) के मारने (तोड़नेसे) श्राद्धमें पूजित विवस्वान्का मार्तण्ड नाम हुआ ॥ ५६ ॥ प्रजापति दक्षके साठ पुत्रियें थी, उनमेंसे कश्यपको तेरह, धर्मको दश, मनुको दश और चन्द्रमाको सत्ताईस कन्याएँ विवाही गई थीं, नक्षत्रों के नामसे प्रसिद्ध समान रूप गुणवाली उन सत्ताईस कन्याओंमें से रोहिणीपर चन्द्रमा सबसे अधिक प्रीति रखता था, इससे दूसरी सब स्त्रियें ईर्षा करके पिताके पास गई और उनसे कहा, कि-हे भगवन्! हम सब समान प्रभाव वाली है, तब भी चन्द्रमा रोहिणीपर अधिक प्रीति रखता है, यह सुनकर उनके पिता दक्षने शापदिया, कि "चन्द्रमाको क्षयरोग होजावेगा,, दक्षके शापसे बलवान् चद्रमाको क्षयरोग होगया, क्षयके आरंभ होतेही चन्द्रमा दक्षके पास गया तब दक्षने कहा, कि-तेरे समान भावसे वर्ताव न करने का यह फल है, तदनन्तर ऋषियोंने सोमसे कहा कि-तू क्षयरोगसे क्षीण होरहा है अतः पश्चिम समुद्रके तटपर हिरण्य-सर नामक तीर्थमें जा और उसके जलसे अपना अभिषेककर यह सुनकर चन्द्रमा हिरण्यसर नामक तीर्थमें गया और अपने शरीर

सरस्तीर्थं तत्र गत्वा आत्मानमभिषेचयस्वेत्यथागच्छत् सोमस्तत्र हिरण्यसरस्तीर्थं गत्वा चात्मनः सेचनमकरोत् स्नात्वा चात्मानं पाप्मनो मोक्षयामास तत्र चावभासितस्तीर्थे यदा सोमस्तदा प्रभृति च तीर्थं तत्प्रभासमिति नाम्ना ख्यातं बभूव ॥ ५७ ॥ तच्छापादद्यापि क्षीयते सोमोऽमावास्यांतरस्थः पौर्णमासीमात्रेऽधिष्ठितो मेघलेखाप्रतिच्छन्नं वपुर्दर्शयति मेघसदृशं वर्णमगमत् तदस्य शशलक्ष्मविमलमभवत् ॥ ५८ ॥ स्थूलशिरा महर्षिर्मेरोः प्रागुत्तरे दिग्विभागे तपस्तेपे तपस्तस्य तपस्तप्यमानस्य सर्वगंधवहः शुचिर्वायुर्विचरमानः शरीरमस्पृशत् स तपसा तापितशरीरः कृशो वायुनोपवीज्यमानो हृदये परितोषमगमत् तत्र किल तस्यानिलव्यजनकृतपरितोषस्य सद्यो वनस्पतयः पुष्पशोभां निदर्शितवन्त इति स एतान् शशाप न सर्वकालं पुष्पवन्तो भविष्यथेति ॥५६॥

पर जलसे अभिषेक किया तथा स्नान करके अपनेको क्षयसे मुक्त किया, उस अवभासित (प्रसिद्ध) तीर्थमें जाकर सोमने स्नान किया, इससे वह तीर्थ लोकोंमें प्रभासतीर्थ नामसे प्रसिद्ध हुआ है५७दक्षके शापसे अब भी चन्द्रमा अमावस्या तक(कृष्णपक्षमें) क्षीण होता रहता है और पूर्णिमा तक बढता रहता है,उसका शरीर मेघकी लेखासे ढका हुआ दीखता है, मेघकी समान श्यामवर्णका होजाता है और उसके बिम्बमें शशका चिन्ह भी निर्मल होजाता है५८स्थूलशिरा नामक महर्षि पहिले मेरु पर्वत के ईशानकोणमें तप करते थे, उनके तप करते समय सब गंधों को वहन करता हुआ शुद्ध वायु बहता था उसने ऋषिके शरीर का स्पर्श किया,तप करनेसे तपे हुए शरीर वाले वह महर्षि कृश होगये थे, इससे पवनके स्पर्शसे वे हृदयमें सन्तुष्ट हुए,उस समय वनस्पतियोंने अपने पुष्पोंकी शोभा दिखाई, इससे मुनिने उन को शाप दिया, कि-तुम सब समय पुष्पोंवाले नहीं रहोगे॥५६॥

नारायणो लोकहितार्थं वडवामुखो नाम पुरा महर्षिर्बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यतः समुद्र आहूतो नागतस्तेनामर्षितेनात्मगात्रोष्मणा समुद्रः स्तिमितजलः कृतः स्वेदप्रस्यंदनसदृशश्चास्य लवणभावो जनितः ॥ ६० ॥ उक्तश्चाप्यपेयो भविष्यस्येतच्च ते तोयं वडवामुखसंज्ञितेन पेपीयमानं मधुरं भविष्यति तदेतदद्यापि वडवामुखसंज्ञितेनानुवर्तिना तोयं समुद्रात् पीयते ॥ ६१ ॥ हिमवतो गिरेर्दुहितरमुमां कन्यां रुद्रश्चकमे भृगुरपि च महर्षिर्हिमवन्तमागत्याब्रवीत् कन्यामिमां मे देहीति तमब्रवीद्धिमवानभिलषितो वरो रुद्र इति तमब्रवीद् भृगुर्यस्मात्त्वयाहं कन्यावरणकृतभावः प्रत्याख्यातस्तस्मान्न रत्नानां भवान्भाजनं भविष्यतीति ६२ अद्य प्रभृत्येतदवस्थितमृषिवचनं तदेवं विधं माहात्म्यं ब्राह्मणा-

पहिले नारायण लोकोंका हित करनेके लिये वडवामुख नामक महर्षि होकर मेरुपर्वत पर तप करते थे उस समय उन्होंने, समुद्र को अपने पास बुलाया, परन्तु वह नहीं आया, इससे उन्होंने क्रोधमें भरकर अपने शरीरकी गरमीसे समुद्रको स्थिर जलवाला बना दिया और पसीनेके स्वादकी समान खारी बना दिया ६० और समुद्रसे कहा, कि 'तू अपेय होजावेगा' परन्तु तेरे इस जलको वडवामुख नामक अग्नि पान करेगा तब मधुर होगा' उस दिनसे अभी तक वडवामुख नामक अग्नि समुद्रसे जल पीता है ॥ ६१ । हिमाचलकी कन्या उमाको विवाहनेके लिये शंकर की इच्छा हुई थी और महर्षि भृगुने भी हिमाचलके पास जाकर कहा कि-'अपनी कन्याका मेरे साथ विवाह कर' तब हिमाचल ने कहा, कि-उसका विवाह मैंने रुद्रके साथ करनेका विचार कर लिया है' तब भृगुने उससे कहा, कि तूने मुझ कन्याका वरण करनेके भाव वालेका अपमान किया है, इसलिये मैं तुझे शाप देता हूँ, कि-तू रत्नोंकी उत्पत्तिका स्थान न होगा' ॥ ६२ ॥

नाम् ॥ ६३ ॥ क्षत्रमपि च ब्राह्मणप्रसादादेव शाश्वतीमव्ययां च पृथिवीं पत्नीमभिगम्य बुभुजे ॥ ६४ ॥ यद्देतद्ब्रह्माग्नीषोमीयंते न जगद्धार्यते ॥६५॥ उच्यते सूर्यचन्द्रमसौ चक्षुः केशाश्चैवांशवः स्मृताः । बोधयंस्तापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक् ॥६६॥ बोधना- त्तापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् । अग्नीषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पांडुनन्दन । हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः ॥ ६७ ॥ इलोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्त- स्माद्धरिरहं स्मृतः ॥६८॥ धामसारो हि भूतानामृतं चैव विचा- रितम् । ऋतधामा ततो विप्रैः सत्यश्चाहं प्रकीर्तितः ॥६९॥ नष्टां

तबसे आज तक ऋषिके कथनानुसार हिमाचलमें रत्नोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, ब्राह्मणोंका माहात्म्य इस प्रकार है. क्षत्रिय जाति भी ब्राह्मणके प्रसादसे ही नित्य अविनाशी पृथ्वीको पत्नीकी समान ग्रहण करके उसका उपभोग करती है ॥ ६४ ॥ ब्राह्मणकी शक्ति अग्नि और सोमरूप है और वही शक्ति जगत् को धारण कर रही है ॥ ६५ ॥ सूर्य और चन्द्रमा परमात्माके नेत्ररूप कहलाते हैं और चन्द्रमा तथा सूर्यकी किरणें परमात्माके केश हैं, चन्द्रमा और सूर्य जगत्को जगाते हुए और तपाते हुए उदित होते हैं ॥६६॥ वे जगत्को तपाने और जगानेके कारण जगत्को हर्षित करनेवाले कहलाते हैं, हे पाण्डुके पुत्र ! अग्नि और सोमके किये ऐसे कर्मोंसे मैं हृषीकेश कहलाता हूँ ॥ ६७ ॥ मुझे यज्ञमें 'इलोपहूता सह दिवा' आदि मन्त्रोंसे निमन्त्रण दिया जाता है और मैं अपने भागको ग्रहण करता हूँ और मेरा रंग भी श्रेष्ठ हरा है इससे मैं 'हरि' कहलाता हूँ ॥६८॥ लोकों के बलको अथवा लोकोंके आधारको धाम कहते हैं तथा अप्रा- श्रित सत्ताको अथवा सत्यको ऋत कहते हैं, मैं अपराश्रित सत्ता वाला अथवा सत्यरूप स्थान वाला हूँ, इससे ब्राह्मण मुझे

च धरणीं पूर्वमविंदं वै गुहागताम् । गोविंद इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः ॥ ७० ॥ शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत् । तेनाविष्टं तु यत्किंचिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः ॥ ७१ ॥ यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् । शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥७२। स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः । मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥७३॥नहि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन । क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ॥ ७४ ॥ नोक्तपूर्वं मया क्षुद्रमश्लीलं वा कदाचन । ऋता ब्रह्मसुता सा मे सत्या देवी सरस्वती७५सच्चासच्चैव कौंतेय मय्यावेशितमात्मनि । पौष्करे ब्रह्मसदने सत्यं मामृषयो-

---

'ऋतधामा' कहते हैं ॥ ६९ ॥ पहिले गो अर्थात् पृथिवी जलमें डूब गई थी उसको मैं बाहर निकाल लाया था इससे देवता 'गोविन्द' कहकर वाणीसे मेरी स्तुति करते हैं ॥ ७० ॥ मेरे शिपिविष्ट नामकी व्याख्या इस प्रकार है, कि-शिपि अर्थात् रोमरहित प्राणीकी समान मैं निष्कल हूँ और उस शिपिरूपसे मैंने सारे जगत्में प्रवेश किया है इससे मैं शिपिविष्ट कहलाता हूँ ।७१। शान्त मन वाले यास्क नामक ऋषिने अनेक यज्ञोंमें मेरा शिपिविष्ट नामसे गायन किया है,इससे मैं शिपिविष्ट इस गुह्य नामको धारण करता हूँ ॥ ७२ ॥ उदार बुद्धिवाले यास्क ऋषिने मेरी शिपिविष्ट नामसे स्तुति की थी और मेरी कृपासे पातालमें गये हुए निरुक्तको प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥ मैं पहिले उत्पन्न नहीं हुआ था और मैं उत्पन्न भी नहीं होता हूँ, तैसे ही अब आगे भी मेरा किसी दिन जन्म नहीं होगा, मैं सब प्राणियोंका क्षेत्रज्ञ हूँ (पाञ्चभौतिक शरीरका साक्षी हूँ) इससे मुझको अज कहते हैं७४मैंने पहिले किसी दिन भी क्षुद्र और असभ्य बात नहीं कही है सत्य अथवा ब्रह्माकी पुत्री देवी सरस्वती मेरी वाणीरूप है ७५

विदुः ॥ ७६ ॥ सत्वान्न च्युतपूर्वोऽहं स त्वं वै विद्धि मत्कृतम् । जन्मनीहा भवेत्सत्यं पौर्विकं मे धनञ्जय ॥ ७७ ॥ निराशीः कर्मसंयुक्तः सत्वतश्चाप्यकल्मषः । सात्वत ज्ञानदृष्टोऽहं सत्वतामिति सात्वतः ॥ ७८ ॥ कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान् । कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात्तस्मात्कृष्णोऽहमर्जुन ॥ ७९ ॥ मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना । वायुश्च तेजसा सार्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम ॥ ८० ॥ निर्वाणं परमं ब्रह्म धर्मोऽसौ पर उच्यते । तस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा ॥८१॥ पृथिवी नभसी चोभे विश्रुते विश्वतोमुखे । तयोः

हे कुन्तीपुत्र ! मैंने अपनेमें सत्का और असत्का अर्थात् कार्यका और कारणका लय किया है इससे मेरे नाभिकमलरूप ब्रह्मलोक में रहनेवाले ऋषि मुझे सत्य नामसे पुकारते हैं ॥ ७६ ॥ हे धनञ्जय ! तू यह जान, कि—मैं पहिले सत्त्वसे भ्रष्ट नहीं हुआ हूं, मैंने सत्त्वगुणको उत्पन्न किया है तथा पूर्वजन्मके सत्त्वगुणने मेरा इस जन्ममें भी त्याग नहीं किया है ॥ ७७ ॥ अतः मैं निष्कामभावसे तप करता हूँ, सत्त्वगुणके कारण मैं पापोंसे रहित हूँ, सत्त्वके ज्ञानसे मेरे स्वरूपका ज्ञान होता है और सत्त्वगुणी पुरुषों में मैं सात्वत नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ ७८ ॥ हे पृथाके पुत्र! मैं हलमें बड़ी भारी लोहकी कील (फलका) रूप होकर पृथ्वीको जोतता हूँ और मेरे शरीरका वर्ण भी काला है, इससे मैं कृष्ण कहलाता हूँ ॥ ७९ ॥ मैंने पृथ्वीको जलके साथ मिलाया है, आकाशको वायुके साथ मिलाया है और वायुको तेजके साथ मिलाया है इससे मुझे वैकुण्ठ कहते है, निर्वाण ही परब्रह्म है और यह ही परमधर्म है और परमधर्मसे मैं कभी भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ, इससे मेरा नाम अच्युत है ॥ ८०—८१ ॥ पृथिवी और आकाश ये दोनों विश्वके मुखमें व्याप्त है, इन दोनोंको मैं धारण करता हूँ

सन्धारणार्थं हि मामधोक्षजमंजसा ॥ ८२ ॥ निरुक्तं वेदविदुषो वेदशब्दार्थचिन्तकाः । ते मां गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः ॥ ८३ ॥ शब्द एकपदैरेष व्याहृतः परमर्षिभिः । नान्यो ह्यधोक्षजो लोके ऋते नारायणं प्रभुम् ॥ ८४ ॥ घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम् । घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ८५ ॥ त्रयो हि धातवः ख्याताः कर्मजा इति ये स्मृताः । पित्तं श्लेष्मा च वायुश्च एष संघात उच्यते ॥ ८६ ॥ एतैश्च धार्यते जन्तुरेतैः क्षीणैश्च क्षीयते । आयुर्वेदविदस्तस्मात्त्रिधातुं मां प्रचक्षते ॥८७॥ वृषो हि भगवान्धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत । नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥ ८८ ॥ कपिर्वराहः

इससे मैं अधोक्षज कहलाता हूँ ॥ ८२ ॥ वेदको जानने वाले और वेदके शब्दके अर्थका विचार करने वाले पुरुष यज्ञशाला के प्राग्वंश नामक स्थानमें मेरे अधोक्षज नामका गान करते हैं८३ महर्षि अधोक्षज शब्दका एक २ पदसे उच्चारण करते हैं और कहते हैं, कि-भगवान् प्रभु नारायणके विना इस जगत् में और कोई अधोक्षज (जगत्की स्थिति, प्रलय और उत्पत्ति जिससे होती है वह) नहीं है ॥ ८४ ॥ इस विश्वमें प्राणियोंके प्राणोंको धारण करने वाला घृत मेरे अग्निस्वरूपकी वृद्धि करनेवाला है, इससे शांतस्वभावके वेदवेत्ता पुरुष मुझको घृतार्चि कहते हैं ॥ ८५ ॥ धातुएँ तीन हैं, वें तीन धातुएँ कर्मसे उत्पन्न हुई हैं, ऐसा कहा जाता है, वे धातुएँ वात, पित्त और श्लेष्म नामक संघात कहलाती हैं ॥ ८६ ॥ मनुष्य इन तीन धातुओंसे जीवित रहता है और इन तीन धातुओंके क्षयसे नष्ट होजाता है, इससे आयुर्वेदको जानने वाले पुरुष मुझको त्रिधातु नामसे पुकारते हैं ॥ ८७ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! लोकोंमें भगवान् धर्म वृष नामसे पहिचाने जाते हैं और निघण्टुमें जहाँ पदके अर्थ कहे

श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते। तस्माद्वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥ ८६ ॥ न चादिं न मध्यं तथा चैव नान्तं कदाचिद्विदन्त सुराश्चासुराश्च। अनाद्यो ह्यमध्यस्तथा चाप्यनन्तः प्रगीतोऽहमीशो विभुर्लोकसाक्षी ॥ ९० ॥ शुचीनि श्रवणीयानि शृणोमीह धनञ्जय। न च पापानि गृह्णामि ततोऽहं वै शुचिश्रवाः ९१ एकशृङ्गः पुरा भूत्वा वराहो नन्दिवर्धनः। इमां चोद्धृतवान्भूमिमेकशृङ्गस्ततो ह्यहम् ॥ ९२ ॥ तथैवासन् त्रिककुदो वाराहं रूपमास्थितः। त्रिककुत्त्वेन विख्यातः शरीरस्य तु मापनात् ॥ ९३ ॥ विरञ्चि इति यत्प्रोक्तं कापिलं ज्ञानचिन्तकैः। स प्रजापतिरेवाहं

हैं तहाँ भी (धर्मको वृष कहा है इससे) तू मुझे उत्तम वृष समझ ॥ ८८ ॥ उत्तम कपिको, उत्तम वराहको तथा धर्मको वृष कहते हैं, इससे प्रजापति काश्यप मुझे वृषाकपि कहते हैं ॥८६॥ देवता तथा असुर कोई भी मेरे आदि, मध्य और अन्तको नहीं जानते, मैं आदि,मध्य और अन्तरहित हूँ सबका ईश्वर, व्यापक तथा प्राणियोंका साक्षी हूँ इस प्रकार वेदमें मेरा वर्णन किया गया है ॥ ९० ॥ हे धनञ्जय ! जो २ श्रवण करने योग्य पवित्र वचन हैं, उन २ वचनोंको मैं सुनता हूँ और पापसे भरे हुए वचनोंको मैं नहीं सुनता हूँ, इससे मैं शुचिश्रवाः कहलाता हूँ ॥ ९१ ॥ मैंने पहिले एक सींग वाले नन्दिवर्धन नामक वराहका अवतार धारण कर इस पृथ्वीका उद्धार किया था इससे मैं एकशृङ्ग कहलाता हूँ ॥ ९२ ॥ इस प्रकार पहिले मैंने वराहका स्वरूप धारण किया था तब मैं त्रिककुद (कन्धा, पोत्र और डाढ़रूप तीन उन्नत अङ्ग वाला) बना था, इससे मेरा नाम त्रिककुद पड़ा था, क्योंकि-मेरे शरीरका ऐसा प्रमाण था ॥ ९३ ॥ कपिलप्रणीत सांख्यशास्त्रका विचार करने वाले पुरुषोंने जिसको विरंचि कहा है, वह विरंचि प्रजापति मैं ही हूँ

चेतनात्सर्वलोककृत् ॥ ९४ ॥ विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम् । कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चया ९५ हिरण्यगर्भो द्युतिमान्य एष च्छन्दसि स्तुतः । योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः ॥ ९६ ॥ एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते । सहस्रशाखं यत्साम ये वै वेदविदो जनाः ॥ ९७ ॥ गायंत्यारण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभाः । षट्पञ्चाशतमष्टौ च सप्तत्रिंशतमित्युत ॥ ९८ ॥ यस्मिन्शाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः । पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम् ॥ ९९ ॥ कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा । शाखाभेदाश्च ये केचिद्याश्च शाखासु गीतयः ॥ १०० ॥ स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान्विद्धि मत्कृतान् । यत्तद्धयशिरः पार्थ समुदेति वर-

क्योंकि—मैं सब प्रजाओंको चेतना वाली करता हूँ ॥९४॥ तत्त्व का निश्चय करने वाले सांख्यशास्त्रके ज्ञाता आचार्य मुझको विद्याकी सहायता वाला और आदित्यमें रहने वाला सनातनदेव और कपिल (पीला) बतलाते हैं ॥९५॥ वेदमें (समष्टि लिंगके अभिमानी) तेजस्वी हिरण्यगर्भरूपसे जिसकी स्तुति की जाती है, वह ही मैं पृथ्वीमें योगियोंसे सदा पूजा जाता हूँ ॥ ९६ ॥ वेदवेत्ता मुझे इक्कीस सहस्र ऋचारूप ऋग्वेद कहते हैं तथा सहस्र शाखावाला सामवेद भी मुझे ही कहते हैं ॥ ९७ ॥ और आरण्यकमें ब्राह्मण मेरा ही गीत गाते हैं, मेरे भक्त दुर्लभ हैं, एक सौ एक शाखा वाले अध्वर्युसम्बन्धी यजुर्वेदमें मेरा गान किया गया है और पाँच कल्प वाला और कृत्याओं वाला अथर्ववेद भी मैं ही हूँ, ऐसी कल्पना अथर्ववेदको जानने वाले ब्राह्मण करते है, और भी जो शाखाओंके भेद हैं और जो शाखाओंमें गीतियें हैं ॥ ९८-१०० ॥ तथा स्वर और वर्णोंके उच्चारण हैं उन सबको तू मेरे ही किये हुए जान और हे पृथा-

पदम् ॥ १०१ ॥ सोहमेत्रोत्तरे भागे क्रमाक्षरविभागवित् । वामादेशितमार्गेण मत्प्रसादान्महात्मना ॥ २ ॥ पांचालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद्भूतात्सनातनात् । बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥ ३ ॥ नारायणाद्वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम् । क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥ ४ ॥ कण्डरीकोथ राजा च ब्रह्मदत्तः प्रतापवान् । जातीमरणजं दुखं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ ५ ॥ सप्तजातिषु मुख्यत्वाद्योगानां संपदं गतः । पुराहमात्मजः पार्थ प्रथितः कारणान्तरे ॥ ६ ॥ धर्मस्य कुरुशार्दूल ततोऽहं धर्मजः स्मृतः । नरनारायणौ पूर्वं तपस्तेपतुरव्ययम् ७ धर्मयानं समारूढौ पर्वते गन्धमादने । तत्कालसमये चैव दक्षयज्ञो

पुत्र ! वरदान देने वाले हयग्रीवका जो अवतार हुआ है ।१०१। वह मेरा ही अवतार है तथा वेदके उत्तर भागमें पदका और क्रमका जो विभाग है उसको मैं जानता हूँ, मेरे प्रसादसे वामदेवने जिसको मेरी आराधनाका मार्ग बताया था उस महात्मा पञ्चालने उन (वामस्वरूप) सनातनसे उसी प्रकार वेदका क्रम जाना था और बाभ्रव्य गोत्रमें उत्पन्न हुए उस वेदके क्रमका पार जाननेमें अग्रणी श्रेष्ठ गालवने योग साधनाको जान कर नारायणसे वर पा वेदके क्रमकी रचनाकी थी और वेदकी शिक्षा भी रची थी ॥१०२-१०४॥ कण्डरीक वंशके प्रतापी ब्रह्मदत्त नामक राजाने बारम्बार होनें वाले जन्म और मरणके दुःखका स्मरण करके ॥ १०५ ॥ सात जन्ममें प्रधानरूपसे योगकी संपत्तियोंको पाया था, मैं पहिले किसी कारणसे धर्मपुत्र रूपसे प्रसिद्ध हुआ था ॥१०६॥ हे कुरुवंशमें सिंहकी समान अर्जुन ! इससे मैं धर्मपुत्र कहलाता हूँ. पहिले (हम) नर और नारायण (गन्धमादन पर्वत पर धर्मरूपी वाहन पर बैठ) अस्खलित तप करते थे ॥ १०७ ॥ उसी समय दक्ष प्रजापतिने यज्ञका आरम्भ

बभूव ह ॥ ८ ॥ न चैनाकल्पयद्भागं दक्षो रुद्रस्य भारत । ततो दधीचिवचनाद्दक्षयज्ञमपाहरत् ॥ ९ ॥ससर्ज शूलं कोपेन प्रज्वलन्तं मुहुर्मुहुः । तच्छूलं भस्मसात्कृत्वा दक्षयज्ञं सविस्तरम् १० आवयोः सहसागच्छद्बदर्याश्रममन्तिकात् । वेगेन महता पार्थ पतन्नारायणोरसि ॥ ११ ॥ ततस्तत्तेजसाविष्टाः केशा नारायणस्य ह । बभूवुर्मुञ्जवर्णास्तु ततोऽहं मुञ्जकेशवान् ॥ १२॥ तच्च शूलं विनिर्धूतं हुंकारेण महात्मना । जगाम शंकरकरं नारायणसमाहतम् १३ अथ रुद्र उपाधावत्तावृषी तपसान्वितौ । तत एनं समुद्धूतं कण्ठे जग्राह पाणिना१४नारायणः स विश्वात्मा तेनास्य शितिकण्ठता । अथ रुद्रविघातार्थमिषीकां नर उद्धरन् ॥ १५ ॥

किया था ॥१०८॥ और उसमें दक्षने रुद्रका भाग नहीं निकाला था, यह बात दधीचिने रुद्रसे कही, तब रुद्रने दक्षके यज्ञका विध्वंस किया था ॥ १०९ ॥ रुद्रने क्रोधमें भरकर बारम्बार प्रज्वलित होता हुआ एक त्रिशूल उत्पन्न किया, उस त्रिशूलने महाविस्तारसे होते हुए दक्षके यज्ञका नाश कर डाला ॥११०॥ तदनन्तर हे पार्थ ! वह त्रिशूल बदरिकाश्रममें हम दोनोंके पास आया और महावेगसे नारायणके हृदयसे टकराया ॥ १११ ॥ उसके तेजके कारण नारायणके केश मुञ्ज घासकी समान पीले रङ्गके होगए,इससे मैं मुञ्जकेश नामवाला कहलाता हूँ ॥११२॥ तदनन्तर महात्मा नारायणने हुंकार करके उस त्रिशूलका तिरस्कार किया, तब उस त्रिशूलकी शक्तिके नारायणके हर लेने पर वह त्रिशूल फिर शंकरके हाथमें पहुँच गया ॥ ११३ ॥ रुद्र यह देख कर उन तप करने वाले दोनों ऋषियोंकी ओर दौड़े, तब भगवान् नरायणने अपने हाथसे रुद्रका कण्ठ पकड़ लिया ॥ ११४ ॥ विश्वात्मा नारायणके कण्ठ पकड़नेके कारण रुद्र शितिकण्ठ कहलाते हैं, तदनन्तर नरने रुद्रको

मन्त्रैश्च संयुयोजाशु सोऽभवत्परशुर्महान् । क्षिप्तश्च सहसा तेन खण्डनं प्राप्तवांस्तदा ॥ १६ ॥ ततोऽहं खण्डपरशुः स्मृतः परशुखंडनात् । अर्जुन उवाच । अस्मिन्युद्धे तु वार्ष्णेय त्रैलोक्यशमने तदा ॥ १७ ॥ को जयं प्राप्तवांस्तत्र शंसैतन्मे जनार्दन । श्रीभगवान् उवाच । तयोः संलग्नयोर्युद्धे रुद्रनारायणात्मनोः ॥ १८ ॥ उद्विग्नाः सहसा कृत्स्नाः सर्वे लोकास्तदाभवन् । नागृह्णात्पावकः शुभ्रं मखेषु सुहुतं हविः ॥ १९ ॥ वेदा न प्रतिभांति स्म ऋषीणां भावितात्मनाम् । देवान् रजस्तमश्चैव समाविविशतुस्तदा ॥ २० ॥ वसुधा संचकंपे च नभश्च विपफाल ह । निष्प्रभाणि च तेजांसि ब्रह्मा चैवासनच्युतः ॥ २१ ॥ अगाच्छोषं समुद्रश्च हिमवांश्च व्यशीर्यत । तस्मिन्नेवं समुत्पन्ने निमित्ते पाण्डुनन्दन ॥ २२ ॥

मारनेके लिये दर्भकी सीकमेंसे उसके मध्य भागको निकला लिया ॥ ११५ ॥ फिर मंत्रोंका प्रयोग करते ही वह बड़े फरसे की समान होगई, तब नरने एक दम उसको रुद्रके ऊपर फैंका, परन्तु रुद्रने उसी समय उसके टुकड़े २ कर डाले ॥ ११६ ॥ इस प्रकार अपने फरसेके टुकडे २ होनेसे मैं खण्डपरशु कहलाता हूँ, अर्जुनने बूझा, कि-हे वार्ष्णेय ! हे जनार्दन ! तीनों लोकों का नाश करने वाले इस युद्धमें कौन जीता था, यह मुझसे कहिये, श्रीभगवानने कहा, कि-रुद्र और नारायण युद्ध कर रहे थे, उससमय सब लोक एक साथ उद्विग्न होगए, अग्निने यज्ञोंमें होमे हुए पवित्र वलिको ग्रहण करना छोड़ दिया ११७-११९ शुद्धचित्त वाले मुनि वेदको पढ़ कर भी उसका स्मरण न कर पाते थे, उस समय देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणने प्रवेश किया ॥ १२० ॥ पृथ्वी काँपने लगी, आकाश फटने लगा, तेजस्वी पदार्थ निस्तेज होगए, ब्रह्मा अपने आसनसे चलायमान होगए ॥ १२१ ॥ समुद्र सूख गया, हिमाचल फट गया, हे पाण्डु-

ब्रह्मा वृतो देवगणैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः। आजगामाशु तं देशं यत्र युद्धमवर्तत ॥ २३ ॥ सोऽञ्जलिप्रग्रहो भूत्वा चतुर्वक्त्रो निरुक्तगः। उवाच वचनं रुद्रं लोकानामस्तु वै शिवम् ॥ २४ ॥ न्यस्यायुधानि विश्वेश जगतो हितकाम्यया। यदक्षरमथाव्यक्तमीशं लोकस्य भावनम् ॥ २५ ॥ कूटस्थं कर्तृनिर्द्वन्द्वमकर्तेति च यं विदुः। व्यक्तिभावगतस्यास्य एका मूर्त्तिरियं शुभा ॥ २६ ॥ नरो नारायणश्चैव जातौ धर्मकुलोद्वहौ। तपसा महता युक्तौ देवश्रेष्ठौ महाव्रतौ ॥ २७ ॥ अहं प्रसादजस्तस्य कुतश्चित्कारणान्तरे। त्वं चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥ २८ ॥ मया च सार्द्धं वरद विबुधैश्च महर्षिभिः। प्रसादयाशु लोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥ २९ ॥ ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्नि-

पुत्र ! इस प्रकार अशुभ निमित्त होने लगे १२२ तब ब्रह्माजी जहाँ युद्ध होरहा था तहाँ देवता और ऋषियोंको साथमें ले तुरत ही आए ॥ १२३ ॥ फिर निरुक्तमें जिनका वर्णन है, ऐसे चार मुख वाले ब्रह्माजी दोनों हाथ जोड़ कर रुद्रसे कहने लगे, कि–"तुमसे लोकोंका कल्याण होय" ॥ १२४॥ हे विश्वके ईश्वरों ! लोकोंका हित विचार कर तुम अपने आयुधोंको रख दो, जिन को ऋषि अक्षर अव्यक्त ईश लोकोंके उत्पन्न करने वाले कूटस्थ कर्ता सुख और दुःखसे रहित और अकर्तारूपसे जानते हैं वे स्वयं साकार हुए है और यह उनकी एक शुभमूर्ति है ॥१२५॥ नर और नारायण ये दोनों धर्मके कुलमे उत्पन्न हुए हैं, महातपस्वी हैं, देवताओंमें श्रेठ हैं और महाव्रतधारी हैं ॥१२६॥ मैं पहिले किसी कारणसे इनके प्रसादसे उत्पन्न हुआ हूँ और हे तात ! सनातन आप भी इनके क्रोधमेंसे उत्पन्न हुए हैं १२८ हे वर देने वाले रुद्र ! अब मुझै, आपको, देवताओंको तथा महर्षियोंको चाहिये कि–नारायणको शीघ्र ही प्रसन्न करें, कि–

मुत्सृजन् । प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् । शरणं च जगामाद्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् ॥ ३० ॥ ततोऽथ वरदो देवो जित क्रोधो जितेन्द्रियः । प्रीतिमानभवत्तत्र रुद्रेण सह संगतः ॥३१॥ ऋषिभिर्ब्रह्मणा चैव विबुधैश्च सुपूजितः । उवाच देवमीशान-मीशः स जगतो हरिः ॥ ३२ ॥ यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु । नावयोरन्तरं किंचिन्मा तेऽभूद्बुद्धिरन्यथा ३१ अद्य प्रभृति श्रीवत्सः शूलांको मे भवत्वयम् । मम पाण्यंकित-श्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ॥ ३३ ॥ श्रीभगवान् उवाच । एवं लक्षणमुत्पाद्य परस्परकृतं तदा ॥ सख्यं चैवातुलं कृत्वा रुद्रेण,सहितावृषी ॥ ३४ ॥ तपस्तेपतुरव्यग्रौ विसृज्य त्रिदिवौ-

---

जिससे लोकोंमें शान्ति फैले ॥ १२६ ॥ इस प्रकार ब्रह्माजीने कहा, तब रुद्रने क्रोधाग्निको त्याग दिया और सबके आदिकारण श्रेष्ठ, वरदान देने वाले,समर्थ देव नारायणकी शरणमें गए और उनको प्रसन्न किया ॥ १३० ॥ तब वर देने वाले नारायणदेव कि–जिन्होंने क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लिया था वे प्रसन्न हुए और शिवसे मिले ॥१३१॥ तब ऋषि ब्रह्मा और देवताओं ने नारायणकी भली भाँति पूजा की, तदनन्तर जगत्के ईश्वर श्रीहरिने शिवसे कहा, कि–॥ १३२ ॥ जो आपको जानता है, वह मुझको जानता है और जो आपका भक्त है वह मेरा भक्त है, हम दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, आपकी बुद्धिमें अन्तर न पड़ना चाहिये ॥ १३३ ॥ मेरे हृदयमें जो शूल लगनेका चिन्ह है वह आजसे श्रीवत्स नामसे प्रसिद्ध होगा और तुम्हारे कण्ठको पकड़ते समय मेरे हाथका जो चिन्ह तुम्हारे कण्ठमें होगया है, इससे आप श्रीकण्ठ नामसे पहिचाने जाओगे ।१३४। श्रीभगवानने कहा, कि–इस प्रकार उन दोनोंने परस्पर प्रहार करके जो चिह्न किये थे उनके उत्तम चिन्ह किये और रुद्रके

कसः । एष ते कथितः पार्थ नारायणजयो मृधे ॥३५॥ नामानि चैव गुह्यानि निरुक्तानि च भारत । ऋषिभिः कथितानीह यानि संकीर्त्तितानि ते ॥३६॥ एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् । ब्रह्मलोकं च कौंतेय गोलोकं च सनातनम् ॥ ३७ ॥ मया त्वं रक्षितो युद्धे महान्तं प्राप्तवान् जयम् । यस्तु ते सोग्रतो याति युद्धे संप्रत्युपस्थिते ॥ ३८ ॥ तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देवदेवं कपर्दिनम् । कालः स एव कथितः क्रोधजेति मया तव ॥ ३९ ॥ निहतास्तेन वै पूर्वं हतवानसि यान् रिपून् । अप्रमेयप्रभावं तं देवदेवमुमापतिम् । नमस्व देवं प्रयतो विश्वेशं हरमक्षयम् ॥ ४० ॥ यश्च

साथ अतुल मित्रता की ॥ १३५ ॥ तदनन्तर दोनों ऋषि सब देवताओंको आज्ञा देकर शान्तिसे तप करने लगे, हे पार्थ ! इस प्रकार मैंने तुझसे युद्धमें नारायणकी जीत कही ॥ १३६ ॥ तथा हे भरतवंशी राजन् ! नारायणके जो गुप्त नाम है और जो नाम ऋषियोंने शास्त्रमें कहे है, वे नाम भी व्युत्पत्तिके साथ तुझसे भली भाँति कहे ॥ १३७ ॥ हे कुन्तीके पुत्र ! इस प्रकार मैं अनेक प्रकारके रूपोंको धारण करके पृथ्वीके ऊपर और ब्रह्मलोकमें विचरता हूँ तथा सनातन गोलोकमें भी विचरता हूँ ॥ १३८ ॥ युद्धमें मैंने तेरी रक्षा की थी इससे तेरी बड़ी भारी जीत हुई थी और युद्ध आरम्भ होने पर जो पुरुष तेरे आगे २ चलता था ॥ १३९ ॥ वे देवदेव जटाजूटधारी शिव थे मैंने इनका वर्णन करते समय तुझसे उनको क्रोधसे उत्पन्न हुआ काल बतलाया है ॥ १४० ॥ तूने जिन शत्रुओंको मारा था उन शत्रुओंको कालात्मा शिवने पहिले ही मार डाला था, उन अप्रमेय प्रभाव वाले, देवदेव, उमापति, विश्वेश्वर अविनाशी हरको तू सावधान होकर प्रणाम कर ॥ १४१ ॥ हे धनञ्जय ! मैंने तुझसे पहिले वारम्वार क्रोधजन्य शिवकी बात कही थी

ने कथितः पूर्वं क्रोधजेति पुनः पुनः । तस्य प्रभाव एवाग्रे यच्छ्रुतं ते धनञ्जय ॥ १४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४२ ॥

शौनक उवाच । सौते सुमहदाख्यानं भवता परिकीर्तितम् । यच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे विस्मयं परमं गताः ॥ १ ॥ सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथा ॥ २ ॥ पावितांगाः स्म संवृत्ताः श्रुत्वेमामादितः कथाम् । नारायणाश्रयां पुण्यां सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ ३ ॥ दुर्दर्शो भगवान् देवः सर्वलोकनमस्कृतः । सब्रह्मकैः सुरैः कृत्स्नैरन्यैश्चैव महर्षिभिः ॥४॥ दृष्टवान्नारदो यत्तु देवं नारायणं हरिम् । नूनमेतद्ध्यनुमतं तस्य देवस्य सूतज ॥५॥ यद्दृष्टवान् जगन्नाथमनिरुद्धतनौ स्थितम् । यत्प्राद्रवत्पुनर्भूयो नारदो देवसत्तमौ ॥ ६ ॥

और तूने पहिले मुझसे सुनी हैं, विचार कर देख उन शिवका ऐसा प्रभाव है ॥ १४२ ॥ तीनसौ बयालीसवाँ अध्याय समाप्त

शौनकने बूझा, कि हे सूतपुत्र ! तुमने यह बड़ा भारी आख्यान कहा है, इसको सुनकर सब मुनि परम विस्मित हुए हैं १ हे सूतपुत्र ! नारायणकी कथा जैसा फल देती है, तैसा फल सब तीर्थोंमें स्नान करनेसे और सब तीर्थोंमें जानेसे भी नहीं मिलता है २ सब पापोंका नाश करने वाली पुण्यमयी इस नारायणकी कथाको आरंभसे सुनकर हमारे अंग पवित्र होगए हैं ॥ ३ ॥ जिनको सब लोक नमस्कार करते हैं उन भगवान् नारायणदेव के दर्शन ब्रह्माको सब देवताओंको तथा दूसरे महर्षियोंको भी दुर्लभ हैं ॥ ४ ॥ हे सूतपुत्र ! नारदने नारायणके जो दर्शन पाये थे इसका मूलकारणभी नारायणकी अनुमति ही थी ५ अनिरुद्धके शरीरमें जगन्नाथको रहते हुए देखकर देवताओंमें

नरनारायणौ द्रष्टुं कारणं तद्ब्रवीहि मे । सौतिरुवाच । तस्मिन्यज्ञे वर्तमाने राज्ञः पारिक्षितस्य वै ॥ ७ ॥ कर्मान्तरेषु विधिवद्वर्तमानेषु शौनक । कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषिं वेदनिधिं-प्रभुम् ॥८॥ -परिपप्रच्छ राजेन्द्रः पितामहपितामहम् । जनमेजय उवाच । श्वेतद्वीपान्निवृत्तेन नारदेन सुरर्षिणा ॥ ९ ॥ ध्यायता भगवद्वाक्यं चेष्टितं किमतः परम् । बदर्याश्रममागम्य समागम्य च तावृषी १० कियन्तं कालमवसत्कां कथां पृष्टवांश्च सः । इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात् ॥ ११ ॥ आमंथ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम् । नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा ॥ १२ ॥ आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा । समुद्धृतमिदं ब्रह्मन्कथामृतमिदं तथा ॥ १३ ॥ तपोनिधे त्वयोक्तं हि नारा-

श्रेष्ठ नारायणका दर्शन करनेके, लिये नारदजी क्यों गए थे, इसका कारण आप हमसे कहिये, सौतिने कहा, कि-हे शौनक ! राजा परीक्षितके पुत्र जनमेजयका यज्ञ होरहा था ॥ ६ ॥ ७ ॥ और उसमें सब काम विधिपूर्वक होरहे थे, उस समय समर्थ वेदके भण्डाररूप अपने पितामहके पितामह कृष्णद्वैपायन ऋषि व्यासजीसे राजाने प्रश्न किया ॥ ८ ॥ जनमेजयने बूझा, कि-श्वेतद्वीपमेंसे लौटते समय भगवान्के वाक्यका ध्यान करते हुए देवर्षि नारदने और क्या किया था, बदरिकाश्रममें जा नर नारायणसे मिलनेके पीछे वे तहाँ कितने समय तक रहे थे तथा उन्होंने कौन २ सी कथाएँ उनसे बूझी थीं ! क्यों कि इस महाभारतका विस्तार एकलाख श्लोकोंमें है ९-११ यह बुद्धिमान् पुरुषोंका मथा हुआ ज्ञानका सर्वोत्तम समुद्र है, जैसे दहीको बिलो कर उसमेंसे मक्खन काढ़ा जाता है, मलयाचलमेंसे जैसे चन्दन निकाला जाता है ॥ १२ ॥ आरण्यकको जैसे वेदोंमेंसे निकाला गया है, तैसे इस कथारूपी अमृतको निकाला गया है ॥ १३ ॥ हे तपोनिधे !

यणकथाश्रयम् । स ईशो भगवान् देवः सर्वभूतात्मभावनः १४ अहो नारायणं तेजो दुर्दर्शं द्विजसत्तम । यत्राविशन्ति कल्पान्ते सर्वे ब्रह्मादयः सुराः ॥ १५ ॥ ऋषयश्च सगन्धर्वा यच्च किंचिच्चराचरम् । न ततोऽस्ति परं मन्ये पावनं दिवि चेह च॥१६॥ सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । न तथा फलदं चापि नारायणकथा यथा ॥ १७ ॥ सवथा पाविताः स्मेह श्रुत्वेमामादितः कथाम् । हरेर्विश्वेश्वरस्येह सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ १८ ॥ न चित्रं कृतवं स्तत्र यदार्यो मे धनञ्जयः । वासुदेवसहायो यः प्राप्तवान् जयमुत्तमम् ॥ १९ ॥ न चास्य किंचिदप्राप्यं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु । त्रैलोक्यनाथो विष्णुः स यथासीत्साह्यकृत्स वै ॥ २० ॥

औषधियोंमेंसे जैसे अमृत निकाला गया है तैसे ही हे ब्राह्मण ! आपने नारायणकी कथाका यह रहस्य कहा है, कि–भगवान् नारायण ईश्वर हैं, सब प्राणियोंके उत्पन्न करने वाले हैं।१४। हे उत्तम ब्राह्मण ! भगवान् नारायणके तेजको दूसरे कठिनतासे देख सकते हैं कल्पका अन्त आने पर ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि गंधर्व तथा स्थावरजंगमात्मक सब वस्तुएँ इन नारायणमें लीन होजाती हैं, इस लोकमें अथवा परलोकमें किसी भी देवताको मैं इन देवतासे अधिक पवित्र नहीं मानता हूँ ॥ १६ ॥ मनुष्यको नारायणकी कथा सुननेसे जितना फल मिलता है उतना फल सब आश्रमोंमें और सब तीर्थोंमें जानेसे भी नहीं मिलता ॥१७॥ हम विश्वके ईश्वर श्रीहरिकी सब पापोंका नाश करनेवाली कथा को आरंभसे सुनकर सर्वथा पवित्र होगए हैं ।।१८। वासुदेवकी सहायता वाले मेरे पूज्य (परदादा) अर्जुनने जो जय पाई इसमें उन्होंने कुछ आश्चर्य नहीं किया १९ जिसकी सहायता करने वाले तीनों लोकोंके नाथ विष्णु हों, उसको तीनों लोकोंमें कोई भी वस्तु अप्राप्य होगी ऐसा मैं नहीं मानता२०हे ब्राह्मण ! मेरे ये

धन्याश्च सर्व एवासन् ब्रह्मंस्ते मम पूर्वजाः । हिताय श्रेयसे चैव येषामासीज्जनार्दनः ॥ २१ ॥ तपसाथ सुदृश्यो हि भगवान् लोकपूजितः । यं दृष्टवन्तस्ते साक्षाच्छ्रीवत्साङ्कविभूषणम् ॥२२॥ तेभ्यो धन्यतरश्चैव नारदः परमेष्ठिजः । न चाल्पतेजसमृषिं वेद्मि नारदमव्ययम् ॥ २३ ॥ श्वेतद्वीपं समासाद्य येन दृष्टः स्वयं हरिः । देवप्रसादानुगतं व्यक्तं तत्तस्य दर्शनम् ॥ २४ ॥ यद्धि दृष्टवांस्तदा देवमनिरुद्धतनौ स्थितम् । बदरीमाश्रमं यत्तु नारदः प्राद्रवत्पुनः ॥ २५ ॥ नरनारायणौ द्रष्टुं किन्तु तत्कारणं मुने । श्वेतद्वीपान्निवृत्तश्च नारदः परमेष्ठिजः ॥ २६ ॥ बदरीमाश्रमं प्राप्य समागम्य च तावृषी । कियन्तं कालमवसत्प्रश्नान् कान् पृष्टवांश्च ह ॥ २७ ॥ श्वेतद्वीपादुपावृत्ते तस्मिन्वा सुमहात्मनि ।

सब पूर्वज पितामह भाग्यवान् थे, क्योंकि-भगवान् जनार्दन उनका हित और कल्याण करने वाले थे॥२१॥ लोकोंमें जिनकी सदा पूजा की जाती है उन भगवान्के दर्शन तपसे ही होसकते हैं, परन्तु मेरे पूर्वजोंने उन श्रीवत्सके चिन्हसे अङ्कित भगवान् का साक्षात् दर्शन किया था ॥ २२ ॥ नारदजी मेरे पूर्वजोंसे भी अधिक भाग्यवान् थे, मैं अविनाशी भगवान् नारद ऋषिको अल्प तेज वाला नहीं मानता हूँ ॥२३॥ क्योंकि-उन्होंने स्वयं श्वेतद्वीपमें जाकर परमात्माकी कृपासे श्रीहरिके प्रत्यक्ष दर्शन किये थे ॥ २४ ॥ नारदजी अनिरुद्धके शरीरमें स्थित देवके दर्शन करके बदरिकाश्रममे किस लिये लौटे थे ॥ २५ ॥ और हे मुने ! शरीरमें रहने वाले नारायणके दर्शन करनेका क्या कारण है ? श्वेतद्वीपमेंसे लौटे हुए ब्रह्माजीके पुत्र नारद बदरिकाश्रममें जा नर और नारायण ऋषिसे मिल तहाँ कितने समय तक रहे थे, तथा उन्होंने कौन २ से प्रश्न बूझे थे ? ॥२६-२७ जब महात्मा नारद ऋषि श्वेतद्वीपसे लौटे थे उस समय महात्मा

किमब्रूतां महात्मानौ नरनारायणावृषी ॥ २८ ॥ तदेतन्मे यथा-तत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि । वैशम्पायन उवाच । नमो भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे ॥ २९ ॥ यस्य प्रसादाद्वक्ष्यामि नारायण-कथामिमां । प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ ३० ॥ निवृत्तो नारदो राजस्तरसा मेरुमागमत् । हृदयेनोद्वहन् भारं यदुक्तं परमात्मना ॥ ३१ ॥ पश्चादस्याभवद्राजन्नात्मनः साध्वसं महत् । यद् गत्वा दूरमध्वानं क्षेमी पुनरिहागतः ॥ ३२ ॥ मेरोः प्रचक्राम ततः पर्वतं गन्धमादनम् । निपपात च खात्तूर्णं विशालां बदरीमनु ॥ ३३ ॥ ततः स ददृशे देवौ पुराणावृषिसत्तमौ । तपश्चरंतौ सुमहदात्मनिष्ठौ महाव्रतौ ॥ ३४ ॥ तेजसाभ्यधिकौ

नर नारायण नामक ऋषियोंने उनसे क्या कहा था ? ॥२८॥ यह सब कथाएँ आपको मुझसे यथार्थरीतिसे कहनी चाहिये, वैशम्पायनने कहा, कि-अपार तेज वाले भगवान् व्यासजीको नमस्कार है ॥ २९ ॥ उनकी कृपासे नारायण भगवान्की यह कथा मैं तुमसे कहूँगा, श्वेत नामक महाद्वीपमें जाकर और तहाँ अविनाशी श्रीहरिके दर्शन करके ॥३०॥ हे राजन् ! नारदजी तहाँसे एक साथ पीछेको लौटे और परमात्माने अपनेसे जो कुछ कहा था उसके भारको हृदयमें धारण कर मेरुपर्वत पर आये ॥ ३१ ॥ तब नारदजीके मनमें बड़ा-भारी अचम्भा होने लगा, कि-मैं बहुत दूर जाकर कुशलपूर्वक यहाँ लौट आया ३२ फिर नारदजी मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा कर गन्धमादन पर्वत पर आये और तहाँसे (आकाशमार्गसे) विशाल बदरिकाश्रममें उतरे ॥३३॥ तहाँ उन्होंने नर नारायण नामक प्राचीन ऋषियों के दर्शन किये, वे दोनों ऋषि महातप कर रहे थे और वे आत्मनिष्ठ मुनि महाव्रतका आचरण कर रहे थे ॥३४॥ वे सब लोकोंको प्रकाशित करने वाले सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी थे,

सूर्यात्सर्वलोकविरोचनात् । श्रीवत्सलक्षणौ पूज्यौ जटामण्डलधारिणौ ॥ ३५ ॥ जालपादभुजौ तौ तु पादयोश्चक्रलक्षणौ । व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ तथा मुष्कचतुष्किणौ ॥ ३६ ॥ षष्टिदन्ताचष्टदंष्ट्रौ मेघौघसदृशस्वनौ । स्वास्यौ पृथुललाटौ च सुभ्रूसुहनुनासिकौ ॥ ३७ ॥ आतपत्रेण सदृशे शिरसी देवयोस्तयोः । एवं लक्षणसम्पन्नौ महापुरुषसंज्ञितौ ॥ ३८ ॥ तौ दृष्ट्वा नारदो हृष्टस्ताभ्यां च मनिपूजितः । स्वागतेनाभिभाष्याथ पृष्टश्चानामयं तथा ॥ ३९ ॥ बभूवांतर्गतमतिर्निरीक्ष्य पुरुषोत्तमौ । सदोगतास्तत्र ये वै सर्वभूतनमस्कृताः ॥४०॥ श्वेतद्वीपे मया दृष्टास्तादृशावृषिसत्तमौ । इति संचिन्त्य मनसा कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ॥४१॥

दोनोंके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिन्ह था, दोनों देवता मस्तक पर जटाओंको धारण कर रहे थे, दोनों पूज्य थे,दोनोंके चरणों में चक्रके चिन्ह थे, दोनोंके वक्षःस्थल विशाल थे, उनकी भुजाएँ लम्बी थीं, उनके अण्डकोश शुष्क थे ॥३५–३६॥ उनके साठ दाँत और आठ डाढ़े थीं, उनका स्वर मेघकी समान गम्भीर था, उनका मुख सुन्दर था, ललाट विशाल था, भृकुटि सुन्दर थी, ठोड़ी और नासिका भी सुन्दर थी ॥ ३७ ॥ उन दोनों देवताओंके मस्तक छत्रकी समान थे, ऐसे लक्षणों वाले और महापुरुषोंकी संज्ञा वाले ॥ ३८ ॥ दोनों देवताओंको देख कर नारदजी प्रसन्न हुए और उनकी पूजा की,तदनन्तर उन दोनों ने नारदजीका स्वागत किया और कुशलसमाचार बूझा ।३९। नारदजी उन दोनों पुरुषोत्तमोंके दर्शन करके मनमें विचारने लगे, कि–तहाँ सब प्राणियोंसे पूजित जो पुरुप रहते थे ।।४०।। और जिनको मैंने श्वेतद्वीपमें देखा था, उनकी समान ही ये दोनों महर्षि हैं, मनमें ऐसा विचार कर उन्होंने नर नारायणकी प्रदक्षिणा की ॥ ४१ ॥ और दर्भके शुभासन पर बैठे,तदनन्तर

स चोपविविशे तत्र पीठे कुशमये शुभे । ततस्तौ तपसां वासौ यशसां तेजसामपि ॥४२॥ ऋषी शमदमोपतौ कृत्वा पौर्वाह्णिकं विधिम् । पश्चान्नारदमव्यग्रौ पाद्यार्घ्याभ्यामथार्चतः ॥ ४३ ॥ पीठयोश्चोपविष्टौ तौ कृतातिथ्याह्निकौ नृप । तेषु तत्रोपविष्टेषु सदेशोऽभिव्यराजत ॥ ४४ ॥ आज्याहुतिमहाज्वालैर्यज्ञवाटो यथाग्निभिः । अथ नारायणस्तत्र नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥ सुखोपविष्टं विश्रांतं कृतातिथ्यं सुखस्थितं । नरनारायणा वूचतुः अपीदानीं स भगवान्परमात्मा सनातनः ॥ ४६ ॥ श्वेतद्वीपे त्वया दृष्ट आवयोः प्रकृतिः परा । नारद उवाच । दृष्टो मे पुरुषः श्रीमान्विश्वरूपधरोऽव्ययः ॥४७॥ सर्वे लोका हि तत्रस्थास्तथा देवाः सहर्षिभिः । अद्यापि चैनं पश्यामि युवां पश्यन्सनातनौ ४८

तप यश और तेजके निवासरूप वे ऋषि जो शम और दमसे युक्त थे उन्होंने पूर्वाह्नकालकी क्रिया की, फिर उन दोनोंने शान्त मनसे पाद्य और अर्घसे नारायणकी पूजाकी॥४२॥४३॥ नर और नारायण अतिथिसत्कार करनेके पीछे अपने आसन पर बैंठे, वे जब बैठे तब वह स्थान ॥ ४४ ॥ घीकी आहुति होमनेसे अग्निकी महाज्वालाओंसे जैसे यज्ञका मण्डप चारों ओरसे शोभा पाता है, तैसे चारों ओरसे दिपने लगा, उस समय सुखपूर्वक आसन पर बैठेहुए और आतिथ्य पाकर विश्राम लेते हुए नारदजीसे नर नारायणने कहा, कि-जिन सनातन भगवान् परमात्माको ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ श्वेतद्वीपमें तूने देखा है, वह हम दोनोंकी परा प्रकृति हैं, नारदजीने कहा, कि-मैंने श्वेतद्वीपमें विश्वरूपको धारण करनेवाले अविनाशी श्रीमान् विश्वरूपके दर्शन-किये हैं ॥ ४७ ॥ उनमें सब लोक तथा देवता और ऋषि भी रहते हैं तथा अब भी तुम दोनों देवताओंका दर्शन करने पर श्वेतद्वीपवासी श्रीहरिके मुझको दर्शन होते

यैर्लक्षणैरुपेतः स हरिरव्यक्तरूपधृत्। तैर्लक्षणैरुपेतौ हि व्यक्तरूपधरौ युवाम् ॥४९॥ दृष्टौ युवां मया तत्र तस्य देवस्य पार्श्वतः। इहैव च गतोऽस्म्यद्य विसृष्टः परमात्मना ॥ ५० ॥ को हि नाम भवेत्तस्य तेजसा यशसा श्रिया। सदृशस्त्रिषु लोकेषु ऋते धर्मात्मजौ युवाम् ॥५१॥ तेन मे कथितः कृत्स्नो धर्मः क्षेत्रज्ञसंज्ञितः। प्रादुर्भावाश्च कथिता भविष्या इह ये यथा ॥ ५२ ॥ तत्र ये पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः। प्रतिबुद्धाश्च ते सर्वे भक्ताश्च पुरुषोत्तम ॥ ५३ ॥ तेऽर्चयन्ति सदा देवं तैः सार्धं रमते च सः। प्रियभक्तो हि भगवान्परमात्मा द्विजप्रियः ॥ ५४ ॥ रमते सोऽर्च्यमानो हि सदा भागवतप्रियः। विश्वभुक् सर्वगो देवो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ५५ ॥ स कर्त्ता कारणं चैव कार्यं चातिबल-

---

हैं ॥ ४८ ॥ अव्यक्तरूपधारी श्रीहरिमें जो २ लक्षण हैं वे २ लक्षण व्यक्तरूपधारी तुम दोनोंमें हैं ॥ ४९ ॥ मैंने तहाँ उन देवके पास तुम दोनोंको देखा था और परमात्माके जानेकी आज्ञा देने पर मैं यहाँ आगया हूँ ॥ ५० ॥ तुम दोनों धर्मपुत्रोंके अतिरिक्त इस जगत्में उनकी समान कौन तेजस्वी यशस्वी और श्रीमान् है ? ॥ ५१ ॥ उन परमात्माने मुझसे क्षेत्रज्ञ संज्ञा वाले सब धर्म कहे थे तथा इस लोकमें भविष्यमें जो २ अवतार होंगे उनका भी वर्णन किया था ॥ ५२ ॥ तहाँ श्वेतवर्णके और पाँच इन्द्रियोंसे रहित जो पुरुष हैं, वे सब ज्ञानी हैं और पुरुषोत्तमके भक्त हैं ॥ ५३ ॥ वे सदा परमात्माकी पूजा करते हैं और परमात्मा उनके साथ क्रीड़ा करते हैं इन भगवान् परमात्माको अपने भक्त और ब्राह्मण प्रिय होते हैं और भक्तोंके पूजा करने पर वे उनके साथ रमण करते हैं, वे भक्तवत्सल माधव विश्वके भोक्ता और सर्वत्र व्यापक हैं ॥ ५४-५५ ॥ वे जगत्के कर्ता कारण और कार्य हैं, महाबल और कान्तिवाले

द्युतिः । हेतुश्चाज्ञाविधानं च तत्त्वं चैव महायशाः ॥ ५६ ॥ तपसा योज्य सो मानं श्वेतद्वीपात् परं हि यत् । तेज इत्यभिविख्यातं स्वयं भासावभासितम् ॥ ५७ ॥ शान्तिः सा त्रिषु लोकेषु विहिता भावितात्मना । एतया शुभया बुद्ध्या नैष्ठिकं व्रतमास्थितः ॥ ५८ ॥ न तत्र सूर्यस्तपति न सोमोऽभिविराजते । न वायुर्वाति देवेशे तपश्चरति दुश्चरम् ॥ ५९ ॥ वेदीमष्टनलोत्सेधां भूमावास्थाय विश्वकृत् । एकपादस्थितो देव ऊर्ध्वबाहुरुदङ्मुखः ॥६०॥ साङ्गानावर्तयन्वेदांस्तपस्तेपे सुदुश्चरम् । यद्ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत् ॥ ६१ ॥ शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः । नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्च ये ॥ ६२ ॥ हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते । कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठतः ॥६३॥ याः क्रियाः संप्रयुक्ताश्च

हैं, हेतु आज्ञा विधान और तत्त्वरूप हैं तथा महायशस्वी हैं ५६ वे परमात्मा अपनी आत्माको तपमें लगाकर श्वेतद्वीपसे भी आगे जो स्थान अपने प्रकाशसे ही प्रकाशित होरहा है तथा तेज नामसे प्रसिद्ध हैं तहां रहते हैं ॥ ५७ ॥ उन दयालु परमात्माने तीनों लोकोंमें शान्ति फैला रक्खी है और शान्ति फैलानेकी शुभ बुद्धिका वे नैष्ठिक व्रत धारण करके बैठे हुए हैं ॥५८॥ वे देवेश जब महाकठिन तप करते हैं तब सूर्य नहीं तपता है, चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता है और पवन भी नहीं चलता है ॥ ५९ ॥ वे विश्वके कर्ता परमात्मा पृथ्वीमें आठ अङ्गुल ऊँची वेदी पर एक पैरसे खड़े हो तथा हाथोंको ऊपरको कर और पूर्वदिशाकी ओर मुखकर तप करते हैं॥६०॥ और महाकठिन तप करते हुए वेद और वेदांगोंका पाठ करते हैं, ब्रह्मा, ऋषि, रुद्र तथा दूसरे बड़े २ देवता, दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, गरुड, गन्धर्व, सिद्ध और राजर्षि हव्य और कव्य देते हैं और वह सब हव्य, कव्य

एकांतगतबुद्धिभिः । ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयं ॥६४॥ न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिबुद्धैर्महात्मभिः । विद्यते त्रिषु लोकेषु ततोस्यैकान्तिकं गतः ॥ ६५ ॥ इह चैवागतस्तेन विसृष्टः परमात्मना । एवं मे भगवान्देवः स्वयमाख्यातवान्हरिः ६६ आसिष्ये तत्परो, भूत्वा युवाभ्यां सह नित्यशः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४३ ॥

नरनारायणावूचतुः । धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यत्ते दृष्टः स्वयं प्रभुः । न हि तं दृष्टवान्कश्चित्पद्मयोनिरपि स्वयम् ॥१॥अव्यक्तयोनिर्भगवान्दुर्दर्शः पुरुषोत्तमः । नारदैतद्धि नौ सत्यं वचनं समुदाहृतम् ॥ २ ॥ नास्य भक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते । ततः

परमात्माके चरणोंमें पहुँचता है ।। ६१–६३ ।। जिन्होंने परमात्मामें ही अपनी बुद्धिको लगा दिया है वे पुरुष जो २ काम करते हैं उन सब कामोंको परमात्मा स्वयं स्वीकार करते हैं ।। ६४ ।। महात्मा एकाग्र चित्त प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) पुरुषोंसे अधिक और कोई भी पुरुष उन्हें प्रिय नहीं है ।। ६५ ।। इन परमात्माके आज्ञा देने पर मैं यहां आया हूं, इस प्रकार भगवान् हरिने अपने आप कहा था ।। ६६ ।। अब मैं उन देवतामें परायण रहकर सदा आप के पास रहूँगा ।। ६७ ।। तीनसौ तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ।।

नर और नारायणने कहा, कि–हे नारद ! तुमने साक्षात् परमात्माको देखा, इससे तुम धन्य हो क्योंकि–किसीको क्या ब्रह्माजीको भी भगवान्के दर्शन नहीं हुए हैं ।। १ ।। भगवान् पुरुषोत्तम जो अव्यक्तके मूल हैं, वे किसीके भी देखनेमें नहीं आते, हे नारद ! हमारा कहा हुआ यह वचन सत्य है ।। २ ।। हे उत्तम ब्राह्मण ! परमात्माको इस जगत्में भक्तसे अधिक और कोई प्रिय नहीं है, अत एव इन्होंने अपने स्वरूपका तुझे दर्शन

स्वयं दर्शितवान्स्वमात्मानं द्विजोत्तम ॥ ३ ॥ तपो हि तप्यतस्तस्य यत्स्थानं परमात्मनः । न तत्संप्राप्नुते कश्चिदृते ह्यावां द्विजोत्तम ॥ ४ ॥ या हि सूर्यसहस्रस्य समस्तस्य भवेद्युतिः । स्थानस्य सा भवेत्तस्य स्वयं तेन विराजता ॥ ५ ॥ तस्माद्धुत्तिष्ठते विप्र देवाद्विश्वभुवः पतेः । क्षमा क्षमावतां श्रेष्ठ यया भूमिस्तु युज्यते ॥६॥ तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात्सर्वभूतहिताद्रसः । आपो हि तेन युज्यन्ते द्रवत्वं प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥ तस्मादेव समुद्भूतं तेजोरूपगुणात्मकम् । येन संयुज्यते सूर्यस्ततो लोके विराजते ।८। तस्माद्द देवात्समुद्भूतः स्पर्शस्तु पुरुषोत्तमात् । येन स्म युज्यते वायुस्ततो लोकान्विवात्यसौ ९ तस्माच्चोत्तिष्ठते शब्दः सर्वलोकेश्वरात्प्रभो । आकाशं युज्यते येन ततस्तिष्ठत्यसंवृतम् ॥ १० ॥

कराया है ॥ ३ ॥ हे उत्तम ब्राह्मण ! परमात्मा जिस उत्तम स्थानमें तप करते हैं, वह स्थान हम दोनोंके अतिरिक्त और किसीको नहीं मिलसकता ॥ ४ ॥ जहाँ परमात्मा स्वयं विराजते हैं, उस स्थानकी कान्ति एक सहस्र सूर्योंकी कान्तिकी समान है ॥ ५ ॥ हे विप्र ! हे क्षमा करने वालोंमें श्रेष्ठ ! जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ है उस कान्तिमान् देवपुरुपसे क्षमा उत्पन्न हुई है और वह भूमिमें रहती है ॥ ६ ॥ सब प्राणियोंका हित करने वाले उन देवमेंसे रस उत्पन्न होता है और जल उससे संयुक्त होजाते हैं तथा द्रवत्वको प्राप्त होते हैं ॥७॥ उन परमात्मा से ही रूपगुण वाला साकार तेज उत्पन्न होता है और उसके साथ सूर्य संयुक्त होकर जगत्में प्रकाशित होता है ॥ ८ ॥ पुरुषोंमें उत्तम उन परमात्मासे स्पर्श उत्पन्न होता है, उसके साथ संयुक्त होकर वायु जगत्में चलता है ॥ ९ ॥ और सब लोकोंके ईश्वर प्रभुसे शब्द उत्पन्न होता है और आकाशसे मिल कर असंवृत (खुला हुआ) रहता है ॥ १० ॥ और उन

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात्सर्वभूतगतं मनः। चन्द्रमा येन संयुक्तः प्रकाशगुणधारणः ॥ ११ ॥ सद्भूतोत्पादकं नाम तत्स्थानं वेदसंज्ञितम्। विद्यासहायो यत्रास्ते भगवान्हव्यकव्यभुक् ॥ १२ ॥ ये हि निष्कलुषा लोके पुण्यपापविवर्जिताः। तेषां वै क्षेममध्वानं गच्छतां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥ सर्वलोके तमोहंता आदित्यो द्वारमुच्यते। आदित्यदग्धसर्वांगा अदृश्याः केनचित्कचित् ॥ १४ ॥ परमाणुभूता भूत्वा तु तं देवं प्रविशंत्युत। तस्मादपि च निर्मुक्ता अनिरुद्धतनौ स्थिताः ॥ १५ ॥ मनोभूतास्ततो भूत्वा प्रद्युम्नं प्रविशन्त्युत। प्रद्युम्नाच्चापि निर्मुक्ता जीवं संकर्षणं ततः ॥१६॥ विशन्ति विप्रप्रवराः सांख्या भागवतैः सह। ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ॥ १७ ॥ प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणा-

---

देवसे सब प्राणियोंमें स्थित मन उत्पन्न होता है चन्द्रमा उससे मिल कर प्रकाशरूपी गुणको धारण करता है ॥ ११ ॥ इस प्रकार भूतोंको उत्पन्न करने वाले उस स्थानको सत् कहते हैं और उस स्थानमें हव्य और कव्यका भोजन करने वाले भगवान् विद्याके साथ रहते हैं ॥ १२ ॥ हे उत्तम ब्राह्मण ! इस जगत्में जो पुरुष निष्कलंक हैं, पुण्य और पापसे रहित हैं उन पुरुषोंको (इस कल्याणकारक स्थानमें) जानेका मार्ग विघ्नरहित (मिलता) है ॥ १३ ॥ सब जगत्के अन्धकारको नष्ट करने वाला सूर्य (मुक्तिका) द्वार कहलाता है और कभी २ कोई आदित्यके सब अङ्गोंको भस्म कर देने पर अदृश्य परमाणुरूप होकर उन देवमें प्रवेश करता हैं, तदनन्तर उन देवमेंसे बाहर निकल कर अनिरुद्धके शरीरमें प्रवेश करता है ॥ १४-१५ ॥ फिर मनोरूप होकर प्रद्युम्नके शरीरमें प्रवेश करता है और प्रद्युम्नके शरीरमेंसे मुक्त होकर जीवरूप संकर्षणमें प्रवेश करता है ॥ १६ ॥ फिर सांख्यशास्त्रको जानने वाले उत्तम ब्राह्मण भगवान्के भक्तोंके

त्मकं । सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः ।। १८ ।। समाहितमनस्काश्च नियताः संयतेन्द्रियाः । एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ।।१६।। आवामपि च धर्मस्य गृहजातौ द्विजोत्तम । रम्यां विशालामाश्रित्य तप उग्रं समास्थितौ ।। २० ।। ये तु तस्यैव देवस्य प्रादुर्भावाः सुरप्रियाः । भविष्यन्ति त्रिलोकस्थास्तेषां स्वस्तीत्यथो द्विज ।। २१ ।। विधिना स्वेन युक्ताभ्यां यथा पूर्वं द्विजोत्तम । आस्थिताभ्यां सर्वकृच्छ्रं व्रतं सम्यगनुत्तमम् २२। आवाभ्यामपि दृष्टस्त्वं श्वेतद्वीपे तपोधन । समागते भगवता संकल्पं कृतवांस्तथा ।। २३ ।। सर्वं हि नौ संविदितं त्रैलोक्ये सचराचरे । यद्भविष्यति वृत्तं वा वर्तते वा शुभाशुभं । सर्वं स ते

साथ तीन गुणोंसे रहित परमात्मामें एक साथ प्रवेश कर जाते हैं फिर द्विजश्रेष्ठ निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञमें प्रवेश करते हैं, तत्त्वदृष्टिसे वासुदेव सबके आवास हैं और क्षेत्रज्ञ हैं, यह तुमको ध्यानमें रखना चाहिये।।१७।।१८।।जो अपने मनको वशमें रखते हैं, जो नियम पालने वाले हैं और जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं तथा जो एकाग्र भावको प्राप्त होगए हैं वे वासुदेवमें प्रवेश करते हैं ।।१६।। हे ब्राह्मणोत्तम ! हम दोनों धर्मके घरमें उत्पन्न हुए हैं और इस रमणीय विशाला नगरीमें रहकर उग्र तप कर रहे हैं ।। २० ।। हे ब्राह्मण ! उन परमात्माके देवताओंके प्रिय जो अवतार तीनों लोकोंमें होंगे उनका कल्याण हो ।।२१। हे उत्तम ब्राह्मण ! हम अपनी विधिको पहिलेकी समान ही करते हैं तथा सर्वोत्तम महाकष्टकारक तपश्चरणरूपी व्रतभी हम पालते हैं ।। २२ ।। हे तपोधन ! हम दोनोंनेभी श्वेतद्वीपमें तुझको देखा था तथा तू भगवान्से मिला और भगवान्के साथ तूने जो विचार किया ।।२३।।ये सब हम दोनों जानते हैं हे महामुने ! इस स्थावर जंगमात्मक त्रिलोकीमें जोकुछ शुभ अथवा अशुभ बात होने

कथितवान्देवदेवो महामुने ॥ २४ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा तयोर्वाक्यं तपस्युग्रे च वर्त्ततोः नारदः प्रांजलिर्भूत्वा नारायणपरायणः ॥ २५ ॥ जजाप विधिवन्मन्त्रान्नारायणगतान् बहून् । दिव्यं वर्षसहस्रं हि नरनारायणाश्रमे ॥२६॥ अवसत्स महातेजा नारदो भगवानृषिः तमेवाभ्यर्चयन्देवं नरनारायणौ च तौ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४४ ॥

वैशम्पायन उवाच । कस्यचित्त्वथ कालस्य नारदः परमेष्ठिजः । दैवं कृत्वा यथान्यायं पित्र्यं चक्रे ततः परं ॥ १ ॥ ततस्तं वचनं प्राह ज्योष्ठो धर्मात्मजः प्रभुः । क इज्यते द्विजश्रेष्ठ दवे पित्र्ये च कल्पिते ॥ २ ॥ त्वयेह मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे शंस यथागमं । किमेतत्क्रियते कर्म फलं वास्य किमिष्यते ॥ ३ ॥ नारद उवाच ।

वाली है, होगई है और होरही है, वह सब देवदेव परमात्माने तुझसे कही है ॥ २४ ॥ वैशंपायनने कहा, कि-हे जनमेजय ! भयंकर तप करने वाले नर नारायणके वचनको सुन कर नारदजी दोनों हाथ जोड़कर परमात्माका ध्यान करने लगे २५ फिर नारायणके अनेक मंत्रोंका विधिपूर्वक जप करने लगे, फिर नारदजी नारायणके आश्रममें सहस्रों दिव्य वर्षोंतक वासुदेव भगवान् और नारायणका पूजन करते हुए रहे थे ॥२६-२७ ॥ तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४४ ॥

वैशम्पायनने कहा, कि-हे राजा जनमेजय! एक समय ब्रह्माजी के पुत्र नारदजीने पहिले शास्त्रानुसार देवकर्म किया, फिर पितृकर्म किया ॥ १ ॥ तब धर्मके ज्येष्ठ पुत्र नारायणने उनसे कहा, कि-हे द्विजश्रेष्ठ ! तू देवकर्म और पितृकर्म करके किसकी पूजा करता है ? ॥ २ ॥ हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ नारद ! यह बात तू मुझसे शास्त्रानुसार कह, तू यह क्या काम कर रहा है और इसका

त्वयैतत्कथितं पूर्वं दैवं कर्तव्यमित्यपि । दैवतं च परो यज्ञः परमात्मा सनातनः ॥४॥ ततस्तद्भावितो नित्यं यजे वैकुण्ठमव्ययम् । तस्माच्च प्रसृतः पूर्वं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ५ ॥ मम वै पितरं प्रीतः परमेष्ठ्यप्यजीजनत् । अहं संकल्पजस्तस्य पुत्रः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥ यजामि वै पितॄन्साधो नारायणविधौ कृते । एवं स एव भगवान् पिता माता पितामहः ॥ ७ ॥ इज्यते पितृयज्ञेषु तथा नित्यं जगत्पतिः। श्रुतिश्चाप्यपरा देवी पुत्रान्हि पितरोऽयजन्८ वेदश्रुतिः प्रनष्टा च पुनरध्यापिता सुतैः । ततस्ते मंत्रदाः पुत्राः पितृत्वमुपपेदिरे ॥ ९ ॥ नूनं सुरैस्तद्विदितं युवयोर्भावितात्मनोः ।

क्या फल पाना चाहता है॥३॥ नारदने कहा कि–आपने मुझसे पहिले कहा था, कि–पहिले देवकर्म करना चाहिये, क्योंकि–देवकर्म महायज्ञ है और वह सनातन परमात्माका स्वरूप है ४ इसलिये मैं सदा मनमें भगवान्का ध्यान करताहुआ अविनाशी वैकुण्ठकी पूजा करता हूँ, इन परमात्मासे पहिले लोक पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥ और उन परमेष्ठीने प्रसन्न होकर मेरे पिताको उत्पन्न किया था और मैं प्रजापतिके प्रथमसंकल्प मेंसे उत्पन्न हुआ पुत्र हूँ ६ हे साधो ! मैं पहिले नारायणकी पूजा करता हूँ फिर पितरोंका पूजन करता हूँ, इसप्रकार यह भगवान् मेरे माता पिता और पितामह हैं ७ इस प्रकार पितृयज्ञ में भी जगत्के पिताका पूजन किया जाता है, और एक श्रुति है,कि–पितरोंने पुत्रोंका पूजन किया था (पितर अर्थात् अग्निष्वात्ता आदि पुत्रोंको वेद पढ़ा कर असुरोंसे युद्ध करनेके लिये गए थे,उस युद्धमें बहुत समय व्यतीत होजानेसे वे वेदोंको भूल गए, इसलिये उन्हें अपने पुत्रोंसे वेद पढ़ने पड़े थे, ऐसी पुराण में एक कथा है) ८ पहिले देवता वेदकी श्रुतियोंको भूल गए थे, तब उनके पुत्रोंने उनको वेद पढाया था, इससे पुत्रोंको

पुत्राश्च पितरश्चैव परस्परमपूजयन् ॥ १० ॥ त्रीन्पिण्डान्न्यस्य वै पृथ्व्यां पूर्वं दत्त्वा कुशानिति । कथं तु पिण्डसंज्ञां ते पितरो लेभिरे पुरा ॥ ११ ॥ नरनारायणावूचतुः । इमां हि धरणीं पूर्वं नष्टां सागरमेखलाम् । गोविन्द उज्जहाराशु वाराहं रूपमास्थितः ॥ १२ स्थापयित्वा तु धरणीं स्वे स्थाने पुरुषोत्तमः । जलकर्दमलिप्तांगो लोककार्यार्थमुद्यतः ॥ १३ ॥ प्राप्ते चाह्निककाले तु मध्यदेशगते रवौ । दंष्ट्राविलग्नांस्त्रीन्पिण्डान्विधूय सहसा प्रभुः ॥ १४ ॥ स्थापयामास वै पृथ्व्यां कुशानास्तीर्य नारद । स तेष्वात्मानमुद्दिश्य पित्र्यं चक्रे यथाविधि ॥१५॥ संकल्पयित्वा त्रीन्पिण्डान्

पितृपद मिला था ६ देवताओंने जो कुछ किया है उसको भक्तको जानने वाले आप दोनों जानते हैं, पुत्र और पितर उसदिनसे परस्परकी पूजा करते हैं १० पहिले पृथ्वी पर कुशा बिछा कर उन पर पितरोंके निमित्त तीन पिण्ड रक्खे जाते हैं,परन्तु पहिले पितरोंका पिण्ड नाम क्यों पड़ा था ? ॥ ११ ॥ नर और नारायणने कहा, कि–समुद्रकी मेखला वाली यह पृथ्वी पहिले जलमें डूब गई थी, उसको भगवान् गोविंद वराहका रूप धारण करके ऊपर लाये थे ॥१२॥ फिर जल और कीचड़से जिनका सारा शरीर लिस रहा है तथा जो लोकोंके कामके लिये सदा तयार रहते हैं उन भगवान् पुरुषोत्तमने पृथ्वीको उसके स्थानमें (पुनः) स्थापित कर दिया ॥ १३ ॥ फिर सूर्य मध्यदेशमें आया और आन्हिकका समय प्राप्त हुआ, तब हे नारद ! उन्होंने पृथ्वी पर कुशो बिछा कर अपनी डाढ़में लगे हुए तीनों पिण्डोंको हिला कर पृथ्वीमें धर दिया, तदनन्तर उन तीनों पिण्डोंमें अपनी आत्माके उद्देश्यसे विधिपूर्वक पितृकर्म किया, उन तीनों पिण्डों का विधिपूर्वक संकल्प करके भगवान्ने अपने शरीरमेंसे निकलती हुई उष्णताके स्नेहयुक्त तिलोंसे उन पिण्डोंका प्रोक्षण किया,

स्वेनैव विधिना प्रभुः । आत्मगात्रोष्मसंभूतैः स्नेहगर्भैस्तिलैरपि १६ प्रोक्ष्यापवर्गं देवेशः प्राङ्मुखः कृतवान्स्वयम् । मर्यादा स्थापनार्थं च ततो वचनमुक्तवान् ॥ १७ ॥ वृषाकपिरुवाच । अहं हि पितरः स्रष्टुमुद्यतो लोककृत्स्वयम् । यस्य चिन्तयतः सद्यः पितृकार्यविधीन्परान् ॥१८॥ दंष्ट्राभ्यां प्रविनिर्धूता ममैते दक्षिणां दिशम् । आश्रिता धरणीपिण्डास्तस्मात्पितर एव ते ॥ १९ ॥ त्रयो मूर्तिविहीना वै पिण्डमूर्तिधरास्त्विमे । भवन्तु पितरो लोके मया सृष्टाः सनातनाः ॥ २० ॥ पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः । अहमेवात्र विज्ञेयस्त्रिषु पिण्डेषु संस्थितः ॥ २१ ॥ नास्ति मत्तोधिकः कश्चित्को वान्योऽर्च्यो मया स्वयं । को वा मम पिता लोके अहमेव पितामहः ॥ २२ ॥ पितामहपिता चैव अहमेवात्र कारणम् । इत्येतदुक्त्वा वचनं देवदेवो वृषाकपिः ॥ २३ ॥ वराहपर्वते विप्र

देवदेव परमात्माने पूर्वकालकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पितृकर्म किया, फिर कहने लगे १४-१७ वृषाकपिने कहा, कि-मैंने लोकोंको उत्पन्न किया है मैं पितरोंको उत्पन्न करते समय पितृकर्मकी उत्तम विधिका विचार करने लगा, इतनेमें ही मेरी डाढ़ परसे हिलकर दाहिनी ओर पृथ्वी पर तीन पिण्ड गिर पड़े,इस तीन पिण्डोंको ही पितर समझना चाहिये १९ ये तीनों पितर मूर्तिरहित हैं और पिण्ड रूप मूर्तिको धारण करनेवाले,मेरे उत्पन्न कियेहुए और सनातन हैं, वे जगत्में पितर हों २० इन तीनों पिण्डोंमें मैं हूँ, इस लिये मुझकोही पिता, पितामह और प्रपितामह जानना चाहिये २१ कोई पुरुष मुझसे श्रेष्ठ नहीं है,तब फिर मैं किसका पूजन करूँ? तैसेही मैं पितामह हूँ, फिर जगत्में मेरा पितामह कौन होसकता है ? २२ मैं पितामहका भी पिता हूँ, क्योंकि-मैं सबको उत्पन्न करने वाला हूँ, इसप्रकार देवदेव वृषाकपिने कहकर ॥ २३ ॥

दत्वा पिण्डान्सविस्तरान् । आत्मानं पूजयित्वैव तत्रैवादर्शनं गतः ॥ २४ ॥ एषा तस्य स्थितिर्विप्र पितरः पिण्डसंज्ञिताः । लभन्ते सततं पूजां वृषाकपिवचो यथा ॥ २५ ॥ ये यजन्ति पितन्देवान्गुरूंश्चैवातिथींस्तथा। गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं यथा ॥ २६ ॥ कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते। अतंर्गतः स भगवान्सर्वसत्त्वशरीरगः ॥२७॥ समः सर्वेषु भूतेषु ईश्वरः सुखदुखयोः । महान्महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४५ ॥

वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं नरनारायणेरितं । अत्यन्तं भक्तिमान्देवे एकान्तित्वमुपेयिवान् ॥१॥ प्रोष्य वर्षसहस्रं

हे ब्राह्मण ! वराह पर्वतके ऊपर विस्तारसे तीन पिंड छोडे और अपना ही पूजन करके तहाँ ही अन्तर्धान होगए२४ हे ब्राह्मण! वृषाकपिके कथनानुसार पिण्डकी इसप्रकार उत्पत्ति हुई है और पिण्डनामधारी पितर नित्य मनुष्योंसे पूजे जाते हैं २५ जो पुरुष पितरोंका, देवताओंका, गुरुओंका, अतिथियोंका, गौओंका, ब्राह्मणोंका, पृथिवीका तथा माताका पूजन करते हैं २६ वे मनसा वाचा, कर्मणा विष्णुकाही पूजन करते हैं ऐसा समझना चाहिये क्योंकि–सब प्राणियोंके शरीरमें रहने वाले भगवान् विष्णु सब प्राणियोंके हृदयाकाशमें रहते हैं ॥ २७ ॥ वह परमात्मा सब प्राणियोंमें समभावसे विराजमान हैं और वह सुख और दुःख के ईश्वर हैं, यह नारायण महान् हैं, महात्मा हैं, सबके आत्मा-रूप हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा है ॥२८। तीनसौ पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४५ ॥

वैशम्पायनने कहा कि–नर नारायणके कहे हुए वचनको

तु नरनारायणाश्रमे। श्रुत्वा भगवदाख्यानं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् २ हिमवन्तं जगामाशु यत्रास्य स्वक आश्रमः। तावपि ख्याततपसौ नरनारायणावृषी ॥३॥ तस्मिन्नेवाश्रमे रम्ये तेपतुस्तप उत्तमम्। त्वमप्यमितविक्रांतः पाण्डवानां कुलोद्वह ॥ ४ ॥ पावितात्माद्य संवृत्तः श्रुत्वेमामादितः कथाम्। नैव तस्यापरो लोको नायं पार्थिवसत्तम ॥ ५ ॥ कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद्विष्णुम व्ययम्। मज्जंति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥ यो द्विष्याद्विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्। कथं नाम भवेद्द्वेष्य आत्मा लोकस्य कस्यचित् ॥ ७ ॥ आत्मा हि पुरुषव्याघ्र ज्ञेयो विष्णुरिति स्थितिः। य एष गुरुरस्माकं ऋषिर्गन्धवतीसुतः।८। तेनैतत्कथितं तात माहात्म्यं परमव्ययम्। तस्माच्छ्रुतं मया चेदं कथितं च तवानघ ॥ ९ ॥ नारदेन तु संप्राप्तः सरहस्यः स-

---

सुनकर नारदजी उन देवताके अनन्य भक्त होगए॥ १॥ और नर नारायणके आश्रममें एक सहस्र वर्ष तक रहकर भगवान्का आख्यान सुनकर और अविनाशी श्रीहरिके दर्शन करके हिमाचल परके अपने स्थानमें तुरत ही चले गए,दूसरी ओर प्रसिद्ध तप करनेवाले नर-नारायण नामक ऋषि भी अपने रम्य आश्रम में उत्तम प्रकारका तप करने लगे,हे जनमेजय! पाण्डवोंके कुल में उत्पन्न हुआ और अमेय पराक्रमी तू भी इस कथाको आरंभ से सुनकर अब पवित्र होगया है जो अविनाशी विष्णुका मन, वाणी अथवा कर्मसे द्वेष करते हैं न उनका यह लोक है न पर-लोक है और उनके पितर सदाके लिये नरकमें गिर पड़ते हैं; अपनी आत्मासे कौन पुरुष द्वेष करेगा १२-७हे पुरुषोंमें व्याघ्र समान राजन्! विष्णु भगवान् सबके आत्मारूप हैं,यह प्रसिद्ध है गंधवतीके पुत्र व्यासजी जो हमारे गुरु हैं॥८॥ उन्होंने हे तात! इससे यह परमश्रेष्ठ माहात्म्य कहा है, हे निर्दोष राजन्! मैंने

संग्रहः । एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ॥ १० ॥ एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम। कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ११ ॥ कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि । को ह्यन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद्भवेत्॥१२॥ धर्मान्नानाविधांश्चैव को ब्रूयात्तमृते प्रभुम् ॥ १३ ॥ वर्ततां ते महायज्ञो यथासंकल्पितस्त्वया । संकल्पिताश्वमेधस्त्वं श्रुतधर्मश्च तत्त्वतः१४ सौतिरुवाच । एतत्तु महादाख्यानं श्रुत्वा पार्थिवसत्तमः । ततो यज्ञसमाप्त्यर्थं क्रियाः सर्वाः समारभत् ॥ १५ ॥ नारायणीयमाख्यानमेतत्ते कथितं मया । पृष्टेन शौनकाद्येह नैमिषारण्यवासिषु ॥ १६ ॥ नारदेन पुरा यद्वै गुरवे तु निवेदितं । ऋषीणां

उनसे वह माहात्म्य सुना है और वही तुझसे कहा है ॥ ९ ॥ और हे राजन् ! नारदजीने जगत्के नाथ नारायणसे यह धर्म-रहस्य और संग्रह सहित पाया था ॥ १० ॥ हे उत्तम राजन् ! यह ही महाधर्म पहिले मैंने तुझसे संक्षेपमें विधिसहित हरिगीता में कहा था ॥ ११ ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! तुझे पृथ्वीमें कृष्णद्वैपायन व्यासजीको नारायणस्वरूप समझना चाहिये, इनके अतिरिक्त और कौन पुरुषव्याघ्र महाभारतकी रचना करसकता है?॥१२॥ वैसे ही उन प्रभुके विना और कौन नाना प्रकारके धर्मोंको कह सकता है ॥ १३ ॥ अब तूने जिस प्रकार संकल्प किया हो, उस प्रकार अपने महायज्ञको कर तूने अश्वमेध यज्ञ करनेका संकल्प किया है और तूने धर्मको यथार्थरीतिसे सुना है ॥१४॥ सूतपुत्र कहते हैं, कि–राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने वैशम्पायनके इस बड़े भारी आख्यानको सुनकर यज्ञ समाप्त करनेकी क्रियायें आरम्भ कीं ॥ १५ ॥ हे शौनक ! तूने मुझसे प्रश्न किया था, तब मैंने तुझसे यह नारायणका आख्यान नैमिषारण्यवासियों के सामने कहा ॥ १६ ॥ इस ही आख्यानको पहिले ऋषि,

पाण्डवानां च शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ॥ १७ ॥ स हि परमर्षिर्जनभुवनपतिः पृथुधरणिधरः श्रुतिविनयविधिः । शमनियमनिधिर्यमनियमपरो द्विजवरसहितस्तव च भवतु गतिर्हरिरमरहितः ॥ १८ ॥ असुरवधकरस्तपसां निधिः सुमहतां यशसां च भाजनम् । मधुकैटभहा कृतधर्मविदां गतिदो भयदो मखभागहरोस्तु शरणं स ते ॥ १९ ॥ त्रिगुणो विगुणश्चतुरात्मधरः पूर्तेष्टयोश्च फलभागहरः । विदधातु नित्यमजितोतिबलो गतिमात्मगां सुकृतिनामृषीणां ॥ २० ॥ तं लोकसाक्षिणमजं पुरुषं पुराणं रविवर्णमीश्वरं गतिं बहुशः । प्रणमध्वमेकमनसो यतः

पाण्डव, कृष्ण और भीष्मजीके सामने नारदजीने मेरे गुरुसे कहा था ॥ १७ ॥ ये नर और नारायण परमर्षि हैं, मनुष्योंके और सब लोकोंके स्वामी हैं, विस्तार वाली पृथिवीको धारण करनेवाले हैं, वेदोक्त विधिका पालन करनेवाले हैं, शम और दमके निधिरूप हैं, यम और नियममें परायण रहते हैं और देवताओंका हित करनेवाले हैं, वे श्रीहरि उत्तम ब्राह्मणों सहित तेरी गतिरूप हों ॥ १८ ॥ और असुरोंका वध करनेवाले, तपके भण्डाररूप, महायशपात्ररूप, मधु कैटभका नाश करनेवाले, सत्ययुगके धर्मोंको जाननेवालोंको मोक्ष देनेवाले, अभय देने वाले, यज्ञमें भागको ग्रहण करनेवाले श्रीहरिकी तू शरण ले ॥ १९ ॥ तीन गुणवाले, गुणोंसे रहित चार मूर्तियोंको धारण करनेवाले (बावडी आदि) पूर्त और तथा (अग्निहोत्र आदि) इष्ट फलको ग्रहण करनेवाले अजित और अति वेगवाले भगवान् पुण्य कर्म करनेवाले ऋषियोंको आत्माकी प्राप्तिरूप गति(मोक्ष) दें २० तुम सब एक मनके होकर लोकोंके साक्षीरूप, जन्मरहित, पुराणपुरुष, सूर्यकी समान वर्ण वाले, ईश्वर, और सबको गति देने वाले श्रीपरमेश्वरको प्रणाम करो, क्योंकि–जलमेंसे उत्पन्न

सलिलोद्भवोपि तमृषिं प्रणतः ॥ २१ ॥ स हि लोकयोनिरमृतस्य पदं सूक्ष्मं परायणमचलं हि पदम् । तत्सांख्ययोगिभिरुदारधृतं बुद्ध्यायतात्मभिरिदं सनातनम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४६ ॥

शौनक उवाच । श्रुतं भगवतस्तस्य माहात्म्यं परमात्मनः । जन्म धर्मगृहे चैव नरनारायणात्मकं ॥ १ ॥ महावराहसृष्टा च पिण्डोत्पत्तिः पुरातनी । प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यो यथा परिकल्पितः ॥ २ ॥ तथा च नः श्रुतो ब्रह्मन्कथ्यमानस्त्वयानघ । हव्यकव्यभुजो विष्णुरुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३ ॥ यच्च तत्कथितं पूर्वं त्वया हयशिरो महत् । तच्च दृष्टं भगवता ब्रह्मणा परमे-

---

हुए (शेषशायी) नारायण भी इन ऋषि वासुदेवको , प्रणाम करते हैं ॥२१॥ हे उदाररुचि वाले राजन् ! यह वासुदेव तीनों लोकोंकी मूल है, अमरोंका स्थान हैं सूक्ष्म हैं, सबके परमस्थान हैं, अचल पद हैं तथा सनातन तत्त्वरूप हैं तथा मनका निग्रह करने वाले साङ्ख्ययोगी इन परमात्माको बुद्धिसे प्राप्त करते हैं२२

तीनसौ छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४६ ॥

शौनकने बूझा, कि—हमने भगवान् परमात्माका माहात्म्य सुना तथा उन्होंने धर्मके घरमें नर और नारायणरूपसे जन्म लिया, यह भी सुना ॥१॥ और महावराहने सनातन पिण्डोंकी उत्पत्ति की, यह कथा भी सुनी और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति धर्ममें जिसका जिस प्रकार विधान बनाया गया, उसकी भी कथा हे सूतपुत्र शौनक ! तुम्हारे मुखसे सुनी और समुद्रके ईशानकोण में हव्य और कव्यका भोजन करने वाले विष्णुने हयग्रीवका अवतार लिया था, यह कथा भी आपने हमसे पहिले कही थी और घोड़ेके महामस्तकको परमेष्ठी ब्रह्माजीने पहिले देखा

ष्ठिना ॥ ४ ॥ किं तदुत्पादितं पूर्वं हरिणा लोकधारिणा । रूपं प्रभावं महतामपूर्वं धीमतां वर ॥ ५ ॥ दृष्ट्वा हि विबुधश्रेष्ठमपूर्वममितौजसं । तदश्वशिरसं पुण्यं ब्रह्मा किमकरोन्मुने ॥ ६ ॥ एतन्नः संशयं ब्रह्मन्पुराणं ज्ञानसंभवम् । कथयस्वोत्तममते महापुरुषनिर्मितम् ॥ ७ ॥ पाविताः स्म त्वया ब्रह्मन्पुण्यां कथयतां कथाम् । सौतिरुवाच।कथयिष्यामि ते सर्वं पुराणं वेदसंमितम् ८ जगौ यद्भगवान् व्यासो राज्ञः पारिक्षितस्य वै । श्रुत्वाश्वशिरसो मूर्त्तिं देवस्य हरिमेधसः ॥९॥ उत्पन्नसंशयो राजा एवदेवमचोदयत् ।जनमेजय उवाच । यत्तद्दर्शितवान्ब्रह्मा देवं हयशिरोधरम् ॥ १० ॥ किमर्थं तत्समभवत्तन्ममाचक्ष्व सत्तम । वैश:

था ॥ २–४ ॥ हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! पहिले लोकोंको धारण करने वाले हरिने अपूर्वरूप वाला और अपूर्व प्रभाव वाला महास्वरूप किसलिये धारणकिया था ? ॥ ५ ॥ और हे मुनि ! देवताओंमें श्रेष्ठ, अपूर्व, अपार बलवाले पवित्र हयग्रीवको देख कर ब्रह्माजीने क्याकिया था ? ॥ ६ ॥ हे ब्रह्मण ! इस पुरातन ज्ञानविषयमें हमको संदेह पड़ गया है हे उत्तम बुद्धिवाले ! इन महापुरुषने जो अवतार धारण किया था, उसके संबन्धमें आप हमसे कहिये हे ब्रह्मन् ! आपने पवित्र कथा कहकर हमको पवित्र किया है, सूतपुत्रने उत्तर दिया, कि–इस वेदके अनुकूल सारे पुराणको मैं तुमसे कहूँगा ॥ ७ ॥ ८ ॥ भगवान् व्यसजीने जो बात राजा जनमेजयसे कही थी,वही सब बात मैं तुमसे कहूँगा, श्रीहरिकी हयग्रीव नामक मूर्तिकी कथाको सुनकर उस राजाको संदेह हुआ था और उसने भी तेरी समान ही प्रश्न किया था, जनमेजयने बूझा,कि हे सत्तम ! ब्रह्माजीने अश्वके मस्तकको धारण करनेवाले हयग्रीव भगवान्के रूपको जो देखा था९-१० सो वह रूप कौनसा-काम करनेके लिये उत्पन्न हुआ था,यह आप-

म्पायन उवाच । यत्किंचिदिह लोके वै देहसत्वं विशाम्पते ११ सर्वं पंचभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिभिः । ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा प्रभुर्नारायणो विराट् ॥१२॥ भूतांतरात्मा वरदः सगुणो निर्गुणोऽपि च । भूतप्रलयमत्यन्तं शृणुष्व नृपसत्तम ॥१३॥ धरण्यामथ लीनायामप्सु चैकार्णवे पुरा । ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले ॥ १४ ॥ वायौ चाकाशसंलीने, आकाशे च मनोनुगे । व्यक्ते मनसि संलीने व्यक्ते चाव्यक्ततां गते ॥ १५ ॥ अव्यक्ते पुरुषं याते पुंसि सर्वगतेपि च । तम एवाभवत्सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ १६ ॥ तमसो ब्रह्म संभूतं तमो मूलामृतात्मकं । तद्विश्वभावसंज्ञातं पौरुषीं तनुमाश्रितम् ॥ १७ ॥ सोऽनि-

मुझसे कहिये, वैशंपायनजीने कहा, कि-हे राजन् ! इस जगत्में जो देहधारी सत्त्व (प्राणी) हैं ॥ ११ ॥ वे सब ईश्वरके संकल्पसे उत्पन्न हुए पञ्चमहाभूतोंसे युक्त हैं, ईश्वर जगत्के रचने वाले हैं, नारायण हैं, विराट हैं ॥ १२ ॥ सब प्राणियोंके अन्तरात्मारूप हैं, गुणोंसे युक्त हैं और निर्गुण भी हैं, हे श्रेष्ठ राजन् ! अब तू मुझसे पञ्चभूतोंके लयकी वात सुन ॥ १३ ॥ पहिले पृथ्वी जलमें लीन होगई थी और जगत् समुद्रसा होगया था, जल तेजमें लीन होगया था और तेज वायुमें लीन होगया था ॥ १४ ॥ वायुका आकाशमें लय होगया था, आकाश मनमें लीन होगया था, मन व्यक्तमें लीन होगया था, व्यक्त अव्यक्त में लीन होगया था और पुरुष ब्रह्ममें लीन होगया था और सब तमोरूप होगया (अर्थात् इन्द्रिय आदिसे होने वाला विशेष-ज्ञान नष्ट होगया)था तथा कुछभी जाननेमें नहीं आता था (अर्थात् विशेषज्ञानकाभी नाश होगया था) ॥ १६ ॥ तममेंसे (जगत्के कारणरूप परम व्योम) ब्रह्म उत्पन्न हुए थे, यह तम ही मूल है और वह अमृत अर्थात् चैतन्यमें अधिष्ठित था, तममें

रुद्ध इति प्रोक्तस्तत्प्रधानं प्रचक्षते । तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृपसत्तम ॥१८॥ विद्यासहायवान्देवो विष्वक्सेनो हरिः प्रभुः । अप्स्वेव शयनं चक्रे निद्रायोगमुपागतः ॥ १९ ॥ जगतश्चिंतयन्सृष्टिं चित्रां बहुगुणोद्भवाम् । तस्य चिंतयतः सृष्टिं महानात्मगुणः स्मृतः ॥२०॥ अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा स तु चतुर्मुखः । हिरण्यगर्भो भगवान्सर्वलोकपितामहः ॥ २१ ॥ पद्मेऽनिरुद्धात्संभूतस्तदा पद्मनिभेक्षणः । सहस्रपत्रे द्युतिमानुपविष्टः सनातनः॥२२ ददृशेऽद्भुतसंकाशो लोकानापोमयान्प्रभुः॥सत्त्वस्थः परमेष्ठी स ततो भूतगणान्सृजन् ॥ २३ ॥ पूर्वमेव च पद्मस्य पत्रे सूर्यांशुसप्रभे ।

से उत्पन्न हुआ यह ब्रह्म विश्वरूप होता है और पुरुषके शरीर को धारण करता है ॥ १७ ॥ हे श्रेष्ठ राजन् ! उसको अनिरुद्ध कहते हैं उसको ही विद्वान् प्रधान कहते हैं, अव्यक्त कहते हैं और वह तीनों गुणोंसे युक्त है ॥ १८ ॥ विद्याकी सहायता वाले देव विश्वक्सेन समर्थ श्रीहरिने योगनिद्राको धारण करके जलमें शयन किया ॥ १९ ॥ और अनेक गुणोंसे उत्पन्न हुई चित्रविचित्र सृष्टि रचनेका विचार करने लगे, वह सृष्टिकी उत्पत्तिका विचार कररहे थे, तब अपनी आत्माके महान् गुणों का उनको स्मरणहुआ ॥ २० ॥ उनमेंसे अहंकार उत्पन्न हुआ जिनको चार मुख वाले ब्रह्मा कहते हैं, वे भगवान् हिरण्यगर्भ सब लोकोंके पितामह हैं, कमलकी समान नेत्रों वाले ब्रह्माजी अनिरुद्धसे उत्पन्नहुए कमलसे उत्पन्न हुए हैं,कान्तिमान् सनातन ब्रह्मा उस सहस्रदल कमल पर बैठे थे ॥२१॥ (वहाँसे) अद्भुत दृश्य वाले उन प्रभुने सब लोकोंको जलमय देखा, तदनन्तर सत्त्वगुणी ब्रह्माजी प्राणियोंको रचने लगे ॥२३॥ पहिले उस कमलके सूर्यकी किरणोंकी समान प्रभा वाले पत्तों पर भगवान् नारायणने जिनके पीछे दो गुण (रज और तम) थे ऐसी दो

नारायणकृतौ विंदू अपामास्तां गुणोत्तरौ ॥२४॥ तावपश्यत्स भगवाननादिनिधनोऽच्युतः । एकस्तत्राभवद्विन्दुर्मध्वाभो रुचिरप्रभः ॥ २५ ॥ स तामसो मधुर्जातस्तदा नारायणाज्ञया । कठिनस्त्वपरो विन्दुः कैटभो राजसस्तु सः ॥ २६ ॥ तावभ्यधावतां श्रेष्ठौ तमोरजगुणान्वितौ । बलवन्तौ गदाहस्तौ पद्मनालानुसारिणौ ॥२७॥ ददृशातेऽरविंदस्थं ब्रह्माणममितप्रभं । सृजन्तं प्रथमं वेदांश्चतुरश्चारुविग्रहान् ॥ २८ ॥ ततो विग्रहवन्तौ तौ वेदान् दृष्ट्वा सुरोत्तमौ । सहसा जगृहतुर्वेदान्ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ॥२९॥ अथ तौ दानवश्रेष्ठौ वेदान्गृह्य सनातनान् । रसां विविशतुस्तूर्णमुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३० ॥ ततो हृतेषु वेदेषु ब्रह्मा कश्मलमाविशत् । ततो वचनमीशानं प्राह वेदैर्विनाकृतम् ॥३१॥ब्रह्मोवाच। वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् । वेदा मे परमं धाम वेदा

जलकी बूँदे डाली थीं ॥ २४ ॥ आदि और अन्तरहित अच्युत भगवान्ने उस दोनों बून्दोंको देखा, उनमें एकका वर्ण मधुकी समान और सुन्दर कान्तिवाला था,उसमेंसे नारायणकी आज्ञासे तमोगुणी मधु नामक दैत्य उत्पन्न हुआ और दूसरी बूँद कठिन थी, उसमेंसे रजोगुणी कैटभ नामक दैत्य उत्पन्न हुआ २५–२६ उन दोनों दैत्यों ने कमलमें रहनेवाले अपार कान्ति वाले ब्रह्मा जीको चारों सुन्दर वेदोंको पहिले रचतेहुए देखा,तब वे रजोगुणी और तमोगुणी दोनों बली दैत्य हाथमें गदा ले पद्मकी नाल की ओर दौड़ने लगे ॥ २७ ॥ २८ ॥ वे शरीर धारी दोनों असुरश्रेष्ठ वेदोंको देखकर ब्रह्माजीके सामने ही उन वेदोंको उठा कर लेगए ॥ २९ ॥ वे दानव सनातन वेदोंको लेकर ईशानकोणमें महासागरके मार्गसे रसातलमें घुसगए ॥ ३० ॥ उनके इस प्रकार वेदोंको लेजाने पर ब्रह्माजीको खेद हुआ, तब वेदरहित हुए ब्रह्मा ईश्वरसे कहने लगे ॥ ३१ ॥ ब्रह्माजीने कहा,

मे ब्रह्म चोत्तरम् ॥३२॥ मम वेदा हृताः सर्वे दानवाभ्यां बलादितः । अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विना कृताः ॥ ३३ ॥ वेदानृते हि किं कुर्यां लोकानां सृष्टिमुत्तमाम् । अहो बत महद् दुःखं वेदनाशनजं मम ॥ ३४ ॥ प्राप्तं दुनोति हृदयं तीव्रं शोकपरायणम् । को हि शोकार्णवे मग्नं मामितोऽद्य समुद्धरेत् ३५ वेदांस्तांश्चानयेन्नष्टान्कस्य चाहं प्रियो भवेः । इत्येवं भाषमाणस्य ब्रह्मणो नृपसत्तम ॥ ३६ ॥ हरेः स्तोत्रार्थमुद्भूता बुद्धिर्बुद्धिमतां वर । ततो जगौ परं जप्यं सांजलिप्रग्रहः प्रभुः ॥ ३७ ॥ ब्रह्मोवाच । ॐ नमस्ते ब्रह्महृदय नमस्ते मम पूर्वज । लोकाद्य भुवनश्रेष्ठ सांख्ययोगनिधे प्रभो ॥ ३८ ॥ व्यक्ताव्यक्तकराचिंत्य क्षेमं

कि-वेद मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद मेरा परमबल है, वेद मेरा परम धाम है, वेद मेरा उत्तम ब्रह्म है३२ मेरे चारों वेदोंको बलात्कारपूर्वक दो दानव हरकर लेगए हैं और वेदरहित होनेसे लोक अंधकारसे भरेहुए दीखते हैं ॥३३॥ मैं वेदोंके बिना लोकोंकी उत्तम सृष्टिको किस प्रकार रच सकूँगा ? अरेरे ! वेदोंके नाश होनेका मुझे बड़ा दुःख है ॥ ३४ ॥ वेदोंके नाशसे मेरे हृदयमें तीव्र दुःख होरहा है और मेरा हृदय शोकसे भर रहा है, शोकसागरमें डूबे हुए मेरा उद्धार कौन करेगा ? ॥ ३५ ॥ मैं ऐसा किसको प्यारा हूँ जो मेरे खोये हुए वेदों को लादे हे नृपसत्तम! इस प्रकार विचारते हुए ब्रह्माजीकी बुद्धिमें हे महाबुद्धिमान् ! परमात्माकी स्तुति करनेका विचार हुआ तब समर्थ ब्रह्माजी दोनों हाथ जोड़कर जप करने योग्य परमात्माकी स्तुति करने लगे ॥ ३६-३७ ॥ ब्रह्माजीने स्तुतिकी; कि-हे ब्रह्महृदय ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ हे मेरे पूर्वज ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, हे लोकोंके आदिकारण ! हे जगत्के श्रेष्ठ पुरुष ! हे सांख्य तथा योगके भण्डाररूप ! हे प्रभो ! मैं आपको प्रणाम

पन्थानमास्थित । विश्वभुक्सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिज । अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयंभुवः ॥ ३६ ॥ त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम् । चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत्पुरातनम् ॥४०॥ त्वत्प्रसादात्तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत् । त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो ॥ ४१ ॥ नासत्यं चापि मे जन्म त्वत्तः परममुच्यते । अण्डजं चापि मे जन्म त्वत्तः षष्ठं विनिर्मितम् ॥ ४२ ॥ इदं च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो । सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित ॥ ४३ ॥ प्रथमं पुण्डरीकाक्षः प्रधानगुणकल्पितः । त्वमीश्वरः स्वभावश्च कर्मबन्धः स्वयंभुवः ॥ ४४ ॥ त्वया विनिर्मितोऽहं वै वेदचक्षुर्वयोतिगः । ते

कररहा हूँ ३८ हे व्यक्त और अव्यक्तको उत्पन्न करने वाले ! हे अचिन्त्य ! हे कल्याणकारक मार्गका आश्रय करने वाले ! हे विश्वके भोक्ता ! हे सब प्राणियोंके अन्तरात्मारूप ! हे अयोनिज ! हे लोकोंके धामरूप ! हे स्वयम्भू ! मैं आपकी कृपासे उत्पन्न हुआ हूँ ॥३६॥ द्विजोंसे पूजित मेरा प्रथम जन्म आपके मनमेंसे होता है, मेरा दूसरा जन्म चाक्षुष (आपके नेत्रसे हुआ) है और पुरातन है ॥ ४० ॥ आपकी कृपासे मेरा तीसरा जन्म वाचिक हुआ है वह महान् है और हे व्यापक परमात्मन् ! मेरा चौथा जन्म भी आपके कानमेंसे हुआ है ॥ ४१ ॥ मेरा पाँचवाँ जन्म (अश्विनीकुमाररूपमें) आपकी नासिकासे हुआ है और आपसे मेरा छठा जन्म ब्रह्माण्डरूपमें हुआ है ॥४२॥ हे प्रभो ! मेरे इस सातवें जन्मको पद्मोद्भव कहते हैं, हे तीनगुणोंसे रहित भगवन् ! मैं प्रत्येक जन्ममें आपका पुत्र हुआ हूँ ॥ ४३ ॥ आप पुण्डरीकाक्ष हैं, आपका प्रथम शरीर सत्त्वगुणमय है आप ईश्वर और स्वभावरूप हैं, आप कर्मके बन्धनरूप और स्वयम्भू हैं४४ मुझ वेदरूपी नेत्र वालेको आपने उत्पन्न किया है, मैं कालको

मे वेदा हृतास्चक्षुरंधो जातोस्मि जागृहि ॥४५॥ ददस्व चक्षूंषि मम प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे । एवं स्तुतः स भगवान्पुरुषः सर्वतोमुखः ॥४६॥ जहौ निद्रामथ तदा वेदकार्यार्थमुद्यतः । ऐश्वर्येण प्रयोगेण द्वितीयां तनुमास्थितः ॥४७॥ सुनासिकेन कायेन भूत्वा चन्द्रप्रभस्तदा।कृत्वा हयशिरः शुभ्रं वेदानामालयं प्रभुः॥४८ तस्य मूर्धा समभवद्द्यौः सनक्षत्रतारका । केशाश्चास्याभवन्दीर्घा रवेरंशुसमप्रभाः ॥४९॥ कर्णावाकाशपाताले ललाटं भूतधारिणी। गङ्गा सरस्वती श्रोण्यौ भ्रुवावास्तां महोदधिः ॥ ५० ॥ चक्षुषी सोमसूर्यौ ते नासा संध्या पुनः स्मृताः । ॐकारस्त्वथ संस्कारो विद्युज्जिह्वा च निर्मिता ॥ ५१ ॥ दन्ताश्च पितरो राजन्सोमपा

जीतनेवाला हूँ तब भी मेरे वेदरूपी नेत्रोंको छीन लिया गया है, अत एव मैं अन्धा होगया हूँ, अतः अब आप जागिए ॥४५॥ और मेरे नेत्र मुझे दीजिये, मैं आपको प्रिय हूँ और आप मुझे प्रिय हैं ब्रह्माजीने इस प्रकार सर्वतोमुख भगवान्‌की स्तुतिकी॥४६ तब भगवान्‌ने अपनी निद्राको त्याग दिया और वेदोंका उद्धार करनेके लिये तयार होगए,फिर भगवान्‌ने अपने ऐश्वर्यके प्रभाव से एक दूसरा शरीर धारण किया ॥ ४७ ॥ वह स्वरूप सुन्दर नासिका वाला और चन्द्रमाकी समान कान्तिमान् था, उन्होंने वेदोंके स्थानरूप श्वेतवर्णके घोड़ेके मस्तककी समान मस्तक धारण किया ॥ ४८ ॥ उनका वह मस्तक नक्षत्र और ताराओं से शोभायमान आकाशकी समान शोभा पारहा था,उनके केश सूर्यकी किरणोंकी समान कान्तिवाले और लंबे थे ॥ ४९ ॥ आकाश तथा पाताल उनके कान थे, प्राणियोंको धारण करने वाली पृथ्वी उनका ललाट थी, गंगा और सरस्वती उनकी जंघाएँ थी, महासमुद्र उनकी भ्रुकुटि थी ॥ ५० ॥ सूर्य और चन्द्रमा उनके नेत्र थे,संध्या उनकी नासिका थी, ॐकार उनका

इति विश्रुताः । गोलोको ब्रह्मलोकश्च ओष्ठावास्तां महात्मनः॥५२
ग्रीवा चास्याभवद्राजन्कालरात्रिर्गुणोत्तरा । एतद्धयशिरः कृत्वा
नानामूर्तिभिरावृतम् ॥ ५३ ॥ अन्तर्दधे स विश्वेशो विवेश
च रसां प्रभुः । रसां पुनः प्रविष्टश्च योगं परममास्थितः ॥५४॥
शैक्ष्यं स्वरं समास्थाय उद्गीतं प्रासृजत्स्वरम् । सस्वरः सानुनादी
च सर्वशः स्निग्ध एव च ॥ ५५ ॥ बभूवांतर्महीभूतः सर्वभूत-
गुणो हितः । ततस्तावसुरौ कृत्वा वेदान्समयबन्धनान् ॥ ५६ ॥
रसातले विनिक्षिप्य यतः शब्दस्ततो द्रुतौ । एतस्मिन्नन्तरे राज-
न्देवो हयशिरोधरः ॥ ५७ ॥ जग्राह वेदानखिलान् रसातल-
गतान्हरिः । प्रादाच्च ब्रह्मणे भूयस्ततः स्वां प्रकृतिं गतः ॥५८॥
स्थापयित्वा हयशिर उदक्पूर्वे महोदधौ । वेदानामालयं चापि बभू-

संस्कार था, बिजली उनकी जिह्वा थी ॥ ५१ ॥ हे राजन् !
सोमपा नामक प्रसिद्ध पितर उनके दाँत थे, गोलोक और ब्रह्म-
लोक उन महात्माके ओष्ठ बने ॥५२॥ हे राजन् ! सबसे गुणोंमें
श्रेष्ठ कालरात्रि उनकी ग्रीवा थी, इसप्रकार अनेक मूर्तियोंसे
घिरे हुए हयग्रीवके स्वरूपको धारण करके ॥ ५३ ॥ भगवान्
विश्वेश अन्तर्धान होगए और समुद्रके तलमें घुस गए और
रसातलमें जा परमयोगको धारण कर ॥ ५४ ॥ शिक्षाके अनु-
सार उद्गीथ नामक स्वरका उच्चारण किया, वह स्वर गंभीर
और स्निग्ध था ॥ ५५ ॥ वह सब प्राणियोंका हित करनेवाला
उत्तम स्वर पृथ्वीमें फैल गया, उस स्वरको सुनकर उन दोनों
असुरोंने वेदोंको अपनी आज्ञासे बाँध लिया ॥ ५६ ॥ और
रसातलमें डाल दिया और जिस स्थान पर यह शब्द होरहा
था तहाँ दौड़े इस समयका लाभ लेकर हे राजन् ! भगवान् हय-
ग्रीवने रसातलमें पड़े हुए सब वेदोंको लाकर ब्रह्माजीको दिया
तब ब्रह्माजीको शान्ति मिली ॥ ५८ ॥ तदनन्तर समुद्रके ईशान

चाश्वशिरास्ततः॥५६॥ अथ किंचिदपश्यंतौ दानवौ मधुकैटभौ। पुनराजग्मतुस्तत्र वेगितौ पश्यतां च तौ ॥६०॥ यत्र वेदा विनिक्षिप्तास्तत्स्थानं शून्यमेव चातत उत्तममास्थाय वेगं बलवतां वरौ६१ पुनरुत्तस्थतुः शीघ्रं रसानामालयात्तदा। ददृशाते च पुरुषं तमेवादिकरं प्रभुम् ॥ ६२ ॥ श्वेतं चन्द्रं विशुद्धाभमनिरुद्धतनौ स्थितम्। भूयोऽप्यमितविक्रांतं निद्रायोगमुपागतम् ॥ ६३ ॥ आत्मप्रमाणरचिते अपामुपरि कल्पिते, शयने नागभोगाढ्ये ज्वालामालासमावृते ॥ ६४ ॥ निष्कल्मषेण सत्त्वेन संपन्नं रुचिरप्रभम्। तं दृष्ट्वा दानवेंद्रौ तौ महाहासममुञ्चताम्॥६५॥ऊचतुश्च समाविष्टौ रजसा तमसा च तौ। अयं स पुरुषः श्वेतः शेते निद्रामुपागतः ॥६६॥ अनेन नूनं वेदानां कृतमाहरणं रसात्। कस्यैष को नु खल्वेष

कोणमें हयग्रीवको स्थापित किया गया और उस समय भगवान् हयग्रीव वेदोंके स्थानरूप हुए ॥ ५६ ॥ मधु और कैटभ नामक दानवोंने जहाँसे स्वर आरहा था, तहाँ जाकर देखा तो उनका तहाँ कुछ भी नहीं दीखा इससे शीघ्रतासे अपने स्थान पर आये और देखा तो ॥ ६० ॥ जहाँ वेदोंको स्थापित किया था वह स्थान भी शून्य ही पाया, तब तो अतिबलवान् वे दोनों दैत्य बड़े वेगसे एक साथ रसोंके निवासस्थान (समुद्र) मेंसे बाहर निकले और सबके आदिकारण चन्द्रमाकी समान श्वेत और निर्मल कान्तिवाले, अनिरुद्धके शरीरमें स्थित, अपार पराक्रमी और जलमेंसे अपने शरीरके अनुसार ज्वालाओंसे घिरी हुई शेषशय्याको बनाकर योगनिद्राको प्राप्त हुए, शुद्ध सत्त्वगुण और सुन्दर कान्ति वाले भगवान् हयग्रीवको देखकर वे दोनों दानव खिलखिला कर हँसने लगे ॥ ६१-६५ ॥ फिर रजोगुण और तमोगुणसे भरे हुए वे दोनों पुरुष कहने लगे, कि-"यह जो श्वेत वर्णका पुरुष सोरहा है ॥ ६६ ॥ यह ही

किं च स्वपिति भोगवान् ॥६७॥ इत्युच्चारितवाक्यौ तौ बोधयामासतुर्हरिम् । युद्धार्थिनौ हि विज्ञाय विबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥६८॥ निरीक्ष्य चासुरेन्द्रौ तौ ततो युद्धे मनो दधे । अथ युद्धं समभवत्तयोर्नारायणस्य वै ॥६९॥ रजस्तमोविष्टतनू तावुभौ मधुकैटभौ। ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान मधुसूदनः ॥ ७० ॥ ततस्तयोर्वधेनाशु वेदापहरणेन च । शोकापनयनं चक्रे ब्रह्मणः पुरुषोत्तमः ७१ ततः परिवृतो ब्रह्मा हरिणा वेदसत्कृतः । निर्ममे स तदा लोकान्कृत्स्नान्स्थावरजंगमान् ॥ ७२ ॥ दत्वा पितामहायाग्र्यां मतिं लोकविसर्गिकीम् । तत्रैवान्तर्दधे देवो यत एवागतो हरिः ॥७३॥ तौ दानवौ हरिर्हत्वा कृत्वा हयशिरस्तनुम् । पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं

वास्तवमें रसातलमेंसे वेदोंको उठा लाया होगा, यह किसका पुत्र है ? और कौन है ? और यहाँ क्यों सोरहा है और हम इस पर छाया क्यों कर रहे हैं ॥ ६७ ॥ इस प्रकार कह कर उन दोनोंने श्रीहरिको जगाया, उन दोनोंको युद्ध करनेकी इच्छा वाले जान कर पुरुषोत्तम भी जाग उठे ॥६८॥ और उन दोनों राक्षसेन्द्रोंको देखकर युद्ध करनेका विचार किया, तब उन दोनों दैत्योंमें और नारायणमें युद्ध होने लगा ॥ ६९ ॥ उस युद्धमें भगवान्ने ब्रह्माजीका हित करनेकी इच्छासे रजोगुण और तमोगुणसे भरेहुए उन दोनों दैत्योंको मार डाला ॥७०॥ इसप्रकार पुरुषोत्तम भगवान्ने वेदोंको शीघ्र ही लौटा कर और उन दोनों दैत्योंको मार कर ब्रह्माजीका शोक दूर किया ॥७१॥ इसप्रकार ब्रह्माजीने श्रीहरिकी सहायता पाकर और वेदोंसे सत्कृत होकर स्थावर जंगमात्मक सब लोकोंकी रचना की ॥ ७२ ॥ श्रीहरि ब्रह्माजीको लोकोंकी रचनेकी बुद्धि देकर जहाँसे आये थे, तहाँ के लिये ही अन्तर्धान होगए ॥ ७३ ॥ इस प्रकार श्रीहरिने हयग्रीवका स्वरूप धारण करके दोनों दानवोंका नाश किया था,

तामेव विदधे तनुम् ॥ ७४ ॥ एवमेव महाभागो बभूवाश्वशिरा हरिः । पौराणमेतत्प्रख्यातं रूपं वरदमैश्वरम् ॥ ७५ ॥ यो ह्येतद्ब्राह्मणो नित्यं शृणुयाद्धारयीत वा । न तस्याध्ययनं नाशमुपगच्छेत्कदाचन ॥७६॥ आराध्य तपसोग्रेण देवं हयशिरोधरम् । पञ्चालेन क्रमः प्राप्तो देवेन पथि देशिते ॥ ७७ ॥ एतद्धयशिरो राजन्नाख्यानं तव कीर्तितम् । पुराणं वेदसमितं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥७८॥ यां यामिच्छेत्तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित् । तां तां कुर्याद्विकुर्वाणः स्वयमात्मानमात्मना ॥ ७९ ॥ एष वेदनिधिः श्रीमानेष वै तपसो निधिः । एष योगश्च सांख्यं च ब्रह्म चाग्र्यं हविर्विभुः ॥८०॥ नारायणपरा वेदा यज्ञा नारायणात्मकाः ।

इस प्रकार भगवान्ने फिर प्रवृत्ति-धर्मका प्रचार करनेके लिये हयग्रीवके शरीरको धारण किया था ॥ ७४ ॥ इस प्रकार महाभाग्यवान् श्रीहरिने अश्वशिराके स्वरूपको धारण किया था, भगवान्का वरदान देने वाला यह ईश्वरीय-रूप प्राचीन है और प्रसिद्ध है ॥७५॥ जो ब्राह्मण इस हयग्रीवके आख्यानको नित्य सुनता है अथवा अपने आप पाठ करता है, उसके अध्ययनका कभी नाश नहीं होता है ॥ ७६ ॥ (श्रीशङ्करके) दिखाये हुए मार्गके अनुसार श्रीहयग्रीव भगवान्की उग्र तपसे आराधना करके पञ्चाल (गालव) ने, वेदोंका क्रम प्राप्त किया था ॥ ७७ ॥ हे राजन् ! यह हयग्रीवकी वेदानुकूल प्राचीन कथा तुमसे कही, जो तूने मुझसे बूझी थी ॥ ७८ ॥ परमात्मा कार्य करनेके लिये जिस २ शरीरको धारण करना चाहते है उस २ शरीरमें वह ज्ञानी आत्माको अपने आप स्थापित कर लेते हैं ॥ ७९ ॥ वह स्वयं वेदस्वरूप हैं, तपके निधिरूप हैं, योगरूप हैं, सांख्यरूप हैं, ब्रह्मरूप हैं, उत्तम हविरूप हैं और व्यापक है ॥ ८० ॥ वेद नारायणपरायण है, यज्ञ नारायणात्मक है; तप नारायण

तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥ ८१ ॥ नारायणपरं सत्यमृतं नारायणात्मकम् नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ८२ प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः । नारायणात्मको गंधो भूमौ श्रेष्ठतमः स्मृतः॥८३॥ अपां चापि गुणा राजन्नासन् नारायणात्मकाः । ज्योतिषां च परं रूपं स्मृतं नारायणात्मकम्॥८४॥ नारायणात्मकश्चापि स्पर्शो वायुगुणः स्मृतः । नारायणात्मकश्चैव शब्द आकाशसंभवः॥८५॥ मनश्चापि ततो भूतोमव्यक्तगुणलक्षणम् । नारायण परः कालो ज्योतिषामयनंच यत्॥८६॥ नारायणपरा कीर्तिःश्रीश्च लक्ष्मीश्च देवताःनारायणपरं सांख्यं योगो नारायणात्मकः८७कारणंपुरुषो ह्येषां प्रधानं चापि कारणम् । प्रभावश्चैव कर्माणि दैवं येषां च कारणम्८८अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।विविधा च तथा चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्८९

स्वरूप है, मोक्ष भी नारायणस्वरूप है ॥८१॥ सत्य नारायणरूप है, ऋत नारायणात्मक है, जिस धर्मको करनेसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है वह निवृत्ति–धर्म भी नारायणरूप है ॥८२॥ प्रवृत्तिरूप धर्मभी नारायणस्वरूप है,पृथ्वीमें स्थित उत्तम गंध भी नारायणस्वरूप है ॥ ८३ ॥ हे राजन् ! जलका गुण रस नारायणात्मक है,ज्योतिषका परमरूपभी नारायणस्वरूप है ८४ वायुका गुण स्पर्शभी नारायणस्वरूप है,आकाशका गुण शब्द भी नारायणस्वरूप है ॥ ८५ ॥ अव्यक्त गुण वाला मन नामक भूतभी नारायणस्वरूप है, काल और ज्योतिर्मण्डलका स्थानभी नारायणस्वरूप है ॥ ८६ ॥ कीर्ति, श्री, लक्ष्मी और देवता भी नारायणस्वरूप हैं, सांख्य नारायणस्वरूप है, योग नारायण–स्वरूप है ॥ ८७ ॥ इस सब जगत्का कारण वह पुरुष है और वह प्रधान कारणरूप है ॥ ८८ ॥ अधिष्ठान, कर्ता, नानाप्रकार के भिन्न २ करण, अनेक प्रकारकी चेष्टा तथा पाँचवाँ भाग्यभी

पंचकारणसंख्यातो निष्ठा सर्वत्र वै हरिः । तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ॥ ९० ॥ तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः । ब्रह्मादीनां सलोकानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ९१ ॥ सांख्यानां योगिनां चापि यतीनामात्मवेदिनाम् । मनीषितं विजानाति केशवो न तु तस्य ते ॥ ९२ ॥ ये केचित्सर्वलोकेषु दैवं पित्र्यं च कुर्वते । दानानि च प्रयच्छन्ति तप्यन्ते च तपो महत् ९३ सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः । सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥ ९४ ॥ अयं हि नित्यः परमो महर्षिर्महाविभूतिर्गुणवर्जिताख्यः । गुणैश्च संयोगमुपैति शीघ्रं कालो यथर्तावृतुसंप्रयुक्तः ॥९५॥ नैवास्य विन्दन्ति गतिं महात्मनो न

वह है ॥८९॥ पञ्चकारणरूपसे हरि सर्वत्र व्याप्त हैं; वह चारों ओरसे तत्त्व जानने वालोंको तत्त्व हैं ॥९०॥ महायोगी नारायण श्रीहरि एक तत्त्व हैं, और भगवान् केशव ब्रह्मा आदिके उनके लोकोंके ऋषियोंके और महात्माओंके ॥ ९१ ॥ सांख्यवादियोंके योगियोंके, आत्माके स्वरूपको जानने वाले संन्यासी आदि सबके मनके अभिप्रायको जानते हैं और उनके अभिप्रायको ब्रह्मा आदि देवता नहीं जानते ॥ ९२॥ जो सब लोकोंमें देवता और पितरोंके कर्म करते हैं, दानदेते हैं और महातप करते हैं ९३ उन सब महात्माओंके विष्णु एक आश्रयरूप हैं, वह ईश्वरीय विधिका आश्रय करके रहते हैं, उनका सब प्राणियोंमें वास है और वे वासुदेव नामसे पहिचाने जाते हैं॥९४॥ श्रीहरि नित्य हैं, परम हैं, महर्षि हैं, महाविभूतिवाले हैं, गुणोंसे रहित हैं तथा ऋतुसे रहित हैं तो भी काल जैसे ऋतुमें ऋतुके धर्मसे मिल जाता है तैसे ही वह गुणोंके साथ मिल जाते हैं ॥ ९५ ॥ उन महात्मा की गतिको कोई भी नहीं जान सकता और उनकी आगतिको भी कोई नहीं जान सकता, जो महर्षि ज्ञानी हैं वे गुणोंके कारण

च चागतिम् कश्चिदिहानुपश्यति । ज्ञानात्मकाः संति हि ये महर्षयः पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम् ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४७ ॥

जनमेजय उवाच । अहो ह्येकान्तिनः सर्वान्प्रीणाति भगवान् हरिः । विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान्स्वयम् ॥ १ ॥ ये तु दग्धेन्धना लोके पुण्यपापविवर्जिताः । तेषां त्वयाभिनिर्दिष्टा पारंपर्यागता गतिः ॥२॥ चतुर्थ्यां चैव ते गत्यां गच्छन्ति पुरुषोत्तमम् । एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥ नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः । अगत्वा गतयस्तिस्रो यद्गच्छन्त्यव्ययं हरिम् ॥४॥ सहोपनिषदान्वेदान्ये विप्राः सम्यगास्थिताः । पठन्ति विधिमास्थाय ये चापि यतिधर्मिणः ॥ ५ ॥

श्रेष्ठ नित्य पुरुषका दर्शन करते हैं॥९६॥तीनसौ सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४७ ॥

जनमेजयने बूझा, कि भगवान् श्रीहरि अपने सब अनन्य भक्तोंको प्रसन्न करते हैं तथा विधि विज्ञानसे की हुई पूजाको वे स्वयं स्वीकृत करते हैं ॥ १ ॥ जगत्में जिन पुरुषोंकी वासना ज्ञानाग्निसे भस्म होगई है तथा जो पुण्य और पापसे रहित हैं, उनकी गुरुपरम्परागत गति आपने मुझसे कही है कि ॥ २ ॥ वे चौथी गतिको अर्थात् पुरुषोत्तमको पाते हैं, परन्तु जो भगवान्के निष्काम भक्त है वे तो परमपदको पाते हैं ॥ ३ ॥ अनन्य भक्तोंका निष्काम धर्म उत्तम है, और वह नारायणको प्रिय है और वे तीन (अनिरुद्ध, संकर्षण और प्रद्युम्न) गतियोंमें न जाकर सीधे अविनाशी वासुदेवको पाते हैं ॥ ४ ॥ जो ब्राह्मण एकाग्र मनसे उपनिषद् सहित वेदोंका विधिपूर्वक अभ्यास करते हैं और जो संन्यासीके धर्म पालते हैं ॥ ५ ॥ उनकी गतिसे भी

तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकांतिनां नृणाम् । केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा ॥ ६ ॥ एकान्तिनां च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो । एतन्मे संशयं छिंधि परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥ वैशम्पायन उवाच । समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपांडवयोर्मृधे । अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ ८ ॥ अगतिश्च गतिश्चैव पूर्वं ते कथिता मया । गहनो ह्येष धर्मो वै दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ९ ॥ सम्मितः सामवेदेन पुरैवादियुगे कृतः । धार्यते स्वयमीशेन राजन्नारायणेन च ॥ १० ॥ एतदर्थं महाराज पृष्टः पार्थेन नारदः । ऋषिमध्ये महाभागः शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ॥ ११ ॥ गुरुणा च मयाप्येष कथितो नृपसत्तम । यथा

भगवान्के भक्तोंको उत्तम गति मिलती है, यह मैं समझता हूँ परन्तु कौनसे देवता अथवा ऋषिने इस धर्मका उपदेश दिया है ॥ ६ ॥ और हे प्रभो ! अनन्य भक्त अपने धर्मका आचरण किस प्रकार किया करते हैं ? और यह कब उत्पन्न हुआ है ? मेरे इस सन्देहको दूर करिये, क्योंकि-मुझे इस बातको जानने की बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ७ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि हे जनमेजय ! जब कौरव और पाण्डवोंके युद्धमें दोनों ओरकी सेनाएँ युद्ध करनेके लिये तयार होगई और अर्जुन उदास होगया, तब भगवानने स्वयं गीताका उपदेश दिया था ॥ ८ ॥ और उसमें मेरी कही हुई गति और अगतिका वर्णन है, यह धर्म गहन है और और अज्ञानी मनुष्य इस धर्मको नहीं जान सकते ॥ ९ ॥ पहिले सत्ययुगमें सामवेदके तत्त्वमसि नामक महावाक्यके अनुकूल यह धर्म मैंने कहा था, हे राजन् ! इस उपदेशको महादेव और नारायणभी जानते हैं १० हे महाराज ! यह ही विषय ऋषियोंकी सभामें श्रीकृष्ण और भीष्मजीके सुनते हुए ही अर्जुनने महाभाग्यशाली नारदजीसे बूझा था ११ तथा हे

तत्कथितं तत्र नारदेन तथा शृणु ॥ १२ ॥ यदासीन्मानसं जन्म नारायण मुखोद्गतम् । ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयम् ॥ १३ ॥ तेन धर्मेण कृतवान्दैवं पित्र्यं च भारत । फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥ वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे । वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः ॥१५॥ यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप । तदा पितामहेनैव सोमाद्धर्मः परिश्रुतः ॥ १६ ॥ नारायणात्मको राजन्रुद्राय प्रददौ च तम् । ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप ॥ १७ ॥ वालखिल्यानृषीन्सर्वान्धर्ममेतदपाठयत् । अन्तर्दधे ततो भूयस्तस्य देवस्य मायया ॥ १८ ॥ तृतीयं ब्रह्मणो जन्म यदासीद्वाचिकं

नृपश्रेष्ठ ! मुझसे भी मेरे गुरुने यह विषय कहा था, नारदजी ने सभामें जो बात कही थी, वह अब तू सुन १२ हे राजन् ! जब नारायणके मुखमेंसे ब्रह्मांका मानसिक जन्म हुआ था, तब नारायण भी हे भारत ! इस धर्मके अनुसार देव-कर्म और पितृकर्म करते थे तथा फेन पीकर निर्वाह करने वाले फेनपा ऋषि भी उस धर्मका आचरण करते थे ॥१३-१४॥फेनपा ऋषियोंसे वैखानसोंने यह धर्म सीखा था और उसका आचरण करते थे वैखानसोंसे सोमने यह धर्म पाया था और आचरण किया था; तदनन्तर यह धर्म लुप्त होगया था १५ तदनन्तर हे राजन् ! जब ब्रह्माका दूसरा चाक्षुष जन्म हुआ तब पितामह ने सोमसे यह धर्म पाया था ॥ १६ ॥ हे राजन् ! इस नारायण-रूप धर्मको पितामहने रुद्रसे कहा था, पहिले सत्ययुगमें रुद्र इस योगधर्मको पाल कर धर्मका आचरण करते थे ॥ १७ ॥ उन्होंने वालखिल्य ऋषियोंको यह धर्म सिखाया था,परन्तु देवकी माया से वह धर्म फिर अन्तर्हित होगया ॥ १८ ॥ ब्रह्माका जो तीसरा जन्म हुआ है, वह जन्म महान् वाचिक कहलाता है,

महत् । तत्रैव धर्मः सम्भूतः स्वयं नारायणान्नृप ॥ १९ ॥ सुपर्णो नाम तमृषिः प्राप्तवान्पुरुषोत्तमात् । तपसा वै सुतप्तेन दमेन नियमेन च ॥ २० ॥ त्रिः परिक्रांतवानेतत्सुपर्णो धर्ममुत्तमम् । यस्मात्तस्माद्व्रतं ह्येतत्त्रिसौपर्णमिहोच्यते ॥ २१ ॥ ऋग्वेदपाठपठितं व्रतमेतद्धि दुश्चरम् । सुपर्णाच्चाप्यधिगतो धर्म एष सनातनः ॥ २२ ॥ वायुना द्विपदां श्रेष्ठ कथितो जगदायुषा । वायोः सकाशात्प्राप्तश्च ऋषिभिर्विघसाशिभिः ॥ २३ ॥ ततो महोदधिश्चैव प्राप्तवान्धर्ममुत्तमम् । अन्तर्दधे ततो भूयो नारायणसमाहितः ॥२४॥ यदा भूयः श्रवणजा सृष्टिरासीन्महात्मनः । ब्रह्मणः पुरुषव्याघ्र तत्र कीर्तयतः शृणु ॥ २५ ॥ जगत्स्रष्टुमना देवो हरिर्नारायणः स्वयम् । चिन्तयामास पुरुषं जगत्सर्गकरं प्रभुम् ।२६।

हे राजन् ! ब्रह्माने साक्षात् नारायणसे यह धर्म जाना था ।१९। सुपर्ण नामक ऋषिने भली प्रकार तप करके, इन्द्रियोंका दमन करके तथा नियमोंको पालकर पुरुषोत्तमसे यह धर्म पाया था २० सुपर्ण ऋषिने इस उत्तम धर्मकी तीन वार प्रदक्षिणा की, इससे यह व्रत जगत्में त्रिसौपर्ण नामसे प्रसिद्ध है ॥२१॥ इस व्रतका वर्णन ऋग्वेदमें है, इसका आचरण बड़ा कठिन है, हे नरश्रेष्ठ ! जगत्के आयुरूप वायुने सुपर्ण ऋषिसे इस सनातन धर्मको प्राप्त किया था और वायुसे विघसाशियोंने इसको जाना था २२-२३ और उनसे यह धर्म महासमुद्रने पाया था,फिर इस धर्मने अन्तर्धान होकर नारायणमें वास किया था ॥ २४ ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! महात्मा ब्रह्माकी फिर नारायणके श्रवणमेंसे उत्पत्ति हुई,तब उन्हें यह धर्म फिर किस प्रकार मिला था, इसको तू सुन ॥ २५ ॥ भगवान् नारायणने जब अपने आप जगत्को रचनेका विचार किया, तब वे जगत्को उत्पन्न करने वाले पुरुषका चिंतवन करने लगे २६ इस प्रकार नारायण चिन्ता कररहे थे तब उनके

अथ चिन्तयतस्तस्य कर्णाभ्यां पुरुषः स्मृतः । प्रजासर्गकरो ब्रह्मा तमुवाच जगत्पतिः ॥ २७ ॥ सृज प्रजाः पुत्र सर्वा मुखतः पादतस्तथा । श्रेयस्तव विधास्यामि बलं तेजश्च सुव्रत ॥ २८ ॥ धर्मं च मत्तो गृहीष्व सात्वतं नाम नामतः । तेन सृष्टं कृतयुगं स्थापयस्व यथाविधि ॥२९॥ ततो ब्रह्मा नमश्चक्रे देवाय हरिमेधसे । धर्मं चाग्र्यं स जग्राह सरहस्यं ससंग्रहम् ॥ ३० ॥ आरण्यकेन सहितं नारायणमुखोद्भवम् । उपदिश्य ततो धर्मं ब्रह्मणेऽमिततेजसे॥३१॥ त्वं कर्ता युगधर्माणां निराशीः कर्मसंज्ञितम् । जगाम तमसः पारं यत्राव्यक्तं व्यवस्थितम् ॥ ३२ ॥ ततोऽथ वरदो देवो ब्रह्मा लोकपितामहः । असृजत्स ततो लोकान्कृत्स्नान्स्थावरजंगमान् ॥ ३३ ॥ ततः प्रावर्तत तदा आदौ कृतयुगं शुभम् । ततो

कानमेंसे प्रजाकी उत्पत्ति करने वाले पुरुष ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उनसे जगत्पति नारायणने कहा, कि—२७ " हे पुत्र ! तू अपने मुखमेंसे तथा चरणसे प्रजाकी उत्पत्ति कर, हे सुन्दर व्रतवाले ! मैं तेरा कल्याण करूँगा और तुझको बल और तेज दूँगा २८ तू मुझसे सनातन नामक धर्मको ग्रहण कर और उससे तू सत्ययुगकी उत्पत्ति कर उसकी विधिपूर्वक स्थापना कर" २९ फिर ब्रह्माजीने हरिमेध देवताको प्रणाम करके रहस्य और संग्रह सहित उत्तम धर्मको ग्रहण किया था, नारायणके मुखमेंसे आरण्यक-सहित यह धर्म उत्पन्न हुआ था, नारायणने अपार तेज वाले ब्रह्माजीको इस धर्मका उपदेश देकर कहा कि—॥३१॥ तू युगके धर्मका उत्पन्न करने वाला होगा और तू निष्काम कर्म को भी उत्पन्न करेगा, वह इस प्रकार कह कर अव्यक्त निवासस्थानमें, जो कि—अन्धकारसे भी पर है तहाँ चले गए ॥ ३२ ॥ तदनन्तर लोकोंके पितामह तथा सबको वर देने वाले ब्रह्मदेवने स्थावर और जंगमरूप सब लोकोंको रचा ॥ ३३ ॥ उस समय

हि सात्वतो धर्मो व्याप्य लोकानवस्थितः ॥ ३४ ॥ तेनैवाद्येन धर्मेण ब्रह्मा लोकविसर्गकृत् । पूजयामास देवेशं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ ३५ ॥ धर्मप्रतिष्ठाहेतोश्च मनुं स्वारोचिषं ततः । अध्यापयामास तदा लोकानां हितकाम्यया ॥ ३६ ॥ ततः स्वारोचिषः पुत्रं स्वयं शंखपदं नृप । अध्यापयत्पुरा व्यग्रः सर्वलोकपतिर्विभुः ॥ ३७ ॥ ततः शंखपदश्चापि पुत्रमात्मजमौरसम् । दिशां पालं सुवर्णाभमध्यापयत भारत ॥ सोन्तर्दधे ततो भूयः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ३८ ॥ नासत्ये जन्मनि पुरा ब्रह्मणः पार्थिवोत्तम । धर्ममेतं स्वयं देवा हरिर्नारायणः प्रभु ॥ ३९ ॥ तज्जगादारविन्दाक्षो ब्रह्मणः पश्यतस्तदा । सनत्कुमारो भगवांस्ततः प्राधीतवान्नृप ॥४०॥ सनत्कुमारादपि च वीरणो वै प्रजापतिः ।

पहिले शुभ कृतयुगका आरम्भ हुआ और सात्वत धर्म लोकोंमें फैल कर स्थिर होगया ॥ ३४ ॥ जगत्की रचना करने वाले ब्रह्माजी भी तेज आदि धर्मसे देवताओंके ईश्वर श्रीहरि प्रभु नारायणकी पूजा करने लगे ॥ ३५ ॥ तदनन्तर धर्मको स्थिर करनेके लिये तथा लोकोंका हित करनेकी इच्छासे ब्रह्माजीने यह धर्म स्वारोचिष नामक मनुको पढाया॥३६॥ तदनन्तर हे राजन् ! सब लोकोंके पति और प्रतापी तथा शान्त स्वारोचिष नामक मनु महाराजने अपने पुत्र शंखपदको यह धर्म पढ़ाया था ॥ ३७ ॥ तदनन्तर हे भरतवंशी राजन् ! शंखपदने अपने औरस पुत्र सुवर्णाभ नामक दिक्पालको यह धर्म पढ़ाया था और त्रेतायुगका आरम्भ होने पर यह धर्म फिर अन्तर्धान होगया था ३८ हे श्रेष्ठ राजन् ! पहिले ब्रह्माजीके नासत्य नामक पाँचवें जन्ममें इस धर्मको कमलकी समान नेत्रों वाले भगवान् नारायणने ब्रह्माजीके सामने कहा था और हे राजन् ! भगवान् सनत्कुमार इस धर्मको वहाँसे पढ़े थे ३९-४० हे कुरुवंशसिंह ! सनत्कुमारसे

कृतादौ कुरुशार्दूल धर्ममेतदधीतवान् ॥ ४१ ॥ वीरणश्चाप्यधीत्यैनं रैभ्याय मुनये ददौ । रैभ्यः पुत्राय शुद्धाय सुव्रताय सुवेधसे ॥४२॥ कुक्षिनाम्ने स प्रददौ दिशां पालाय धर्मिणे । ततोऽप्यन्तर्दधे भूयो नारायणमुखोद्भवः॥४३॥अण्डजे जन्मनि पुनर्ब्रह्मणे हरियोनये । एष धर्मात् समुद्भूतो नारायणमुखात् पुनः । गृहीतो ब्रह्मणा राजन्प्रयुक्तश्च यथाविधि । अध्यापिताश्च मुनयो नाम्ना बर्हिषदो नृप॥४५॥बर्हिषद्भ्यश्च सङ्क्रान्तः सामवेदान्तगं द्विजम् । ज्येष्ठं नामाभिविख्यातं ज्येष्ठसामव्रतो हरिः॥४६॥ ज्येष्ठाच्चाप्यनुसंक्रान्तो राजानमविकम्पनम् । अन्तर्दधे ततो राजन्नेष धर्मः प्रभो हरेः॥४७॥ यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप । तत्रैष धर्मः कथितः

वीरण नामक प्रजापतिने कृतयुगके आदिकालमें इस धर्मका अध्ययन किया था ४१ फिर उन्होंने रैभ्य मुनिको पढ़ाया था और रैभ्यने अपने शुद्ध और पवित्र आचरण वाले ज्येष्ठ पुत्र सुवेधाको यह धर्म पढ़ाया था ४२ उन्होंने यह धर्म कुक्षि नामक धर्मात्मा दिक्पालको पढ़ाया था, फिर नारायणके मुखमें से उत्पन्न हुआ। यह धर्म अन्तर्हित हो गया ४३ अण्डज जन्ममें ब्रह्मा नारायणसे उत्पन्न हुए, तब फिर यह धर्म नारायणके मुखमेंसे उत्पन्न हुआ ४४ और हे राजन्! ब्रह्माजीने इस धर्म को स्वीकृत किया और विधिपूर्वक पाला था, फिर हे राजन्! ब्रह्माजीने बर्हिषद नामक मुनियोंको यह धर्म पढ़ाया था ४५ बर्हिषद्भने संपूर्ण सामवेदको पढ़ने वाले ज्येष्ठ नामक प्रसिद्ध ब्राह्मणने यह धर्म पाया, और वह ज्येष्ठसामव्रत नामसे प्रसिद्ध हुँ ४६ ज्येष्ठसे राजा अविकंपनने यह धर्म पढ़ा, हे राजन्! फिर श्रीहरिका यह धर्म अन्तर्धान हो गया ॥ ४७ ॥ हे राजन्! तदनन्तर ब्रह्मजीका सातवाँ पद्मज नामक जन्म हुआ था उस जन्ममें भगवान् नारायणने स्वयं ही यह धर्म,

स्वयं नारायणेन ह ॥ ४८ ॥ पितामहाय शुद्धाय युगादौ लोकधारिणे । पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ॥ ४६ ॥ ततो ज्येष्ठे तु दौहित्रे प्रादाद्दक्षो नृपोत्तम । आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान् जगृहे ततः ॥ ५० ॥ त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ । मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥ ५१ ॥ इक्ष्वाकुना च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः । गमिष्यति क्षयांते च पुनर्नारायणं नृप ॥ ५२ ॥ यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम । कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ५३ ॥ नारदेन सुसंप्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः । एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ॥ ५४ ॥ एवमेष महान्धर्म आद्यो राजन्सनातनः । दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्वतैर्धार्यते सदा ॥ ५५ ॥ धर्म-

---

शुद्ध और लोकोंको धारण करने वाले पितामह बूह्माजीसे कहा था और पितामह बूह्माजीने इस धर्मका उपदेश दक्षको दिया था ४६ हे श्रेष्ठ राजन् ! दक्षने अपने बड़े धेवते सूर्य को इस धर्मका उपदेश दिया था सूर्यसे यह धर्म विवस्वान्ने पाया था५० त्रेतायुगके आरम्भमें विवस्वान्ने मनुको इस धर्मका उपदेश दिया था और मनुने जगत्का कल्याण करनेके लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इस धर्मका उपदेश दिया था५१इक्ष्वाकुके प्रचार करने पर यह धर्म जगत्में सब मनुष्योंमें फैला गया था,हे राजन्! यह धर्म जब क्षीण होगा तो फिर नारायणके पास चला जायगा ५२ हे श्रेष्ठ राजन् ! यतियोंका जो धर्म है वह तुमसे पहिले संक्षिप्त विधिके साथ हरिगीतामें कह दिया है ५३ हे राजन् ! इस धर्मको जगन्नाथ साक्षात् नारायणसे नारदजीने रहस्य और संग्रहसहित प्राप्त किया था ॥५४॥ हे राजन् ! यह आदि धर्म महान् और सनातन है, दुःखसे जाननेमें आता है कठिनतासे पाला जाता है ,इसको भगवान्के सत्वगुणी भक्त ही सदा धारण करते

ज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा। अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वरः ॥५६॥ एकव्यूहविभागो वा क्वचिद्द्विव्यूहसंज्ञितः। त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते ॥ ५७॥ हरिरेव हि क्षेत्रज्ञो निर्ममो निष्कलस्तथा। जीवश्च सर्वभूतेषु पंचभूतगुणातिगः ॥५८॥ मनश्च प्रथितं राजन् पंचेन्द्रियसमीरणम्। एष लोकविधिर्धीमानेष लोकविसर्गकृत् ॥ ५९ ॥ अकर्ता चैव कर्ता च कार्यं कारणमेव च। यथेच्छति तथा राजन् क्रीडते पुरुषोऽव्ययः ॥ ६० ॥ एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम। मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ६१ ॥ एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप। यद्येकांतिभिराकीर्णं जगत् स्यात् कुरु-

हैं ॥५५॥ इस धर्मका भलीप्रकार ज्ञान होनेसे तथा सत्कर्म करनेसे और अहिंसा धर्मका आचरण करनेसे समर्थ श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ॥ ५६ ॥ भगवान्की उपासनामें किसी समय केवल वासुदेवकी उपासना, किसी समय वासुदेव तथा संकर्षणकी उपासना, किसी समय वासुदेव, संकर्षण और प्रद्युम्नकी उपासना और किसी समय वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप चार व्यूहोंकी उपासना देखनेमें आती है ॥ ५७ ॥ श्रीहरि स्वयं ही क्षेत्रज्ञ हैं, ममतारहित हैं तथा कलाओंसे रहित है और सब प्राणियोंमें जीवरूपसे विराजमान हैं, तब भी वे पञ्चभूतोंके गुणोंसे रहित हैं ॥५८॥ हे राजन्! पाँचों इन्द्रियोंको प्रेरणा करनेवाला मन (अहंकार) भी श्रीहरि ही है, यही बुद्धिमान् जगत्की विधिरूप है और सब लोकोंके कर्ता हैं ॥ ५९ ॥ यह ही अकर्ता और कर्ता, कार्य और कारणरूप परमात्मा है, हे राजन्! यह अविनाशी पुरुष जिसप्रकार चाहते हैं, तिस प्रकार क्रीडा करते हैं॥६०॥हे श्रेष्ठ राजन्! यह एकांत (अनन्य भक्तोंका) धर्म जो तुमसे कहा है, इसको मैंने गुरुकी कृपासे

नन्दन ॥६२॥ अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः । भवे कृत युगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता ॥ ६३ ॥ एवं स भगवान्व्यासो गुरुर्मम विशांपते । कथयामास धर्मज्ञो धर्मराज्ञे द्विजोत्तम॥ ६४ ॥ ऋषीणां संनिधौ राजन् शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः । तस्याप्यकथयत्पूर्वं नारदः सुमहातपाः ॥६५॥ देवं परमकं ब्रह्म श्वेतं चंद्राभमच्युतम् । यत्र चैकान्तिनो यांन्ति नारायणपरायणाः ॥ ६६ ॥ जनमेजय उवाच । एवं बहुविधं धर्मं प्रतिबुद्धैर्निषेवितम् । न कुर्वंति कथं विप्रा अन्ये नानाव्रते स्थिताः ॥ ६७ ॥ वैशम्पायन उवाच । तिस्रः प्रकृतयो राजन्देहबन्धेषु निर्मिताः । सात्त्विकी राजसी चैव

जाना था, इस धर्मको अज्ञानी पुरुष कठिनतासे समझ सकते हैं ॥ ६१ ॥ हे राजन् ! एकान्तिक पुरुष (अनन्य भक्त) दुर्लभ होते हैं, हे कुरुनन्दन ! यदि यह जगत् एकान्तिक, अहिंसक, आत्माको जाननेवाले तथा सब प्राणियोंका हित करनेमें प्रेम रखनेवाले पुरुषोंसे व्याप्त होता तो कृतयुगका ही आरम्भ होजाय और मनुष्य काम्य कर्मको त्याग दें ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ और धर्मको जाननेवाले मेरे गुरु भगवान् व्यासजीने धर्मराजसे यह धर्म, श्रीकृष्ण, भीष्म और ऋषियोंके सामने कहा था और उनको भी महातपस्वी नारदजीने पहिले इस नारायणीय धर्मका उपदेश दिया था ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्मस्वरूप, श्वेत चन्द्रमाकी समान कान्तिवाले भगवान् नारायणदेवके पास नारायणकी अनन्य भक्ति करनेवाले ही जाते हैं ॥ ६६ ॥ जनमेजयने बूझा, कि-इसप्रकार नाना विधि वाले ज्ञानी पुरुष जिसकी सेवा करते हैं, ऐसे इस धर्मका आचरण अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण क्यों नहीं करते हैं ॥ ६७ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि-देहके बन्धन वालोंके लिये ईश्वरने तीन प्रकृतियें बनाई हैं, ये तीन प्रकृतियें

तामसी चैव भारत ॥६८॥ देहबन्धेषु पुरुषः श्रेष्ठः कुरुकुलोद्वह । सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र भवेन्मोक्षाय निश्चितः ॥ ६९ ॥ अत्रापि स विजानाति पुरुषं ब्रह्मवित्तमम् । नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्त्विकः स्मृतः ॥ ७० ॥ मनीषितं च प्राप्नोति चिंतयन्पुरुषोत्तमम् । एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः ॥ ७१ ॥ मनीषिणो हि ये केचिद्यतयो मोक्षधर्मिणः । तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥ ७२ ॥ जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः ॥७३॥ सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः । नारायणात्मके मोक्षे ततो यान्ति परां गतिम् ॥ ७४ ॥ नारायणेन दृष्टस्तु प्रतिबुद्धो भवेत्पुमान् । एवमात्मेच्छया राजन् प्रतिबुद्धो न जायते ७५

सात्त्विकी, राजसी और तामसी हैं ॥६८॥ हे कुरुकुलको चलाने वाले ! देह बन्धन वालोंमें सात्त्विक पुरुष ही श्रेष्ठ हैं, हे पुरुषोंमें व्याघ्रसमान राजन्! सात्त्विक गुणवाले पुरुष ही मोक्ष पाते हैं६९ क्योंकि-वे सात्विक पुरुष ब्रह्मवेत्ता उत्तम पुरुषको जानते हैं, मोक्ष नारायणके अधीन है. इसलिये मोक्ष सात्त्विक मानी जाती है ॥७०॥ जो पुरुष सदा नारायणका चिन्तवन करता है तथा नारायणकी अनन्य भक्ति करता है और नारायणका भरोसा रखता है-उसके मनकी कामनायें पूर्ण होजाती हैं ॥ ७१ ॥ जो विद्वान् संन्यासी मोक्षधर्मका पालन करते है भगवान् उन तृष्णा से रहित पुरुषोंका योगक्षेम स्वयं करते है ॥७२॥ जन्ममरणका दुःख भोगनेवाले जिस पुरुष पर भगवान् कृपादृष्टि करें उसको सात्त्विक समझना चाहिये और वह अवश्य ही मुक्त होजाता है७३ एकान्तिक धर्म भी सांख्य और योगकी समान हैं और इस धर्मका सेवन करनेवाले नरनारायणात्मक मोक्षसे परमगतिको पाते हैं ॥ ७४ ॥ नारायणकी कृपादृष्टि होने पर ही पुरुष ज्ञान

राजसी तामसी चैव व्यामिश्रे प्रकृती स्मृते । तदात्मकं हि पुरुषं जायमानं विशाम्पते ॥ ७६ ॥ प्रवृत्तिलक्षणैर्युक्तं नावेक्षति हरिः स्वयम् । पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥७७॥ रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम् । कामं हि देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम ॥ ७८ ॥ हीनाः सत्त्वेन सूक्ष्मेण ततो वैकारिकाः स्मृताः । जनमेजय उवाच । कथं वैकारिको गच्छेत्पुरुषः पुरुषोत्तमम् ॥७९॥वद सर्वं यथादृष्टं प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् । वैशम्पायन उवाच । सुसूक्ष्मं तत्त्वसंयुक्तं संयुक्तं त्रिभिरक्षरैः ॥८०॥ पुरुषः पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियः पंचविंशकः । एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ॥ ८१ ॥ परस्पराङ्गान्येतानि पांचरात्रं च कथ्यते ।

वान् होता है और हे राजन् ! अपनी इच्छासे कोई पुरुष ज्ञानी नहीं होसकता ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! रजोगुणी और तमोगुणी जो मिश्र प्रकृतियें कही हैं, उन दोनों प्रकृतियोंसे युक्त पुरुष भी उत्पन्न होते हैं ॥ ७६ ॥ परन्तु इन प्रवृत्तिवाले पुरुषोंकी ओर श्रीहरि स्वयं दृष्टिपात नहीं करते हैं, परन्तु ब्रह्माजी उनकी ओर दृष्टिपात करते हैं ॥७७। उनका मन भी रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त रहता है हे सर्वोत्तम राजन् ! देवता और ऋषि पूर्ण सत्त्वगुणी हैं ॥ ७८ ॥ यदि उनमेंसे थोड़ासा भी सत्त्वगुण जाता रहे तो वे वैकारिक कहलाने लगें, जनमेजयने बूझा, कि वैकारिक पुरुष पुरुषोत्तम परमात्माको किस प्रकार पासकते हैं ॥ ७९ ॥ इस विषयको आपने जितना देखा और जाना हो, उतना मुझसे कहिये और प्रवृत्तिको भी अनुक्रमसे वर्णन करिये, वैशम्पायनने कहा, कि—हे राजन् ! अतिसूक्ष्म तत्त्वस्वरूप अकार उकार और मकार इन तीन अक्षरोंसे युक्त परमपुरुषको पच्चीसवाँ पुरुष (जीव) जब क्रिया (उपाधि) रहित होजाता है तब पाता है, इस प्रकार (आत्मा और अनात्माका विवेक करने

एष एकांतिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥ ८२ ॥ यथा समुद्रात् प्रसृता जलौघास्तमेव राजन्पुनराविशन्ति । इमे तथा ज्ञानमहाजलौघा नारायणं वै पुनराविशन्ति ॥ ८३ ॥ एष ते कथितो धर्मः सात्वतः कुरुनन्दन । कुरुष्वैनं यथा न्यायं यदि शक्तोऽसि भारत ॥८४॥ एवं हि स महाभागो नारदो गुरवे मम । श्वेतानां यतिनां चाह एकांतगतिमव्ययाम् ॥ ८५ ॥ व्यासश्चाकथयत्प्रीत्या धर्मपुत्राय धीमते।स एवायं मया तुभ्यमाख्यातः प्रसृतो गुरोः८६ इत्थं हि दुश्चरो धर्म एष पार्थिवसत्तम । यथैव त्वं तथैवान्ये भवं-

वाला) सांख्य, (चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका उपदेश देने वाला) योग, (जीव तथा ब्रह्मके अभेदभावको कहने वाले तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका ज्ञान कराने वाला) वेदका आरण्यक उपनिषद् तथा (भक्तिमार्गका उपदेश देने वाला) पञ्चरात्र ये सब एक हैं और एक दूसरेके अङ्गरूप हैं,इस प्रकार नारायणमें परायण रहने वाले एकान्तिक पुरुषोंका यह धर्म है ॥८०-८२॥ हे राजन् ! जैसे समुद्रमेंसे उठे हुए बादल फिर समुद्रमें ही पहुँच जाते हैं, ऐसे ही ज्ञानरूपी बड़े भारी जलके प्रवाह भी नारायण से ही उत्पन्न होते हैं और फिर नारायणमें ही लीन होजाते हैं ॥ ८३ ॥ हे कुरुनन्दन ! मैंने तुझसे यह नारायणका कहा हुआ सत्त्वगुणी धर्म कहा, हे भारत ! यदि तुझमें शक्ति हो तो तू इस धर्मका न्यायपूर्वक आचरण कर८४इस प्रकार महाभाग्यवान् नारदजीने मेरे गुरु व्यासजीसे गृहस्थोंको और यतियोंको मिलने वाली गति बताई थी ॥ ८५ ॥ व्यासजीने प्रीतिपूर्वक यह धर्मसम्बन्धी कथा बुद्धिमान् धर्मराजसे कही थी, और वही मैंने जैसे अपने गुरुसे सुनी थी, उसी प्रकार तुझसे कहदी ॥ ८६ ॥ हे राजसत्तम ! इसप्रकार इस धर्मका पालन करना बड़ा कठिन है, जैसे तू मोहमें पड़ गया था, ऐसे ही और भी मोहमें पड़े हुए

तीह विमोहिताः ॥ ८७ ॥ कृष्ण एव हि लोकानां भावना मोहनस्तथा । संहारः कारकश्चैव कारणं च विशांपते ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकांतिकभावे अष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततोऽध्यायः ३४८

जनमेजय उवाच । सांख्ययोगः पांचरात्रं वेदारण्यकमेव च । ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह ॥ १ ॥ किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने । प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ॥२॥ वैशम्पायन उवाच । जज्ञे बहुज्ञं परमत्युदारं यं द्वीपमध्ये सुतमात्मयोगात् । पराशरात्सत्यवती महर्षिं तस्मै नमोऽज्ञानतमोनुदाय ॥ ३ ॥ पितामहाद्यं प्रवदन्ति षष्ठं महर्षिमार्षेयविभूतियुक्तम् । नारायणस्यांशजमेकपुत्रं द्वैपायनं वेदमहानिधानम् ॥४॥

हैं ॥ ८७ ॥ हे राजन् ! श्रीकृष्ण ही सब लोकोंके पालक हैं, संहार करने वाले हैं और उत्पन्न करने वाले हैं ॥८८॥ तीनसौ अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४८ ॥ छ ॥

जनमेजयने बूझा, कि—हे ब्रह्मर्षे ! सांख्य, योग, पंचरात्र और वेदारण्यक इन चार ज्ञानोंका लोकोंमें प्रचार है ॥ १ ॥ हे मुने ! वह सब ज्ञान एक ही मार्गको बताते हैं अथवा भिन्न २ मार्गों को कहते हैं और इन ज्ञानोंकी प्रवृत्ति जगत्में किस प्रकार हुई है, यह मुझसे क्रमानुसार कहिये ॥ २ ॥ वैशम्पायनजीने कहा, कि—पराशर मुनिके साथ संबन्ध करके सत्यवतीने एक द्वीपमें महाज्ञानी, श्रेष्ठ अतिउदार जिस महर्षि पुत्रको उत्पन्न किया था, उन अज्ञानरूपी अंधकारका नाश करनेवाले श्रीव्यासजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३ ॥ आर्षविभूतिसे युक्त, वेदके महाभण्डार, नारायणके अंशसे उत्पन्न हुए और एकके एक महर्षि कृष्णद्वैपायन पितामहके आदिपुरुष नारायणसे छठी पीढ़ीमें हैं, यह विद्वान् कहते हैं ॥ ४ ॥ सृष्टिके आदिकालमें महातेजस्वी और विभूति-

तमादिकालेषु महाविभूतिर्नारायणो ब्रह्म महानिधानम् । ससर्ज पुत्रार्थमुदारतेजा व्यासं महात्मानमजं पुराणम् ॥५॥ जनमेजय उवाच । त्वयैव कथितं पूर्वं संभवे द्विजसत्तम । वसिष्ठस्य सुतः शक्तिः शक्तिपुत्रः पराशरः ॥ ६ ॥ पराशरस्य दायादः कृष्णद्वैपायनो मुनिः। भूयो नारायणसुतं त्वमेवैनं प्रभाषसे॥७॥किमतः पूर्वजं जन्म व्यासस्यामिततेजसः। कथयस्वोत्तममते जन्म नारायणोद्भवम् ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच । वेदार्थान्वेत्तुकामस्य धर्मिष्ठस्य तपोनिधेः । गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आसतः ९ कृत्वा भारतमाख्यानं तपःश्रान्तस्य धीमतः । शुश्रूषां तत्परा राजन् कृतवन्तो वयं तदा ॥ १० ॥ सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः । अहं चतुर्थः शिष्यो वै शुको व्यासात्मजस्तथा ११

वाले नारायणने, ब्रह्मके महाभण्डार, महात्मा, अजन्मा और पुराणपुरुष व्यासजीको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था ॥५॥ जनमेजयने पूछा, कि-हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! आपने पहिले व्यासजी की उत्पत्ति कहते समय कहा है, कि-वशिष्ठजीके शक्ति नामक पुत्र थे, शक्तिके पुत्र पराशर थे और पराशरके पुत्र मुनि कृष्णद्वैपायन थे, फिर अब आप व्यासजीको नारायणका पुत्र कैसे बताते हैं ? ॥ ६-७ ॥ हे श्रेष्ठ बुद्धिवाले ! उनकी यह उत्पत्ति क्या आपकी पहिले कही हुई उत्पत्ति पहिले (कोई दूसरी) हुई है ? हे ब्रह्मन् ! अतः आप मुझसे व्यासजी नारायणसे किस प्रकार उत्पन्न हुए यह कहिये ॥ ८ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि-हमारे गुरु, धर्मनिष्ठ, तपके निधिरूप और वेदोंके अर्थोंको जानने की इच्छा वाले व्यासजी महाभारतकी रचना कर, तपसे श्रांत हो हिमायल पर्वतके एक शिखर पर रहते थे, हे राजन् ! उस समय हम सब उनकी सेवा करने लगे ॥ ९-१० ॥ सुमन्तु, जैमिनि, अति दृढ़ व्रत वाले पैल, चौथा (शिष्य मैं वैशम्पायन

एभिः परिवृतो व्यासः शिष्यैः पञ्चभिरुत्तमैः । शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा ॥ १२ ॥ वेदानावर्तयन्सांगान्भारतार्थांश्च सर्वशः । तमेकमनसं दान्तं युक्ता वयमुपास्महे ॥ १३ ॥ कथान्तरेऽथ कस्मिंश्चित्पृष्टोऽस्माभिर्द्विजोत्तमः । वेदार्थान् भारतार्थांश्च जन्म नारायणात्तथा ॥ १४ ॥ स पूर्वमुक्त्वा वेदार्थान् भारतार्थांश्च तत्त्ववित् । नारायणादिदं जन्म व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥१५॥ शृणुध्वमाख्यानवरमिदमार्षेयमुत्तमम् । आदिकालोद्भवं विप्रास्तपसाधिगतं मया ।१६॥ प्राप्ते प्रजा विसर्गे वै सप्तमे पद्मसंभवे । नारायणो महायोगी शुभाशुभविवर्जितः ॥१७॥ ससृजे नाभितः पूर्वं ब्रह्माणममितप्रभः। ततः स प्रादुरभवदथैनं वाक्यमब्रवीत् १८

और पाँचवें पुत्र शुकदेव, इन पाँच उत्तम शिष्योंसे घिरे हुए व्यासजी हिमालयकी तलैटीमें भूतोंसे घिर कर बैठे हुए शंकरकी समान शोभा पारहे थे ॥ ११—१२ ॥ व्यासजी अंगोंसहित वेद और महाभारतके अर्थोंकी आवृत्ति कर रहे थे, उस समय उन एकाग्रचित्त चतुर पुरुषकी हम सब इकट्ठे होकर उपासना कर रहे थे ॥ १३ ॥ एक समय वार्तालाप करते समय हमने वेदोंके अर्थोंके सम्बन्धमें, भारतके अर्थोंके सम्बन्धमें और उनका नारायणसे किस प्रकार जन्म हुआ था इस सम्बन्धमें भी उनसे प्रश्न किया था ॥ १४ ॥ तब तत्त्ववेत्ता व्यासजीने पहिले वेदके अर्थ हमसे कहे, फिर भारतके अर्थ कहे, फिर नारायणसे अपना जन्म कहना आरम्भ किया ॥ १५ ॥ व्यासजीने कहा, कि—हे ब्राह्मणों ! इस आदिकालीन, ऋषिसम्बन्धी उत्तम आख्यान को तुम सुनो, इसको मैंने तपश्चर्यामें जाना है ॥ १६ ॥ जब सातवें पद्मसम्भव नामक प्रजाविसर्ग (सृष्टि) का समय आया तब शुभाशुभ कर्मसे रहित अपार कान्तिवाले महायोगी नारायण ने अपनी नाभिमेंसे ब्रह्माजीको उत्पन्न किया; ब्रह्माजीके उत्पन्न

मम त्वं नाभितो जातः प्रजासर्गकरः प्रभुः।सृज प्रजास्त्वं विविधा ब्रह्मन् सजडपण्डिताः ॥ १९ ॥ स एवमुक्तो विमुखश्चिंताव्या कुलमानसः । प्रणम्य वरदं देवमुवाच हरिमीश्वरम् ॥ २० ॥ का शक्तिर्मम देवेश प्रजाः स्रष्टुं नमोऽस्तु ते । अप्रज्ञावानहं देव विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २१ ॥ स एवमुक्तो भगवान् भूत्वाथांतर्हितस्ततः । चिंतयामास देवेशो बुद्धिं बुद्धिमतां वरः॥२२॥ स्वरूपिणी ततो बुद्धिरुपतस्थे हरिं प्रभुम् । योगेन चैनां निर्योगः स्वयं नियुयुजे तदा ॥ २३ ॥ स तामैश्वर्ययोगस्थां बुद्धिं गतिमतीं सतीम् । उवाच वचनं देवो बुद्धिं वै प्रभुरव्ययः ॥२४॥ ब्रह्माणं प्रविशस्वेति लोकसृष्ट्यर्थसिद्धये।ततस्तमीश्वरादिष्टा बुद्धिः क्षिप्रं

होने पर नारायणने उनसे कहा, कि–॥ १७–१८ ॥ हे समर्थ ब्रह्मन् ! मैंने तुमको अपनी नाभिमेंसे प्रजाकी रचना करनेके लिये उत्पन्न किया है, अतः तुम चेतन और जड़ नानाप्रकारकी प्रजाओंको उत्पन्न करो ॥१९॥ यह कहने पर ब्रह्माजीका हृदय चिन्तासे उद्विग्न होगया और प्रजाको रचनेका विचार त्याग कर वरदान देनेवाले श्रीहरिको प्रणाम करके कहने लगे,कि–२० हे देवेश ! मै आपको प्रणाम करता हूँ, हे देव ! मैं तो अज्ञानी हूँ, मुझमें प्रजका उत्पन्न करनेकी शक्ति कहाँ है अब आप जो उचित समझें उसको करिये ॥ २१ ॥ ब्रह्माजीने जब इस प्रकार नारायणसे कहा, तब देवताओंके ईश्वर प्रभु नारायण अन्तर्धान होगए, फिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ देवताओंके ईश्वर नारायण बुद्धिका स्मरण करने लगे ॥२२॥ तब बुद्धि मूर्तिमती होकर श्रीहरिकी सेवामें उपस्थित हुई, तब किसीके आश्रयसे न रहने वाले परमात्माने योगबलसे बुद्धिको कार्य करनेकी आज्ञा दी २३ विकाररहित प्रभु परमात्माने ऐश्वर्य तथा योगमें निवास करने वाली और गतिवाली बुद्धिसे कहा, कि–॥ २४ ॥ "प्राणियों

विवेश सा ॥ २५ ॥ अथैनं बुद्धिसंयुक्तं पुनः स ददृशे हरिः । भूयश्चैव वचः प्राह सृजेमा विविधाः प्रजाः ॥२६॥ बाढमित्येव कृत्वासौ यथाज्ञां शिरसा हरेः । एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवांतरधीयत ॥ २७ ॥ प्राप चैनं मुहूर्तेन संस्थानं देवसंज्ञितम् । तां चैव प्रकृतिं प्राप्य एकीभागवतोऽभवत् ॥ २८ ॥ अथास्य बुद्धिरभवत् पुनरन्या तदा किल । सृष्टाः प्रजा इमाः सर्वा ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ २९ ॥ दैत्यदानवगन्धर्वरक्षोगणसमाकुला । जाता हीयं वसुमती भाराक्रांता तपस्विनी ॥ ३० ॥ बहवो बलिनः पृथ्व्यां दैत्यदानवराक्षसाः । भविष्यन्ति तपोयुक्ता वरान् प्राप्स्यन्ति चोत्तमान् ॥३१॥ अवश्यमेव तैः सर्वैर्वरदानेन दर्पितैः । बाधितव्याः सुरगणा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ३२ ॥ तत्र न्याय्यमिदं

की रचनाके लिये तू ब्रह्मामें प्रवेश कर " ईश्वरकी आज्ञा होने पर बुद्धिने तत्कालही ब्रह्माजीमें प्रवेश किया ॥२५॥ जब ब्रह्माजी बुद्धिमान् हो गए, तब श्रीहरिने उनको दर्शन दिया और कहा, कि–" तुम अनेक प्रकारकी प्रजाको उत्पन्न करो ॥ २६ ॥ तब ब्रह्माजीने बहुत अच्छा कहकर श्रीहरिकी आज्ञाको अपने शिर पर चढ़ा लिया, तब भगवान् अन्तर्धान हो गए ॥ २७ ॥ और एक मुहूर्तमें ही अपने देव नामक धाममें पहुँच गए और तहाँ अपनी प्रकृतिको प्राप्त करके, उसके साथ एकाकार होगए२८ उस समय परमात्माने फिर यह विचार किया कि–"परमेष्ठी ब्रह्मा सब प्रजाओंको रच रहे हैं ॥ २९ ॥ उनमें दैत्य, दानव, गन्धर्व और राक्षस भी उत्पन्न होंगे, और उनके भारसे तपस्विनी पृथ्वी बड़ी पीड़ा पावेगी ॥ ३० ॥ पृथ्वीमें बहुतसे दैत्य, दानव और राक्षस बली होंगे और तप करके उत्तम वर पावेंगे ३१ फिर वरदान पानेसे गर्वमें भर कर वे सब अवश्य ही देवता और तपोधन ऋषियोंको दुःख देंगे ॥ ३२ ॥ अतः मुझे ही

कर्तुं भारावतरणं मया। अथ नानासमुद्भूतैर्वसुधायां यथाक्रमम् ३३
निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च । इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी ॥ ३४ ॥ मया ह्येषा हि ध्रियते पातालस्थेन भोगिना । मया धृता धारयति जगद्विश्वं चराचरम् ॥ ३५ ॥ तस्मात्पृथ्व्याः परित्राणं करिष्ये संभवं गतः । एवं संचिंतयित्वा तु भगवान्मधुसूदनः ॥ ३६ ॥ रूपाण्यनेकान्यसृजत् प्रादुर्भावे भवाय सः । वाराहं नारसिंहं च वामनं मानुषं तथा ॥ ३७ ॥ एभिर्मया निहन्तव्या दुर्विनीताः सुरारयः । अथ भूयो जगत्स्रष्टा भोः शब्देनानुनादयन् ॥ ३८ ॥ सरस्वतीमुच्चचार तत्र सारस्वतोऽभवत् । अपांतरतमा नाम सुतो वाक्संभवः प्रभुः ॥ ३९ ॥ भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः । तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवा-

पृथ्वीमें क्रमशः नाना अवतार धारण करके पृथ्वीके भारको उतारना उचित है ॥३३॥ पापियोंको दण्ड देनेसे और सत्पुरुषों पर अनुग्रह करनेसे यह तपस्विनी और सत्यकी मूर्ति पृथिवी स्थिर रहेगी ॥३४॥ मैं पातालमें शेषरूपसे रहकर इस पृथिवीको धारण करता हूँ और मेरी धारणा कीहुई यह पृथिवी स्थावर जंगमरूप सम्पूर्ण जगत्को धारण करती है, अतः मैं अवतार धारण करके पृथिवीकी रक्षा करूँगा" इस प्रकार मधुसूदन भगवानने विचार करके जगत्के हितके लिये होने वाले वाराह; नरसिंह, वामन, और दूसरे मनुष्य अवतारोंके स्वरूपका अपने मनमें चिंतवन किया ॥३७॥ फिर मनमें निश्चय किया, "मुझे अन्याय करने वाले दैत्योंको अवतार धारण करके मारना उचित है" तदनन्तर जगत्को रचने वाले भगवान्ने भो शब्दसे आकाशको गुञ्जार दिया ॥३८॥ और सरस्वतीका उच्चारण किया, तव सारस्वत उत्पन्न हुआ, प्रभुकी वाणीमेंसे उत्पन्न हुए उस समय पुत्रका नाम अपान्तरतमा था ॥ ३९ ॥ वह पुत्र भूत,

नामादिरव्ययः ॥ ४० ॥ वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर । तस्मात्कुरु यथाज्ञप्तं ममैतद्वचनं मुने ॥ ४१ ॥ तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायंभुवेन्तरे । ततस्तुतोष भगवान्हरिस्तेनास्य कर्मणा ॥४२॥ तपसा च सुतप्तेन यमेन नियमेन च । मन्वन्तरेषु पुत्रत्वमेवमेव प्रवर्त्तकः ॥ ४३ ॥ भविष्यस्यचलो ब्रह्मन्नप्रधृष्यश्च नित्यशः । पुनस्तिष्ये च संप्राप्ते कुरवो नाम भारताः ४४ भविष्यन्ति महात्मानो राजानः प्रथिता भुवि । तेषां त्वत्तः प्रसूतानां कुलभेदो भविष्यति ॥ ४५ ॥ परस्परविनाशार्थं त्वामृते द्विजसत्तम । तत्राप्यनेकधा वेदान्भेत्स्यसे तपसान्वितः ॥४६ ॥ कृष्णे युगे च संप्राप्ते कृष्णवर्णो भविष्यसि । धर्माणां विविधानां

भविष्य और वर्तमानको जानने वाला था, सत्यवादी था, दृढ़ व्रतको पालने वाला था, उसने मस्तक नमाकर भगवान्को प्रणाम किया, फिर देवोंके आदिदेव और विकाररहित परमात्मोने उससे कहा, कि-॥ ४० ॥ हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! तू एक वेदके चार वेद करनेके लिये श्रुतिकी रचना कर, हे मुने ! तू मेरी आज्ञानुसार कार्य कर' ॥ ४१ ॥ यह सुन कर स्वायंभुव मनुके समयमें अपान्तरतमने वेदके विभाग किये, श्रीहरि उसके इस कर्मसे, तपसे, यमसे और नियमसे प्रसन्न हुए और उससे कहा, कि-हे ब्राह्मण ! तू इसी प्रकार प्रत्येक मन्वन्तरमें मेरा पुत्र होगा, वेदका प्रवर्तक होगा, अचल होगा और तेरा कोई भी अपमान नहीं करेगा तदनन्तर जब कलियुग आवेगा तब कुरु नामक प्रसिद्ध राजे होंगे ॥ ४२-४४ ॥ वे पृथ्वी पर महात्मा राजे माने जावेंगे, उनमें तुझसे जिन पुत्रोंका जन्म होगा उनमें भेद पड़ जायगा ॥ ४५ ॥ तथा हे उत्तम ब्राह्मण ! तेरे अतिरिक्त वे आपसमें सबका नाश कर डालेंगे; उस समय भी तू तप करके वेदोंके अनेक विभाग करेगा ॥४६॥ कृष्णयुग

च कर्ता ज्ञानकरस्तथा ॥ ४७ ॥ भविष्यसि तपो युक्तो न च रागाद्विमोच्यसे । वीतरागश्च पुत्रस्ते परमात्मा भविष्यति । महेश्वरप्रसादेन नैतद्वचनमन्यथा ॥ ४८ ॥ यं मानसं वै प्रवदन्ति विप्रा पितामहस्योत्तमबुद्धियुक्तम् । वसिष्ठमग्र्यं च तपोनिधानं यस्यातिसूर्यं व्यतिरिच्यते भाः ॥ ४९ ॥ तस्यान्वये चापि ततो महर्षिः पराशरो नाम महाप्रभावः । पिता स ते वेदनिधिर्वरिष्ठो महातपा वै तपसां निवासः ॥५०॥ कानीनगर्भः पितृकन्यकायां तस्मादृषेस्त्वं भविता च पुत्रः ॥५१॥ भूतभव्यभविष्याणां छिन्नसर्वार्थसंशयः । ये ह्यतिक्रान्तकाः पूर्वं सहस्रयुगपर्ययाः ॥ ५२ ॥ तांश्च सर्वान् मयोद्दिष्टान् द्रक्ष्यसे तपसान्वितः। पुनर्द्रक्ष्यसि चानेकसहस्रयुगपर्ययान् ॥ ५३ ॥ अनादिनिधनं लोके चक्रहस्तं च मां

(कलियुग) का आरम्भ होगा तव तू कृष्णवर्णका होजावेगा और अनेक धर्मोंका स्थापक होगा,और ज्ञानका उपदेश देगा ४७ तू तप करेगा, परन्तु रागसे नहीं छूटेगा, महेश्वरकी कृपासे परमात्मा स्वयं तेरे यहाँ रागरहित पुत्र होकर अवतार लेंगे, यह वचन सत्य है ॥ ४८ ॥ ब्राह्मण जिनको पितामहका मानसिक-पुत्र कहते हैं, जिनकी बुद्धि उत्तम है, जो तपके निधानरूप और और श्रेष्ठ हैं और जिनकी कान्ति सूर्यसे भी अधिक है, उन वशिष्ठके वंशमें पराशर नाम वाले एक महाप्रभावशाली महर्षि होंगे, यह महातपस्वी, तपके निवासभूत, वेदके भण्डाररूप और सर्वश्रेष्ठ तेरे पिता होंगे ॥५०॥ यह ऋषि एक कन्यामें तुझको उत्पन्न करेंगे, इससे तू कानीन पुत्र कहलावेगा ॥ ५१ ॥ भूत, वर्तमान और भविष्यकालके सब संशयोंका तू निर्णय करेगा, तू तप करके मेरी कृपासे पहिले जो सहस्रों युग वीत गए हैं ५२ उन सब युगोंको देख सकेगा तथा सहस्रों और लाखों युगोंके लौट फेरको भी तू देख सकेगा ॥ ५३ ॥ तथा हे मुने ! मेरा

मुने । अनुध्यानान्मम मुने नैतद्वचनमन्यथा ॥ ५४ ॥ भविष्यति महासत्त्व ख्यातिश्चाप्यतुला तव । शनैश्चरः सूर्यपुत्रो भविष्यति मनुर्महान् ॥५५॥ तस्मिन्मन्वन्तरे चैव मन्वादिगणपूर्वकः । त्वमेव भविता वत्स मत्प्रसादान्न संशयः ॥५६॥ यत्किंचिद्विद्यते लोके सर्वं तन्मद्विचेष्टितम् । अन्यो ह्यन्यं चिंतयति स्वच्छन्दं विदधाम्यहम् ॥५७॥ एवं सारस्वतमृषिमपांतरतमं तथा । उक्त्वा वचनमीशानः साधयस्वेत्यथाब्रवीत् । सोहं तस्य प्रसादेन देवस्य हरिमेधसः ॥ ५८ ॥ अपांतरतमा नाम ततो जातोऽज्ञया हरेः । पुनश्च जातो विख्यातो वसिष्ठकुलनन्दनः ॥ ५९ ॥ तदेतत्कथितं जन्म मया पूर्वकमात्मनः । नारायणप्रसादेन तथा नारायणांशजम् ६० मया हि सुमहत्तप्तं तपः परमदारुणम् । पुरा मतिमतां श्रेष्ठाः पर-

ध्यान करनेसे आदि तथा अन्तरहित और हाथमें चक्रको धारण करने वाले मेरा भी दर्शन कर सकेगा, यह वचन मिथ्या नहीं होगा ॥५४॥ हे महासत्त्वगुणी ! तेरी ख्याति बहुत होगी और सूर्यका पुत्र शनैश्चर महान् मनु होगा ॥ ५५ ॥ उस मनुके समयमें मनु आदि गणोंमें पहिले मेरी कृपासे तू भी उत्पन्न होगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५६ ॥ इस जगत्की वस्तु मात्र मेरी है, मनुष्य अपनी कल्पना करता है, परन्तु मैं तो अपनी इच्छानुसार ही करता हूँ" ॥ ५७ ॥ इस प्रकार सरस्वतीके पुत्र अपान्तरतमनामक ऋषिसे बातें कह कर भगवान्ने उससे कहा, कि-जा अब तू अपना कार्य कर, तदनन्तर वही मैं हरिमेधा श्रीहरिकी कृपासे अपान्तरतमा नामसे हरिकी आज्ञासे उत्पन्न हुआ था, वही अब मैं वसिष्ठजीके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥५८॥५९॥ इस प्रकार नारायणकी कृपासे नारायणके अंशसे पूर्वकमसे हुआ अपना जन्म मैंने तुमसे कहा ॥ ६० ॥ हे श्रेष्ठ बुद्धिमानों ! मैंने पहिले परमसमाधि लगा कर परमदारुण बड़ा भारी तप किया

मेण समाधिना ॥६१॥ एतद्वः कथितं सर्वं यन्मां पृच्छत पुत्रकाः पूर्वजन्म भविष्यं च भक्तानां स्नेहतो मया ॥ ६२ ॥ वैशम्पायन उवाच ।'एष ते कथितः पूर्वं संभवोस्मद्गुरोर्नृप । व्यासस्याक्लिष्टमनसो यथा पृष्टः पुनः शृणु ॥ ६३ ॥ सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥ ६४ ॥ सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥ ६५ ॥ अपांतरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन६६ उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः । उक्तवानिदमव्यग्रज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥६७॥ पांचरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम् । सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते ॥६८॥ यथा-

था ॥ ६१ ॥ हे पुत्रों ! तुमने मुझसे मेरे पहिले जन्मके और भविष्यके जन्मके सम्बन्धमें प्रश्न किया था, उन सब बातोंका उत्तर भक्तोंके ऊपर स्नेह होनेके कारण मैंने तुमको देदिया है ६२ वैशम्पायनने कहा कि–हे राजन् ! शान्त मन वाले हमारे गुरु-व्यासजीके पूर्वजन्मके सम्बन्धमें तुमने जो मुझसे बूझा था, वह मैंने तुमसे कह दियो, अब तुम दूसरी कथा भी सुनो ॥ ६३ ॥ हे राजर्षि ! सांख्य, योग, पञ्चरात्र, वेद और पाशुमतमत, इन सब मतोंको नानाप्रकारके (प्रवर्तकवाले) समझ ॥ ६४ ॥ सांख्यके वक्ता कपिल हैं, वे महर्षि कहलावे हैं, योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं उनसे पुराना और कोई योगवेत्ता नहीं है ॥६५॥ अपान्तरतम मुनि वेदाचार्य कहलाते हैं, कितने ही पुरुष इनको प्राचीनगर्भ ऋषि भी कहते हैं ॥ ६६ ॥ उमाके पति, भूतोंके स्वामी श्रीकण्ठ और ब्रह्माके पुत्र शंकरने एकाग्रचित्तसे पाशुपत शास्त्र कहा है ॥६७॥ संपूर्ण पञ्चरात्र शास्त्रके वेत्ता तो भगवान् नारायण ही हैं और हे उत्तम राजन् ! सब ज्ञान-शास्त्रोंके विषय

गर्भ यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः । न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशांपते ॥६६॥ तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः । निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो मम ॥ ७० ॥ निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः । ससंशयान् हेतुबलान्नाध्यावसति माधवः ॥ ७१ ॥ पांचरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप । एकांतभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै । ७२ ॥ सांख्यं च योगं च सनातने द्वे वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन् । सर्वैः समस्तैर्ऋषिभिर्निरुक्तो नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ७३ शुभाशुभं कर्मसमीरितं यत्प्रवर्तते सर्वलोकेषु किंचित् । तस्मादृषेस्तद्भवतीति विद्याद्दिव्यंतरिक्षे भुवि चाप्सु चेति ७४ एकोनपंचाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

में भी यही दीखता है ॥६८॥ सब वेदोंका और सब अनुभवोंका तात्पर्य श्रीनारायण प्रभु हैं, परन्तु हे राजन् ! तमोगुणी पुरुष नारायणके इस स्वरूपको नहीं जानते ॥ ६६ ॥ परन्तु विद्वान् शास्त्रकर्ता कहते हैं, कि–यह सब नारायणके आधार पर है और मैं भी कहता हूँ, कि–नारायणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ७० संशयरहित सब पुरुषोंमें श्रीहरि नित्य बसते हैं परन्तु जिनके हृदयमें संदेह रहता है और जो तर्क पर आधार रखते हैं, उन पुरुषोंमें माधव वास नहीं करते है ॥७१॥ हे राजन् ! जो पञ्चरात्रको जानते हैं और जो पञ्चरात्रके क्रममें प्रेम रखते हैं, वे एकांत भावको पाकर श्रीहरिमें प्रवेश करते हैं ॥७२॥ हे राजन् ! सांख्य और योग ये दोनों सनातन हैं और सब वेद भी सनातन हैं तथा सब ऋषि कहते हैं, कि–यह पुरातनकालका विश्व नारायणरूप है ॥ ७३ ॥ वेदमें जिस शुभ और अशुभ कर्मका वर्णन किया है, और जो सब लोकोंमें चल रहा है और स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथ्वी और जलमें जो पदार्थ हैं उन सबको ऋषि नारायणसे उत्पन्न हुए समझना चाहिये ७४ तीनसौ उञ्चासवाँ

जनमेजय उवाच । बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु ।
को ह्यत्र पुरुषः श्रेष्ठः को वा योनिरिहोच्यते ॥ १ ॥ वैशम्पायन

जनमेजयने बूझा, कि-हे वैशंपायन ! परम पुरुष एक हैं अथवा अनेक ? और इनमें कौनसे पुरुषको श्रेष्ठ मानना चाहिये और कौनसे पुरुषको कारणरूप मानना चाहिये (बहुत से जीव माने बिना बंध मोक्षकी व्यवस्था नहीं घट सकती, क्योंकि-यदि एक ही जीव मानेंगे तो एक जीवके बंधनमें पड़ने पर सब जीवों को बंधन होना चाहिये और एक जीवकी मोक्ष होने पर सब जीवोंकी मोक्ष होजानी चाहिये, दूसरी ओर श्रुति कहती है कि-" ऐतदात्म्यमिदं सर्वं " यह सब प्रपंच परमात्मारूप है, इस श्रुति का भी उल्लंघन नहीं किया जासकता, यह सन्देह होने पर वैशंपायनसे राजा जनमेजयने प्रश्न किया है, कदाचित् कोई शंका करे, कि आकाश एक ही है, तब भी कर्णशष्कुलीरूप उपाधिसे अनेक श्रोत्रेन्द्रियोंकी कल्पना करली जाती है, इसीलिये एक बहरा होता है और दूसरा भली भाँति सुन सकता है, इसी कारण एक परमात्मामें अनेक अन्तःकरणोंके कारण भिन्न२जीवोंकी कल्पना करली गई है इससे ही एक बँधता है और दूसरा मुक्त होजाता है, एक सुख भोगता है तो दूसरा दुःख भोगता है, इसप्रकार व्यवहार चलसकता है, व्यावहारिक दृष्टिसे जीव अनेक होनेपर भी पारमार्थिक दृष्टिसे एक ही हैं अतः यह प्रश्न ही निरर्थक है, ऐसा कोई न कहे, इसलिये श्लोकके उत्तरार्धमें जनमेजयने प्रश्न किया है, कि-इनमें कौन पुरुष श्रेष्ठ है और कौन योनि (कारण) रूप है अर्थात् स्त्रीकी अग्निकी समान उपासना करनेके लिये बृहदारण्यकमें कहा है कि "योषा वाव गौतमाग्निः" हे गौतम ! स्त्रीकी अग्निकी समान उपासना करनी चाहिये, यहाँ पर स्त्रीके साथ अग्निका जो अभेद कहा है, वह पारमार्थिक नहीं है, क्यों

उवाच । बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे । नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुल द्वह ॥ २ ॥ बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते । तथा तं पुरुषं विश्वं व्याख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥ ३ ॥ नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने । तपोयुक्ताय दांताय वंद्याय परमर्षये ॥४॥ इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव । ऋतं

कि-स्त्री अग्निका कार्य नहीं कर सकती, परन्तु उपासनाके लिये यहाँ गौण अभेद कहा है, ऐसे ही "आत्मैवेदं सर्वम्" यह सब आत्मस्वरूप है, इस प्रकार विश्वका आत्माके साथ जो अभेद कहा है, वह भी गौण ही है, परमार्थिक नहीं है, कर्णशष्कुलीके दृष्टान्तसे ऊपर कही हुई व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है और दूसरे प्रमाणोंसे भी अद्वैतकी सिद्धि नहीं होती है, अतः किस पुरुषको श्रेष्ठ समझा जाय और किस पुरुषको कारणरूप समझा जाय) ॥ १ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि-हे कुरुवंशोत्पन्न ! जगत्में सांख्य और योगका विचार करने वाले बहुतसे पुरुष हैं, वह पुरुषको एक कहना नहीं चाहते ॥२॥ यदि बहुतसे पुरुषोंकी एक ही योनि मानी जाती है तो मैं इस विश्वको एक अधिक गुण वाला पुरुष कहूँगा (अर्थात्—"एतदात्म्यमिदं सर्वं" इस श्रुतिका तात्पर्य ठीक है, क्योंकि-स्वप्नमें जैसे एक ही पुरुष वासनानुसार अज्ञानकी सहायतासे बहुतसे पर्वत, नदी और वृक्ष आदिको उत्पन्न कर लेता है, इसी प्रकार सब ब्रह्मयोनि हैं और जैसे कर्णशष्कुलिके भेदसे एक बहरा होता है और दूसरा अच्छी प्रकार सुनता है, ऐसे ही भिन्न २ अन्तःकरणोंके कारण एक बन्धन पाता है और एक मुक्त होजाता है) ॥ ३ ॥ आत्माको जानने वाले, तपस्वी, दान्त, वन्दनीय अपने गुरु परमर्षि व्यासजीको प्रणाम करके मैं कहता हूँ, कि-॥ ४ ॥ आदि पुरुषका सब वेदोंमें वर्णन है और

सत्यं च विख्यातमृषिसिंहेन चिंतितम् ॥५॥ उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः। अध्यात्मचिंतामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत ॥ ६ । समासतस्तु यद्व्यासः पुरुषैकत्वमुक्तवान्। तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि प्रसादादमितौजसः ॥ ७ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीम-मितिहासं पुरातनम्। ब्रह्मणा सह सम्वादं त्र्यम्बकस्य विशां-पते ॥ ८ ॥ क्षीरोदस्य समुद्रस्य मध्ये हाटकसप्रभः। वैजयंत इति ख्यातः पर्वतप्रवरो नृप ॥ ९ ॥ तत्राध्यात्मगतिं देव एकाकी प्रविचिन्तयन्। वैराजसदनान्नित्यं वैजयन्तं निषेवते॥१०॥ अथ तत्रासतस्तस्य चतुर्वक्त्रस्य धीमतः, ललाटप्रभवः पुत्रः शिव आगा-द्यदृच्छया ॥ ११ ॥ आकाशेन महायोगी पुरा त्रिनयनः प्रभुः। ततः खान्निपपाताशु धरणीधरमूर्धनि ॥ १२ ॥ अग्रतश्चाभवत्

ऋत तथा सत्यस्वरूपसे प्रसिद्ध परमात्माका ऋषियोंमें सिंहकी समान व्यासजीने विचार किया है ॥ ५ ॥ हे भारत! कपिल आदि ऋषियोंने सामान्यरीतिसे और अपवादरीतिसे अध्यात्म-चिन्तवनका आश्रय लेकर भिन्न २ शास्त्र कहे हैं ॥६। संक्षेपमें व्यास मुनिने जो एक ही पुरुष कहा है,उसको मैं अपार तेजवाले ऋषिकी कृपासे कहूँगा॥७॥ हे राजन्! इस विषयमें ब्रह्माजीका और शिवजीका संवादरूप एक प्राचीन इतिहास इस प्रकार है, कि–॥ ८ ॥ हे राजन्! क्षीर–समुद्रके मध्यमें सुवर्णकी समान दमकता हुआ एक वैजयन्त नामक श्रेष्ठ पर्वत है ॥ ९ ॥ उस वैजयन्त पर्वत पर एकान्तमें अध्यात्मका विचार करनेके लिये ब्रह्माजी वैराजलोकसे सदा आते थे १० एक समय चार मुख वाले ब्रह्मदेव तहाँ बैठे थे इतनेमें ही उनके ललाटमेंसे उत्पन्न हुए रुद्रदेव तहाँ एकाएकी पहुँच गए ॥ ११ ॥ तीन नेत्रोंवाले महा-योगी शंकर आकाशमार्गसे आये और आकाशमेंसे ही वैजयन्त नामक पर्वतके शिखरपर उतरे ॥ १२ ॥ और ब्रह्माजीके सामने

प्रीतो ववन्दे चापि पादयोः । तं पादयोर्निपतितं दृष्ट्वा सव्येन पाणिना ॥ १३ ॥ उत्थापयामास तदा प्रभुरेकः प्रजापतिः । उवाच चैनं भगवांश्चिरस्यागतमात्मजम् ॥ १४॥ पितामह उवाच। स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मेऽन्तिकम् ।कच्चित्ते कुशलं पुत्र स्वाध्यायतपसोः सदा ॥ १५ ॥ नित्यमुग्रतपास्त्वं हि ततः पृच्छामि ते पुनः ॥ १६ ॥ रुद्र उवाच । त्वत्प्रसादेन भगवन् स्वाध्यायतपसोर्मम। कुशलं चाव्ययं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ।१७ चिरदृष्टो हि भगवान्वैराजसदने मया । ततोऽहं पर्वतं प्राप्तस्त्विमं त्वत्पादसेवितम् ॥ १८ ॥ कौतूहलं चापि हि मे एकान्तगमनेन ते । नैतत्कारणमल्पं हि भविष्यति पितामह ॥ १९ ॥ किं नु तत्सदनं श्रेष्ठं क्षुत्पिपासाविवर्जितम् । सुरासुरैरध्युषितं ऋषिभि-

आ प्रसन्न होकर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम किया ब्रह्माजीने रुद्रको अपने दोनों चरणोंमें पड़ाहुआ देखकर उनको अपने दाहिने हाथ से उठाया और बहुत समयके उपरांत आये हुए अपने पुत्र शिवसे ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा, कि–॥१३॥१४॥ पितामहने कहा, कि–हे महाभुज ! तू अच्छा आया, हे पुत्र ! तू मेरे पास दैवयोगसे आगया है, हे पुत्र ! तेरा स्वाध्याय और तप तो सदा कुशलतापूर्वक चलता रहता है क्या ? ॥ १५ ॥ तू सदा उग्र तप करता रहता है, इससे मैं तुझसे फिर बूझता हूँ ॥१६॥ शिवजीने कहा, कि–हे भगवन् ! आपकी कृपासे मेरा स्वाध्याय और तप सकुशल चल रहा है और सब जगत् भी निर्विघ्न रीतिसे कुशलपूर्वक चल रहा है ॥१७॥ बहुत समय हुआ मैंने वैराजलोकमें आपको देखा था अतः मैं आपके चरणोंसे सेवित इस पर्वत पर आगया हूँ ॥ १८ ॥ हे पितामह ! आपको इस एकान्तप्रदेशमें आते देखकर मुझे कुतूहल होता है, परन्तु इसका कोई साधारण कारण नहीं होगा ॥ १९ ॥ क्योंकि–आपका

श्चामितप्रभैः ॥ २० ॥ गन्धर्वैरप्सरोभिश्च सततं संनिषेवितम् ।
उत्सृज्येमं गिरिवरमेकाकी मासवानसि ॥ २१ ॥ ब्रह्मोवाच ।
वैजयन्तो गिरवरः सततं सेव्यते मया । अत्रैकाग्रेण मनसा पुरुष-
श्चिंत्यते विराट् ॥ २२ ॥ रुद्र उवाच । बहवः पुरुषो ब्रह्मंस्त्वया
सृष्टाः स्वयंभुवा । सृज्यन्ते चापरे ब्रह्मन् स चैकः पुरुषो विराट् ॥ २३
को ह्यसौ चिंत्यते ब्रह्मंस्त्वयैकः पुरुषोत्तमः । एतन्मे संशयं ब्रूहि
महत् कौतूहलं हि मे ॥ २४ ॥ ब्रह्मोवाच । बहवः पुरुषा पुत्र
त्वया वै समुदाहृताः । एवमेतदतिक्रान्तं द्रष्टव्यं नैवमित्यपि॥२५॥
आधारन्तु प्रवक्ष्यामि एकस्य पुरुषस्य ते । बहूनां पुरुषाणां स
यथैका योनिरुच्यते ॥ २६ ॥ तथा तं पुरुषं विश्वं परमं सुमह-

स्थान उत्तम है, क्षुधा और पिपासासे रहित है, अपार कान्ति वाले देवता दैत्य और ऋषि तहाँ रहते हैं ॥ २० ॥ गन्धर्व और अप्सरायें भी वहाँ सदा रहती हैं, ऐसे उत्तम स्थानको त्याग कर आप अकेले इस पर्वत पर क्यों आये हैं ॥ २१ ॥ ब्रह्माजी ने कहा, कि–मैं सदा इस वैजयन्त नामक पर्वत पर आता हूँ, और यहाँ मनको एकाग्र करके विराट पुरुषका ध्यान किया करता हूँ ॥ २२ ॥ शिवजीने कहा, कि–हे ब्रह्मन् ! तुम स्वयंभू हो और तुमने बहुतसे पुरुषोंको रचा है और बहुतसोंको रच रहे हो,परन्तु यह एक विराट पुरुष, पुरुषोत्तम कौन हैं, कि–जिस का आप चिन्तवन कर रहे हैं ? मेरे इस सन्देहको आप दूर करिये, मुझे इसके सुननेका बडा कुतूहल है ॥ २३ ॥ २४ ॥ ब्रह्माजीने कहा, कि–हे पुत्र ! तूने जिन बहुतसे पुरुषोंको रचने की बात कही, वह तो प्रत्यक्ष है, इसमें शास्त्रसे सिद्ध करनेकी कोई बात नहीं है ॥ २५ ॥ अतः एक विराट पुरुषका आधार मैं तुझसे कहूँगा,वह विराट पुरुष अनेक पुरुषोंको उत्पन्न करने वाला एक और कारणरूप है ॥ २६ ॥ वह पुरुष विराटरूप है,

परम् । निर्गुणं निर्गुणा भूत्वा प्रविशन्ति सनातनम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ब्रह्मरुद्रसंवादे पंचाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५० ॥

ब्रह्मोवाच । शृणु पुत्र यथा ह्येष पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः । अक्षयश्चाप्रमेयश्च सर्वगश्च निरुच्यते ॥ १ ॥ न स शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयान्यैर्वापि सत्तम । सगुणैर्निर्गुणैर्विश्वो ज्ञानदृश्यो ह्यसौ स्मृतः ॥ २ ॥ अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ । वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः ॥ ३ ॥ ममांतरात्मा तव च ये चान्ये देहसंज्ञिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥ ४ ॥ विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः । एक-

परम है, अत्यन्त महान् है, गुणोंसे रहित है, सनातन–स्वरूप है और जीव भी गुणोंसे रहित होकर उस परमात्मामें प्रवेश करते हैं ॥ २७ ॥ तीनसो पचासवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५० ॥

ब्रह्माजीने कहा, कि हे पुत्र ! उसको जिस प्रकार (पूर्ण होनेसे) पुरुष, (आदि और अन्तरहित होनेसे) शाश्वत, (परिणामरहित होनेसे) अव्यय, (क्षीणतारहित होनेसे) अक्षय, (वाणी तथा मनका अगोचर होनेसे) अप्रमेय तथा (सबका उपादान कारण होनेसे) सर्वज्ञ कहते हैं, उस बातको तू सुन ॥ १ ॥ हे श्रेष्ठ पुत्र ! तेरे या मेरे अतिरिक्त और कोई सगुण तथा शम आदिसे शून्य मूढ़ पुरुष उन परमात्माको नहीं देख सकता, यह व्यापक परमात्मा तो ज्ञानसे ही जाननेमें आ सकता है ॥ २ ॥ परमात्मा शरीररहित होने पर भी सब शरीरों में रहता है और शरीरोंमें रहने पर भी उनके कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥ ३ ॥ वह हमारे तुम्हारे और जो दूसरे देहधारी जीव हैं उन सबके अन्तरात्माका साक्षीरूप है ॥ ४ ॥ सम्पूर्ण विश्वमें उसका मस्तक है, संपूर्ण विश्वमें उसकी भुजायें हैं सारे

अरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥५॥ क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम्। तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥६॥ नागतिर्न गतिस्तस्य ज्ञेया भूतेषु केनचित्। सांख्येन विधिना चैव योगेन च यथाक्रमम् ॥ ७ ॥ चिंतयामि गतिं चास्य न गतिं वेद्मि चोत्तराम्। यथाज्ञानं तु वक्ष्यामि पुरुषं तु सनातनम् ॥ ८ ॥ तस्यैकत्वं महत्वं च स चैकः पुरुषः स्मृतः। महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः ॥ ९ ॥ एको हुताशो बहुधा समिध्यते एकः सूर्यस्तपसो योनिरेका। एको वायुर्बहुधा वाति लोके महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः। पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूपस्तं निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ति ॥ १० ॥ हित्वा गुणमयं सर्वं

विश्वमें उसकी ही आँख, पैर और नासिकाएँ हैं, वह अकेला ही अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक सब क्षेत्रोंमें विचरता है ॥५॥ शरीर क्षेत्र है और शुभाशुभ कर्मकी वासनाएँ उसके बीज हैं, योगात्मा इन सबको जानता है, इससे वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ६ पाँच भूतोंसे बने हुए इस शरीरमें आत्माका आगमन कब होता है और वह इन शरीरोंमेंसे बाहर कब निकल जाता है, इसको कोई भी नहीं जान सकता, सांख्यशास्त्रानुसार तथा योगशास्त्रानुसार अनुक्रमसे आत्माकी गतिके संबन्धमें मैं विचार करता हूँ परन्तु विचार करने पर भी उसकी गतिको नहीं जान सकता, परन्तु मैं तुमसे अपने ज्ञानके अनुसार सनातन पुरुषके संबन्धमें कहता हूँ ७।८ तथा परमात्माके एकत्वके और महत्वके विषयमें भी कहता हूँ, शास्त्रमें पुरुषको एकही कहा है और वह एक सनातन पुरुष महापुरुषके नामसे पहिचाना जाता है ॥९॥ अग्निका एक स्वरूप है, तथापि वह काष्ठरूपी उपाधिसे अनेक प्रकारसे जलता है, सूर्य एक है तथापि उसकी किरणें सब दिशाओंमें प्रकाशित होती हैं, तप अनेक प्रकारका है, परन्तु उसकी मूल एक है, वायु

कर्म हित्वा शुभाशुभम् । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः ॥ ११ ॥ अचिंत्यञ्चापि तं ज्ञात्वा भावसूक्ष्मं चतुष्टयम् । विचरेद्योऽसमुन्नद्धः स गच्छेत्पुरुषं शुभम् ॥ १२ ॥ एवं हि परमात्मानं केचिदिच्छंति पण्डिताः । एकात्मानं तथात्मानमपरे ज्ञानचिन्तकाः ॥१३॥ तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः । स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः ॥ १४ ॥

एक है परंतु वह जगत्में अनेक प्रकारसे चलता है, जलका मूल समुद्र एक है, परन्तु वह भी अनेक प्रकारसे बहता है, ऐसे ही विश्वरूप निर्गुण पुरुष भी एक है और उस निर्गुण पुरुषमें ही सब प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥ गुणमय सब कर्मोंको त्यागकर, तथा शुभाशुभ कर्मका त्याग करके तथा सत्य और असत्य इन दोनों को त्यागकर पुरुष गुणोंसे रहित होजाता है ॥ ११ ॥ जो पुरुष अचिंत्य पुरुषको जानकर तथा चार प्रकारके उसके सूक्ष्म भेदों को जानकर अर्थात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव इन चार भेदोंका अथवा विराट, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी और शुद्ध ब्रह्म इन चार भेदोंको अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय इन इन चार भेदोंको जानकर और शान्त होकर विचरता है, वह पुरुष शुभ-पुरुषको पाता है ॥ १२ ॥ इसप्रकार बहुतसे पण्डित योगमार्गका अनुसरण करके आदिपुरुषको परमात्मा कहते हैं, सांख्याचार्य उसको एकात्मा कहते हैं और तीसरे ज्ञानी उसको आत्मा कहते हैं (योग वाले कहते हैं जीवात्मा और परमात्मा दो हैं, सांख्य वाले कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं और तीसरे पक्ष वाले कहते हैं विश्व और आत्मामें कुछ भेद नहीं है, यह विश्वरूप ही आत्मा है) ॥ १३ ॥ इनमें जो परमात्मा है वह नित्य और निर्गुण है, उसको ही नारायण समझना चाहिये और वही सबका आत्मारूप पुरुष है ॥१४॥

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा। कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥१५॥ स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः। एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्ते यथाक्रमम् ॥१६॥ तत्तत् कृत्स्नं लोकतंत्रस्य धाम वेद्यं परं बोधनीयः स बोद्धा। मन्ता मंतव्यं प्राशिता प्राशनीयं घ्राता घ्रेयं स्पर्शिता स्पर्शनीयम् ॥ १७ ॥ द्रष्टा द्रष्टव्यं श्राविता श्रावणीयं ज्ञाता ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं च। यद्वै प्रोक्तं तात सम्यक्प्रधानं नित्यं चैतच्छाश्वतं चाव्ययं च १८ यद्वै सूते धातुराद्यं विधानं तद्वै विप्राः प्रवदंतेऽनिरुद्धम्। यद्वै लोके वैदिकं कर्म साधु आशीर्युक्तं तद्धितस्यैव भाव्यम् ॥ १६ ॥

कमलका पत्ता जैसे जलसे नहीं भीगता है, तैसे ही यह पुरुष कर्मके फलोंसे नहीं बँधता है परन्तु कर्मोंसे बँधा हुआ आत्मा तो दूसरा ही है, उसी कर्मात्माको मोक्ष बन्धन लगे हुए हैं।१५। और वह सत्रह प्रकारके समुदायसे बँधा हुआ है, इस प्रकार एक ही पुरुष अनेक प्रकारसे पहिचाना जाता है, यह मैंने तुमसे अनुक्रमसे कहा ॥१६॥ इस प्रकार यह परमपुरुष सब लोक-तन्त्रका धामस्वरूप है,परम जानने योग्य है,वही बोद्धा (जानने वाला जीवस्वरूप) है और वही बोधनीय (जानने योग्य ईश्वर-स्वरूप) भी है,वही माननेवाला और मानने योग्य है वही प्राशन करनेवाला और प्राशन करने योग्य है, वही सूँघनेवाला और सूँघने योग्य वस्तुरूप है, वही स्पर्श करनेवाला और स्पर्श करने योग्य है ॥ १७ ॥ वही द्रष्टा और देखने योग्य है, वही श्रोता और सुनने योग्य है, वही ज्ञाता और ज्ञेयस्वरूप है,वही निर्गुण और सगुणरूप है और हे तात! जो २ प्रधानरूप कहे जाते हैं वह, और नित्य, शाश्वत और अविकारी भी वह ही है ॥१८॥ मैं ब्रह्मा जो महत्तत्त्वको उत्पन्न करता हूँ वह भी वही है और विद्वान् उसको अनिरुद्ध कहते हैं, तथा जगत्में कामनामय जो

देवाः सर्वे मुनयः साधु शान्तास्तं भार्गवंशे यज्ञभागं भजन्ते । अहं ब्रह्मा आद्य ईशः प्रजानां तस्माज्जातस्त्वञ्च मत्तः प्रसूतः२० मत्तो जगज्जंगमं स्थावरञ्च सर्वे वेदाः सरहस्या हि पुत्र ॥२१॥ चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छति । एवं स भगवान् स्वेन ज्ञानेन प्रतिबोधितः ॥२२॥ एतत्ते कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः। सांख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवर्णितम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीयसमाप्तौ एकपंचाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३५१॥

युधिष्ठिर उवाच । धर्माः पितामहेनोक्ता मोक्षधर्माः श्रुताः शुभाः। धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हति मे भवान् ॥ १ ॥ भीष्म उवाच ।

वैदिक सत्कर्म किये जाते हैं, उनका फलदाता भी वही है।१९। तथा सब देवता और शान्त मुनि यज्ञकी वेदी पर बैठकर उस ही परमात्माका यजन करते हैं और उसको ही बलि देते हैं प्रजापतियोंमें मुख्य मुझ ब्रह्माका भी उनसे ही जन्म हुआ है और मुझसे तेरी उत्पत्ति हुई है २० तथा हे पुत्र ! मुझसे यह स्थावर और जंगमरूप जगत् और रहस्योंसहित चारों वेद उत्पन्न हुए हैं ॥ २१ ॥ इसप्रकार भगवान् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव इन चार भागोंमें बटे हुए हैं और वह अपनी इच्छाके अनुसार विहार करते हैं और अपने ज्ञानसे ही वह जाग्रत होते हैं ॥ २२ ॥ हे पुत्र ! तूने मुझसे जो प्रश्न किया था उसका उत्तर मैंने तुझको देदिया तथा सांख्य और योग शास्त्रमें जिस प्रकार इसका वर्णन है वह सब तुझसे कह दिया ॥ २३ ॥ तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५१ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-मोक्षधर्मका आश्रय करनेवाले शुभ धर्म आपने कहे, अब आप मुझसे वर्णाश्रमधर्मियोंके श्रेष्ठ धर्म कहिये ॥ १ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-सर्वत्र धर्मका फल स्वर्ग

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्गः सत्यफलं महत् । बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति, विफला क्रिया ॥ २ ॥ यस्मिन्यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम् । स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥३ ॥ इमां च त्वं नरव्याघ्र श्रोतुमर्हसि मे कथाम् । पुरा शक्रस्य कथितां नारदेन महर्षिणा ॥ ४ ॥ महर्षिर्नारदो राजन् सिद्धस्त्रैलोक्य-संमतः । पर्येति क्रमशो लोकान् वायुरव्याहतो यथा ॥ ५ ॥ स कदाचिन्महेष्वासः देवराजालयं गतः । सत्कृतश्च महेन्द्रेण प्रत्या-सन्नगतोऽभवत् ॥ ६ ॥ तं कृतक्षणमासीनं पर्यपृच्छच्छचीपतिः । महर्षे किंचिदाश्चर्यमस्ति दृष्टं त्वयानघ ॥ ७ ॥ यदा, त्वमपि विप्रर्षे त्रैलोक्यं सचराचरम् । जातकौतूहलो नित्यं सिद्धश्चरसि साक्षिवत् ॥ ८ ॥ न ह्यस्त्यविदितं लोके देवर्षे तव किंचन ।

और सत्य कहा है अनेक मार्गों वाले धर्मकी कोई भी क्रिया निष्फल नहीं जाती है ॥ २ ॥ हे भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष ! सब आश्रमोंमें स्वर्ग और मोक्षफल मिलता है, परन्तु जो मनुष्य जिस आश्रममें कृतकृत्य होजाता है वह उसको ही सर्वश्रेष्ठ मानता है, दूसरोंको नहीं ॥ ३ ॥ पहिले महर्षि नारदने इन्द्रसे इस विषय की एक कथा कही थी हे नरव्याघ्र ! उसको तू सुन ॥ ४ ॥ हे राजन्! वायु जैसे अप्रतिहतगतिसे तीनों लोकोंमें विचरा करता है, ऐसे ही सिद्ध और मान्य महर्षि नारद भी अनुक्रमसे तीनों लोकोंमें विचरा करते हैं ॥ ५ ॥ हे महाधनुर्धर ! एक समय नारदजी देवराज इन्द्रके यहाँ गये, तब इन्द्रने उनका सत्कार किया और अपने पास बैठाला ॥ ६ ॥ नारदजी बैठकर विश्राम ले चुके तब शचीपति इन्द्रने नारदजीसे प्रश्न किया, कि-हे निर्दोष महर्षे ! कोई आश्चर्यजनक घटना आपने देखी हो तो कहिये ७ हे विप्रर्षि ! तुम सिद्ध हो और कुतूहल रखकर तुम साक्षीकी समान स्थावर, जंगमरूप तीनों लोकोंमें सदा विचरते रहते हो ८

श्रुतं वाप्यनुभूतं वा दृष्टं वा कथयस्व मे ॥९॥ तस्मै राजन् सुरेन्द्राय नारदो वदतां वरम् । आसीनायोपपन्नाय मोक्तवान्विपुलां कथाम् ॥१०॥ यथा येन च कल्पेन स तस्मै द्विजसत्तमः । कथां कथितवान्पृष्टस्तथा त्वमपि मे शृणु ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५२ ॥

भीष्म उवाच । आसीत्किल नरश्रेष्ठ महापद्मे पुरोत्तमे । गङ्गाया दक्षिणे तीरे कश्चिद्विप्रः समाहितः॥१॥ सौम्यः सोमान्वये वेदे गताध्वा छिन्नसंशयः । धर्मनित्यो जितक्रोधो नित्यतृप्तो जितेन्द्रियः ॥ २ ॥ तपःस्वाध्यायनिरतः सत्यः सज्जनसंमतः । न्यायप्राप्तेन वित्तेन स्वेन शीलेन चान्वितः ॥ ३ ॥ ज्ञातसंबन्धि-

---

हे देवर्षे ! जगत्की कोई भी घटना आपसे छिपी हुई नहीं है आपने जो कुछ सुना हो, देखा हो और अनुभव किया हो, वह मुझसे कहिये ॥ ९ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने पासमें बैठे हुए इन्द्रसे यह बड़ी भारी कथा कही थी १० ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ नारदजीने इन्द्रके प्रश्न करनेपर जिसप्रकार इन्द्रसे कथा कही थी, उसप्रकार मैं तुमसे कहता हूँ, सुन॥११॥तीनसौ बावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५२ ॥

भीष्मजीने कहा, कि—हे नरश्रेष्ठ ! गंगाके दक्षिण तट पर महापद्म नामक एक उत्तम नगरमें एक समाधिनिष्ठ ब्राह्मण रहता था ॥ १ ॥ वह शान्त वृत्ति वाला था अत्रि गोत्रका था और संपूर्ण वेदको पढ़ा हुआ था और वह सन्देहरहित था, नित्य धर्माचरण करनेवाला था और क्रोधरहित था, नित्य तृप्त रहने वाला और जितेन्द्रिय था ॥ २ ॥ तप और स्वाध्यायमें प्रीति रखता था, सत्यवादी था और सज्जनोंमें मान्य था, नीतिमें मिलेहुए धनसे और शीलसे सम्पन्न था ॥ ३ ॥ सगे संबन्धियोंसे-

विपुले सत्वाद्याश्रयसंमिते । कुले महति विख्याते विशिष्टां वृत्तिमास्थितः ॥ ४ ॥ स पुत्रान्बहुलान् दृष्ट्वा विपुले कर्मणि स्थितः । कुलधर्माश्रितो राजन्धर्मचर्यास्थितोऽभवत् ॥ ५ ॥ ततः स धर्मं वेदोक्तं तथा शास्त्रोक्तमेव च । शिष्टाचीर्णं च धर्मं च त्रिविधं चिंत्य चेतसा ॥ ६ ॥ किन्नु मे स्याच्छुभं कृत्वा किं कृतं किं परायणम् । इत्येवं खिद्यते नित्यं न च याति विनिश्चयम् ॥७॥ तस्यैवं खिद्यमानस्य धर्मं परममास्थितः । कदाचिदतिथिः प्राप्तो ब्राह्मणः सुसमाहितः ॥ ८ ॥ स तस्मै सत्क्रियां चक्रे क्रियायुक्तेन हेतुना । विश्रान्तं सुसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि,उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिपंचाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५३ ॥

भरपूर और सत्त्व आदि गुण वाले प्रख्यात महाकुलमें उत्पन्न हुआ था और श्रेष्ठ आजीविकासे जीवन विताता था ॥ ४ ॥ हे राजन् ! वह अपने यहाँ बहुतसे पुत्रोंको उत्पन्न हुआ देखकर बड़ाभारी कार्य करनेलगा, वह अपने कुलधर्मके अनुसार धर्माचरण करनेलगा ॥ ५ ॥ वह ब्राह्मण वेदोक्त धर्मका, शास्त्रोक्त धर्मका तथा शिष्टाचारका इसप्रकार तीन प्रकारके धर्मका मनमें विचार करने लगा, कि-॥ ६ ॥ इन धर्मोंमेंसे मुझे कौनसे धर्मका आचरण करना चाहिये,कौनसे धर्मका आश्रय लेना चाहिये और कौनसे धर्मको पालनेसे मेरा शुभ होगा, इस प्रकार वह ब्राह्मण खेद करने लगा और विचार करने पर भी अपने संदेह का निर्णय न कर सका ॥ ७ ॥ वह इसप्रकार खेद कररहा था इतनेमें ही परमधर्ममें परायण और मनको वशमें रखने वाला एक अतिथि ब्राह्मण आगया ॥ ८ ॥ उसने उसकी शास्त्रोक्त रीतिसे पूजा की और जब वह ब्राह्मण विश्राम लेकर सुख पूर्वक बैठ गया तब उसने उससे कहा ॥९॥ तीनसौ तरेपनवाँ अध्याय

ब्राह्मण उवाच। सञ्जातस्नेहोऽभिधानोऽस्मि वाङ्माधुर्येण तेऽनघ। मित्रत्वमभिपन्नस्त्वं किंचिद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥ गृहस्थधर्मं विप्रेन्द्र कृत्वा पुत्रगतं त्वहम्। धर्मं परमकं कुर्यां को हि मार्गो भवेद् द्विज ॥ २ ॥ अहमात्मानमास्थाय एक एवात्मनि स्थितिम्। कर्तुं कांक्षामि नेच्छामि बद्धः साधारणैर्गुणैः ॥ ३ ॥ यावदेतदतीतं मे वयः पुत्रफलाश्रितम्। तावदिच्छामि पाथेयमादातुं पारलौकिकम् ॥४॥ अस्मिन् हि लोकसम्भारे परंपारमभीप्सतः। उत्पन्ना मे मतिरियं कुतो धर्ममयः प्लवः ॥ ५ ॥ संयुज्यमानानि निशम्य लोके निर्यात्यमानानि च सात्त्विकानि। दृष्ट्वा तु धर्मध्वजकेतुमालां प्रकीर्यमाणामुपरि प्रजानाम् ॥ ६ ॥ न मे मनो रज्यति भोगकाले

ब्राह्मणने कहा, कि—हे निर्दोष ब्राह्मण ! तेरी मीठी बातचीतसे मुझे तेरे ऊपर स्नेह हुआ है तथा मैं तुझको अपना मित्र मानता हूँ, अतः मैं तुझसे जो कुछ कहता हूँ, उसको तू सुन १ हे विप्रेन्द्र ! मैं गृहस्थके धर्मको अपने पुत्रके अर्पण करके श्रेष्ठ धर्मका आचरण करना चाहता हूँ, अतः हे द्विज ! मुझे कौनसे धर्मका पालन करना चाहिये ? ॥ २ ॥ मैं आत्माका आश्रय करके एक आत्मामें ही स्थिति करना चाहता हूँ और साधारण गुणोंसे बँधना नहीं चाहता ॥ ३ ॥ अब तककी मेरी आयु पुत्ररूप फल पानेमें ही बीती है अब मैं परलोकके मार्गके लिये कुछ संबल इकट्ठा करना चाहता हूँ ॥ ४ ॥ इस संसारसागरसे पार जानेकी मुझे इच्छा हुई है, मेरी इच्छा ऐसी है, कि—धर्मरूपी नौका अब कहाँ है ॥ ५ ॥ तीनों लोकोंमें सत्त्वगुणी प्राणियोंको भी अपने कर्मोंका फल पाते हुए और पीड़ा पाते हुए देखकर तथा प्राणियोंके ऊपर यमराजकी ध्वजाकी केतुमालाको फरकती हुए देखकर ॥ ६ ॥ भोग भोगते समय मेरे मनमें भोगोंको भोगनेकी रुचि नहीं होती है और संन्यासियोंको दूसरोंके घर

दृष्ट्वा यतीन्प्रार्थयतः परत्र । तेनातिथे बुद्धिबलाश्रयेण धर्मेण धर्मे विनियुंच्व मां त्वम् ॥ ७ ॥ सोऽतिथिर्वचनं तस्य श्रुत्वा धर्माभिभाषिणः । प्रोवाच वचनं श्लक्ष्णं प्राज्ञोमधुरया गिरा ॥ ८ ॥ अतिथिरुवाच । अहमप्यत्र मुह्यामि ममाप्येष मनोरथः । न च संनिश्चयं यामि बहुद्वारे त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥ केचिन्मोक्षं प्रशंसंति केचिद्यज्ञफलं द्विजाः । वानप्रस्थाश्रयाः केचिद्गार्हस्थ्यं केचिदास्थिताः ॥ १० ॥ राजधर्माश्रयं केचित्केचिदात्मफलाश्रयम् । गुरुधर्माश्रयं केचित्केचिद्वाक्संयमाश्रयम् ॥ ११ ॥ मातरं पितरं केचिच्छुश्रूषं तो दिवं गताः । अहिंसया परे स्वर्ग सत्येन च तथापरे ॥ १२ ॥ आहवेऽभिमुखाः केचिन्निहतास्त्रिदवं गताः । केचि-

---

भिक्षा मांगतेहुए देखकर मुझे संन्यासियोंका धर्म पालन करनेकी भी इच्छा नहीं होती है, अतः हे अतिथि ! आप अपने बुद्धिबलसे मुझे धर्मका उपदेश देकर धर्ममार्ग पर चढाइये ॥ ६ ॥ ७ ॥ भीष्मजीने कहा, कि–उस ब्राह्मणने इस प्रकार धर्मसम्बन्धी बात चीतकी तब बुद्धिमान् अतिथि कोमल वचनोंमें उससे कहने लगा, ॥ ८ ॥ अतिथिने कहा, कि–मैं भी इसी चक्करमें पड़ा हुआ हूँ, मेरा भी यही मनोरथ है, स्वर्गमें जानेके बहुतसे द्वार हैं (परन्तु उनमें कौनसा द्वार उत्तम है, इसका मैं) निर्णय नहीं कर सकता ॥ ९ ॥ बहुतसे मोक्षकी प्रशंसा करते हैं, तब बहुत से ब्राह्मण यज्ञके फलरूप स्वर्गकी प्रशंसा करते हैं, बहुतसे वानप्रस्थाश्रमके धर्मको पालते हैं और बहुतसे ब्राह्मण गृहस्थाश्रमके धर्मोंका आचरण करते हैं ॥ १० ॥ बहुतसे राजधर्मका आचरण करते हैं, बहुतसे आत्मज्ञानका आश्रय लेते है, कोई गुरुसेवारूपी धर्मका पालन करते हैं तो कोई मौनव्रतको धारण करते हैं ॥ ११ ॥ बहुतसे मातापिताकी सेवा करके स्वर्गमें गए हैं, बहुतसे अहिंसारूपी धर्मका पालन कर स्वर्गमें गए है और

दुञ्छवृत्तैः सिद्धाः स्वर्गमार्गं समाश्रिताः ॥ १३ ॥ केचिदध्ययने युक्ता वेदव्रतपराः शुभाः । बुद्धिमन्तो गताः स्वर्गं तुष्टात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १४ ॥ आर्जवेनापरे युक्ता निहतानार्जवैर्जनैः । ऋजवो नाकपृष्ठे वै शुद्धात्मानः प्रतिष्ठिताः१५एवं बहुविधैर्लोके धर्मद्वारैरनावृतैः । ममापि मतिराविग्ना मेघलेखेव वायुना ॥१६॥ इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने चतुःपंचाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५४ ॥

अतिथिरुवाच । उपदेशं तु ते विप्र करिष्येऽहं यथाक्रमम् । गुरुणा मे यथाख्यातमर्थतत्त्वं तु मे शृणु ॥ १ ॥ यत्र पूर्वाभिसर्गे वै धर्मचक्रं प्रवर्तितम् । नैमिषे गोमतीतीरे तत्र नागाह्वयं पुरम् ॥ २ ॥ समग्रैस्त्रिदशैस्तत्र इष्टमासीद् द्विजर्षभ । यत्रेंद्राति-

---

बहुतसे सत्यभाषणसे स्वर्गमें गए हैं ॥ १२ ॥ बहुतसे रणमें लड़ते २ मारे जाकर स्वर्गमें गए हैं, बहुतसे उञ्छवृत्तिसे व्रतका पालन कर सिद्ध होकर स्वर्गके मार्गमें गए हैं ॥ १३ ॥ बहुतसे उत्तम पुरुष वेदव्रतका पालन करते हैं, बहुतसे श्रेष्ठ पुरुष वेदाध्ययन करते हैं इस प्रकार बहुतसे शान्त मन वाले जितेन्द्रिय बुद्धिमान् स्वर्गमें गए हैं ॥ १४ ॥ बहुतसे सरल और शुद्ध मन वाले पुरुष कुटिल पुरुषोंके हाथसे मरण पाकर स्वर्गमें गए हैं १५ इस प्रकार बहुतसे मनुष्योंने अनेक प्रकारका धर्माचरण करके स्वर्गके बहुतसे द्वारोंको खोल दिया है, परन्तु मेरी बुद्धि वायुसे चलायमान होते हुए मेघोंकी समान विचलित होरही है ॥१६॥ तीनसौ चौअनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५४ ॥ छ छ

अतिथिने कहा, कि-हे ब्राह्मण ! मेरे गुरुने मुझे जिस प्रकार धर्मतत्त्वका उपदेश दिया है,उस उपदेशको मैं तुझे क्रमशः सुनाऊँगा, सुन ॥१॥ जिसमें पहिले कल्पमें धर्मचक्रकी स्थापना कीगई थी, उस नैमिषारण्यमें गोमतीके तट पर नाग नामक एक

क्रमं चक्रे मांधाता राजसत्तमः ॥ ३ ॥ कृताधिवासो धर्मात्मा तत्र चक्षुःश्रवा महान् । पद्मनाभो महानागः पद्म इत्येव विश्रुतः ॥४॥ स वाचा कर्मणा चैव मनसा च द्विजर्षभः । प्रसादयति भूतानि त्रिविधे वर्त्मनि स्थितः ॥ ५ ॥ साम्ना भेदेन दानेन दंडेनेति चतुर्विधम् । विषमस्थं समस्थं च चक्षुर्ध्यानेन रक्षति ॥ ६ ॥ तमतिक्रम्य विधिना प्रष्टुमर्हसि कांक्षितम् । स ते परमकं धर्मं न मिथ्या दर्शयिष्यति ॥ ७॥ स हि सर्वातिथिर्नागो बुद्धिशास्त्रविशारदः । गुणैरनुपमैर्युक्तः समस्तैराभिकामिकैः ॥ ८ ॥ प्रकृत्या नित्यसलिलो नित्यमध्ययने रतः । तपोदमाभ्यां संयुक्तो वृत्तेनानवरेण

नगर है॥२॥हे ब्राह्मणर्षभ ! उस स्थानमें पहिले सब देवताओंने यज्ञ किया था और राजाओंमें श्रेष्ठ राजा मांधाताने भी वहाँ इन्द्रका अपमान किया था ॥ ३ ॥ वहाँ पर बड़ा भारी धर्मात्मा एक चक्षुःश्रवा (सर्प) रहता है वह पद्मनाभ अथवा पद्म नाम से प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! वह सर्प मन, वाणी और कर्मसे सबको सन्तुष्ट रक्खा करता है और कर्म, ज्ञान तथा उपासना इन तीनों मार्गोंका आश्रय करके रहता है ॥ ५ ॥ विपरीतिसे वर्ताव करने वाले पुरुषको वह साम, दाम, दण्ड और भेद इन चारोंसे ठीक करता है और समानभावसे वर्ताव करने वालेकी केवल नेत्रके ध्यानसे ही रक्षा करता है ॥ ६ ॥ अतः उसके पास जाकर तू विधिपूर्वक अपनी इच्छानुसार उससे प्रश्न कर वह तुझे उत्तम धर्मका उपदेश देवेगा और मिथ्या न कहेगा ॥ ७ ॥ वह नाग सबका अतिथि सत्कार करता है, उसकी बुद्धि शास्त्रमें अच्छी प्रकार प्रवेश करती है और वह सब सद्गुणोंसे अलंकृत है ॥ ८ ॥ उसका स्वभाव सदा जलकी समान निर्मल रहता है वह सदा अध्ययनमें प्रीति रखता है, तप और दमसे युक्त है और उसका आचरण

च ॥ ६ ॥ यज्वा दानपतिः क्षान्तो वृत्ते च परमे स्थितः। सत्यवागनसूयुश्च शीलवान्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥ शेषान्नभोक्ता वचनानुकूलो हितार्जवोत्कृष्टकृताकृतज्ञः। अवैरकृद्भूतहिते नियुक्तो गङ्गाह्रदाम्भोऽभिजनोपपन्नः ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उंछवृत्त्युपाख्याने पञ्चपंचाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५५ ॥

ब्राह्मण उवाच। अतिभारोद्य तस्यैव भारावतरणं महत्। पराश्वासकरं वाक्यमिदं मे भवतः श्रुतम् ॥ १ ॥ अध्वक्लांतस्य शयनं स्थानक्लांतस्य चासनम्। तृषितस्य च पानीयं क्षुधार्त्तस्य

उत्तम है ॥ ६ ॥ वह यज्ञ करने वाला है, दान देने वालोंका स्वामी है, क्षमावान् है और उत्तम व्रतोंका पालन करने वाला है, सत्यवादी है, ईर्षारहित है, शीलसम्पन्न है और इन्द्रियों को नियममें रखने वाला है ॥ १० ॥ (देवता, पितर और अतिथियोंको भोजन करानेके पीछे) बाकी बचे हुए अन्नका भोजन करने वाला है, अनुकूल वचन बोलने वाला दूसरेका हित करनेमें और सरलतासे वर्ताव करनेमें चतुर है, कार्य अकार्यको जानने वाला है, वह प्राणियोंका हित करता है और किसीसे वैर नहीं रखता है और गङ्गाजीके (सरोवरके) जल की समान पवित्र कुलमें उत्पन्न हुआ है ॥ ११ ॥ तीनसौ पचपनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५५ ॥ * * *

ब्राह्मणने कहा, कि—जैसे बहुतसे बोझेको लादकर आते हुए पुरुषके ऊपरसे बोझा उतार लेनेसे उसको परम शान्ति मिलती है, इसीप्रकार आपकी बात सुनकर मुझे परम शान्ति मिली है ॥ १ ॥ मार्गमें चलनेसे थकेहुए पुरुषको जैसे शय्या आनन्द देती है, प्यासेको जैसे जल आनन्द देता है, खड़े २ थक गए पुरुषको जैसे आसन आनन्द देता है। भूँखसे घबड़ाये हुए

च भोजनम् ॥ २ ॥ ईप्सितस्येव संप्राप्तिरन्नस्य समयेऽतिथेः। एषितस्यात्मनः काले वृद्धस्येव सुतो यथा ॥ ३ ॥ मनसा चिंतितस्येव प्रीतिः स्निग्धस्य दर्शनम्। प्रह्लादयति मां वाक्यं भवता यदुदीरितम् ॥ ४ ॥ दत्तचक्षुरिवाकाशे पश्यामि विमृशामि च। प्रज्ञानवचनाद्योऽयमुपदेशो हि मे कृतः ॥५॥ बाढमेवं करिष्यामि यथा मे भाषते भवान्। इमां हि रजनीं साधो निवसस्व मया सह ॥६॥ प्रभाते यास्यति भवान् पर्याश्वस्तः सुखोषितः। असौ हि भगवान्सूर्यो मन्दरश्मिरवाङ्मुखः ॥ ७ ॥ भीष्म उवाच। ततस्तेन कृतातिथ्यः सोतिथिः शत्रुसूदन। उवास किल तां रात्रिं सह तेन द्विजेन वै ॥ ८ ॥ चतुर्थधर्मसंयुक्तं तयोः कथयतोस्सदा। व्यतीता सा निशा कृत्स्ना सुखेन दिवसोपमा ॥ ९ ॥ ततः

को जैसे भोजन आनन्द देता है ॥ २ ॥ अतिथिको जैसे समय पर अभिलषित भोजन मिलनेसे आनन्द होता है और पुत्रकी चाहना करने वालेको पुत्र उत्पन्न होनेपर जैसा आनन्द होता है ॥ ३ ॥ और प्रेमी पुरुषको जैसे अपने प्रियजनके मिलने पर जैसा आनन्द होता है, तैसा ही आनन्द आपके वचन सुनकर मुझको हुआ है ॥ ४ ॥ (अंधा) जैसे नेत्र पाकर आकाशकी ओर देखता है, ऐसे ही मैं आपके इन ज्ञानमय वचनोंसे उपदेश पाकर आकाशकी ओर देख रहा हूँ ॥५॥ मैं आपके कथानुसार करूँगा, हे साधो ! आजकी रात आप मेरे साथ रहिये ॥ ६ ॥ आप यहां सुखपूर्वक रहिये और विश्राम करिये, अब भगवान् सूर्यनारायण मन्द होने लगे हैं और अस्त होरहे हैं ॥ ७ ॥ भीष्मजीने कहा, कि-शत्रुनाशक युधिष्ठिर ! इस प्रकार ब्राह्मण ने अतिथि सत्कार किया और उससे रहनेकी प्रार्थना की तब वह ब्राह्मण उस रात्रिमें उसके यहां रहा ॥८॥ और चौथे धर्म (मोक्ष) की बातें कहते२ उनको वह सारी रात्रि दिनकी समान

प्रभातसमये सोऽतिथिस्तेन पूजितः । ब्राह्मणेन यथा शक्त्या स्वकार्यमभिकांक्षता ॥ १० ॥ ततः स विप्रः कृतकर्मनिश्चयः कृताभ्यनुज्ञः स्वजनेन धर्मकृत् । यथोपदिष्टं भुजगेन्द्रसंश्रयं जगाम काले सुकृतैकनिश्चयः ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५६ ॥

भीष्म उवाच । स वनानि विचित्राणि तीर्थानि च सरांसि च। अभिगच्छन् क्रमेण स्म कंचिन्मुनिमुपस्थितः ॥ १ ॥ तं स तेन यथोद्दिष्टं नागं विप्रेण ब्राह्मणः । पर्यपृच्छद्यथान्यायं श्रुत्वैव च जगाम सः ॥ २ ॥ सोभिगम्य यथान्यायं नागायतनमर्थवित् । प्रोक्तवानहमस्मीति भोः शब्दालंकृतं वचः ॥ ३ ॥ ततस्य वचनं

सुखमें बीत गई ॥ ९ ॥ तदनन्तर प्रातःकालमें अपना काम करने की इच्छा करने वाले उस ब्राह्मणने अपनी शक्तिके अनुसार अतिथिका सत्कार किया ॥ १० ॥ धर्माचरण करनेवाले उस मोक्षधर्मको जाननेका निश्चय करनेवाले पुण्यात्मा ब्राह्मण ने अपने घरके मनुष्योंकी आज्ञा लेकर अतिथिके बताये हुए नागराजके भवनकी ओर चलना आरम्भ किया ॥ ११ ॥ तीनसौ छप्पनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५६ ॥

भीष्मजीने कहा, कि हे राजा युधिष्ठिर ! वह ब्राह्मण नाना प्रकारके वनोंको, तीर्थोंको और सरोवरोंको लांघता हुआ आगे को बढ़ने लगा, इतनेमें उसको एक मुनि मिले ॥ १ ॥ तब उस ब्राह्मणने ब्राह्मणके कथनानुसार मुनिसे नागका स्थान बूझा, उन्होंने उसको उचित उत्तर देकर बताया, तब वह आगेको बढ़ने लगा ॥२॥ और नागके स्थान पर पहुँच कर वह तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण यथोचित रीतिसे कहने लगा, कि-"मैं अमुक आपके यहाँ आया हूँ" ॥ ३ ॥ ब्राह्मणकी बात सुनकर धर्म पर प्रेम

श्रुत्वा रूपिणी धर्मवत्सला । दर्शयामास तं विप्रं नागपत्नी पतिव्रता ॥४॥ सा तस्मै विधिवत्पूजां चक्रे धर्मपरायणा । स्वागतेनागतं कृत्वा किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ ५ ॥ ब्राह्मण उवाच । विश्रान्तोऽभ्यर्चितश्चास्मि भवत्या श्लक्ष्णया गिरा । द्रष्टुमिच्छामि भवति देवं नागमनुत्तमम् ॥ ६ ॥ एतद्धि परमं कार्यमेतन्मे परमेप्सितं । अनेन चार्थेनास्म्यद्य संप्राप्तः पन्नगाश्रमम् ॥७॥ नागभार्योवाच । आर्यः सूर्यरथं वोढुं गतोऽसौ मासचारिकः । सप्ताष्टभिर्दिनैर्विप्र दर्शयिष्यत्यसशंयः ॥८॥ एतद्विदितमार्यस्य विवासकरणं तव । भर्तुर्भवतु किं चान्यत् क्रियतां तद्वदस्व मे ॥ ९ ॥ ब्राह्मण उवाच । अनेन निश्चयेनाहं साध्वि संप्राप्तवानिह । प्रतीक्षन्नागमं देवि वत्स्याम्यस्मिन् महावने ॥ १० ॥ संप्राप्तस्यैव

रखने वाली, पतिव्रता रूपवती नागपत्नीने उस ब्राह्मणको दर्शन दिये ॥ ४ ॥ और धर्ममें परायण रहने वाली उस नागपत्नीने ब्राह्मणकी विधिपूर्वक पूजाकी और उसका स्वागत करके बूझा, कि–बताओ मैं आपका क्या कार्य करूँ ॥ ५ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि–हे पूज्य स्त्री ! तूने मधुर वाणीसे मेरी पूजाकी और मैंने विश्राम लेलिया, अब मैं सर्वश्रेष्ठ नागका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥ यह मेरा बड़ा भारी काम है और यह मेरा परम इष्ट कार्य है, मैं इस कामके लियेही इस नागाश्रममें आया हूँ ॥ ७ ॥ नागभार्याने कहा, कि-मेरे पतिदेव एक महीने तक सूर्यका रथ खैंचनेके लिये गए हैं, हे ब्राह्मण ! वह सात या आठ दिनमें अवश्य आजावेंगे ॥ ८ ॥ अपने भर्ताके परदेश जानेका यह कारण मैंने बताया, अब मेरे भर्तासे आपका क्या काम है, यह बताइये ॥ ९ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि–हे साध्वि ! मैं नागराजका दर्शन करनेके लियेही यहाँ आया हूँ, हे देवि ! इस महावनमें रह कर मैं नागराजके आनेकी बाट देखूँगा ॥ १० ॥ जब

चाव्यग्रमावेद्योऽहमिहागतः। मयाभिगमनं प्राप्तो वाच्यश्च वचनं त्वया ॥११॥ अहमप्यत्र वत्स्यामि गोमत्याः पुलिने शुभे। कालं परिमिताहारो यथोक्तं परिपालयन् १२ ततः स विप्रस्तां नागीं समाधाय पुनः पुनः। तदेव पुलिनं नद्याः प्रययौ ब्राह्मणर्षभः १३

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५७ ॥

भीष्म उवाच। अथ तेन नरश्रेष्ठ ब्राह्मणेन तपस्विना। निराहारेण वसता दुःखितास्ते भुजङ्गमाः ॥ १ ॥ सर्वे संभूय सहिता ह्यस्य नागस्य बान्धवाः। भ्रातरस्तनया भार्या ययुस्तं ब्राह्मणं प्रति। तेऽपश्यन्पुलिने तं वै विविक्ते नियतव्रतम्। समासीनं निराहारं द्विजं जप्यपरायणम् ॥ ३ ॥ ते सर्वे समतिक्रम्य विप-

---

नागराज आवें तब उनको मेरे आनेका समाचार शांतिसे देना, उसको पहिले मेरे यहाँ आनेका समाचार देकर तू फिर उससे और कुछ बात करना ॥ ११ ॥ मैं यहाँ गोमती नदीके पवित्र तट पर रहूँगा और परिमित आहार करके तेरे कहे हुए समय की बाट देखूँगा॥१२॥ इस प्रकार वह श्रेष्ठ ब्राह्मण नागभार्याके मनका समाधान करके गोमती नदीके तटपर चलागया ॥१३॥ तीनसौ सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५७ ॥

भीष्मजीनें कहा, कि–हे नरश्रेष्ठ! तदनन्तर वह तपस्वी ब्राह्मण वहाँ निराहार रहने लगा, तब तो वहाँ रहने वाले सब सर्प खिन्न होगए ॥ १ ॥ फिर वे नागराजके बान्धव, भाई, पुत्र और भार्या ये सब इकट्ठे होकर उस ब्राह्मणके पास गए २ और नियमको स्वीकार करने वाले और आहारको त्यागने वाले उस ब्राह्मणको नदीके तट पर एकान्तमें बैठ जप करते हुए देखा ॥ ३ ॥ अतिथिप्रिय नागराजके सब सम्बन्धी, उस ब्राह्मणके पास गए और उसकी बारम्बार पूजा करके उससे

मभ्यर्च्य चासकृत् । ऊचुर्वाक्यमसंदिग्धमातिथेयस्य बांधवाः ४ षष्ठो हि दिवसस्तेऽद्य प्राप्तस्येह तपोधन । न चाभिभाषसे किंचिदाहारं धर्मवत्सल ॥ ५ ॥ अस्मानभिगतश्चासि वयं च त्वामुपस्थिताः । कार्यं चातिथ्यमस्माभिर्वयं सर्वे कुटुंबिनः ॥ ६ ॥ मूलं फलं वा पर्णं वा पयो वा द्विजसत्तम । आहारहेतोरन्नं वा भोक्तुमर्हसि ब्राह्मण ॥७॥ त्यक्ताहारेण भवता वने निवसता त्वया । बालवृद्धमिदं सर्वं पीड्यते धर्मसंकरात् ॥८॥ न हि नो भ्रूणहा कश्चिज्जातापत्यनृतोऽपि वा।पूर्वाशी वा कुले ह्यस्मिन् देवतातिथिबन्धुषु ॥ ९ ॥ ब्राह्मण उवाच उपदेशेन युष्माकमाहारोऽयं कृतो मया । द्विरूनं दश रात्रं वै नागस्यागमनं प्रति ॥ १० ॥ यद्यष्ट-

संशयरहित वाक्य कहने लगे, कि-॥ ४ ॥ हे तपोधन ! तुमको यहाँ आये हुए आज छठा दिन है,तब भी हे धर्मवत्सल ! तुमने हमारा किसी प्रकारका भोजन ग्रहण नहीं करा है ॥ ५ ॥ तुम हमारे घर अतिथिके रूपमें आये हो और हम भी आपके पास आये हैं, हमें आपका अतिथिसत्कार करना चाहिये, हम सब कुटुम्बी हैं ६ हे ब्राह्मण ! आप हमारे दिये हुए फल, मूल,पर्ण, दुग्ध अथवा अन्नको आहारके स्वीकृत करके भोजन करिये ७ आपने वनमें रह कर भोजन करना छोड़ दिया है इस कारण धर्ममें विघ्न पड़नेके कारण यहाँके सब वृद्धोंसे लेकर बालक तक पीड़ा पारहे हैं ॥ ८ ॥ हममें कोई भ्रूणहत्यारा नहीं है,कोई झूँठ बोलने वाला नहीं है और देवता अतिथि और बान्धवोंको खिलाये विना पहिले खालेने वाला भी कोई नहीं है ॥ ९ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि-आपने प्रार्थना की है इस लिये मैं आठ दिन बाद नागराजके आने पर भोजन करूँगा, यदि आठ रात्रि बीत जाने पर भी नागराज नहीं आवेंगे, तो मैं आपके उपदेश के अनुसार भोजन कर लूँगा, मैं नागराजके लिये ही व्रतका

रात्रेऽतिक्रान्ते नागमिष्यति पन्नगः । तदाहारं करिष्यामि तन्निमित्तमिदं व्रतम् ॥ ११ ॥ कर्तव्यो न च संतापो गम्यतां च यथा गतम् । तन्निमित्तमिदं सर्वं नैतद्धेतुमिहार्हथ ॥१२॥ ते तेन समनुज्ञाता ब्राह्मणेन भुजंगमाः स्वमेव भवनं जग्मुरकृतार्था नरर्षभ १३

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३५८॥

भीष्म उवाच। अथ काले बहुतिथे पूर्णे प्राप्तो भुजंगमः । दत्ताभ्यनुज्ञः स्वं वेश्म कृतकर्मा विवस्वता ॥ १ ॥ तं भार्याप्युपचक्राम पादशौचादिभिर्गुणैः । उपपन्नां च तां साध्वीं पन्नगः पर्यपृच्छत ॥ २ ॥ अथ त्वमसि कल्याणि देवतातिथिपूजने । पूर्वमुक्तेन विधिना युक्तियुक्तेन तत्समम् ॥३॥ न खल्वसि कृतार्थेन

पालन कर रहा हूँ ॥ १०-११ ॥ अतः आपको इसका सन्ताप न करना चाहिये और अपने २ घर लौट जाना चाहिये, मैं यह सब बातें नागराजके लिये कररहा हूँ, आपको उसमें विघ्न नहीं डालना चाहिये ॥ १२ ॥ हे नरर्षभ ! जब ब्राह्मणने सर्पोंसे इस प्रकार कहा, तब वे अपने कार्यमें सफल न होकर अपने २ घरों को चले गए ॥ १३ ॥ तीनसौ अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ३५८

भीष्मजीने कहा, कि-जब बहुतसा समय बीत गया और समय पूर्ण होगया तब जिसने अपना कार्य पूर्ण करलिया था ऐसे उस नागको सूर्यने घर जानेकी आज्ञा दी और वह अपने घर आगया ॥ १ ॥ उस समय उसकी भार्या पैर धोनेके लिये उसके पास जल लेकर गई, उस समय उसके पासमें आई हुई साध्वी स्त्रीसे सर्पने बूझा कि-॥२॥ हे कल्याणि ! तूनें मेरी पहिले बताई हुई युक्तियुक्त शास्त्रोक्त विधिसे देवता और अतिथियोंकी पूजा तो कीहै ॥ ३ ॥ हे सुश्रोणि ! क्या तूने स्त्रीस्वभावसे शिथिल होकर इस काममें शिथिलता तो नहीं की है हे सुन्दर नितम्बवाली !

स्त्रीबुद्ध्या मार्दवी कृता । मद्वियोगेन सुश्रोणि विमुक्ता धर्मसेतुना ॥४। नागभार्योवाच । शिष्याणां गुरुशुश्रूषा विप्राणां वेदधारणम् । भृत्यानां स्वामिवचनं राज्ञो लोकानुपालनम् ॥ ५ ॥ सर्वभूतपरित्राणं क्षत्रधर्म इहोच्यते । वैश्यानां यज्ञसंवृत्तिरातिथेयसमन्विता ॥६॥ विप्रक्षत्रियवैश्यानां शुश्रूषा शूद्रकर्म तत् । गृहस्थधर्मो नागेन्द्र सर्वभूतहितैषिता ॥ ७ ॥ नियताहारता नित्यं व्रतचर्या यथाक्रमम् । धर्मो हि धर्मसंबन्धादिन्द्रियाणां विशेषतः ८ अहं कस्य कुतो वापि कः को मेह भवेदिति । प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमे वसेत् ॥ ९ ॥ पतिव्रता त्वं भार्यायाः परमो धर्म उच्यते । तवोपदेशान्नागेन्द्र तच्च तत्त्वेन वेद्मि वै ॥ १० ॥ साहं धर्मं विजानंती धर्मनित्ये त्वयि स्थिते । सत्पथं कथमुत्सृज्य

मेरे वियोगसे तू धर्ममार्गसे तो विमुख नहीं हुई है ॥ ४ ॥ नागभार्या बोली, कि-गुरुकी सेवा करना शिष्योंका धर्म है, वेद पढ़ना ब्राह्मणोंका धर्म है, स्वामीकी आज्ञाका पालन करना सेवकोंका कर्तव्य है, लोकोंकी रक्षा करना राजाका धर्म है ।५॥ सब प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रियका धर्म है, यज्ञ करना और अतिथि-सत्कार करना वैश्योंका धर्म है ॥ ६ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा करना शूद्रका कर्म है और हे राजेन्द्र ! सब प्राणियोंका हित चाहना गृहस्थका धर्म है ७ नित्य नियमानुसार आहार करना, अनुक्रमसे व्रतका आचरण करना यह भी धर्म माना जाता है, क्योंकि-इन्द्रियोंके साथ संबंध होनेसे यह विशेष धर्म है ८ मैं किसका हूँ, कहाँसे आया हूँ, यहाँ मेरा कौन है और मेरा क्या प्रयोजन है? इस प्रकार नित्य विचार करके मोक्षाश्रममें वास करना चाहिये९ पतिव्रत पालना भार्याका परमधर्म कहलाता है, हे नागेन्द्र! आपके उपदेशसे मैं इस बातको जानती हूँ १० मैं धर्मको जानती हूँ, सदा धर्माचरण करनेवाले आप

यास्यामि विपथं पुनः ॥ ११ ॥ देवतानां महाभाग धर्मचर्या न हीयते । अतिथीनां च सत्कारे नित्ययुक्तास्म्यतन्द्रिता॥१२॥सप्ताष्टदिवसास्त्वद्य विप्रस्येहागतस्य वै । तच्चाकार्यं न मे ख्यातिदर्शनं तव कांक्षति ॥ १३ ॥ गोमत्यास्त्वेष पुलिने त्वद्दर्शनसमुत्सुकः । आसीनो वर्तयन्ब्रह्म ब्राह्मणः संशितव्रतः॥१४ अहं त्वनेन नागेन्द्र सत्यपूर्वं समाहिता । प्रस्थाप्यो मत्सकाशं स संप्राप्तो भुजगोत्तमः ॥ १५ ॥ एतच्छ्रुत्वा महाप्राज्ञ तत्र गन्तुं त्वमर्हसि । दातुमर्हसि वा तस्य दर्शनं दर्शनश्रवः ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने ऊनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५९ ॥

नाग उवाच॥अथ ब्राह्मणरूपेण कं तं समनुपश्यसि । मानुषं

बैठे हैं,तब मैं सन्मार्गको छोड़ कर कुमार्गमें कैसे जा सकती हूँ ११ हे महाभाग ! देवताओंकी सेवा करनेमें मैंने कुछ कमी नहीं की है और मैं नित्य सावधान रह कर अतिथियोंका भी सत्कार करती हूँ ॥ १२ ॥ परन्तु एक ब्राह्मणको यहाँ आये हुए सात आठ दिन होगए हैं, परन्तु वह अपने आनेका कारण मुझसे कुछ नहीं कहता है और आपके दर्शन करना चाहता है । १३॥ आपके दर्शनकी उत्कण्ठासे वह ब्राह्मण कठिन व्रतको पालताहुआ और ब्रह्मका जप करता हुआ गोमती नदीके तट पर बैठा है १४ हे नागेन्द्र ! इस ब्राह्मणने मुझसे सत्यपूर्वक कहा है,कि-जब वह नागराज आवे तब उसको मेरे पास भेजना ॥ १५ ॥ हे महाबुद्धिमान् नाग ! यह बात सुन कर आपको तहाँ जाना चाहिये और हे दर्शनश्रव ! उसको अपना दर्शन देना चाहिये ॥ १६ ॥ तीनसौ उनसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५९ ॥

नागने बूझा, कि-हे पवित्र हास्यवाली स्त्रि ! तूने उस ब्राह्मणरूपधारी किसको देखा है,देवता या मनुष्य जातिका कौन

केवल विप्रं देवं वाथ शुचिस्मिते ॥१॥ को हि मां मानुषः शक्तो द्रष्टुकामो यशस्विनि । संदर्शनरुचिर्वाक्यमाज्ञापूर्वं वदिष्यति २ सुरासुरगणानां च देवर्षीणां च भाविनि । ननु नागा महावीर्याः सौरभेयास्तरस्विनः ॥ ३ ॥ वन्दनीयाश्च वरदा वयमप्यनुयायिनः । मनुष्याणां विशेषेण नावेक्ष्या इति मे मतिः ॥४॥ नागभार्योवाच । आर्जवेन विजानामि नासौ देवोऽनिलाशन । एकं तस्मिन्विजानामि भक्तिमानतिरोषण ॥ ५ ॥ स हि कार्यान्तराकांक्षी जलेप्सुः स्तोकको यथा । वर्षं वर्षप्रियः पक्षी दर्शनं तव कांक्षति ॥ ६ ॥ हित्वा त्वद्दर्शनं किंचिद्विघ्नं न प्रतिपालयेत् । तुल्योऽप्यभिजने जातो न कश्चित्पर्युपासते ॥ ७ ॥ तद्रोषं सहजं

प्राणी मेरे दर्शनकी इच्छा कर सकता है और हे यशस्विनि ! कौन मुझे दर्शन देनेके लिये आज्ञा देकर बुला सकता है १—२ हे कल्याणि ! देवताओंमें, असुरोंमें और देवर्षियोंमें नाग महापराक्रमी हैं, बड़े वेगसे दौड़नेवाले हैं और हमारे शरीरकी गंध दिव्य है ३ हम दूसरोंके वंदन करने योग्य हैं, वर देनेवाले हैं और हमारे अनुयायी होते हैं और विशेषतः मनुष्य हमें नहीं देख सकते ऐसा मेरा मत है ॥ ४ ॥ नागभार्याने कहा, कि— हे पवनाशन ! उसकी सरलतासे प्रतीत होता है, कि वह देवता नहीं है, परन्तु हे अतिरोष वाले ! वह तेरी भक्ति करने वाला ब्राह्मण ही प्रतीत होता है ॥ ५ ॥ वह कुछ काम करना चाहता है और वर्षाको प्रिय समझने वाला पपैया जैसे जलकी इच्छासे वर्षा की बाट देखा करता है, ऐसेही वह ब्राह्मण भी आपके दर्शन की बाट देख रहा ॥ ६ ॥ आपके दर्शनके अतिरिक्त उस के कार्यमें और कोई भी विघ्न नहीं पड़ रहा है, हमारे कुलमें आपके अतिरिक्त दूसरा भी ऐसा कोई नहीं है जो उसका सत्कार कर सके ७ अतः आप अपने स्वाभाविक क्रोधको त्याग कर

त्यक्त्वा त्वमेनं द्रष्टुमर्हसि । आशाच्छेदेन तस्याद्य नात्मानं दग्धुमर्हसि ॥ ८ ॥ आशया ह्यभिपन्नानामकृत्वाश्रुप्रमार्जनम् । राजा वा राजपुत्रो वा भ्रूणहत्यैव युज्यते ॥९॥ मौने ज्ञानफलावाप्तिर्दानेन च यशो महत् । वाग्मित्वं सत्यवाक्येन परत्र च महीयते ॥ १० ॥ भूमिदानेन च गतिं लभत्याश्रमसंमिताम् । न्याय्यस्यार्थस्य संप्राप्तिं कृत्वा फलमुपाश्नुते ॥ ११ ॥ अभिप्रेतामसंक्लिष्टां कृत्वा चात्महितां क्रियाम् । न याति निरयं कश्चिदिति धर्मविदो विदुः ॥ १२ ॥ नाग उवाच । अभिमानैर्न मानो मे जातिदोषेण वै महान् । रोषः सङ्कल्पजः साध्वि दग्धो वागग्निना त्वया ॥ १३ ॥ न च रोषादहं साध्वि पश्येयमधिकं तमः । तस्य वक्तव्यतां यान्ति विशेषेण भुजंगमाः ॥ १४ ॥ रोषस्य हि वशं-

इसको दर्शन दीजिये, इसकी आशाको तोड़कर अपनेको भस्म करना आप को उचित नहीं है ८ यदि राजा और राजपुत्र आशासे आए हुए मनुष्योंके आँसुओंको नहीं पूँछते हैं, तो उन को गर्भहत्याका पातक लगता है ९ मौन रहनेसे ज्ञान का फल मिलता है, दान देनेसे महायश होता है, सत्यभाषण करनेसे वाग्मिपन मिलता है और परलोकमें पूजा होती है ॥ १० ॥ पृथ्वीका दान देनेसे आश्रमवासीकी गति मिलती है न्यायसे धन पानेपर उत्तम फल मिलता है ॥११॥ अपना मनचीता, हितकारी और पापरहित कार्य करनेसे कोई भी पुरुष नरकमें नहीं पड़ता है, ऐसा धर्मशास्त्रज्ञ जानते हैं ॥ १२ ॥ नागने कहा, कि–हे पतिव्रता स्त्रि ! मुझमें अभिमानका मान नहीं हैं, परन्तु जातिके दोषसे मुझमें बड़ा अभिमान है,परन्तु मेरे उस संकल्पजन्यदोषको तूने वाणीरूपी अग्निसे भस्म कर डाला है १३ हे सद्गुणी स्त्री ! मैं रोषसे अधिक और किसी अंधकारको नहीं समझता, नागोंमें क्रोध होनेसे ही उन पर विशेष आक्षेप होता है ।१४॥

गत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् । तथा शक्रमतिस्पर्धी हतो रामेण संयुगे ॥ १५ ॥ अन्तःपुरगतं वत्सं श्रुत्वा रामेण निर्हृतम् । धर्षणारोपसंविग्नाः कार्तवीर्यसुता हताः ॥ १६ ॥ जामदग्न्येन रामेण सहस्रनयनोपमः । संयुगे निहतो रोषात्कार्तवीर्यो महाबलः ॥ १७ ॥ तदेष तपसां शत्रुः श्रेयसां विनिपातकः । निगृहीतो मया रोषः श्रुत्वैव वचनं तव ॥ १८ ॥ आत्मानं च विशेषेण प्रशंसाम्यनपायिनि । यस्य मे त्वं विशालाक्षि भार्या गुणसमन्विता ॥ १९ ॥ एष तत्रैव गच्छामि यत्र तिष्ठत्यसौ द्विजः । सर्वथा चोक्तवान्वाक्यं स कृतार्थः प्रयास्यति ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६० ॥

रावण इन्द्रसे मुचैटा लेनेवाला था, परन्तु क्रोधके कारण वह श्रीरामके हाथसे युद्धमें मारा गया था १५ परशुराम अन्तःपुरमें से बछड़ेको खोलकर लेगए, यह सुनकर कार्तवीर्यके पुत्र अपमान और रोषसे तमतमा उठे, तब परशुरामने उनको मार डाला था ॥१६॥ और जमदग्निके पुत्र परशुरामने युद्धमें सहस्र नेत्रों वाले इन्द्रकी समान तेजस्वी और महाबली कार्तवीर्यको रोषके कारण मार डाला था ॥ १७ ॥ इस लिये तेरी बात सुन कर मैंने तपके शत्रुरूप और कल्याणका नाश करने वाले क्रोधका निग्रह कर लिया है ॥ १८ ॥ हे विशाल नेत्रों वाली स्त्रि ! तू मुझे विकारोंसे रहित गुणवाली स्त्री मिली है, इससे मैं अपनेको भाग्यवान् समझता हूँ ॥ १९ ॥ अब जहाँ पर वह ब्राह्मण बैठा है तहाँ मैं जाता हूँ और वह ब्राह्मण जो बात कहेगा उसको पाकर वह ब्राह्मण सर्वथा कृतार्थ होकर जावेगा२०॥ तीनसौ साठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६० ॥ छ छ

भीष्म उवाच । स पन्नगपतिस्तत्र प्रययौ ब्राह्मणं प्रति । तमेव मनसा ध्यायन्कार्यवत्तां विचारयन् ॥ १ ॥ तमतिक्रम्य नागेन्द्रो मतिमान् स नरेश्वर । प्रोवाच मधुरं वाक्यं प्रकृत्या धर्मवत्सलः २ भो भो क्षाम्याभिभाषेत् त्वां न रोषं कर्तुमर्हसि । इह त्वमभिसंप्राप्तः कस्यार्थे किं प्रयोजनम् ॥३॥ अभिमुख्यादभिक्रम्य स्नेहात् पृच्छामि ते द्विज । विविक्ते गोमतीतीरे किं वा त्वं पर्युपाससे ४ ब्राह्मण उवाच । धर्मारण्यं हि मां विद्धि नागं द्रष्टुमिहागतम् । पद्मनाभं द्विजश्रेष्ठ तत्र मे कार्यमाहितम् ॥ ५ ॥ तस्य चाहमसान्निध्ये श्रुतवानस्मि तं गतम् । स्वजनात्तं प्रतीक्षामि पर्जन्यमिव कर्षकः ॥६॥ तस्य चाक्लेशकरणं स्वस्तिकारसमाहितम् । आत्र-

भीष्मजीने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! तदनन्तर नागराज उस ब्राह्मणका मनमें स्मरण करता हुआ और उसका क्या कार्य है, इसका विचार करता हुआ उसके पास चला ॥ १ ॥ स्वभावसे ही धर्म पर प्रेम रखने वाला वह बुद्धिमान् नागराज उसके पास जाकर मधुरवाणीमें कहने लगा, कि-॥२॥ हे ब्राह्मण ! मैं आपसे क्षमा माँग कर कहता हूँ, आपको मुझ पर रोष न करना चाहिये, आप यहाँ किस लिये आये हैं, आपका मुझसे क्या काम है ? ॥ ३ ॥ हे द्विज ! मैं आपके पास आया हूँ और आपसे स्नेहपूर्वक बूझता हूँ, कि-आप इस गोमती नदीके तट पर किसकी उपासना कर रहे हैं ? ॥४॥ ब्राह्मणने उत्तर दिया, कि-हे सर्पश्रेष्ठ ! मेरा नाम धर्मारण्य है, मैं पद्मनाभ नामक सर्पराजसे मिलनेके लिये आया हूँ, उससे मेरा कुछ काम है ॥५॥ वह यहाँ पर नहीं है, मैंने उसके सम्बन्धियोंसे सुना है, कि-वह बाहर गया हुआ है, अतः किसान जैसे वर्षाकी बाट देखा करता है तैसे मैं उसकी बाट देख रहा हूँ ॥ ६ ॥ मैं योगयुक्त और निरामय होकर उसके क्लेशको दूर करनेके लिये तथा

र्तयामि तद्ब्रह्म योगयुक्तो निरामयः ॥ ७ ॥ नाग उवाच । अहो कल्याणवृत्तस्त्वं साधुः सज्जनवत्सलः । अवाच्यस्त्वं महाभाग परं स्नेहेन पश्यसि ॥८॥ अहं स नागो विप्रर्षे यथा मा विन्दते भवान्। आज्ञापय यथास्वैरं किं करोमि प्रियं तव ॥९॥ भवन्तं स्वजनादस्मि समाप्तं श्रुतवानहं । अतस्त्वा स्वयमेवाहं द्रष्टुमभ्यागतो द्विज ॥ १० ॥ संमासश्च भवानद्य कृतार्थः प्रतियास्यति । विस्रब्धो मां द्विजश्रेष्ठ विषये योक्तुमर्हसि ॥ ११ ॥ वयं हि भवता सर्वे गुणक्रीता विशेषतः। यस्त्वमात्महितं त्यक्त्वा मामेवेहानुरुध्यसे ब्राह्मण उवाच । आगतोऽहं महाभाग तव दर्शनलालसः । कञ्चिदर्थमनर्थज्ञः प्रष्टुकामो भुजङ्गम ॥१३॥ अहमात्मानमात्मस्थो मार्ग-

उसका कल्याण करनेके लिये वेदका परायण कर रहा हूँ७नागने कहा, कि-अहो ! आपका आचरण कल्याणसे भरा हुआ है, आप सत्पुरुष और सज्जनवत्सल है और आपमें कुछ कहनेकी बात नहीं है क्योंकि-आप दूसरोंको स्नेहसे देखते हैं ॥ ८ ॥ हे विप्रर्षे ! आप जिस नागसे मिलना चाहते हैं, वह नाग मैं ही हूँ, अब आपकी जो इच्छा हो वह मुझे बताइये, बताइये मैं आपका क्या प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ९ ॥ मैं अपनी स्त्रीसे आपके आगमनकी बात सुनकर आपके पास स्वयं चला आया हूँ १० हे ब्राह्मणोत्तम ! आज ही आप अपना कार्य सिद्ध करके अपने घरको जासकोगे, अतः मुझ पर विश्वास रखकर आप मुझे काममें लगाइये ॥ ११ ॥ हम सबको आपने अपने गुणोंसे मोल लेलिया है, क्यों कि-आप अपने हितकी बात भूल कर हमारे (कल्याण का ही) चिन्तवन कर रहे हैं ॥ १२ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि-हे महाभाग्यवान् सर्प ! मैं आपके दर्शनकी इच्छासे यहाँ आया हूँ और एक बातमें अनजान होनेसे आपसे उस बात को बूझना चाहता हूँ ॥ १३ ॥ मैं विषयोंसे निवृत्त होकर जीव

माणोऽत्मनो गतिम्,वासार्थिनं मद्यमक्षं चलच्चित्तमुपास्मि ह १४ प्रकाशितस्त्वं सगुणैर्यशोगर्भगभस्तिभिः । शशांककरसंस्पर्शैर्हृद्यै-रात्मप्रकाशितैः ॥१५॥ तस्य मे प्रश्नमुत्पन्नं छिंधि त्वमनिला-शन । पश्चात्कार्यं वदिष्यामि श्रोतुमर्हति तद्भवान् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्यु-पाख्याने एकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६१ ॥

ब्राह्मण उवाच । विवस्वतो गच्छति पर्ययेण वोढुं भवांस्तं रथमेक-चक्रम् । आश्चर्यभूतं यदि तत्र किंचिद् दृष्टं त्वया शंसितुमर्हसि त्वम्॥१॥नाग उवाच । आश्चर्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान् रविः। यतो भूताः प्रवर्तन्ते सर्वे त्रैलोक्यसंमताः ॥ २ ॥ यस्य रश्मिसह-स्रेषु शाखास्विव विहंगमाः वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ।३॥ यतो वायुर्विनिसृत्य सूर्यरश्म्याश्रितो महान् । विजृम्भत्यं-

की गतिरूप ब्रह्मकी खोज कर रहा हूँ, गृहस्थाश्रमी होने परभी गृहस्थके दोषोंको जाननेके कारण मेरा चित्त चञ्चल होरहा है, अर्थात् मैं रक्त और विरक्त दोनों हूँ ॥ १४ ॥ आप चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शकी,समान हृदयको आनन्द देने वाली यशोमयी किरणोंसे प्रकाशित हैं ॥ १५ ॥ हे पवनभक्षक ! ऐसे आपसे मैं प्रश्न बूझता हूँ, उसका आप निर्णय करिये, फिर मैं आपसे अपना कार्य कहूँगा, अतः आपको मेरा प्रश्न सुनना चाहिये १६ तीनसौ इकसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६१ ॥

ब्राह्मणने कहा, कि–आप अपनी बारीके अनुसार सूर्यके एक पहिये वाले रथको खेंचनेके लिये जाते हैं आपने वहाँ पर कोई आश्चर्य देखा हो तो मुझसे कहिये १ नागने कहा, कि–भगवान् सूर्यमें अनेक प्रकारके आश्चर्य भर रहे हैं, क्योंकि–त्रिलोकीके सब माननीय प्राणी उनसे उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥ जैसे वृक्षकी शाखाओंमें बहुतसे पक्षी रहते हैं ऐसे ही सिद्ध मुनि और देवता

वरे तत्र किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ४ ॥ विभज्य तं तु विप्रर्षे प्रजानां हितकाम्यया । तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ५ ॥ यस्य मण्डलमध्यस्थो महात्मा परमं त्विषा।दीप्तः समीक्षते लोकान् किमाश्चर्यमतः परः ॥ ६ ॥ शुक्रो नामासितः पादो यश्च वारिधरोऽम्बरे । तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम्॥७॥योऽष्टमासांस्तु शुचिना किरणेनोक्षितं पयः । प्रत्यादत्ते पुनः काले किमाश्चर्यमतः परम् ॥८॥ यस्य तेजोविशेषेषु स्वयमात्मा प्रतिष्ठितः । यतो बीजं मही चेयं धार्यते सचराचरम् ॥ ९ ॥ यत्र देवो महाबाहुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः । अनादिनिधनो

सूर्यकी सहस्र किरणोंमे रहते हैं ॥ ३ ॥ सूर्यकी किरणोंका आश्रय करके रहनेवाला उदार वायु भी सूर्यमेंसे निकलकर आकाशमें बहता है, इससे अधिक और क्या आश्चर्य होगा ॥ ४ ॥ और हे विप्रर्षे ! प्रजाका हित करने की इच्छासे सूर्य पुरोवात आदिरूपसे वायुके विभाग किया करता है और वर्षाकालमें जलको उत्पन्न करता है, इससे अधिक और क्या आश्चर्य होगा ॥ ५ ॥ और सूर्यके महामण्डलमें रहनेवाला अन्तर्यामी पुरुष परमकांतिसे प्रकाशवान् है और लोकोंको देखता है, इससे अधिक और आश्चर्य क्या हो सकता है ॥ ६ ॥ और श्यामवर्णकी शुक्र नामक किरण मेघवाले आकाशमें जलको उत्पन्न करके वर्षा ऋतुमें वर्षा बरसाती है, इससे अधिक और आश्चर्य क्या होगा ? ॥ ७ ॥ सूर्य आठ महीने तक पवित्र किरणोंसे जलको इकट्ठा करता है और वर्षा ऋतुमें उस जलको लौटा-देता है, इससे अधिक और क्या आश्चर्य होगा ? ॥ ८ ॥ जिनके तेजमें परमात्मा स्वयं निवास करते हैं और जिनके द्वारा औषध, स्थावर जंगम और यह पृथ्वी टिक रही है, इससे अधिक और क्या आश्चर्य होगा ९ और हे ब्राह्मण ! महाभुज, पुरातन कालके आदि तथा अंतरहित

विप्र किमाश्चर्य्यं मतःपरम् ॥ १० ॥ आश्चर्य्याणामिवाश्चर्य्य-मिदमेकन्तु मे शृणु । विमले यन्मया दृष्टमंबरे सूर्य्यसंश्रयात् ॥ ११ ॥ पुरा मध्यान्हसमये लोकांस्तपति भास्करे । सूर्य्यादित्यप्रती काशः सर्वतः समदृश्यत ॥ १२ ॥ स लोकांस्तेजसा सर्वान्स्व भासा निर्विभासयन् । आदित्याभिमुखोऽभ्येति गगनं पाटयन्निव १३ हुताहुतिरिव ज्योतिर्व्याप्य तेजोमरीचिभिः । अनिर्देश्येन रूपेण द्वितीय इव भास्करः ॥ १४ ॥ तस्याभिगमनं प्राप्तौ हस्तौ दत्तौ विवस्वता । तेनापि दक्षिणो हस्तो दत्तः प्रत्यर्चितार्थिना १५ ततो भित्त्वैव गगनं प्रविष्टो रश्मिमण्डलम् । एकीभूतं च तत्तेजः क्षणेनादित्यतां गतम् ॥ १६ ॥ तत्र नः संशयो जातस्तयोस्तेज-

पुरुषोत्तम सूर्य्यमें विराजमान हैं, इससे अधिक और क्या आश्चर्य्य होगा ॥ १० ॥ परन्तु इन सब आश्चर्योंसे भी अधिक एक आश्चर्य्यकी बात मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ! यह आश्चर्य्य सूर्य्यके प्रकाशसे प्रकाशवान् आकाशमें मैंने देखा था ॥ ११ ॥ पहिले मध्याह्नके समय जब सूर्य्य सब लोकोंमें प्रकाश फैला रहे थे, उस समय सूर्य्यकी समान तेजस्वी एक और पुरुष मेरे देखनेमें आया, उसका तेज चारों ओर फैल रहा था ॥ १२ ॥ वह तेजस्वी पुरुष अपने तेजसे सब लोकोंको प्रकाशित करता हुआ तथा आकाशको पाटता हुआ सा सूर्य्यके सामनेको बढ़ा चला आरहा था ॥ १३ ॥ वह जिसमें आहुति पड़ रही हों ऐसी अग्निकी समान अपने तेजकी किरणोंसे प्रकाशित होता हुआ अपने अनिर्देश्य स्वरूपके कारण दूसरे सूर्य्यकी समान प्रतीत होरहा था ॥१४॥ वह जैसे ही पासमें आया, कि-सूर्य्यने अपनी दोनों भुजाएँ बढ़ा कर उसका सत्कार किया और उसने भी अपना दाहिना हाथ बढ़ा कर सूर्य्यका सत्कार किया १५ तदनन्तर वह पुरुष आकाशको भेद कर सूर्य्यमण्डलमें प्रविष्ट

समागमे । अनयोः को भवेत्सूर्यो रथस्थो योऽयमागतः ॥ १७ ॥ ते वयं जातसंदेहाः पर्यपृच्छामहे रविम् । क एष दिवमाक्रम्य गतः सूर्य इवापरः॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३६२॥

सूर्य उवाच । नैष देवोऽनिलसखो नासुरो न च पन्नगः । उञ्छवृत्तिव्रते सिद्धो मुनिरेष दिवं गतः ॥ १ ॥ एष मूलफलाहारः शीर्णपर्णाशनस्तथा । अब्भक्षो वायुभक्षश्च आसीद्विप्रः समाहितः ॥२॥ भवश्चानेन विप्रेण संहिताभिरभिष्टुतः । स्वर्गद्वारे कृतोद्योगो येनासौ त्रिदिवं गतः ॥ ३ ॥ असंगतिरनाकांक्षी

होगया और क्षण भरमें ही वह तेजस्वी पुरुष सूर्यके साथ एकाकार होकर आदित्य बन गया ॥ १६ ॥ उन दोनों तेजोंको एकाकार हुए देख कर हमको सन्देह हुआ, कि–इन दोनों तेजोंमें वास्तविक सूर्य कौन हैं? यह जो रथमें बैठे है वह सूर्य हैं अथवा जो पुरुष आये थे वह सूर्य हैं ॥ १७ ॥ यह सन्देह होने पर हमने सूर्यसे बूझा, कि–यह जो दूसरे सूर्यकी समान पुरुष स्वर्गको भेद कर गया है, यह कौन था? ॥ १८ ॥ तीनसौ बासठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६२ ॥ छ छ छ

सूर्यने उत्तर दिया, कि"यह देवता नहीं था, वायुका मित्र अग्नि भी नहीं था, असुर अथवा सर्पभी नहीं था, परन्तु यह उञ्छवृत्ति का पालन कर सिद्ध हुआ मुनि था और स्वर्गमें गया है ॥ १ ॥ यह ब्राह्मण मूल और फलोंका आहार करता था, जल और वायुका भक्षण करता था और यह अपने मनको नियममें रखता था ॥ २ ॥ यह ब्राह्मण वेदकी संहितासे श्रीशंकरकी स्तुति किया करता था, स्वर्गमें जानेके लिये उद्योग किया करता था, इससे यह स्वर्गमें गया है ॥ ३ ॥ हे सर्पो! यह ब्राह्मण किसीकी संगत

नित्यमुञ्छशिलाशनः । सर्वभूतहिते युक्त एष विप्रो भुजंगमाः ४ न हि देवा न गन्धर्वा नासुरा न च पन्नगाः। प्रभवन्तीह भूतानां प्राप्तानामुत्तमां गतिम् ॥ ५ ॥ एतदेवं विधं दृष्टमाश्चर्यं तत्र मे द्विज । संसिद्धो मानुषः कामं योऽसौ सिद्धगतिं गतः । सूर्येण सहितो ब्रह्मन् पृथिवीं परिवर्त्तते ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६३ ॥

ब्राह्मण उवाच । आश्चर्यं नात्र संदेहः सुप्रीतोऽस्मि भुजङ्गम । अन्वर्थोपगतैर्वाक्यैः पन्थानं चास्मि दर्शितः ॥१॥ स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधो भुजगसत्तम । स्मरणीयोस्मि भवता संप्रेषणनियोजनैः ॥ २ ॥ नाग उवाच । अनुक्त्वा हृद्गतं कार्यं क्वेदानीं

में नहीं बैठता था अर्थात् निःस्पृह था, किसीकी इच्छा नहीं रखता था, सदा उञ्छवृत्तिका पालन करता था और सब प्राणियोंके हितमें परायण रहता था ॥ ४ ॥ जिन प्राणियोंकी उत्तम गति होती है, उनका देवता, गंधर्व, असुर और सर्पभी पराभव नहीं कर सकते ॥ ५ ॥ हे ब्राह्मण ! सूर्यसे मैंने यह आश्चर्यकी बात सुनी है, यह सिद्ध हुआ मनुष्य इस प्रकार सिद्धोंकी गतिको प्राप्त होगया है और अब सूर्यके साथ पृथ्वीकी प्रदक्षिणा कर रहा है ॥ ६ ॥ तीनसौ तरेसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६३ ॥

ब्राह्मणने कहा, कि-हे भुजङ्गम ! यह सब आश्चर्यमें डालने वाला है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, मैं इस वृत्तान्त को सुन कर प्रसन्न हुआ हूँ, मेरे अभिलषित विषयके अनुकूल वाक्य कह कर, आपने मुझे मार्ग दिखा दिया है ॥ १ ॥ हे श्रेष्ठ सर्प ! हे साधो ! आपका कल्याण हो ! अब मैं घरको जाऊँगा, अब यदि कभी आपको कहीं मुझे भेजना हो अथवा किसी कामभी

प्रस्थितो भवान् । उच्यतां द्विज यत्कार्यं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ ३ ॥ उक्तानुक्ते कृते कार्ये मामामंत्र्य द्विजर्षभ। मया प्रत्यभ्यनुज्ञातस्ततो यास्यसि सुव्रत ॥ न हि मां केवलं दृष्ट्वा त्यक्त्वा प्रणयवानिह । गन्तुमर्हसि विप्रर्षे वृक्षमूलगतो यथा ॥ ५ ॥ त्वयि चाहं द्विजश्रेष्ठ भवान्मयि न संशयः । लोकोऽयं भवतः सर्वः का चिन्ता मयि तेऽनघ ॥ ६ ॥ ब्राह्मण उवाच । एवमेतन्महाप्राज्ञ विदितात्मन् भुजंगम । नातिरिक्तास्त्वया देवाः सर्वथैव यथातथम् ॥ ७ ॥ स एव त्वं स एवाहं योऽहं स तु भवानपि । अहं भवांश्च भूतानि सर्वे यत्र गताः सदा ॥८॥ आसीत्तु मे भोगपते संशयः पुण्य-

---

आवश्यकता हो तो मेरा स्मरण करना ॥ २ ॥ नागने कहा, कि-हे ब्राह्मण ! अपने मनकी बात बिना कहे ही आप कहाँको जारहे हैं ? आप जिस कामके लिये यहाँ आये हैं और जो काम आप करना चाहते है, उसको कहिये ॥ ३ ॥ हे उत्तम ब्राह्मण ! तूने मुझे बुलाया था, अतएव यदि तेरा कार्य मुझसे बातचीत किये बिनाही सिद्ध होगया हो, तब भी तुझे हे उत्तम व्रतधारी ! मेरी आज्ञा लेकर तो जाना चाहिये ॥ ४ ॥ हे विप्रर्षे ! आपकी समान स्नेही पुरुषको केवल मेरे दर्शन करके, वृक्षकी मूलके पास छायामें बैठे हुए पुरुषकी समान, मुझको इसप्रकार छोड़कर चला जाना उचित नहीं है ५ हे ब्राह्मणर्षभ ! मैं आपका भक्त हूँ, और आप मेरे भक्त हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, हे निर्दोष ब्राह्मण ! ये सब मनुष्य आपका अनुसरण करनेवाले हैं और मैं आपका मित्र हूँ फिर आपको किस बातकी चिन्ता है ? ॥६॥ ब्राह्मणने कहा, कि-हे महाबुद्धे ! हे आत्मज्ञानी सर्प ! आपका कहना यथार्थ है, देवता आपसे भिन्न नहीं हैं, आप जो कहते हैं, वह सब सत्य है ७ सूर्यमण्डलमें जो पुरुष रहता है वह आप ही हैं, आर सदा

संचये । सोऽहमुञ्छव्रतं साधो चरिष्याम्यर्थसाधनम् ॥९॥ एष मे निश्चयः साधो कृतं कारणमुत्तमम् । आमन्त्रयामि भद्रं ते कृतार्थोऽस्मि भुजंगम ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३६४॥

भीष्म उवाच । स चामन्त्र्योरगश्रेष्ठं ब्राह्मणः कृतनिश्चयः । दीक्षाकाङ्क्षी तदा राजंश्च्यवनं भार्गवं श्रितः ॥ १ ॥ स तेन कृतसंस्कारो धर्ममेवाश्रितस्थिवान् । तथैव च कथामेतां राजन्कथितवांस्तदा ॥२॥ भार्गवेणापि राजेन्द्र जनकस्य निवेशने । कथैषा कथिता पुण्या नारदाय महात्मने ॥ ३ ॥ नारदेनापि राजेन्द्र

सब प्राणियोंमें और परमात्मामें रहते हैं ८ हे सर्पकुलके राजन् ! पुण्यका संग्रह करनेके विषयमें मेरे मनमें सन्देह था (परन्तु अब वह सन्देह दूर होगया है) हे सत्पुरुष ! अब मैं अर्थके साधनरूप उञ्छवृत्तिके व्रतका पालन करूँगा ९ हे सत्पुरुष ! यह ही मेरा निश्चय है, उत्तम कार्य हो चुका, हे सर्प ! अब मैं आपसे आज्ञा माँगता हूँ, आपका कल्याण हो, मैं कृतार्थ हो गया हूँ ॥ १० ॥ तीनसौ चौसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६४ ॥ छ छ

भीष्मजीने कहा, कि—हे राजा युधिष्ठिर ! तदनन्तर उञ्छव्रत आचरण करनेका निश्चय करनेवाला वह ब्राह्मण नागराजकी आज्ञा लेकर उञ्छव्रतकी दीक्षा लेनेकी इच्छासे भृगुकुलके च्यवन ऋषिके पास गया ॥ १ ॥ तब च्यवनने उसके संस्कार किये और वह ब्राह्मण उञ्छव्रतका आचरण करने लगा, तथा हे राजन् ! उस ब्राह्मणने च्यवनसेभी यह सब कथा कही ॥२॥ तदनन्तर हे राजेन्द्र ! भृगुवंशी च्यवनने राजा जनकके राजभवनमें यह पवित्र कथा महात्मा नारदजीसे कही थी ॥ ३ ॥ हे भरत-

देवेन्द्रस्य निवेशने । कथिता भरतश्रेष्ठ पृष्टेनाक्लिष्टकर्मणा ॥ ४ ॥ देवराजेन च पुरा कथितैषा कथा शुभा । समस्तेभ्यः प्रशस्तेभ्यो विप्रेभ्यो वसुधाधिप ॥ ५ ॥ यदा च मम रामेण युद्धमासीत्सु-दारुणम् । वसुभिश्च तदा राजन् कथेयं कथिता मम ॥ ६ ॥ पृच्छमानाय तत्त्वेन मया चैवोत्तमा तव । कथेयं कथिता पुण्या धर्म्या धर्मभृतां वर ॥ ७ ॥ यदयं परमो धर्मो यन्मां पृच्छसि भारत । आसीद्धीरो ह्यनाकांक्षी धर्मार्थकरणे नृप ॥ ८ ॥ स च

श्रेष्ठ राजेन्द्र ! इन्द्रके बूझने पर पवित्र कर्म करने वाले नारदजी ने यह कथा इन्द्रलोकमें कही थी ॥ ४ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! देवराज इन्द्रने यह सब श्रेष्ठ कथा सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कही थी ॥५॥ तदनन्तर जब भृगुकुलोत्पन्न रामके साथ मेरा दारुण युद्ध हुआ था तब हे राजन् ! वसुओंने मुझसे यह कथा कही थी ॥६॥ हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! तेरे बूझनेसे यह धर्मसे भरपूर और पुण्यफलको देने वाली उत्तम कथा मैंने तुझसे यथार्थरीति से कही है ॥ ७ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! तूने मुझसे परमधर्मके संबंधमें प्रश्न किया था, वह परमधर्म मैंने तुझसे कहदिया हे राजन् ! वह ब्राह्मण धीर था और निष्काम भावसे धर्म कर्म करता था ॥८॥ उस ब्राह्मणने पहिलेसेही(परमधर्मको जाननेका) निश्चय कर लिया था, फिर सर्पराजने उसको उसके कृत्यका इस प्रकार उपदेश दिया था, तदनन्तर उञ्छवृत्तिके अन्नका भोजन करता हुआ और यम नियमका पालन करता हुआ वह ब्राह्मण दूसरे वनमें चला गया और तहाँ उञ्छवृत्ति(अर्थात् खेत कटने पर तहाँ गिरे हुए अन्नके कणोंको बीन कर आहार

किल कृतनिश्चयो द्विजो भुजगपतिप्रतिदेशितात्मकृत्यः। यमनियम-
सहो वनान्तरं परिगणितोञ्छशिलाशनः प्रविष्टः ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासक्यां शान्तिपर्वणि
मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने पंचषष्ट्यधिक-
त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६५ ॥

करने की विधि) से पाये हुए परिमित अन्न का आहार करके
और यम नियमका पालन करके रहने लगा ॥ ६ ॥ तीनसौ
पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६५ ॥

इति श्रीमहाभारतके शान्तिपर्वका मोक्षधर्मपर्व मुरादाबादनिवासि
भारद्वाजगोत्र गौडवंश्य मोलान।थात्मज ऋषिकुमार
प० रामस्वरूप द्वारा और तत्पुत्र ऋषिकुमार
प० रामचन्द्रद्वारा–संपादित
हिन्दी भाषानुवादसहित
समाप्त.

शान्तिपर्व समाप्त

पुस्तक मिलनेका पता—
सनातनधर्म प्रेस,
मुरादाबाद.